

**राजनय : सिद्धान्त एवं व्यापार**  
**Diplomacy: Theory and Practice**

**प्रश्न पत्र-VII**  
**Paper-VII**  
**Group A (b)**

**एम.ए. राजनीति विज्ञान(उत्तरार्द्ध)**  
**M.A. Political Science (Final)**

**दूरस्थ शिक्षा निदेशालय**  
**महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय**  
**रोहतक-124 001**

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK

All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University  
ROHTAK – 124 001

# विषय-सूची

## इकाई-I

अध्याय 1	राजनय : स्वरूप एवं विकास	5
अध्याय 2	राजनयिक व्यवहार का विकास	19
अध्याय 3	राजनय के प्रकार : पुराना व नवीन राजनय, गुप्त तथा खुला राजनय	36

## इकाई-II

अध्याय 1	राजनयिक अभिकर्ता : उनकी श्रेणियां एवं उन्मुक्तियां	44
अध्याय 2	आदर्श राजदूत	64
अध्याय 3	राजनयिक के कार्य	80
अध्याय 4	राजनयिक सम्पर्क की भाषा एवं अभिलेखों का रूप	92
अध्याय 5	विदेश मन्त्रालय	98

## इकाई-III

अध्याय 1	राजनय के रूप	103
----------	--------------	-----

## इकाई-IV

अध्याय 1	महान राजनयज्ञ	119
----------	---------------	-----

## इकाई-V

अध्याय 1	द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय राजनय, स्थायी मिशन : कार्य एवं भूमिका	144
अध्याय 2	संयुक्त राष्ट्र संघ : संरचना एवं कार्य प्रणाली	147
अध्याय 3	महासभा	173
अध्याय 4	सुरक्षा परिषद्	187
अध्याय 5	संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण	197
अध्याय 6	संयुक्त राष्ट्र संघ : एक मूल्यांकन	215

**M.A. Political Science (Final)**  
**PAPER-VII**  
**Group A(b)**  
**Diplomacy : Theory and Practice**

**Max. Marks : 100**

**Time : 3 Hours**

*Note: 10 questions will be set-2 from each Unit. The candidate is required to attempt 5 questions, selecting one from each Unit.*

**Unit – I**

Diplomacy: Definition, Nature, Objectives, Decline of Diplomacy and its Future, Foreign policy and Diplomacy: Power and Diplomacy

Evolution of Diplomatic Practice: Occidental and Oriental Traditions: Classical Diplomacy, Old and New Diplomacy, Secret and Open Diplomacy.

**Unit-II**

Structure of Diplomatic Practice:

Diplomatic Agents, classification, immunities and privileges, Corps Diplomatique, Principle of precedence and Ranks, Credentials and full powers. The ideal Diplomat, Functions of Diplomat Language of Diplomatic intercourse, forms and documents, Organisation of Ministry of External Affairs in U.K. USA and India.

**Unit-III**

Forms of Diplomatic Practice

Conference Diplomacy, shuttle Diplomacy, Summit Diplomacy, Democratic Diplomacy, Personal Diplomacy, Cultural Diplomacy, Diplomacy of Aid, Indian Diplomacy: Origin, Salient Features, Achievements, challenges, working of Indian Missions Abroad.

**Unit-IV**

Great Diplomate

Cardinal Richelieu, Metternich, Talleyrand and Castlereagh, Canning, Palmerston, Cavort.

Bismarck, Wilson, Krishna Menon, K.M. Pennikar.

**Unit-V**

Role of Diplomacy in U.N.

Bilateral and multilateral Diplomacy.

Permanent Missions: Their Role and Tasks

Structure and functioning of U.N. system

Role of general assembly and Security Council in the maintenance of peace and security

# ईकाई-I

## अध्याय-1

### राजनय : स्वरूप एवं विकास (Nature and Evolution of Diplomacy)

आज के वैज्ञानिक युग में कोई देश अलग-अलग नहीं रह सकता। इन देशों में पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ना आज के युग में आवश्यक हो गया है। इन सम्बन्धों को जोड़ने के लिए योग्य व्यक्ति एक देश से दूसरे देश में भेजे जाते हैं। ये व्यक्ति अपनी योग्यता, कुशलता और कूटनीति से दूसरे देश को प्रायः मित्र बना लेते हैं। प्रचीन काल में भी एक राज्य दूसरे राज्य से कूटनीतिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए अपने कूटनीतिज्ञ भेजता था। पहले कूटनीति का अर्थ 'सौदे में या लेन देन में वाक्य चातुरी, छल-प्रपंच, धोखा-धड़ी लगाया जाता था। जो व्यक्ति कम मूल्य देकर अधिकाधिक लाभ अपने देश के लिए प्राप्त करता था, कुशल कूटनीतिज्ञ कहलाता था। परन्तु आज छल-प्रपंच को कूटनीति (Diplomacy) नहीं कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से आधुनिक काल में इस शब्द का प्रयोग दो राज्यों में शान्तिपूर्ण समझौते के लिए किया जाता है। डिप्लोमेसी के लिए हिन्दी में कूटनीति के स्थान पर राजनय शब्द का प्रयोग होने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत एक परिवार के समान बन गया है। परिवार के सदस्यों में प्रेम, सहयोग, सद्भावना तथा मित्रता का सम्बन्ध जोड़ना एक कुशल राजनयज्ञ का काम है।

#### राजनय का शाब्दिक अर्थ (Meaning of the word Diplomacy)

राजनय शब्द अंग्रेजी शब्द Diplomacy का हिन्दी रूपान्तरण है। डिप्लोमेसी शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषाके डिप्लाउन (Diploun) शब्द से हुई है जिसका अर्थ मोड़ना अथवा दोहरा करना (To fold) है। ग्रीक राज्यों के पतन के बाद रोमन साम्राज्य का विकास हुआ। रोमन साम्राज्य में पासपोर्ट एवं सड़कों पर चलने के अनुमति पत्र आदि दोहरे करके सील दिये जाते थे। ये पासपोर्ट तथा अनुमति पत्र धातु के पत्रों पर खुदे रहते थे। इनको डिप्लोमा कहा जाता था। धीरे-धीरे डिप्लोमा शब्द का प्रयोग सभी सरकारी कागजातों के लिए होने लगा। विदेशियों के विशेषाधिकार अथवा उन्मुक्ति एवं विदेशी सन्धियों सम्बन्धी कागजात भी डिप्लोमा कहे जाने लगे। जब इन सन्धियों की संख्या अधिक हो गई तो उन्हें सुरिक्षत स्थानों पर रखा जाने लगा। ये स्थान बाद में राजकीय अभिलेखागारों के नाम से जाने गये। राज्याभिलेखागारों के डिप्लोमाज की संख्या बढ़ने पर उनको छांट कर अलग करने और उनकी देखभाल रखने के लिए अलग से कर्मचारी नियुक्त किये जाने लगे। इन कर्मचारियों का कार्य राजनयिक कृत्य (Diplomatic Business) कहा गया। धीरे-धीरे इस कार्य व्यापार के लिए डिप्लोमेसी शब्द प्रयुक्त होने लगा।

#### परिभाषा (Definition)

राजनय शब्द का प्रयोग विचारकों द्वारा अनेक अर्थों में किया गया है। हेरल्ड निकलसन (Herold Nicolson) के अनुसार कभी इसका प्रयोग विदेश नीति के समानार्थक के रूप में लिया जाता है, जैसे भारतीय राजनय पड़ोसी देशों में सफल नहीं रही। कभी इस शब्द द्वारा संधि वार्ता को इंगित किया जाता है, जैसे इस समस्या को राजनय द्वारा सुलझाया जा सकता है। राजनय सन्धि वार्ता की प्रक्रिया एवं यंत्र को भी इंगित करता है। कभी-कभी विदेश सेवा की एक शाखा को राजनय कह दिया जाता है। राजनय को अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ता करने का अमूर्त गुण या कुशलता भी मान लिया जाता है। इसका सबसे दूषित प्रयोग वह है जब इसे एक कपटपूर्ण कार्य अर्थ में लिया जाता है।

इस प्रकार राजनय शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयोग किये जाने के कारण पाठक के मन में भ्रम उत्पन्न कर देता है। शायद राजनीति शास्त्र में यह शब्द सबसे अधिक भ्रम उत्पन्न करने वाला है। इस विषय में आर्गेस्की (Organski) ने कहा है कि 'कुशलता, चतुराई एवं कपट' सरीखे गुण एक अच्छे राजनय के लक्षण हो सकते हैं किन्तु इन्हें राजनय को परिभाषित करने वाली विशेषता नहीं कहा जा सकता है। राजनय विदेश नीति के समकक्ष भी नहीं। यह विदेश नीति का ऐसा अंग है जो उसकी रचना और क्रियान्विति में सक्रिय योगदान करता है। आर्गेन्सकी के अनुसार—“राजनय दो अथवा दो से अधिक राष्ट्रों के सरकारी प्रतिनिधियों के बीच होने वाली सन्धि-वार्ता की प्रक्रिया को इंगित करता है।” (To pin the definition down completely, diplomacy refers to the process of negotiations carried on between the official governmental representatives of one nation and those of other (or others)) सर अर्नेस्ट स्टैटों के अनुसार, “राजनय स्वतन्त्र राज्यों की सरकारों के बीच अधिकारों सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है।” (Diplomacy is the application of the intelligence and tact to the conduct of official relations between the governments of independent States..) इस सम्बन्ध में पामर तथा परकिन्स (Parmer and Perkins) ने यह जिज्ञासा प्रकट की है कि यदि राज्यों के आपसी सम्बन्धों में बुद्धि और चातुर्य का अभाव है तो क्या राजनय असम्भव होगा ?”

स्पष्ट है कि राजनय दो अथवा दो से अधिक स्वतन्त्र राज्यों के मध्य स्थित सम्बन्ध है तदनुसार प्रत्येक राज्य बुद्धि, कुशलता एवं चातुर्य का प्रयोग करता है। के०एम० पनिककर के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त राजनय अपने हितों को दूसरे देशों से अग्रिम रखने की एक कला है।" (Diplomacy used in relation to international politics, is the art of forwarding one interest in relations to other countries.) पेडिलफार्ड तथा लिंकन के शब्दों में "राजनय को प्रतिनिधित्व एवं सन्धि-वार्ता की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा राज्य शान्तिकाल में परस्पर सम्पर्क रखते हैं।" (Diplomacy can be defined as the process of representation and negotiation by which states customarily deal with one another in time of peace)".

मैक्लेलन तथा अन्य (McClellan and others) के अनुसार, "राजनय की मूलभूत परिभाषा के अनुसार यह राष्ट्रों के मध्य स्थित सम्पर्क का एक रूप है जो प्रत्येक अन्य राज्य की राजधानी में प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधित्व पर आधारित है।" (The most basic definition of diplomacy is that it is a form of contact between nations based on permanent representation of each state in the capital city of each other states.) वेब्सटर्स न्यू इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार राजनय का अर्थ है—"राष्ट्रों के मध्य, सन्धि वार्ता संचालन की कला और आचार जैसे — सन्धियों की व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय समागम के संचालन का कार्य या कला अथवा ऐसे समागम में कौशल या पटुता का प्रयोग।" ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार, "सन्धि वार्ता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था राजनय है। यह वह प्रणाली है जिसके द्वारा राजदूत एवं दूत इन सम्बन्धों की व्यवस्था और प्रबन्ध करते हैं। यह राजनयिक कार्य अथवा कला-कौशल है।" (Diplomacy is the management of international relations by negotiation; the method by which these relations are adjusted and managed by ambassadors and envoys, the business or art of the diplomatist.) यह परिभाषा संक्षिप्त लेकिन व्यापक है। निकलसन ने इसे अपनाते हुए राजनय को विदेश नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून से पथक किया है।

क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने राजनय को दो अर्थों में परिभाषित किया है — लोकप्रिय अर्थ में तथा विशेष अर्थ में। लोकप्रिय अर्थ में — 'किसी सन्धि वार्ता या लेन-देन में चातुर्य, धोखेबाजी एवं कुशलता का प्रयोग है। अपने विशेष अर्थ में यह सन्धि-वार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्भावनापूर्ण राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके।' (Diplomacy in the popular sense means the employment of tact, shrewdness and skill in any negotiation or transaction. In the more special sense used in international relations it is the art of negotiation, in order to achieve the maximum of group objectives with a minimum of costs). इस परिभाषा की खास बात यह है कि लोकप्रिय अर्थ में राजनय को ऐसी सन्धि-वार्ता माना गया है जो दबाव पर नहीं वरन् समझाने-बुझाने पर आधारित रहती है। इसके विशेष अर्थ में राजनयज्ञों को राष्ट्रीय हित के प्रति भक्तिपूर्ण माना गया है। राजनीति शास्त्र में राजनय का लोकप्रिय अर्थ लागू नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनय केवल वही कार्य करता है जहां दबाव की सम्भावनायें रहती हैं। राजनय द्वारा इन सम्भावनाओं को दबाया जाता है। राजनय का उद्देश्य समझौते करना है और समझौते केवल वहीं किये जाते हैं जहां कुछ असहमतियां हों। ये असहमतियां ऐसी होनी चाहिये जिनमें वार्ता द्वारा सहमति कायम की जा सके। पूर्ण सहमति के क्षेत्रों में राजनय अप्रासंगिक है तथा पूर्ण असहमति के क्षेत्रों में यह प्रभावहीन है। राबर्ट रेगला (Robert Regala) के अनुसार राजनय शब्द का काफी दुरुपयोग हुआ है। असल में राजनय एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें अनेक क्रियायें शामिल हो जाती हैं। यह दुनिया के ऐसे कुछ व्यवसायों में से एक है जिसकी परिधि में मानवीय क्रिया की प्रत्येक शाखा शामिल हो जाती है। इसका सम्बन्ध शक्ति राजनीति (Power Politics) आर्थिक शक्ति एवं विचारधाराओं के संघर्ष से है। रेगला राजनय को 'समझौता वार्ता की कला' मानता है। 1796 में एडमण्ड बर्क ने राजनय की परिभाषा देते हुए लिखा था कि राजनय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का परिचालन अथवा संचालन है। जार्ज एफ० केनन का कहना है कि तकनीकी अर्थ में राजनय की व्यवस्था सरकारों के बीच सम्पर्क के रूप में की जा सकती है।

इस प्रकार विभिन्न विचारकों ने राजनय की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। ये सभी परिभाषायें पूर्णतः उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि समय तथा परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ राजनय का अर्थ भी बदलता रहता है। अनेक विचारकों ने राजनय को केवल एक व्यवसाय (Profession) ही नहीं वरन् एक कला (Art) भी माना है। अधिकांश सरकारें अपने हितों की प्राप्ति एवं अभिवृद्धि के लिए इसे अपनाते लगी है। यह धीरे-धीरे शान्ति का एक प्रभावशाली साधन बनता जा रहा है। शुरु में राज्य असीमित शक्तियों से सम्पन्न होते थे फलतः राजनयज्ञों को सम्प्रभु माना जाता था। उन्हें कार्य करने की पर्याप्त स्वतंत्रता सौंपी जाती थी। इस स्वतंत्रता का अन्य कारण यह था कि उस समय संचार के द्रुतगामी साधनों का अभाव था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनयिकों की यह व्यापक स्वतंत्रता सीमित होने लगी। उस समय राजनय की एक अन्य विशेषता यह भी थी कि राजनयज्ञों को उनके कार्य से सम्बन्धित आदेश तथा निर्देश देकर ही भेजा जाता था। आजकल संचार के तीव्रगामी साधनों की सुविधा के कारण यह आवश्यक नहीं रहा है।

राजनय को कुछ लोग एक रहस्यपूर्ण व्यवसाय मानते हैं। यह सही नहीं है। ह्यू गिबसन (Hugh Gibson) के अनुसार, "असल में राजनय एक भ्रमसाध्य व्यवसाय है। यह जादू अथवा रहस्य से परे है। इसे किसी भी अन्य सरकारी कार्य की भांति एक गम्भीर

व्यवसाय के रूप में देखा जा सकता है। पामर तथा परिकिन्स (Parmer and Perkins) ने राजनय की कुछ विशेषताओं का वर्णन किया है। ये विशेषतायें राजनय के स्वरूप (Nature) को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। ये विशेषतायें निम्नलिखित हैं :-

- (1) राजनय एक मशीन की भांति अपने आप में नैतिक अथवा अनैतिक नहीं है। इसका मूल्य इसके प्रयोग करने वाले के अभिप्रायों व योग्यताओं पर निर्भर करता है।
- (2) राजनय का संचालन विदेश कार्यालयों, दूतावासों, दूतकर्मों, वाणिज्य दूतों एवं विश्वव्यापी विशेष मिशनों के माध्यम से किया जाता है।
- (3) राजनय मूल रूप से द्विपक्षीय है। यह राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का नियमन करता है।
- (4) आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, क्षेत्रीय प्रबन्धों एवं सामूहिक सुरक्षा प्रयासों के बढ़ जाने के कारण राजनय के बहुपक्षीय रूप का महत्व बढ़ गया है।
- (5) राजनय राष्ट्रों के बीच साधारण मामलों से लेकर शान्ति और युद्ध जैसे बड़े-बड़े सभी मामलों पर विचार करता है। जब यह सम्बन्ध टूट जाता है तो युद्ध या कम से कम एक बड़े संकट का खतरा पैदा हो जाता है।

निकलसन का यह कहना ठीक नहीं है कि युद्ध आरम्भ होने पर राजनयिक कार्य बन्द हो जाते हैं, क्योंकि पामर और परकिंस के विचार से राजनयज्ञों का कार्य देश की रक्षा करना है। अतः युद्ध के समय हाथ पर हाथ धर कर नहीं बैठते हैं, बल्कि उस समय वे सैनिक कार्यों में सहयोग देते हैं। इस प्रकार युद्धकाल में राजनयज्ञों का कार्य रुकता नहीं, बल्कि उनके कार्य का रूप बदल जाता है। युद्ध काल में राजनय का कार्य अधिक बढ़ जाता है। पिछले दो विश्व युद्धों की घटनाओं के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। राजनय का स्वरूप समझने के लिए यह उपयोगी है कि विदेश नीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं राजनयिक राजनीति से उसके सम्बन्ध तथा अन्तर का अध्ययन किया जाये।

### राजनय एवं विदेश नीति (Diplomacy and Foreign Policy)

राष्ट्रीय कार्यक्रम को पूरा करने की विधि है नीति – यह आन्तरिक अथवा बाहरी कैसी भी हो सकती है। आन्तरिक नीति गृह-कार्यों से सम्बन्धित होती है जबकि विदेश नीति राष्ट्र की बाहरी व्यवस्थाओं से। विदेश नीति और राजनय, राजनीति के वे पहिये हैं जिनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति चलती है। किसी राष्ट्र द्वारा अन्य राज्यों के सन्दर्भ में अपने ध्येयों की पूर्ति ही विदेश नीति है। ऐसी विदेश नीति के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता जो राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करें। अतः विदेश नीति का अर्थ राज्य के उस व्यवहार के रूप में लिया जाता है जिसके माध्यम से राज्य अपने हितों की पूर्ति करते हैं।

अर्वाचीन युग में कोई राज्य अपने आप में पार्थक्य की नीति अपनाकर अलग रह सकें, यह सर्वथा असम्भव है। विदेश नीति का निर्माण बहुत सोच समझ कर किया जाता है क्योंकि इसी के सही निर्णय पर ही राज्य का भविष्य निर्भर करता है। विदेश नीति के निर्माण में राज्य को कई तत्वों का ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन व जापान की विदेश नीति अपनी भौगोलिक स्थिति से गहरे रूप से प्रभावित रही है। राज्यों के प्राकृतिक स्रोत अथवा उनका सामरिक महत्व आदि राज्य की विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। अविकसित राज्य, जो विभिन्न शक्तियों से सहायता प्राप्त करते रहते हैं तथा उन्हीं पर निर्भर रहते हैं, कभी भी स्वतन्त्र विदेश नीति का निर्माण नहीं कर सकते हैं। किसी देश की सैनिक शक्ति उसकी विदेश नीति को उत्साही बनाकर गलत मार्ग पर ले जाती है। जर्मनी, इटली और जापान ने सैनिक शक्ति के कारण ही अपने पड़ोसी राज्यों पर हमला किया और विश्व युद्ध का आह्वान किया।

राज्यों की राजनीति तथा उनकी विदेश नीति का निर्माण देश के राजनेता करते हैं, तो राजदूत इसका क्रियान्वयन। विदेशनीति के निर्धारण में राज्यों को राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कई दृष्टिकोणों को ध्यान में रखना पड़ता है। जैसे राज्य की भौगोलिक स्थिति, आर्थिक आवश्यकताएं, प्राकृतिक स्रोत, प्रतिरक्षा की आवश्यकताएं तथा सन्धियां आदि। इसके माध्यम से विरोधी अथवा शत्रु पक्ष को शक्तिहीन अथवा मित्र राज्य को और भी अधिक गूढ़ मित्र बनाने का प्रयास किया जाता है। विदेश नीति के माध्यम से राज्यों के मध्य सन्तुलन बनाये रखने अथवा सामूहिक सुरक्षा आदि के कदम उठाये जाते हैं। विदेश नीति का मूल मन्त्र है 'शत्रु का शत्रु मित्र है'। चीन ने इसी नीति के अन्तर्गत भारत के शत्रु पाकिस्तान के साथ मैत्री सम्बन्ध बनाये थे। इसी प्रकार विदेश नीति का उद्देश्य 'तटस्थ सीमाओं' की स्थापना भी है। सीमा के प्रश्न को लेकर राज्यों के मध्य सम्बन्ध प्रायः बिगड़ते हैं। भारत-पाकिस्तान, भारत-चीन, रूस-चीन आदि देशों के मध्य युद्ध अथवा युद्ध की स्थिति आती रही है। राज्यों की आर्थिक स्थिति, व्यापार और वाणिज्य आदि के सन्दर्भ में भी विदेशनीति के निर्णय लिये जाते हैं। सत्ता की प्राप्ति के प्रयासों में राज्य कभी-कभी अपने स्वतन्त्र निर्णय के अधिकार खो बैठते हैं। राज्य की विदेश नीति के निर्णय उसकी सामरिक स्थिति तथा सैनिक शक्ति पर निर्णय करते हैं। राज्य जितना अधिक सशक्त होगा उतनी ही सफल उसका राजनय होगा। फ्रैंड्रिक महान के अनुसार, "शक्ति बिना राजनय ठीक वैसा ही है जैसा वाद्य बिना संगीत।"

संयुक्त राज्य अमेरिका का राजनय उसकी शक्ति के कारण ही सफल है। यदि कोई राज्य निर्बल हो तो वह स्वयं अन्य राज्यों का उस देश में हस्तक्षेप अथवा आक्रमण का निमन्त्रण देता है। पोलैण्ड के विभाजन, इटली का यूरोप की रणस्थली बनाना, हिटलर द्वारा आस्ट्रिया तथा चैकोस्लोवेकिया का विलय तथा चीन का भारत पर आक्रमण, राज्यों के शक्तिहीन होने के कारण ही सम्भव हुआ है।

नीति निर्माताओं द्वारा अपने उद्देश्यों को निर्धारित करने के पश्चात् राज्य के समक्ष इन उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रश्न आता है और यही राजनय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विदेश नीति के क्षेत्र में राज्य सक्रिय अथवा निष्क्रिय हो सकता है। यदि राज्य सक्रिय है तो राज्य के समक्ष चार विकल्प होते हैं, जिसके आधार पर वह कार्य करता है – राजनीतिक (राजनय) आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा सैनिक। समय और परिस्थितिनुसार राज्य इनमें से कोई भी एक विकल्प अपना सकता है अथवा इसके सम्मिलित रूप का भी प्रयोग कर सकता है। निष्क्रियता वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में किसी भी राज्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। राज्य प्रायः राजनय के मार्ग का ही उपयोग करते हैं। विदेश नीति का उद्देश्य मित्र राज्यों के साथ सम्बन्धों के अधिक प्रगाढ़ और शत्रु पक्ष को निष्क्रिय बनाना होता है। राजनय वह साधन है जो वार्ता और चतुरता से इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होता है। विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति का सर्वोच्च एवं महत्वपूर्ण साधन ही है। वास्तव में विदेश नीति ही राजनय का कौशल है। किसी भी विदेश नीति का निर्माण इन अधिकारियों का कार्य है, वही दूसरे देशों के संदर्भ में इसका क्रियान्वयन राजदूतों का। आज के इस जटिल युग में तकनीकी की दृष्टि से भले ही विदेश विभाग अकेला ही विदेश नीति का निर्माता माना जाता हो, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राजदूत भी इसके निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। राजदूत की गतिविधियाँ उसके देश की विदेश नीति पर आधारित रहती हैं। यद्यपि यह सत्य है कि राजदूत इसके संचालन में स्वतन्त्र नहीं होते।

विदेश नीति और राजनय एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं। कुछ विद्वान इनका एक-दूसरे के स्थान पर बन्धन मुक्त प्रयोग करते हैं। इनमें पर्याप्त अन्तर है। विदेश नीति में राष्ट्रों के हितों की रक्षा, उनके मध्य सम्बन्धों की स्थापना तथा इन्हें बनाये रखने के प्रयास सम्मिलित हैं। जे०आर० चाइल्डस के अनुसार किसी भी देश की विदेश नीति "उसके वैदेशिक सम्बन्धों का सार है।" जबकि राजनय "वह प्रक्रिया है जिसकी सहायता से विदेश नीति कार्यान्वित किया जा सकता है।" सर चार्लस वैक्सटर के शब्दों में, "नीति की सबसे अधिक धारणाएँ भी व्यर्थ हैं यदि उनको क्रिया रूप में परिवर्तित करने के साधन नहीं हों।" यह कार्य राजनय करता है।

### एक-दूसरे के पूरक

राजनय स्वयं में विदेश नीति नहीं है। वास्तव में राजनय किसी भी देश की विदेश नीति को कार्यान्वित करने की प्रक्रिया तथा विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्ति का साधन है। इसके मध्य भेद करने वाली विभाजक रेखा खींचना अति कठिन है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं क्योंकि ये एक-दूसरे की सहायता के बगैर चल नहीं सकते। राजनय विदेश नीति का वह साधन है जिसकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रक्रिया चलती रहती है। वस्तुतः विदेश नीति और राजनय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सर विक्टर वैलेसली का भी यही विचार है कि "राजनय और विदेश नीति एक-दूसरे के पूरक हैं क्योंकि एक के सहयोग के बिना दूसरे का कार्य नहीं चल सकता। राजनय का विदेश नीति से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं। ये दोनों मिलकर एक प्रशासनिक नीति का निर्माण करते हैं। नीति व्यूह रचना को निर्धारित करती है तथा राजनय चतुरता को।" पैडल फार्ड और लिंकन का भी यही मत है। उनके शब्दों में, "राजनय और विदेश नीति अन्योन्यान्वित हैं। इन दोनों के बीच स्पष्ट विभेद करना उतना ही असंभव है जितना नीति और कार्यक्रम में।" मारगेन्थो की भी यही मान्यता है क्योंकि आज विदेश मंत्री, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति आदि व्यापक रूप से राजनय का उपयोग कर रहे हैं। इस प्रकार राजनय और विदेश नीति तथा राजदूत और विदेश मन्त्रियों के मध्य भेद कम होता चला जा रहा है। मारगेन्थो के शब्दों में "विदेश मन्त्रालय के साथ राजनयज्ञ अपने देश की विदेश-नीति को निर्धारित करता है—जिस प्रकार विदेश मन्त्रालय विदेश नीति का तांत्रिककेन्द्र है, उसी प्रकार राजनयिक प्रतिनिधि इसके दूरस्थसूत्र हैं, जो केन्द्र एवं बाह्य जगत में दोनों ओर से यातायात बनाये रखते हैं।" सेटो भी विदेश नीति और राजनय में भेद नहीं करता है। इसके अनुसार "डिप्लोमेटिस्ट" शब्द के अन्तर्गत सभी लोक सेवा अधिकारी आते हैं चाहे वे विदेश मन्त्री तक को, भले ही वह राजनीतिज्ञ ही हो, राजनय का एक अंग मानता है, क्योंकि उसे भी विदेश मन्त्रियों, प्रतिनिधियों, राजदूतों आदिसे समय-समय पर वार्ता, समझौते आदि करने पड़ते हैं, तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, शिखर वार्ताओं आदि में भाग लेना पड़ता है। डॉ० हेनरी किसिंगर विदेश सचिव होते हुए भी, एक सफल राजदूत का कार्य करते रहे थे। एक सफल राजदूत के रूप में इन्होंने अमरीकी विदेश नीति के क्रियान्वयन में उल्लेखनीय योगदान दिया था। वियतनाम युद्ध की समाप्ति, चीन व रूस के साथ मैत्री सम्बन्ध, पश्चिमी एशिया में युद्ध का अन्त और मिस्र, सीरिया और जार्डन के साथ नये सम्बन्धों का श्रीगणेश इन्हीं के कुशल राजनयिक प्रयत्नों का परिणाम था। हॉलैण्ड में तो विदेश विभाग के किसी सदस्य अथवा राजदूत को ही विदेशमन्त्री बना दिया जाता है जो अपने कार्यकाल की समाप्ति पर विदेश सेवा में आ जाता है। हीटले ने अपनी पुस्तक "डिप्लोमेसी" के एक फुटनोट में 1861 में प्रकाशित एक प्रतिवेदन का हवाला दिया है,



जिसमें उपर्युक्त मत का समर्थन है। इस प्रकार जहाँ विदेश नीति राष्ट्रीय हित संवर्धन हेतु नीतियों का निर्धारण व निर्माण करती है, वहीं राजनय उसकी व्याख्या और समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुरूप उसके प्रयोग के संचालन को कार्यविधि है। वैसे तो विदेश नीति और राजनय एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, परन्तु राजदूत स्वयं विदेश नीति के निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से कहीं भी सम्बन्धित नहीं होते। ये स्वयं इनका निर्माण नहीं करते यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से वे विदेश नीति के निर्माण अथवा उसे स्वरूप प्रदान करने में सहायक अवश्य होते हैं, क्योंकि कोई देश दूसरे के प्रति अपनी नीति का निर्माण उसके राजदूतों द्वारा विभिन्न देशों की राजधानियों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ आदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रमुख कार्यालयों से समय-समय पर भेजे गये प्रतिवेदनों के आधार पर करता है। चाईल्डस के शब्दों में "यद्यपि राजनयिक अपनी अपनी सरकारों को विदेश नीति का आवश्यक रूप से निर्माण स्वयं नहीं करते, फिर भी समुद्र पार अपने-अपने पदों से भेजे गये प्रतिवेदनों के माध्यम से वे ऐसी नीति के निर्माण में अथवा उसे स्वरूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये प्रतिवेदन सदा ही विदेश नीति के निर्माण में मूल्यवान कच्चे माल के रूप में माने जाते हैं।" के०एम० पणिक्कर का भी यही मत है।"

राजनय के क्षेत्र में सफलता, राजदूत के गुण और योग्यता के साथ-साथ देश की विदेश नीति को बुद्धिमत्ता पर भी निर्भर करती है। प्रसिद्ध विद्वान कैलियर्स भी दूत द्वारा भेजे गये प्रतिवेदनों के महत्व को मानता है जिसके आधार पर विदेश नीति का निर्माण होता है, क्योंकि विदेश नीति में निर्णय लेने का प्रगाढ़ सम्बन्ध राजनय के एक प्रधान कार्य-प्रतिवेदन देने व वार्ता करने से है। कैलियर्स के शब्दों में "यद्यपि सभी सफलताओं या विफलताओं के अन्तिम दायित्व देश में स्थित समाट एवं उसके मंत्रियों का है तथापि यह उतना ही सत्य है कि...ये मन्त्री विदेशों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ही कार्य करते हैं तथा देश की सरकार पर एक प्रबुद्ध राजनयज्ञ का सम्भावित प्रभाव बहुत विस्तृत हो सकता है। विदेश में कार्य करने वाले अयोग्य व्यक्ति अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण विदेशों का कोई उपयोग नहीं कर पाते, तथा योग्य व्यक्ति अपनी सूचनाओं और सुझावों की यथार्थता एवं तर्क संगतता द्वारा अत्यन्त साधारण विदेशों का उत्कृष्टतर उपयोग कर सकते हैं। अतः राजनयिक कार्यों का दायित्व देश में स्थित सरकार और उसके विदेश में स्थित सेवकों द्वारा लगभग समान रूप से वहन किया जाता है। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि किसी देश को दूसरे देश के साथ सम्बन्धों में विद्वत्तापूर्ण विदेश नीति तथा निपुण, योग्य, कुशल एवं विद्वत्तापूर्ण राजनय के मध्य उचित सामंजस्य बैठाना ही पड़ता है। एक के उचित स्वरूप के अभाव में दूसरे का स्वरूप निश्चित ही विकृत हो जायेगा।

### एक-दूसरे के विरोधी

जहाँ विदेश नीति तथा राजनय एक-दूसरे के पूरक हैं, वहीं इनमें विरोध भी है। नार्मन हिल के अनुसार विदेश नीति प्रकृति से ही सत्ता सूचक है जबकि राजनय प्रधानतः क्रियाविधि है। विदेश नीति विदेशों के साथ सम्बन्धों का सार है जबकि राजनय वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विदेश नीति क्रियान्वित की जाती है। पामर और पार्किन्स के शब्दों में एक सार है तो दूसरा उसकी प्रक्रिया। सर विक्टर वैलेजली भी दोनों के मध्य अन्तर को स्वीकार करते हैं। इनके मत में "राजनय नीति नहीं, है, अपितु यह इस नीति को क्रियान्वित करने का साधन है।" केनेडा के विदेश मन्त्री लेस्टर पियरसन ने भी एक बार कहा था कि "राजनय नीति निर्माण नहीं करती है, यह तो उसका सम्प्रेषण तथा व्याख्या करती है।" मारगेन्थॉ ने इस अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है "विदेश मन्त्रालय नीति-निर्माण करने वाला अभिकरण है। यह विदेश नीति का मस्तिष्क है, जहाँ बाह्य संसार से अनुभव एकत्रित किये जाते हैं तथा इनका मूल्यांकन किया जाता है, जहां विदेश नीति निर्धारित होती है, तथा जहां उन आवेगों का निस्सरण होता है, जिनका राजनयिक प्रतिनिधि वास्तविक विदेश नीति में रूपान्तरण करते हैं। जबकि विदेश मन्त्रालय विदेश नीति का मस्तिष्क है, राजनयिक प्रतिनिधि इसका आँखें, कान, मुख, अंगुलियां तथा एक प्रकार से इसके भ्रमणशील अवतार हैं।" मारगेन्थॉ ने आगे लिखा है कि "राजनयिक प्रतिनिधि केवल आँखें और कानही नहीं हैं, जो विदेश नीति के तंत्रिका केन्द्र को, इसके निर्णयों के उपादान के लिये बाह्य संसार को घटनाओं की सूचना देते हैं। राजनयिक प्रतिनिधि मुख एवं हाथ भी हैं, जिनके द्वारा तंत्रिका केन्द्र से उत्पन्न आवेगों का शब्दों एवं कार्यों में रूपान्तरण होता है।" निकलसन भी राजनय और विदेश नीति के मध्य भेद करता है। यदि कोई राजदूत यह समझता है कि वह विदेश नीति को प्रभावित कर सकता है तो वह गलती पर है। राष्ट्रीय सुरक्षा समिति में अमरीकी राष्ट्रपति के विशेष सचिव मैकजार्ज बन्डी (McGeorge Bundy, 1961-66) ने हार्वर्ड विश्वविद्यालय के समक्ष एक भाषण में काह था कि "यह प्रदर्शित करना कि विदेश सेवा में भर्ती होकर विदेश सम्बन्धों को प्रभावित किया जा सकता है, गलत है।" एक जर्मन राजदूत का भी यही मत था। उसके अनुसार ऐसे व्यक्ति जल्दी ही निराश हो जाते हैं। प्रायः उनके द्वारा भेजे गये प्रतिवेदन फाईल कर दिये जाते हैं। प्रथम महायुद्ध के काल में ब्रिटेन स्थित अमेरिकी राजदूत वाल्टर हाईन्स पेज ने अपने प्रतिवेदनों की उपेक्षा पर नाराजगी व्यक्त करते हुए लिखा था कि "वह इतना नाराज है कि वह अपने प्रतिवेदन मँलिखेगा कि एक भूकम्प मेंटेम्स नदी गायब हो गई है, कि एक साधारण नागरिक ने राजा को चूम लिया है और क्रॉमबेल के बुत ने लार्ड सभा पर आक्रमण कर दिया है, जिससे यह तो पता लगे कि वाशिंगटन में कोई इन बातों को नोट करते भी हैं अथवा नहीं।" परन्तु स्थिति इतनी गम्भीर नहीं है जितना बताई गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका के नई दिल्ली

स्थित राजदूत जे०के० गेलब्रेथ ने चीन व संयुक्त राष्ट्र संघ पर अपने विचार भेजे जिसपर उसे तुरन्त उत्तर प्राप्त हुआ। गेलब्रेथ ने लिखा है कि अमेरिकी विदेश विभाग ने अपने इतिहास में इतना शीघ्र उत्तर पहले कभी नहीं दिया होगा।”

सर चार्ल्स वेस्टर ने अपनी पुस्तक “राजनय की कला तथा व्यवहार” (Art and Practice of Diplomacy) में विदेश नीति और राजनय के मध्य अन्तर को स्वीकार किया है। वेस्टर के अनुसार राजनय “युद्ध कौशल” है तो विदेश नीति “व्यूह रचना”। युद्ध कौशल के अभाव में विदेश नीति भी व्यर्थ है। हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा की एक सफल एवं योग्य राजनय के अभाव में उत्तम, उचित और यथार्थवादी विदेश नीति भी असफल सिद्ध होगी।

राजदूत की योग्यता ही विदेश नीति को सफल बना सकती है। वह संदेश वाहक से कहीं अधिक है। निर्मित विदेश नीति को वह दूसरों के समक्ष कैसे रखता है तथा उसका स्पष्टीकरण कैसे देता है इसी पर उसकी योग्यता और सफलता निर्भर करती है। इस प्रकार वह अच्छी विदेश नीति को सफल व असफल बनाने की क्षमता रखता है। यह बुरी विदेश नीति के बुरे परिणामों को रोकने की भी क्षमता रखता है। एक योग्य और प्रतिभाशाली राजदूत अपने देश को सम्मान दिला सकता है। विदेश नीति की सफलता राजनय के उत्तम प्रयोग पर ही निर्भर करती है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि किसी भी राज्य को अपने वैदेशिक सम्बन्धों में सफलता प्राप्त करनी है तो बुद्धिमत्तापूर्ण निर्धारित विदेश नीति और योग्य, निपुण एवं कुशल राजनय का सम्मिश्रण आवश्यक है।

### राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून

राष्ट्रों के मध्य राजनयिक सम्पर्क अति प्राचीन काल से ही विद्यमान हैं। प्राचीन भारत में वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि कालों में ही राजनयिक व्यवस्था संस्थागत रूप धारण कर चुकी थी। यूनान, रोम, मिस्र आदि देशों के साहित्य में भी राजनय का विस्तृत वर्णन है। शान्ति वार्ता और युद्ध घोषणा के लिये दूतों को भेजा जाता था। राजदूतों को सम्माननीय स्थान प्राप्त था, उनका स्वागत सत्कार किया जाता था तथा उन्हें कई प्रकार के विशेषाधिकार, सुविधायें एवं उन्मुक्तियाँ दी जाती थीं।

रिचार्ड हुकर के अनुसार कानून तीन प्रकार के हैं। प्रथम वे जो मनुष्य से व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित हैं, दूसरे वे जो मनुष्य के मनुष्य रूप में किसी राजनीतिक समाज से जुड़े हुये होने के कारण सम्बन्धित हैं, तीसरे कानून वे हैं जो राज्यों से सम्बन्धित हैं—इन्हें हम राष्ट्रों के कानून का नाम देते हैं। इन्हीं का अध्ययन हमारे विषय की परिधि में आता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वे कार्यकारी सिद्धान्त अथवा नियम हैं जो सभ्य, स्वतन्त्र, सार्वभौमिक और स्वशासी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। इनका अपना एक विशिष्ट स्थान है। राष्ट्रों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ, समझौते व कनवेंशन आदि ऐसे परिणाम हैं। हर राज्य चाहता है कि ये सर्वमान्य हों, यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राज्याध्यक्ष का स्थान उसके अपने व्यक्तित्व के कारण नहीं वरन् राज्य के अध्यक्ष के रूप में होता है। राजदूतों को भेजना, उनका स्वागत करना, संधियों पर हस्ताक्षर करना, युद्ध घोषणा अथवा शान्ति संधि करना उसी का कार्य है। किन्तु उपर्युक्त सभी कार्य वह केवल संवैधानिक मुखिया के रूप में ही करता है। यही कारण है कि राज्याध्यक्ष राजा हो या सम्राट, तानाशाह हो या राष्ट्रपति, इनके मध्य कोई भेदभाव नहीं किया जाता है। ओपनहीम का भी यही मत है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राजनय और सरकारों का इस प्रकार एक विशेष सम्बन्ध होता है। सर फैंडरिक पोलक ने भी इस सम्बन्ध को स्वीकार किया है। सर हैनरी मैन का भी यही मत है। इन्हीं के शब्दों में “अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने सर्व सत्ताधारियों तथा समुदायों के साक्षर वर्गों में राज्यों के सम्बन्धों तथा क्रियाकलापों को व्यवस्थित करने वाले नियमों में बरती गई असावधानी अथवा उनके उल्लंघन के प्रति प्रबल विरोध किया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के मध्य पारस्परिक व्यवहार को नियमित एवं संचालित करता है। उक्त कार्यों के सम्पादन में “राजनयिकों की चतुराई तथा निपुणता, उनके दैनिक कार्यों में बहुत कुछ प्रकट होती है और वह किसी भी प्रकार से कम महत्वपूर्ण नहीं है।”

द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका तथा मानव विनाश के नये शास्त्रास्त्रों के निर्माण को देखते हुए, अधिकांश प्रबुद्ध व्यक्ति एवं समूह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तौर तरीकों के प्रति फलतः विश्व शान्ति और व्यवस्था की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। आज मानव राष्ट्रीयता के सीमित उद्देश्य को पीछे छोड़ने को तैयार हैं, परन्तु यह सब कुछ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर ही सम्भव है। आज सभी देश इस बात पर एकमत हैं कि राष्ट्रीय हित के समस्त प्राथमिकता प्राप्त पक्ष जिनमें राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक विकास भी सम्मिलित हैं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा राजनय के घनिष्ठतम सम्बन्धों तथा प्रयोगों पर ही निर्भर है।

### राजनयिक रणनीति (Diplomatic Strategy)

प्रत्येक देश के राजनीतिक एवं नेतागण अपनी सरकार की विदेश नीति की सामान्य रूपरेखा तैयार करते हैं ताकि विदेश नीति को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सके। इस प्रकार एक देश की विदेश नीति एवं राजनयिक रणनीति दो भिन्न बातें हैं। ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों के मध्य स्थित अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० ए० कीसिंगर (Dr. A. Kissinger) लिखते हैं कि—“शान्ति को सीधे रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह कुछ परिस्थितियों एवं शक्ति सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। राजनय एक गत्यात्मक तत्व है। समय की परिस्थितियों में परिवर्तन एक नवीन विकासों के साथ-साथ इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। यह एक विकासशील धारणा है”

## राजनय का विकास (Development of the Diplomacy)

दो मानव समूहों के सम्बन्धों के व्यस्थित आचरण के रूप में 'राजनय का इतिहास' इतिहास से भी पुराना है। इसकी परम्पराएं प्रागैतिहासिक काल के उस अन्धकारपूर्ण युग से प्रारम्भ होती हैं जहां की स्थिति का ज्ञान केवल कल्पना और अनुमान पर निर्भर है। 16वीं शताब्दी के सिद्धान्तवादी यह मानते थे कि देवदूत (Angels) ही प्रथम राजनयज्ञ थे क्योंकि वे देवलोक और भूलोक के बीच संवादवाहकों का कार्य करते थे। भारतीय पौराणिक ग्रन्थों में उल्लेखित नारद को राजनयज्ञों का पूर्वज माना जा सकता है। इन कल्पनाओं के पीछे कोई ऐतिहासिक तथ्य न होने के कारण ये निराधार हैं और इसलिए मान्य नहीं हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान है कि राजनय का जन्म तब हुआ जब मनुष्य ने अकेले भटकना छोड़कर समूहों अथवा गिरोहों में साथ रहना प्रारम्भ किया होगा। इन आदि मानव समूहों के सदस्यों को एक समय समझ आ गई कि यदि वे अपने शिकार को सीमाओं के सम्बन्ध में पड़ोसी समूह से समझोता कर लें तो लाभप्रद रहेगा। इस प्रकार की सीमा सम्बन्धी परम्पराएं पशु संसार में भी वर्तमान है। छोटे पक्षी भी इसका अनुगमन करते हैं। तत्कालीन गिरोहों के बीच आपसी विवाद और शत्रुतापूर्ण भावनायें भी रहती होंगी। इनके निराकरण के लिए वे यदा-कदा सन्धि-वार्ता या दोनों पक्षों की हित वार्ता करते होंगे। इसके लिए दूसरे समूहों की सीमा में दूत भेजने का प्रचलन हुआ होगा। शीघ्र ही वे आदि मानव समझ गये होंगे कि यदि विरोधी पक्ष के दूत अपनी सीमा में आते ही मार दिया गया तो सन्धि वार्ता सन्तोषजनक रूप से नहीं हो सकती। अतः यह निश्चय किया गया होगा कि एक दूसरे के दूतों को कोई क्षति नहीं पहुंचाई जाये और सन्धि वार्ता तक उनकी पूर्ण रक्षा की जाये। इस प्रकार राजनयिक उन्मुक्तियों के सिद्धान्त का जन्म हुआ। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में, मनु के उपदेशों में तथा हेमर की कविताओं में हमें इन उन्मुक्तियों का परिचय मिलता है। समय के साथ-साथ दौत्य पद के विभिन्न अधिकार बढ़ते गये। दूतों एवं सन्धिकर्त्ताओं को अनतिक्रम्य माना जाने लगा।

आदिकालीन समाजों में सभी विदेशियों को खतरनाक तथा दूषित माना जाता था। अतः अन्य समाज की सीमा में प्रवेश पाने से पूर्व उसका विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा शुद्धिकरण कर दिया जाता था। ये प्रक्रियायें अत्यन्त विचित्र और कष्टदायक हुआ करती थीं, जैसे अग्नि की लपटों में होकर निकलना या नाचना, जादू-टोने से शुद्धि कराना आदि इस परम्परा के अवशेष कुछ समय पूर्व तक प्राप्त होते हैं। 15वीं शताब्दी में वेनिश गणराज्य ने उन स्वदेशवासियों को मृत्यु की धमकी दी जो विदेशी दूतावासों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क रखते थे। शुद्धिक्रिया के झंझटों तथा कष्टों से बचाने के लिए यूनान में दूतों को देवता हरमेस (Hermes) के संरक्षण में माना जाने लगा और इस प्रकार दौत्यकर्म को धर्म का चोंगा पहना दिया गया धार्मिक भावना के प्रभाव से दूत का व्यक्तित्व रक्षणीय एवं अनतिक्रम्य बन गया। प्रो० ओपनहोम के कथनानुसार, "पुरातन काल में भी जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि जैसी किसी विधि का पता नहीं था, राजदूतों की विशेष रक्षा की जाती थी तथा उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे। वे उन्हें किसी विधि के कारण नहीं वरन् धर्म के कारण प्राप्त थे और राजदूतों को अनतिक्रम्य माना जाता था। दूतों को हरमेस देवता का संरक्षण दौत्यकर्म की प्रतिष्ठा के लिए दुर्भाग्यशाली सिद्ध हुआ। दूत को छल से भरा हुआ समझा जाने लगा क्योंकि हरमेस अपनी चालाकी तथा छलछद्म के लिए प्रसिद्ध था। ऐतिहासिक काल में राजनय का जन्म यूरोप में आधुनिक राज्यों के जन्म से सम्बद्ध है। 16वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी के बीच आधुनिक राष्ट्र राज्यों का विकास हुआ है। इनके साथ-साथ राजनय भी आधुनिक अर्थ में विकसित हुई। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक व्यवसाय के रूप में राजनय का प्रारम्भ तथा स्थायी राजदूतों एवं मन्त्रियों की नियुक्ति पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में होने लगी थी। 1815 की वियना कांग्रेस में राजनय को दूसरे व्यवसायों की भांति एक पथक व्यवसाय की मान्यता दे दी गई।

राजनय के दो अंग हैं – राजनीतिक आचार (Diplomatic Practice) तथा राजनयिक सिद्धान्त (Diplomatic Theory)। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। नए राजनयिक आचारों से राजनयिक सिद्धान्तों का कलेवर बढ़ता है और नए राजनयिक सिद्धान्त राजनयकों के आचार को प्रेरणा एवं मार्गदर्शन देते हैं। यहां हम राजनीतिक सिद्धान्त के क्रमिक विकास का विवेचन करेंगे। राजनयिक सिद्धान्त का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार एवं सन्धि-वार्ता के सिद्धान्तों एवं तरीकों के स्वीकृत विचार से है। राजनीतिक सिद्धान्त के अतीतकालीन इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उसके विकास की गति हमेशा प्रगति की ओर नहीं रही है। अनेक बार इसका विकास अवरुद्ध हो जाता है तथा वह अवनति की ओर भी अग्रसर होने लगता है। प्रो० मोवेट ने यूरोपीय राजनयिक सिद्धान्त के विकास को तीन कालों में वर्गीकृत किया है :-

- (क) 476 से 1476 तक का काल – इस काल में राजनय पूर्णरूपेण असंगठित था।
- (ख) 1476 से 1914 तक – इस काल में राजनयिक सिद्धान्त ने यूरोपीय राज्य व्यवस्था (State System) की नीति का अनुसरण किया। इस समय का राजनय यूरोप तक ही सीमित रहा।
- (ग) 1914 से आज तक का काल – राष्ट्रपति विलसन ने अपनी घोषणा में कहा था कि संसार में प्रजातंत्रवाद का उदय हो गया है। फलतः इस युग में विकसित राजनय को प्रजातंत्रात्मक राजनय कहा गया।

हेरल्ड निकल्सन आदि कुछ विचारक राजनयिक सिद्धान्त के विकास को इस प्रकार कालक्रमों में विभाजित करने से सहमत नहीं हैं। वे इसके विकास को निरन्तरतापूर्ण मानते हैं। राजनयिक सिद्धान्त का विकास अन्तर्राष्ट्रीय कानून से काफी प्रभावित रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता हालैण्ड निवासी हूग ग्रोशियस (Hugo Grotius) था। इसने 1625 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ (The Law of War and Peace) में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्यक विवेचन किया है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा में उन सभी आचरणों को लिया था जिनका पालन सभ्य राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में करते हैं। इस प्रकार राजनय भी इसका एक अंग बन जाता है।

प्रागैतिहासिक काल में राजनयिक सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध में अनुमान है कि आरम्भ में व्यक्ति जातिगत एवं गिरोहगत भावना से प्रभावित थे। वह अपनी जाति अथवा गिरोह के हितों की सिद्धि के लिए दूसरी जाति या गिरोह के हितों का किंचित मात्र भी ध्यान नहीं रखता था। क्रमशः परिस्थितियां बदलने पर उसके संकीर्ण दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अब वह अन्तर्जातीय एवं उभयपक्षीय अधिकारों तथा हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहने लगा। जातियों एवं गिराहों में पारस्परिक सुरक्षा की भावना बाद में विदेश नीति को प्रभावित करने लगी। इसी के फलस्वरूप राजनय के सिद्धान्तों का भी स्फुरण हुआ। निकल्सन के कथनानुसार "राजनयिक सिद्धान्त की प्रगति निषेधक, जातिगत या वर्गगत अधिकारों को संकुचित भावना से अभिव्यापक साधारण हितों की विषय भावना की ओर हुई है।" राजनयिक सिद्धान्त के विकास का अध्ययन निम्नलिखित कालों के अन्तर्गत किया जा सकता है :-

**(1) यूनानी काल (Greek Period) :-** भारत के समान यूनान भी प्राचीन काल में सभ्यता और संस्कृति का गढ़ रहा है। यद्यपि आज का यूनान भारत के समान अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का उपासक नहीं है फिर भी आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता को प्रभावित करने में यूनान की प्राचीन सभ्यता ने काफी योगदान दिया है। राजनयिक सिद्धान्त के विकास में भी उसका महत्वपूर्ण योगदान समस्त पाश्चात्य जगत स्वीकार करता है।

यूनानी लोग अपने को एक सभ्य जाति कहते थे तथा अपनी जाति का नाम हेलेन (Hellen) रख रखा था। अन्य जातियों को वे जंगली, असभ्य, हीन जातियां समझ उन्हें बारबेरस (Barbarys) पुकारते थे। समस्त यूनान में एक ही जाति थी तथा उनकी सभ्यता और संस्कृति एक होने के कारण उनमें एकता स्थापित थी पर राजनीतिक दृष्टि से यूनान छोटे-छोटे नगर-राज्यों में बंटा था। यद्यपि इन राज्यों में परस्पर युद्ध भी होते थे पर युद्धों में भी वे मानवता से नीचे नहीं गिरते थे। इन राज्यों में "युद्ध और शान्ति" के कालों में कैसा सम्बन्ध रहे इसके लिये वे सम्मेलन कर निश्चित नियम बनाते थे।

आधुनिक समय में जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते हैं और विभिन्न राज्य पारस्परिक समस्याओं का निदान खोजते हैं उसी प्रकार यूनानी नगर राज्य सम्मेलन किया करते थे। संयुक्त राष्ट्र संघ के समान ही उनकी क्षेत्रीय परिषद या सम्मेलन (Amphictyonic) था। ये सम्मेलन यूनानी नगर राज्यों में घनिष्ठता बढ़ाने के साधन थे। यूनानी भौगोलिक दृष्टि से पास-पास बसे थे तथा उनमें सांस्कृतिक एकता भी थी। अतः इन सम्मेलनों में सहयोग एवं सद्भावना का वातावरण व्याप्त रहता था।

यूनान के क्षेत्रीय सम्मेलनों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। "उनका एक स्थायी कार्यालय होता था जिसका मुख्य कार्य था - पुण्य स्थानों की रक्षा करना, कोषों की रक्षा करना, तीर्थ यात्रियों के आवागमन की सुविधाओं की व्यवस्था करना तथा विभिन्न नगर राज्यों के बीच राजनीतिक मामलों पर विचार-विमर्श करना एवं आवश्यक कार्यवाही करना। इस प्रकार यूनानी अपने सामान्य हितों की रक्षा करने में महत्वपूर्ण राजनयिक कार्य करते हुये राजनयिक पद्धति के जन्मदाता बने।" (Although the main purpose of these conferences, as of the permanent secretariat which they maintained, was the safeguarding of shrines and treasuries and the regulation of the pilgrim traffic, they also dealt with the political matters of common. Hellenic interest and as such, had as important diplomatic function and introduced an important diplomatic innovation." -H. Nicolson.

इन सम्मेलनों को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे। ये अधिकार आज की भाषा में "राज्य क्षेत्रातीत अधिकार अथवा राजनयिक विशेषाधिकार" कहे जाते हैं। सम्मेलन के सदस्य राष्ट्र यह स्वीकार कर लेते थे कि युद्ध काल में एक दूसरे का विध्वंस नहीं करेंगे तथा उनके जल-साधनों में किसी प्रकार की रूकावट नहीं डालेंगे। इस समझौते का उल्लंघन करने वाला राज्य अन्य राज्यों का कोपभाजन बनता था और उसे उनके आक्रमण का सामना करना पड़ता था एवं दण्ड भुगतना पड़ता था। क्षेत्रीय परिषद की दण्डात्मक कार्यवाही का उल्लेख एवं दृष्टान्त यूनानी इतिहास में मिलते हैं। राजनयिक सिद्धान्त के विकास में यूनानियों का विशेष स्थान रहा है।

यूनानी क्षेत्रीय परिषदें अन्त में असफल हुईं। उसकी असफलता के कारण दो थे - "प्रथम तो ये परिषदें व्यापक नहीं थीं और बहुत शक्तिशाली राज्य उससे बाहर थे।" (They were never universal and many important states remained outside.) दूसरे "उनके पास इतनी शक्ति न थी कि वे अपने निर्णयों को शक्तिशाली राज्यों से पालन कर सकती।" (They did not possess sufficient corporate force to enable them to impose their rulings upon the stronger powers.) राष्ट्र संघ के कर्णधारों ने इन परिषदों की असफलता से कोई सबक नहीं ग्रहण किया और उसका भी वही हाल हुआ जो इन परिषदों का हुआ था।

इतना होने पर भी यूनानी परिषदों ने उस हिंसक काल में भी कुछ काल तक शान्ति का राज्य स्थापित किया। उन्होंने पंच-निर्णय के सिद्धान्त की व्यवस्था कर भावी पीढ़ी के लिये राजनय के मार्ग का दरवाजा खोले रखा। स्पार्टा के राजा आर्चिडेमस का नाम उल्लेखनीय है जिसने सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि "पंच निर्णय को मानने वाले राज्य को दोषी न ठहराया जा सकेगा। दोषी वह होगा जो इसको स्वीकार न करेगा।"

इन परिषदों की असफलता का परिणाम पुनः युद्ध का भड़कना हुआ और "सहयोग के स्थान पर पराधीनता का बोलबाला हुआ।"

**(2) रोमन काल (The Roman Period) :-** यूनान के पतन के बाद रोमन काल आया। रोमन शक्ति के पुजानी थे। उन्होंने सैनिक शक्ति को बढ़ाकर एक विशाल राज्य की स्थापना की तथा अराजकता के स्थान पर शान्ति की स्थापना की। हेरल्ड निकलसन ने रोमनों की बड़ी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "रोमनों ने राजनयिक सिद्धान्त के विकास में बहुत महत्वपूर्ण सहयोग दिया, उन्होंने छल और चापल्य का स्थान आज्ञापालन एवं संगठन को दिया व अराजकता के स्थान पर शान्ति का अभ्यास किया।" निकलसन का यह मत विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि रोमन काल में राजनयिक सिद्धान्त का कोई विकास नहीं हुआ बल्कि वह काफी पीछे हट गया। यदि पीछे कदम बढ़ाना ही विकास है तो निकलसन की बात मानने योग्य है।

रोमन साम्राज्य में सैनिक शक्ति के आधार पर व्यवस्था, अनुशासन, आज्ञा-पालन, शान्ति और संगठन की भावना स्थापित की थी। इनका राजनयिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं। इसके विपरीत साम्राज्यवादी मनोवृत्ति ने उस समय स्वस्थ राजनयिक सिद्धान्त की प्रगति पर रोग लगा दी और उसे आगे नहीं बढ़ने दिया। आलोचकों का यह भी कहना है कि यदि हम यह मान लें कि सैनिक शक्ति के बल पर शान्ति की स्थापना राजनयिक सिद्धान्त को विकसित करता है तो प्रत्येक साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का शासक साम्राज्य बढ़ाने लगेगा और यह दावा करेगा कि वह शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना राजनयिक सिद्धान्त को बढ़ावा देने के लिए कर रहा है। निकलसन का सिद्धान्त साम्राज्यवाद और सैनिकवाद को बढ़ावा देने वाला है। वास्तविकता यह है कि रोमन साम्राज्य ने स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर विकसित होने वाले राज्यों की प्रगति में रोड़ा अटकाया और उन्हें दासता की जंजीरों में बांध उनके साथ अन्याय किया। रोमन साम्राज्य से पड़ोसी राज्य सदैव भय खाते रहते थे। उनके साम्राज्य के सम्बन्ध शेर और बकरी जैसे थे। उनमें समता, प्रेम, सहयोग की भावना न थी, बल्कि भय, आतंक एवं दासता की भावना थी। उनकी स्वतन्त्रता पर सदैव "डेमाक्लोज की तलवार" लटकी रहती थी। निकलसन ने रोमन साम्राज्य की विशालता को देखकर शायद उसकी प्रशंसा की हो। वह समझता हो कि विश्व राज्य की जो कल्पना आज लोग लगा रहे हैं, रोमन साम्राज्य उसे प्राप्त करना चाहता था। पर विश्व साम्राज्य और विश्व राज्य के गुणों में महान अन्तर है। साम्राज्य के अंग और एक संघ के अंग कैसे समता रख सकते हैं। रोमन साम्राज्य के विकास में चर्च ने भी सहयोग दिया था। वह समस्त ईसाई जगत को जोड़ने और सब में प्रेम-भाव भरने का दावा करते थे पर आज तक भय और आतंक के पीछे प्रेम और एकता कभी स्थापित न हो सकी है। अतः वह पवित्र साम्राज्य भी कुद समय बाद बिखर गया।

राजनयिक सिद्धान्त के विकास में तो रोमन साम्राज्य ने कोई सहयोग नहीं दिया बल्कि उसे सदियों पीछे धकेल दिया। पर उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अवश्य जन्म देकर एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

**(3) बाइजेन्टाइन साम्राज्य काल (The Byzantine Empire Period) :-** कुस्तुन्तुनिया को केन्द्र मानकर बाइजेन्टाइन साम्राज्य की स्थापना की गयी थी। रोमन साम्राज्य के समान यह अपनी शक्ति बनाये रखने के लिये सैनिक शक्ति पर आधारित नहीं रह सकता था क्योंकि उसके चारों ओर असभ्य और बर्बर जातियाँ निवास करती थी। अतएव उसने अपनी सुरक्षा के लिये कूटनीति से काम लिया। उसने बर्बर जातियों को शक्तिहीन बनाने के लिए छल, प्रपच, प्रलोभन तथा धर्म-प्रचार का सहारा लिया। वह किसी जाति को प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लेता, उनमें परस्पर फूट डाली तथा धर्म परिवर्तन कर अनैतिकता का प्रचार किया। इस पर निकलसन का कहना है कि "इस प्रकार राजनय की नैतिकता एवं सहयोग की भावना का अन्त हो गया तथा उसके स्थान पर अनैतिकता, छल-कपट और विध्वंसक भावनाओं का प्रभाव बढ़ा। राज्यों के आपसी सम्बन्ध, ईमानदारी और पवित्रता जाती रही तथा कूटनीति व्यवहार बढ़ गया। लालच, फूट, दुराग्रह, धोखेबाजी आदि दुर्गुण राजनयिक सम्बन्धों का आधार बन गये।" (Diplomacy became the stimulant rather than antidote to the greed and folly of mankind. Instead of cooperation, you had disintegration; instead of unity, disruption; instead of reason you had astuteness; in place of moral principles you had ingenuity.)

**(4) मध्य युग (The Middle Ages) :-** मध्य युग के प्रारम्भ काल में यूरोप में सामन्तवादी व्यवस्था प्रचलित हुई। एक साम्राज्य में अनेक सामन्त होने लगे। सम्राट की शक्ति क्षीण हो गयी और सामन्त अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वशक्तिशाली बन गये। सामन्त का क्षेत्र एक पथक राज्य के समान हो गया। उस राज्य के निवासी अपनी निष्ठा सम्राट के स्थान पर अपने सामन्त में रखने लगे सामन्तवादी व्यवस्था में पुनः युद्ध चलने लगे। 14वीं शताब्दी में सामन्तवादी व्यवस्था के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई पर युद्धों का तांता न टूटा। युद्ध की स्थिति में राज्य शक्ति के लिये तरसने लगे। इसके अतिरिक्त यह काल वाणिज्य व्यापार का काल था अतः शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का जोर बढ़ा।

मध्य युग में राजनय के सम्बन्ध में 5 सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये – (i) सभी राज्य एक परिवार के सदस्य हैं, (ii) यह परिवार एक कानून या नियम द्वारा संचालित होता है जो समस्त सदस्यों पर पारस्परिकता के आधार पर लागू होता है, ऊपर से जबरन नहीं थोपाजाता, (iii) व्यवहार में इस नियम को वास्तव में क्रियान्वित किया जाता है, (iv) सदस्यों के आपसी मनमुटाव यथासम्भव शान्तिपूर्वक सुलझाये जायें। यदि सभी शान्तिपूर्ण उपाय असफल हो जायें तो युद्ध की सम्भावना बढ़ जाती है, (v) राजनय खुला हुआ, स्पष्ट तथा प्रजातन्त्रात्मक होना चाहिये।

निकलसन का कहना है कि मध्य युग के प्रारम्भ में राष्ट्रीय राज्यों ने बाइजेन्टाइन साम्राज्य मनोवृत्ति को इटली के नगर-राज्यों से प्राप्त किया था अतः उस समय राजनय का स्तर ऊँचा नहीं था। इसके प्रमुख कारण दो थे—

(अ) उस समय अपने राज्य को सुरक्षित रखने के लिए कूटनीति जो निम्न स्तर की थी, काम में लायी जाती थी। दूसरे देशों की दुर्बल बनाने के लिये उनमें विद्रोह कराये जाते थे। उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जाता था। विद्रोहियों को धन दिया जाता था, जातियों और दलों में फूट डाली जाती थी आदि। लोगों की नैतिक भावना भी बदल गयी थी। राष्ट्रहित झूठ बोलना, धोखा देना तथा चोरी करना भी अनैतिक नहीं माना जाता था। उस काल में एक राजदूत को सम्माननीय गुप्तचर (Honourable spy) माना जाता था। राजदूत यह विश्वास करता था कि व्यक्तिगत नैतिकता (Private Morality) और लोक नैतिकता (Public Morality) अलग-अलग वस्तुएँ हैं। उनका यह भी विश्वास था कि कार्यालय में झूठ बोलना (Official lie) व्यक्तिगत झूठ बोलने से भिन्न है। ये राजदूत विदेशों में बात को घुमा-फिराकर रखने में कोई अनुचित बात नहीं समझते थे। जेम्स प्रथम के काल में हैनरी वाटन ने जो एक राजदूत था, राजदूत की परिभाषा इस प्रकार दी “राजदूत एक ईमानदार मनुष्य है जो अपने देश की भलाई के लिये दूसरे देश में झूठ बोलने के लिये भेजा गया है।” (An Ambassador is an honest man who is sent to lie abroad for the good of his country.) हेनरी वाटन की यह बात उसके किसी शत्रु ने जेम्स प्रथम तक पहुँचाई। जेम्स को बड़ा दुःख हुआ और उसने फिर हेनरी वाटन को कोई कार्य नहीं दिया। निकलसन कहता है कि यह बात हैनरी ने मनोविनोद के लिये कही थी। फिर इस बात से यह तो आभास मिलता ही है कि जनता राजदूत के विषय में क्या सोचती होगी।

(ब) दूसरा कारण यह था कि इटली निवासी मैक्यावली ने अपनी पुस्तक प्रिन्स (The Prince) 1513 में लिखी। “प्रिन्स” में मैक्यावली राजकुमार को कुछ उपदेश रोचक भाषा में देता है। यह ग्रन्थ शीघ्र ही यूरोप भर में लोकप्रिय बन गया। मैक्यावली के राजकुमार को उपदेश राजनय में भी प्रयुक्त होने लगे। यह उपदेश वास्तव में राजनय को बदनाम करने वाले सिद्ध हुये। उसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

“जब किसी राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में हो, तो वहाँ न्याय या अन्याय, उदार या निष्ठुर, गौरवपूर्ण या लज्जास्पद क्या है, इसका विचार नहीं होना चाहिये, इसके विपरीत स्वतन्त्रता बनाये रखना तथा जीवन रक्षा करने के साधन के अतिरिक्त प्रत्येक चीज की अवहेलना की जानी चाहिये।” (When safety of one's country is at stake, there must be no consideration of what is just or unjust, merciful or cruel, glorious or shameful, on the contrary everything must be disregarded except the course which will save her life and maintain her independence.)

“तुम्हें यह अवश्य जान लेना चाहिये कि लड़ने के दो तरीके हैं, एक विधि या कानून द्वारा, दूसरा शक्ति द्वारा। पहला ढंग मनुष्यों का है, दूसरा पशुओं का, किन्तु चूँकि पहला ढंग प्रायः यथेष्ट नहीं होता, इसलिये दूसरा ढंग अपनाना आवश्यक हो जाता है।” (You must know that there are two methods of fighting, the one by law, the other by force, the first method is that of men, the other of beasts, but as the first method is often insufficient one must have recourse to the second.)

“उन राजाओं ने बड़े कार्य किये हैं, जिन्होंने चालाकी और विश्वासघात के सहारे दूसरों को भ्रमित कर दिया है। इसलिये किसी दूरदर्शी शासक को कभी वचनों का पालन नहीं करना चाहिये, जिन्हें निभाने से उसके हितों की हानि होती है, विशेषकर उस समय जबकि वचनबद्ध होने के कारण समाप्त हो चुके हों। यदि सब मनुष्य अच्छे होते तो यह शिक्षा अच्छी न होती किन्तु चूँकि वे बुरे हैं और विश्वास निभाने को तैयार नहीं, इसलिये तुम भी विश्वास पालन के लिये बाध्य नहीं हो।”

मैक्यावली के उपदेश समयानुकूल थे। उस समय राजनीतिक परिस्थितियाँ बड़ी विकट थीं। युद्ध की निरन्तरता, राजनीतिक अस्थिरता, फूट और अराजकता इटली में व्याप्त थी। यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार मैक्यावली के उपदेश उपयोगी थे पर उससे राजनय बदनाम हो गया। राजनय में नैतिकता के स्थान पर अनैतिकता, ईमानदारी के स्थान पर छल-कपट, धोखेबाजी, सत्य के स्थान पर झूठ, विश्वास पालन के स्थान पर विश्वसघात आदि बातें घुस गयीं।

**(5) वर्तमान काल (The Modern Period) :-** मध्यकाल के अन्तिम दिनों में राष्ट्रीयता की भावना यूरोप भर में व्याप्त हो गयी। औद्योगिक उन्नति के कारण वाणिज्य-व्यापार का प्रसार हुआ। यूरोप के राज्य अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के कारण नये प्रदेशों की खोज करके वहाँ बसने लगे। राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार होने लगे। निकलसन ने कहा है कि “यह व्यापार

तथा वाणिज्य ही के द्वारा लोगों ने प्रथम बार अनुभव किया कि एक दूसरे के प्रति उन्हें बुद्धि से काम लेना चाहिये।" (It was through trade and commerce that people first learnt to apply commonsense in their dealings with each other.)

इस युग में राजनय के सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन हुये। विशेषकर दो राजनयिक सिद्धान्त उभर कर सामने आये।

(क) नैतिक सिद्धान्त अथवा दुकानदार सिद्धान्त (Moral Theory of Shopkeeper Theory)

(ख) राष्ट्रवादी सिद्धान्त या योद्धा सिद्धान्त (Nationalistic Theory or Warrior Theory)

**(क) नैतिक सिद्धान्त (Moral Theory) :-** नैतिक सिद्धान्त के समर्थक अधिकांश इंग्लैण्डवासी थे। उनका विश्वास था कि समाजिक सम्बन्धों में जिस प्रकार नैतिकता का महत्व होता है उसी प्रकार राज्यों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना में नैतिकता की आवश्यकता होती है। निकलसन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "नैतिक राजनय अन्ततः अधिक प्रभावशाली होता है और अनैतिक राजनय स्वयं अपने उद्देश्यों में पराजित होता है।" (Moral diplomacy is ultimately the most effective and the immoral diplomacy defeats its own purpose.) के०एम० पनिकर के मतानुसार "छलकपटपूर्ण राजनय एक देश को लक्ष्य प्राप्त करने में कदाचित ही सहायता करता है।" नैतिक राजनय के समर्थक अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए चार साधन अपनाने का दावा करते हैं—तुष्टीकरण (Appeasement), अननय (Conciliation), समझौता (Compromise) तथा साख (Credit)।

नैतिक सिद्धान्त के मानने वालों का लक्ष्य "राष्ट्र—कल्याण तथा व्यापार वृद्धि" होता है। नैतिक सिद्धान्तवादी यह विश्वास रखते हैं कि जब दो प्रतिद्वन्द्वी आमने—समने हों तो संघर्ष करने के स्थान पर दोनों को समझौता कर लेना चाहिये अन्यथा दोनों ही नष्ट हो जायेंगे। प्रत्येक विवाद का एक मध्यबिन्दु होता है। यदि उसे खोज निकाला जाये तो विवाद का अन्त हो सकता है। इस मध्यबिन्दु को पाने के लिये खुला विचार—विमर्श, सत्य—व्यवहार, पारस्परिक आदान—प्रदान आदि साधन प्रयुक्त किये जाने चाहिये। नैतिक विचारधारा को दुकानदार की विचारधारा भी कहा जाता है।

**(ख) राष्ट्रवादी सिद्धान्त (Nationalistic Theory) :-** यूरोप के अधिकांश निवासी नैतिक विचारधारा के विपरीत राष्ट्रवादी विचारधारा के समर्थक हैं। उनका कहना है कि नैतिकता का सिद्धान्त भले ही सामाजिक जीवन में या व्यक्तिगत जीवन में महत्व रखता है पर अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में वह सर्वथा अनुपयुक्त है। उनका कहना है कि प्रत्येक राज्य के कुछ स्वार्थ एवं हित होते हैं। उसे अपने स्वार्थों की सिद्धि में निरन्तर लगा रहना चाहिये। अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये उन्हें नैतिकता अथवा अनैतिकता के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिये। यह सिद्धान्त "योद्धा सिद्धान्त" भी कहलाता है। इस सिद्धान्त को पालन करने करने से एक विशेष लाभ यह होता है कि देश की जनता में आज्ञा पालन, बलिदान और अनुशासन की भावना प्रबल हो जाती है। इस विचारधारा के मानने वाले शक्ति राजनीति (Power Politics) में विश्वास रखते हैं। वे राष्ट्रीय गौरव, प्रतिष्ठा, अग्रत्व, यथास्थिति एवं स्वाभिमान से प्रभावित होकर व्यवहार करते हैं। "उनके विचार से सन्धि—वार्ता भी सैनिक अभियान का एक अंग मात्र है। सन्धि—वार्ता में उनका लक्ष्य दूसरे पक्ष पर पूर्ण विजय प्राप्त करना होता है, यदि सन्धि—वार्ता सफल होती है तो विजय मिलती है अन्यथा पराजय।" (Fundamental to such a conception of diplomacy is the belief that the purpose of negotiation is victory and that the denial of complete victory means defeat.)

एक विचार यह भी है कि सन्धि की याचना करने वाला पक्ष दुर्बल होता है, अतः दूसरा पक्ष इस दुर्बलता का लाभ उठाने के लिए प्रत्येक प्रकार का छल—फरेब, धोखाधड़ी तथा प्रपंचों का जाल बुनकर दूसरे पक्ष पर पूर्ण तरह विजय पाना चाहता है। वह सन्धि—वार्ता को युद्ध का अंग समझ युद्ध की समस्त तकनीक उसमें प्रयुक्त करना चाहता है जैसे आक्रमण करना, कपटपूर्ण पीछे हटना, धमकी देना, दबाव डालना, शक्ति प्रदर्शन करना एवं निर्दयता दिखाना आदि इस प्रकार "राष्ट्रवादी विचारधारा" "योद्धा विचारधारा" है। अपने हित के समर्थन में हर प्रकार की अनैतिकता को अपनाने में वे हिचकते नहीं। वे नैतिकता को दुर्बलता का प्रतीक मानते हैं। एक शक्तिशाली राज्य को समझौते एवं नैतिकता निभाने में समय नष्ट नहीं करना चाहिये। उसे युद्ध का मार्ग अपनाना चाहिये और दुर्बलों की दुर्बलता से पूरा—पूरा लाभ उठाना चाहिये। यह विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीयवाद की विचारधारा के विपरीत है जबकि नैतिक विचारधारा में अन्तर्राष्ट्रीयवाद की झलक दिखाई देती है।

आजकल का युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। वैज्ञानिक आविष्कार एवं तकनीकी प्रगति के इस युग में नैतिक विचारधारा ही उपयुक्त और महत्वपूर्ण है। आजकल राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना में नैतिक विचारधारा का ही अधिक प्रभाव कार्य कर रहा है। प्रत्येक राज्य अपने पक्ष के समर्थन तथा विरोधियों की आलोचना में नैतिक तर्क ही उपस्थित करता है। प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की कसौटी नैतिकता ही मानी जाती है। जो राष्ट्र नैतिकता के नियमों की अवहेलना करता है उसके विरुद्ध विश्व जनमत हो जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजनय का इतिहास व्यक्तिगत स्वार्थ की संकुचित सीमाओं से होता हुआ क्रमशः राष्ट्रीयता एवं

अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर होता है। अतः "अन्य काल में राजनय के विकास में जिन तत्वों को प्रोत्साहन मिला वे ये थे – अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य व्यवसाय का प्रसार, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता का अधिकाधिक प्रभाव, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अधिकाधिक मान्यता आदि।" निकलसन के मतानुसार "राजनय पर धर्म का नहीं वरन् सामान्य ज्ञान (Commeonsense) का निर्णयकारी प्रभाव रहा है।"

### राजनय के लक्ष्य (The Objectives of Diplomacy) :-

राजनय का प्रमुख लक्ष्य है कि राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिये शान्तिपूर्ण साधनों का प्रयोग किया जाये। यदि कोई राष्ट्र अपने हित की पूर्ति के लिये युद्ध का सहारा लेता है तो उसका राजनय असफल रहा है। भारतीय विचारक चाणक्य का मत है कि "राज्य आदर्शों को लक्ष्य मानकर नहीं चलता है वरन् राज्य के लिए वास्तविक सफलता प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य होता है।" नीति की सफलता उसके द्वारा प्राप्त होने वाले फल पर निर्भर है। के० एम० पन्निकर का कहना है कि "एक राजनयज्ञ का मुख्य कार्य अपने देश का नाम ऊँचा रखना है, इसके लिये आदर भाव बनाना तथा इसके प्रति सद्भावना पैदा करना है।"

विचारकों ने राजनय के लक्ष्य निम्नलिखित बताये हैं :-

(1) **राष्ट्रीय हितों की रक्षा (To safeguard the National Interest) :-** राजनय का प्रमुख लक्ष्य यह है कि वह किसी न किसी उपाय से अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करे। राष्ट्रीय हितों के अन्तर्गत – सीमाओं की रक्षा करना, आर्थिकहित के लिये व्यापार की वृद्धि करना तथा विदेशों में बसे राष्ट्रकों की रक्षा करना आदि। आजकल प्रत्येक देश अपनी संस्कृति एवं जीवनयापन के तरीकों को भी दूसरे देशों में प्रचार का इच्छुक रहता है क्योंकि वह संसार की नजरों में सम्मान प्राप्त करना चाहता है तथा अन्य देशों से सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है।

(2) **राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अखण्डता की रक्षा करना (To safe guard the Internal, Political and Economic Integrity of the State) :-** प्रत्येक राज्य चाहता है कि उसकी प्रादेशिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अखण्डता बनी रहे और उनका अतिक्रमण न हो अतः इसी उद्देश्य से वह अन्य देशों में राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। दूसरे देशों में बैठा राजनयज्ञ यह देखता रहता है कि उस देश की राजनीतिक शक्ति रणकौशल के महत्व के क्षेत्र पर नियन्त्रण करके आर्थिक दबाव एवं राजनीतिक प्रभाव बढ़ाकर उसके देश की सुरक्षा के लिये खतरा न पैदा कर दे। वह ऐसी अवस्था में अपने देश के राजनयितज्ञों को उक्त देश की गतिविधियों से सूचित कर देता है और उक्त देश की नीतियों पर रोक लगा देने का प्रबन्ध करता है।

(3) **मित्रों से सम्बन्ध बढ़ाना और शत्रुओं को तटस्थ बनाना (Strengthening of relationship with friendly countries and neutralisation of forces hostile to itself) :-** राजनीतिक क्षेत्र में मित्रता और शत्रुता स्थायी नहीं होती है। राष्ट्रीय स्वार्थ के आधार पर शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु बनते देर नहीं लगती। राजनय का एक लक्ष्य यह भी है कि मित्र राष्ट्रों में लगातार वह मित्रता को बढ़ाता रहे, गलतफहमियों को दूर करता रहे, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अधिक से अधिक मित्र बनाता रहे। संधि और समझौते द्वारा अपने पक्ष को प्रबल करता रहे। शत्रु देशों में भी एक ओर वह उन्हें तटस्थता की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है और दूसरी ओर अपने मित्रों में उसके विरुद्ध भय का संचार करता है। कम से कम शत्रु जिस देश के होंगे उसका राष्ट्रीय सम्मान बढ़ेगा और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसका प्रभाव बढ़ेगा, यह सब राजनय की सफलता पर आधारित है।

(4) **विरोधियों के गठबन्धन को रोकना (To prevent other hostile states from combining against her) :-** राजनय द्वारा मित्रों की संख्या बढ़ाना तो आवश्यक है साथ में यह भी देखना आवश्यक है कि अपने देश के विरोधी राष्ट्र आपस में गठबन्धन न कर लें। विरोधियों की शक्ति बढ़ना देश के लिये खतरा होगा अतः उसके लिये विरोधियों में कुछ के साथ समझौता करके उन्हें गठबन्धन से अलग करना होगा, कुछ राज्यों को समर्थन देकर निष्पक्ष करना होगा और कुछ राज्यों का समर्थन एवं सहायता देना बन्द करना होगा जो दाता राज्य के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। यदि इस प्रकार के सभी उपाय सफल न हों और शक्ति का प्रयोग करना ही आवश्यक हो जाये तो यह कार्य सर्वाधिक लाभप्रद परिस्थितियों में ही किया जाये और इस प्रकार किया जाये कि विश्व के अन्य देश यह अनुभव करें कि वह न्याय के पक्ष में हथियार उठा रहा है और उसका लक्ष्य अपने अधिकारों की रक्षा करना मात्र है। युद्ध की अवस्था में यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि कौनसा पक्ष आक्रमणकारी है और कौनसा पक्ष नहीं। क्योंकि प्रत्येक पक्ष यही दावा करता है कि वह रक्षात्मक युद्ध कर रहा है। राजनय की सफलता इसी बात में निहित है कि यह दावा संसार स्वीकार करते हैं।

(5) **युद्ध का संचालन (The conduct of war) :-** युद्ध को बुरा बताकर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। वह तो अपरिहार्य है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही युद्धों को रोकने का प्रयास चल रहा है पर अभी तक उसमें सफलता नहीं मिल पायी है। आज भी यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक तथ्य है। प्राचीन काल से ही शक्तिशाली राज्य युद्ध को अपनी राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में अपनाते रहे हैं। कमजोर और दुर्बल राज्य युद्ध का जोखिम उठाने से डरते हैं। वे अपने मित्रों की संख्या बढ़ाने के लिये राजनय का प्रयोग करते हैं और राजनयिक तरीकों से अपने अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कर लेते हैं। यदि युद्ध आवश्यक बन जाये तथा सन्धिवार्ता के सभी साधन असफल हो जायें तो राजनय के दायित्व का रूप बदल जाता है। युद्ध काल में भी प्रभावशाली राजनय का महत्व है। के०एम० पन्निकर के अनुसार, "प्रभावशाली राजनय के बिना न तो युद्ध लड़े जा सकते हैं और न जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत राजनयिक तैयारियाँ एवं युद्धकाल में प्रभावहीन राजनय एक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र की हार एवं विनाश का कारण बन जाता है।"



**(6) आर्थिक विकास (Economic Development) :-** वह समय बीत चुका है जब राजनय का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक ही था। समय के परिवर्तन के साथ राजनीति से भिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति भी महत्व रखती है। इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य आर्थिक, व्यवसायिक और वाणिज्य के होते हैं। किसी भी देश का आर्थिक विकास उस देश की समृद्धि के लिये आवश्यक है, इसीलिये राजनय आर्थिक विकास की प्राप्ति में संलग्न रहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु राजनय विभिन्न प्रयास करता है। जैसे उद्योगों की उत्तरोत्तर वृद्धि, कच्चे माल की प्राप्ति, निर्मित माल के लिये बाजारों की प्राप्ति, प्रतियोगिता की समाप्ति, एकाधिकार बनाये रखने के प्रयत्न, आर्थिक जासूसी आदि। पणिकर आर्थिक विकास के राजनय को व्यापारिक राजनय (Commercial diplomacy) की संज्ञा देता है। आधुनिक जगत में निरन्तर जटिल परन्तु महत्वपूर्ण होता जा रहा है। यही कारण है कि सामान्य राजदूत, विशिष्टीकरण के युग में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता और वाणिज्य दूतों (Consuls Commercial attaches and Trade Commissioners) आदि की नियुक्ति आज राजनय का एक आवश्यक अंग बन गया है। द्वितीय महायुद्ध के बाद शीत युद्ध के काल में महाशक्तियों ने आर्थिक और व्यापारिक राजनय का खुलकर प्रयोग किया है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीन पर सामरिक महत्व के कच्चे माल के निर्यात पर रोक लगाई थी। आज क्योंकि साम्यवादी व्यवस्था में व्यापार राज्याधिकृत है अतः राजनय के माध्यम से ही इसका विकास सम्भव है।

**(7) सहायता प्राप्ति (To get aid) :-** बढ़ती हुई जनसंख्या, अकाल, बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोपों के परिणामस्वरूप खाद्यान्न और धन की सहायता देना अथवा इसे प्राप्त करना, सभी देशों के राजनय का एक आवश्यक अंग बन गया है जिसे 'खाद्यान्न का राजनय' (Food Diplomacy) अथवा 'सहायता का राजनय' (Aid Diplomacy) का नाम दिया जाता है। खाद्यान्नों की कमी आज विश्वव्यापी है। खाद्यान्न के क्षेत्र में तो रूस और चीन जैसे देश को भी कभी-कभी खाद्यान्न की सहायता की आवश्यकता पड़ जाती है। एशिया और अफ्रीका के देश रूस, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों से राजनय के माध्यम से समय-समय पर खाद्यान्नों से सम्पन्न देश इस प्रकार की सहायता देते समय कभी-कभी शर्तें रखते हैं तथा अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु इस सहायता की आड़ में सहायता प्राप्त देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। इस प्रकार का हस्तक्षेप खाद्यान्न ही नहीं वरन् आर्थिक तकनीकी, सैनिक आदि सहायता के साथ भी किया जाता है। पणिकर के अनुसार, "राष्ट्रीय हित तथा सुरक्षा इस सर्वोपरि लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार और अपने देशवासियों की रक्षा भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका ध्यान रखना राजनय का उद्देश्य है।" संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यदि राजनय को वास्तव में मानव हितों की रक्षा करनी है तो उसका मूल उद्देश्य अपने आपको राजनीति के एक ऐसे अंग के रूप में देखना होगा जो व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय संकटों से दूर रखकर राज्यों के राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं उनकी अभिवृद्धि करे।

**(8) राज्यों के स्थाई हितों की पूर्ति (Serving of the permanent interests) :-** राजनय का मुख्य लक्ष्य राज्य के स्थाई हितों की पूर्ति करना है। इन स्थायी हितों की अवहेलना केवल संकट के समय ही हो सकती है। कभी-कभी अस्थायी लाभों के साथ भी इनकी सौदेबाजी की जाती है। जनता के आग्रह एवं दबाव के कारण सरकार को कुछ समय के लिए स्थाई हितों को छोड़कर अन्य हितों की प्राप्ति का प्रयास करना पड़ता है। यह राजनय की दृष्टि से अत्यन्त खतरनाक है। भावनाओं पर आधारित एक प्रतिक्रिया के दबाव में राज्य को अपनी विदेश नीति या राजनय को बदलना पड़े तो वह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है।

**(9) पारस्परिक आदान-प्रदान (Mutual Give and Take) :-** राजनय अपने मुख्य उद्देश्य राज्य की सुरक्षा तथा अधिकारों के निर्वाह के लिए पारस्परिक आदान-प्रदान की नीति का अनुसरण करता है। कोई राजनय यदि अन्तिम सत्यों (Ultimate Truths) की धारणा पर आधारित है, तो वह निश्चय ही असफल होगा। अतः एक सफल राजनय को व्यवहारिक होना चाहिये। उसे दूसरे राज्यों पर नैतिक निर्णय देने अथवा उसके अधिकार निर्धारित करने का प्रयास नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रत्येक राज्य का अपना जीवन दर्शन होता है। यदि एक राज्य यह चाहे कि अन्य राज्यों से राजनयिक सम्पर्क स्थापित करने से पहले वहां उस जैसे ही नैतिक तथा राजनीतिक मापदण्ड अपनाए जाने चाहिये तो राजनय असम्भव बन जायेगा। उच्च आदर्शों एवं नैतिक भाषा की प्रयोग केवल आत्म-हितों को उचित सिद्ध करने के लिए करना चाहिये।

**(10) सद्भावना की स्थापना (To establish goodwill) :-** राष्ट्रीय हित की उपलब्धि के लिए राजनय को अपने सभी उपलब्ध साधनों द्वारा दूसरे देशों के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहिये। यदि स्वागतकर्ता देश मित्र है अथवा शत्रु नहीं है तो सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने पर वहां राष्ट्रीय हितों की संतुष्टि भली प्रकार हो सकेगी। राज्यों के आपसी समझौते एवं सन्धियां भी आपसी सद्भाव एवं सन्धि पर निर्भर रहने चाहिये। दो राज्यों के हित सामान्य होने पर भी उनके बीच तभी सन्धि हो सकेगी जबकि लम्बे राजनयिक सम्पर्क द्वारा दोनों राज्यों की जनता के मनमुटाव तथा शंकायें दूर हो जायेंगी। इस पष्ठभूमि के बिना की गई सन्धि एक ही झटके में टूट जायेगी। सम्भावित शत्रु देश के साथ भी सद्भावना की स्थापना का प्रयास करना चाहिये क्योंकि यदि सरकारी नीति को नहीं भी बदला जा सका तो कम से कम उस देश में मित्रों एवं समर्थकों का एक वर्ग अवश्य तैयार किया जा सकेगा।

### **शक्ति तथा राजनय (Power and Diplomacy)**

राजनय के कई तत्त्व हैं जैसे नीति, कर्मचारीगण, राष्ट्रीय चरित्र आदि। लेकिन इन सब तत्त्वों में शक्ति का तत्त्व बहुत महत्वपूर्ण है। ये तत्त्व उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रभावी साधन के रूप में काम करते हैं।

राजनय में शक्ति की भूमिका निरन्तर एवं स्थिर (Constant and Conditioning) है। अन्य बातें समान रहने पर एक राष्ट्र की आर्थिक एवं

सैनिक शक्ति उसकी सम्मेलन में सफलता की पर्याप्त गारन्टी है। शक्ति ने वार्ता मेज ((Negotiation table) पर राष्ट्रों की अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की है। यह राष्ट्र को अपने विशेष दावों को आगे बढ़ाने में सहायक हो सकती है अथवा दूसरे राष्ट्रों के दावों का विरोध कर सकती है। फ्रैंड्रिक महान के अनुसार, "शक्ति के बिना राजनय की स्थिति उसी प्रकार होती है जैसे संगीत की उसके यन्त्रों के बिना (Diplomacy without arms is music without instruments)। राजनयिक वार्तालाप मेज पर सैनिक शक्ति की धमकी डेमोकलीज की तलवार (Sword of Democles) की तरह कमजोर धागे से लटकी रहती है। वार्ताकारों (Negotiators) को हमेशा ही विरोधियों की ताकत की मात्रा को ध्यान में रखना पड़ता है। शक्ति के बिना राजनय का क्षेत्र वास्तव में सीमित होता है। आधुनिक शब्दावली में कुछ विद्वानों ने शक्ति शब्द के स्थान पर राज्य की सामर्थ्य शस्त्रगृह (Capability arsenal) अथवा राजनीतिक सम्भावित (Political Potential) शब्द का प्रयोग किया है। स्टीफन बी० जोन्स (Stephen B. Jone) ने इस शब्द को व्यापक अर्थ के रूप में इस्तेमाल करते हुए राष्ट्रीय युद्ध कौशल (National Strategy) कहा है।

शक्ति के बल पर प्रतिष्ठा एवं गौरव निर्भर करता है। स्पष्ट रूप से यह शक्ति से सम्बन्धित है। एक राष्ट्र की विश्व मामलों में गरिमा उसके शक्ति के लिए प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है। प्रतिष्ठा भी स्पष्ट तौर पर उद्देश्यों में है जिनका राज्य पीछा करते हैं। एक राज्य जिसके पास पर्याप्त प्रतिष्ठा है वह तार्किक रूप से निश्चित होता है कि अन्य राज्य उसके अधिकारों एवं हितों का अतिक्रमण नहीं कर सकते। वह अन्य राज्यों के सम्मान को भी प्राप्त करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज अन्ततोगत्वा शक्ति से शासित होता है। विश्व शक्तियां भी स्वतन्त्र एजेन्ट नहीं हैं। शक्ति राजनीति की व्यवस्था में भौतिक शक्ति के प्रयोग का भय सदा बना रहता है। सर्वोच्च राज्यों की सशक्त सेनाओं के अस्तित्व मात्र से ही वे ऐसी परिस्थितियों में समझौता करे जिनमें अक्सर राजनयिक वार्तालाप करने वाले पक्ष असहमति प्रकट करते हैं। अगर इस प्रकार की दबाव की राजनीति का विरोध किया जाता है तो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सशस्त्र सेनाओं को वास्तव में ही शक्ति का प्रयोग करना चाहिये। इसके विपरीत अगर राज्य के पास उचित सशस्त्र सेना है तो वह इस तरह के प्रतिबन्ध का विरोध कर सकता है।

जब दूसरे तकनीक राज्यों को वांछित सन्तुष्टि प्रदान करने में असफल रहे तब राजनय के सहायक के रूप में सशस्त्र सेनाओं को कई अवसरों पर प्रयोग में लाया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में शक्ति प्रदर्शन के प्रयोग से चीन तथा जापान को अपने क्षेत्र विदेशी सम्बन्धों तथा व्यापार के लिए खोलने के लिए विवश किया गया। चीन में विदेशियों को व्यापारिक रियायतें अथवा क्षेत्रवादिता के विशेषाधिकार को प्रदान करने के लिये युद्धपोत (Gunboat) राजनय के तकनीक को प्रयोग में लाया गया। देश की प्रतिष्ठा राजदूत की मुख्य पूंजी होती है। उस देश की सैनिक शक्ति उस प्रतिष्ठा का एक प्रमुख तत्त्व होती है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को हल करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सफलता के लिए दूसरे यन्त्रों, राजनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक शक्ति, राजनेता द्वारा साधन एवं पूंजी को इकट्ठा रखने की योग्यता तथा सुविदित जनता के समर्थन पर निर्भर करता है, हालांकि राजनय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व्यवस्था का हृदय है। लिस्टर पियरसन (Lester Pearson) के अनुसार, "शक्ति के बिना चातुर्य राजनीतिक कार्य व्यक्ति को पत्थर की दीवार के सामने सीधा ले जाकर खड़ा कर देता है। लेकिन बिना शक्ति के राजनय केवल ध्येयरहित अभ्यास होता है। (As Lester Pearson had said, "Strength without skilled diplomatic action may lead you straight against stone wall. But diplomacy without strength behind it may be merely an aimless exercise.")। अतः एक राज्य में यह शक्ति का यन्त्र ही राजनय को माँसपेशियां (Muscle) प्रदान करता है।

## अध्याय-2

# राजनयिक व्यवहार का विकास (Evolution of Diplomatic Practice)

राजनय एक कला है जिसे अपना कर दुनिया के राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों को बढ़ाते हुए अपनी हित साधना करते हैं। राजनय के सुपरिभाषित लक्ष्य तथा उनकी सिद्धि के लिए स्थापित कुशल यंत्र के बाद इसके वांछनीय परिणामों की उपलब्धि उन साधनों एवं तरीकों पर निर्भर करती है जिन्हें एक राज्य द्वारा अपनाने का निर्णय लिया जाता है। दूसरे राज्य इन साधनों के आधार पर ही राजनय के वास्तविक लक्ष्यों का अनुमान लगाते हैं। यदि राजनय के साधन तथा लक्ष्यों के बीच असंगति रहती है तो इससे देश कमजोर होता है, बदनाम होता है तथा उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा गिर जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक राज्य को ऐसे साधन अपनाने चाहिये जो दूसरे राज्यों में उसके प्रति सद्भावना और विश्वास पैदा कर सकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि राज्य अपनी नीतियों को स्पष्ट रूप से समझाये, दूसरे राज्यों के न्यायोचित दावों को मान्यता दे तथा ईमानदारीपूर्ण व्यवहार करे। बेईमानी तथा चालबाजी से काम करने वाले राजनयज्ञ अल्पकालीन लक्ष्यों में सफलता पा लेते हैं किन्तु कुल मिलाकर वे नुकसान में ही रहते हैं। दूसरे राज्यों में उनके प्रति अविश्वास पैदा होता है तथा वे सजग हो जाते हैं। अतः राजनय के तरीकों का महत्व है।

राजनय के साधनों का निर्णय लेते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि इसका मुख्य उद्देश्य राज्य के प्रमुख हितों की रक्षा करना है। ठीक यही उद्देश्य अन्य राज्यों के राजनय का भी है। अतः प्रत्येक राजनय को पारस्परिक आदान-प्रदान की नीति अपनानी चाहिये। प्रत्येक राज्य के राजनयज्ञों की कम से कम त्याग द्वारा अधिक से अधिक प्राप्त करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके लिये विरोधी हितों के बीच समझौता करना जरूरी है। समझौते तथा सौदेबाजी का यह नियम है कि कुछ भी प्राप्त करने के लिए कुछ न कुछ देना पड़ता है। यह आदान-प्रदान राजनय का एक व्यावहारिक सत्य है। इतिहास में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि एक शक्तिशाली बड़े राज्य ने दूसरे कमजोर राज्य को अपनी मनमानी शर्तें मानने के लिए बाध्य किया तथा समझौतापूर्ण आदान-प्रदान की प्रक्रिया न अपना कर एक पक्षीय बाध्यता का मार्ग अपनाया। इस प्रकार लादी गई शर्तों का पालन सम्बन्धित राज्य केवल तभी तक करता है जब तक कि वह ऐसा करने के लिए मजबूर हो और अवसर पाते ही वह उनके भार से मुक्त हो जाता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को सैनिक, आर्थिक, व्यापारिक एवं प्रादेशिक दृष्टि से बुरी तरह दबाया। क्षतिपूर्ति की राशि अदा करने के लिए उनसे खाली चैक पर हस्ताक्षर करा लिये गये तब जर्मनी एक पराजित और दबा हुआ राज्य था। अतः उसने यह शोषण मजबूरी में स्वीकार कर लिया किन्तु कुछ समय बाद हिटलर के नेतृत्व में जब वह समर्थ बना तो उसने इन सभी शर्तों को अमान्य घोषित कर दिया। स्पष्ट है कि पारस्परिक आदान-प्रदान ही स्थायी राजनय का आधार बन सकता है। बाध्यता, बेईमानी, धूर्तता, छल-कपट एवं केवल ताकत पर आधारित सम्बन्ध अल्पकालीन होते हैं तथा दूसरे पक्ष पर विरोधी प्रभाव डालते हैं। फलतः उनके भावी सम्बन्धों में कटुता आ जाती है।

राजनय के साधन और तरीकों का विकास राज्यों के आपसी सम्बन्धों के लम्बे इतिहास से जुड़ा हुआ है। इन पर देश-काल की परिस्थितियों ने भी प्रभाव डाला है। तदनुसार राजनीतिक व्यवहार भी बदलता रहा है। विश्व के विभिन्न देशों के इतिहास का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनयिक आचार का तरीका प्रत्येक देश का अपना विशिष्ट रहा है। यहाँ हम यूनान, रोम, इटली, फ्रांस तथा भारत में अपनाए राजनयिक आचार के तरीकों का अध्ययन करेंगे।

## यूनानी राजनयिक व्यवहार (The Greek Diplomatic Practice)

राजनय का इतिहास यूनानी नगर राज्यों से प्रारम्भ होता है। प्लेटो तथा अरस्तु जैसे राजनीतिक दार्शनिकों ने नगर राज्यों की राजनीतिक स्थिति एवं अन्य राज्यों से उनके सम्बन्धों के बारे में पर्याप्त लिखा है। यूनानी सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में नगर राज्यों के राजदूतों को अग्रदूत (Heralds) कहा जाता था। इनका कार्य केवल सन्धि वार्ता करने तक ही सीमित नहीं था वरन् ये राजकीय गृहस्थी के संचालन, सभाओं एवं परिषदों में व्यवस्था की स्थापना तथा धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन आदि का कार्य भी करते थे। यूनानी सभ्यता के विकास के साथ-साथ नगर राज्यों के सम्बन्ध जटिल एवं स्पष्टपूर्ण बन गये। अब सन्धि वार्ता के लिये ऐसे लोगों की आवश्यकता पड़ी जो ओजस्वी तथा प्रभावशाली वक्ता हों, जिनकी तीव्र स्मरण शक्ति एवं बुलन्द आवाज हो ताकि वे दूसरे नगर राज्यों की लोक सभाओं के सम्मुख अपने नगर का दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकें और उसके पक्ष में जोरदार पुष्टि कर सकें। राजनयिक पदों पर ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाने लगा जो पुरात्ववेत्ता एक कुशल वक्ता, राजनीतिक सम्बन्धों का विद्यार्थी तथा मनोवैज्ञानिक हो। प्रसिद्ध इतिहासकार थ्यूसीडाइड्स (Thucydides) के विवरणों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय के राजनयज्ञों की वक्तव्य पर्याप्त ओजस्वी तथा सुदीर्घ हुआ करती थी। इसने स्पार्टा निवासियों की एक लोक सभा का विवरण दिया है जिसमें सहयोगियों

एवं मित्रों को यह तय करने के लिए आमंत्रित किया गया था कि क्या एथेन्स राज्य ने अपनी सन्धियों का उल्लंघन किया है और यदि किया है तो क्या इसके दण्ड स्वरूप उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी जाये ? इस सभा में वक्तव्यों की समाप्ति के बाद युद्ध का प्रस्ताव पहले कण्ठ स्वर से और फिर मतगणना के आधार पर पारित हो गया। उल्लेखनीय बात यह थी कि इसी समय स्पार्टा में एथेन्सवासी प्रतिनिधि—मण्डल किसी व्यापारिक सन्धि के सन्दर्भ में आया हुआ था और उक्त सभा में निमंत्रित न होते हुए भी उपस्थित था। इसे बीच-बीच में अपना मत व्यक्त करने दिया जाता था। जब युद्ध विषयक प्रस्ताव पारित हो गया तो इस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य शत्रु राज्य के नागरिक बन गये, फिर भी इनको उस समय तक स्पार्टा में रहने दिया गया जब तक कि उन्होंने अपना सन्धि-विषयक कार्य पूरा नहीं कर लिया।

यूनानी राजनयज्ञ (Diplomat) ये कार्य सम्पन्न करते थे — स्वागतकर्ता राज्य में सम्बन्धित सूचना एकत्रित करना, लोकप्रिय नगर सभाओं के सम्मुख अपने राज्य के हितों के समर्थन में सभी तरीके अपनाना, विदेशी राज्य के सम्बन्ध में सामयिक प्रतिवेदन तैयार करना, विदेशी राज्य में अपने राज्य के नागरिकों के हितों की रक्षा करना आदि। उस समय थ्यूसीडाइड्स द्वारा राजनयज्ञ के रूप में सम्पन्न किये गये कार्य हमारे अध्ययन के लिये पर्याप्त उपयोगी हैं। उसने विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने के लिए सन्धिवाता और सम्मेलनात्मक राजनय के तरीके अपनाये। नगर राज्यों में स्पार्टा तथा एथेन्स प्राचीनतम थे। यहाँ अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों की अच्छी परम्पराएं विकसित हुईं। एथेन्स संगठन और भावना की दृष्टि से प्रजातंत्रात्मक था। यहाँ व्यापारिक एवं समुद्रमार्गीय सम्पर्क की दृष्टि से निवासियों को तीन भागों में वर्गीकृत किया गया—दास, विदेशी निवासकर्ता और एथेन्स के नागरिक। अन्य राज्यों के साथ उसके सम्पर्क का रूप प्रजातंत्रात्मक था। यहां का राजनय व्यापार, वाणिज्य और सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं से प्रभावित था। यूनान के इन नगर राज्यों द्वारा राजनयज्ञों को अनेक उन्मुक्तियां एवं विशेषाधिकार सौंपे जाते थे। प्रारम्भ से ही विदेश सम्बन्धों की रचना में इन राजनयिकों का योगदान न केवल महत्वपूर्ण वरन् व्यापक भी था।

यूनानी नगर राज्यों के आपसी सम्बन्धों ने अनेक रीति रिवाजों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपनी शिशु अवस्था में था। एथेन्स स्पार्टा एवं थेब्स आदि नगर राज्यों ने आपसी सम्बन्धों का विकास अपनी आन्तरिक नीति, सुविधा और सुरक्षा सम्बन्धी रणनीति को ध्यान में रखकर किया। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के बीच तत्कालीन धार्मिक और राजनीतिक संघों में देखे जा सकते हैं। उस काल में राजनयज्ञों की अनतिक्रम्यता, शरणदान का अधिकार, मतकों के दाह-संस्कार के लिए युद्ध विराम तथा धार्मिक मेलों और खेलों के समय तनाव को रोक देना आदि परम्परायें अपनाई जाती थी। नगर राज्यों की जनप्रिय सभाओं में विदेशों से स्वदंश के राजदूतों द्वारा भेजे गये प्रतिवेदनों पर आलोचनात्मक विचार किया जाता था। उनके सुझावों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करके आवश्यक निर्देश दिये जाते थे। राज्यों के बीच विवाद उत्पन्न होने पर पंच फैसले द्वारा उसके समाधान की परम्पराएं पड़ चुकी थीं। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को नियमित करने की दृष्टि से यूनानियों द्वारा विकसित दो प्रक्रियायें उल्लेखनीय हैं — (क) ये शक्ति के आधार पर शान्ति की स्थापना करते थे। बाद में रोमन सम्राटों ने भी इस व्यवहार को अपनाया। (ख) वे न्यायाधिकरण द्वारा विवादों को सुलझाने के लिए शान्ति सन्धियां करते थे और उनके द्वारा स्वतन्त्र राज्यों की शक्ति को नियन्त्रित करके शक्ति सन्तुलन की स्थापना करते थे।

यूनानी नगर राज्यों के राजनयिक व्यवहार को संक्षेप में निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

- (i) यूनानी काल में राजनयिक संधि वार्तायें मौखिक रूप से हुआ करती थीं। सिद्धान्त रूप में इन वार्ताओं का पूरा प्रचार किया जाता था।
- (ii) सन्धियां खुले में की जाती थीं तथा उनके अनुसमर्थन के लिए दोनों पक्ष सार्वजनिक रूप से शपथों का आदान-प्रदान करते थे। गुप्त सन्धियां अपवाद स्वरूप में थीं। उनको उचित नहीं समझा जाता था।
- (iii) यूनानी नगर राज्य तटस्थता और पंच फैसले से पूर्ण रूप से परिचित थे। तटस्थता का अर्थ था चुप बैठ जाना। वे विवादों को तय करने के लिए पंच फैसले की प्रक्रिया अपनाते थे। 300 से लेकर 100 वर्ष ईसा पूर्व तक के काल में पंच फैसले के 46 मामलों का उल्लेख मिलता है।
- (iv) यूनानी नगर राज्यों द्वारा विकसित सर्वाधिक उपयोगी संस्था वाणिज्य दूतों (Consuls or Proxenos) की है। वे वाणिज्य दूत उसी नगर के मूल निवासी होते थे जहां इनको रखा जाता था। ये अपने राज्य में नियुक्तकर्ता राज्य के हितों की देखभाल करते थे। उनका पद पर्याप्त सम्मानजनक समझा जाता था और अनेक प्रतिभाशाली लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक इस पद पर कार्य किया है। यह पद प्रायः वंश परम्परागत बन जाता था। इन पदाधिकारियों का कार्य न केवल सम्बन्धित देश के व्यापारियों के हितों की देखभाल करता था वरन् ये राजनयिक सन्धि वार्ताओं की पहल भी करते थे। पांचवी शताब्दी ई० तक यूनानियों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क का उच्च स्तर प्राप्त कर लिया था। वे आपसी सहयोग एवं सगठन के महत्व से परिचित थे। उन्होंने युद्ध की घोषणा, शान्ति स्थापना, सन्धियों का अनुसमर्थन, पंच फैसला, तटस्थता, राजदूतों का आदान-प्रदान, वाणिज्य दूतों के कार्य, युद्ध के कुछ नियम आदि से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्तों का विकास कर लिया था। वे विदेशियों की स्थिति नागरिकतादान, शरणदान, प्रत्यर्पण एवं समुद्र-व्यापार आदि से सम्बन्धित विषयों को परिभाषित कर चुके थे।

यूनानी काल के राजनय की आलोचना करते हुए कभी-कभी यह कहा जाता है कि यूनानी लोग अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की धारणा से अपरिचित थे जिसके बिना श्रेष्ठ राजनयिक यंत्र भी निष्क्रिय सिद्ध होता है, औसतन यूनानी की नगर राज्य के प्रति स्वामीभक्ति इतनी गहरी होती थी कि वह अन्य नगर राज्य वासियों को अपना सम्भावित शत्रु और शेष असभ्यों को स्वाभाविक दास मानता था। राजनयिक सम्बन्धों की विभिन्न उल्लेखनीय धारणाओं के होते हुए भी यूनानियों का राजनयिक आचार कई दृष्टियों से दोषपूर्ण था—

- (i) वे परस्पर इतने ईर्ष्यालु थे कि इसके कारण उनकी आत्म रक्षा की आवश्यकता को भी हानि पहुंचती थी।
- (ii) यूनानी लोग स्वाभाववश अच्छे राजनयज्ञ नहीं थे। अत्यन्त चतुर चालाक होने के कारण वे अत्यधिक संदेहशील थे। फलतः उनके बीच अविश्वास के कारण कोई सन्धिवार्ता सफल नहीं हो पाती थी।
- (iii) यूनानी नगर राज्यों में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के दायित्वों का सही वितरण न होने के कारण राजनयिक कार्यों में कठिनाईयां एवं भ्रम पैदा हो जाते थे। यूनानी यह नहीं खोज पाये कि प्रजातंत्रात्मक राजनय को स्वेच्छाचारी राजनय की भांति कैसे कार्यकुशल बनाया जा सकता है। यही गलती उनके विनाश का कारण बन गई। प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था होने के कारण उनके निर्णय गुप्त नहीं होते थे और तुरन्त नहीं लिये जाते थे। उनके राजदूत सर्वशक्ति सम्पन्न नहीं होते थे। अतः छोटे छोटे निर्णयों में भी देरी हो जाती थी। उस काल की जनसभाएं अनुत्तरदायी थीं। वे स्वयं के निर्देशानुसार कार्य करने वाले राजदूत के कार्यों को भी रद्द कर देती थीं।

संक्षेप में, यूनानियों ने राजनयिक आचार के क्षेत्र में काफी उन्नति कर ली थी।

### रोमन राजनयिक व्यवहार (The Roman Diplomatic Practice)

रोमन लोग यूनानियों की तुलना में अधिक बर्बर थे। अतः वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास नहीं कर सके। यूनानियों ने सन्धि वार्ता पद्धति को विकसित किया था और राजनयिक प्रक्रिया के माध्यम से विरोधियों से सम्पर्क स्थापित करने में विश्वास व्यक्त किया था, किन्तु रोमन लोगों ने सैनिक शक्ति पर अधिक विश्वास किया। वे राजनयज्ञ की बजाय विजेता अधिक थे। रोमन लोगों ने राजनयिक तौर-तरीकों के स्थान पर सीधी कार्यवाही (Direct Action) पर अधिक विश्वास किया। उन्होंने अपनी सर्वोच्चता बनाये रखने के लिए यह तरीका अपनाया कि दो या अधिक राष्ट्रों के बीच संघर्ष के समय वे कमजोर का पक्ष लेते, क्योंकि उनका विश्वास था कि इस नीति से दोनों ही पक्ष रोम के राजनीतिक अनुग्रह के आँकाक्षी बने रहेंगे। कमजोर का पक्ष लेने से वह तो रोम के प्रभाव को मानेगा ही, किन्तु कमजोर का पक्ष लेकर जब शक्तिशाली को उखाड़ फेंका जायेगा तो वह शक्तिशाली पक्ष भी रोम का प्रभाव मानने के लिए मजबूर हो जायेगा। रोमन लोगों ने राजनय के क्षेत्र में युद्ध की वैधानिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार उनकी दृष्टि में वही युद्ध वैधानिक होता था जिसकी औपचारिक घोषणा की गई हो और जिसके लिए एक विशेष धर्म-गुरु द्वारा धार्मिक समारोह का आयोजन करा लिया गया हो।

रोमन लोग युद्ध और शांति दोनों ही कार्यों में विदेशी राजनीतिज्ञों का स्वागत करते रहे। वे राजदूत को सामान्यतया लैगेटस (Legates) कहते थे और कभी-कभी फेटिअल (Fetial) भी कह देते थे। यह शब्द अधिकांशः युद्ध अथवा शान्ति के लिए वार्ताकार के साथ लगाया जाता था। रोमन सीनेट नियमित रूप से विदेशों में अपने देश के राजदूत भेजती थी। रोमन कानून राजदूतों को अनतिक्रम्यता (Inviolability) को मान्यता देता था। विख्यात राजनीतिक विचारक सिसरो ने, जो रोम में दूत बन कर आया था, इस सम्बन्ध में लिखा है, "राजदूतों की अनतिक्रम्यता दैवीय तथा मानवीय दोनों ही कानूनों से है। वे पवित्र और आरदयीय हैं ताकि वे अनतिक्रम्य बने रहें। ये केवल मित्र राष्ट्र में ही नहीं है अपितु शत्रु की सेना में धिरे होने पर भी हैं" रोमन कानून के अन्तर्गत राजदूत के सहयोगी भी अनतिक्रम्य थे। राजदूतों के पत्र-व्यवहार और उनके लिए अनिवार्य वस्तुओं को अनतिक्रम्य समझा जाता था। राजदूत जब किसी तीसरे राज्य में से गुजरता तो भी उसे अनतिक्रम्य का विशेषाधिकार प्राप्त था। राजदूत पर किया गया कोई भी हमला रोमन अन्तरजार्तीय कानून (Jus Gentium) का उल्लंघन माना जाता था। राजदूत पर क्षेत्रीय-ब्राह्मता का सिद्धान्त भी लागू होता था अर्थात् कोई समझौता तोड़े जाने पर राजदूत राज्य के न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जाता था, वह स्थानीय कानूनों से उन्मुक्त था। रोमन सीनेट राजदूतों को राजकीय अतिथियों जैसा सम्मान देती थी।

रोमन लोगों ने राजनय के क्षेत्र में एक प्रशिक्षित 'पुरालेखपाल' (Archivist) की पद्धति प्रदान की। पुरालेखपाल राजनयिक दृष्टान्तों और प्रक्रियाओं में प्रवीण व्यक्ति होते थे। आज भी राजनय की एक महत्वपूर्ण शाखा पुराने लेखों, सन्धियों, अभिलेखों आदि की रक्षा करना और उन्हें व्यवस्थित रखना है। रोमन लोगों ने पुरालेखागारों अथवा लेखों से सम्बन्धित कार्य को 'राजनयिक व्यवहार' (Diplomatic Business) की संज्ञा दी है। इस प्रकार के लेखों को व्यवस्थित रखने की पद्धति रोमन लोगों की एक महत्वपूर्ण देन है।

रोमन लोगों ने राज्यों की समानता के सिद्धान्त का कभी आदर नहीं किया। इसका कारण यह था कि रोमनव लोगों को अपनी सर्वश्रेष्ठता में विश्वास था, वे अन्य किसी राज्य को अपने समकक्ष नहीं समझते थे। यही कारण है कि रोमन काल में समानता के

आधार पर राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना करने और सन्धि-वार्ता करने के क्षेत्र में कोई विकास नहीं हो सका। रोमन लोगों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना तो की लेकिन राजनयिक भाईचारे के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को विकसित नहीं किया। यूनानी सभ्यता के मूल तत्वों से रोमन लोग लगभग अप्रभावित थे।

डा० शुक्रदेव प्रसाद दुबे ने राजनय के इतिहास में अपने अध्ययन में प्राचीन रोमन राजनयिक आचार पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "रोमन विजयों ने जिस विश्व राज्य का निर्माण किया, उसमें पारथियन, हिन्दू और चीनी सभ्यताएँ ही ऐसी थी जो उसकी सीमा परिधि के बाहर थी। अतः इस राजनीतिक वातावरण में रोम को किसी विशेष कूटनीतिक विधान की आवश्यकता नहीं थी। उसका काम केवल अपनी राज्य सीमा को बर्बर आक्रमणों से सुरक्षित रखना था, फिर भी रोमन साम्राज्य के वैदेशिक मामले काफी दिलचस्प थे। प्राचीनकाल से ही रोम के युद्ध और शान्ति की परिस्थितियों पर जो भी कूटनीतिक वार्ता आवश्यक होती थी, वह एक विशिष्ट कूटनीतिक संस्था (Collegium Fetaliosus) अर्थात् कॉलेज ऑफ फ़ैटियलस का सौंपी जाती थी। रोमन धारणा के अनुसार सभी युद्ध उचित थे। युद्ध के पूर्व फोटियलस कॉलेज का मुखिया जिसे पेटरस कहते थे सीनेट को सूचित करता था कि उसका शान्तिपूर्ण हल निकालने की सारी कूटनीतिक वार्ता निष्फल सिद्ध हो गई। युद्ध प्रारम्भ करने के निर्णय के उपरान्त वह एक खूनी भाला शत्रु के स्थल पर फेंकता था। यह अनुष्ठान जुपीटर आदि देवताओं के आह्वान के साथ शपथ लेकर किया जाता था। जब रोम के विस्तार के साथ ही फिटियलस का प्रतिनिधित्व राजदूत करने लगे तो भाला फेंकने की औपचारिक प्रणाली ने एक प्रतिक्रमक स्वरूप ले लिया और शत्रु के स्थल के स्थान पर अपना मीटिंग्स प्राण अथवा बेलूना के मन्दिर के सामने फेंका जाने लगा। फिटियलस को सन्धि स्थापना का भी कार्य दिया जाता था। विदेशी राजदूतों को सीनेट से फरवरी के महीने में कैपिटल के निकट ग्रेकारिस्टिपेसस के अवसर पर प्रत्यक्ष वार्ता करने का भी अवसर मिलता था। साम्राज्यवादी युग आने के साथ यह कार्य सम्राट ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया। रोम द्वारा की गई सभी सन्धियाँ असमान थी क्योंकि वे विजित प्रदेशों के शासकों पर सदैव के लिये थोप दी जाती थी। रोम का जसजेन्टियम अर्थात् वह विधान जिसके अन्तर्गत उन कानूनी सिद्धान्तों का विकास हुआ था जो रोमन नागरिकों की विदेशी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाये गये थे, सही अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय विधान नहीं था यद्यपि यह उन सम्बन्धों का भी मार्गदर्शन करता था जो रोमन साम्राज्य अपने पड़ोसियों से स्थापित करता था।

ग्रीक संस्कृति के प्रति पूर्ण सम्मान और निष्ठा रखते हुए भी रोमन साम्राज्यवादियों ने ग्रीक-अन्तर्राष्ट्रीय संहिता का अनुकरण नहीं किया। इसका कारण स्पष्ट ही था। जहाँ ग्रीक अन्तर्राष्ट्रीय विधान उस संस्कृति के स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न आवश्यकता की देन थी, वहाँ रोमन साम्राज्य दूसरे देशों के प्रति एक विस्तारवादी दृष्टिकोण अपना चुका था और शीघ्रताशीघ्र विजित कर उनका विलय अपने साम्राज्य में करना चाहता था अर्थात् उनका विश्व साम्राज्य ग्रीक राज्य व्यवस्था के विघटन पर ही सम्भव था। रोमन साम्राज्य अनेक जातियों एवं राष्ट्रीयताओं का संकलन था और जहाँ केन्द्रीय सत्ता ने स्थानीय राष्ट्रीयताओं को कुछ भी स्थापन अधिकार देना उचित नहीं समझा था। अतः ग्रीक राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली रोमन कूटनीतिक परिस्थितियों के सर्वथा प्रतिकूल थी।" 395 ई० में रोमन साम्राज्य का पतन हो गया।

### **बाइजेन्टाइन राजनीतिक व्यवहार (Byzantine Diplomatic Practice)**

रोम साम्राज्य जिसका केन्द्र रोम था, छिन्न-भिन्न हो गया तब रोमनों ने कुस्तुन्तुनिया को केन्द्र मानकर बाइजेन्टाइन साम्राज्य की स्थापना की। इस साम्राज्य के चारों ओर असभ्य एवं जंगली जातियाँ बसी थीं। अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए रोमन सैनिक शक्ति के स्थान पर युक्ति-शक्ति पर विश्वास करने लगे। उन असभ्यों को नियन्त्रण में रखने के लिए उन्होंने तीन तरीके अपनाये - (क) उन असभ्य जातियों में परस्पर भेदभाव की भावना अथवा फूट का बीज बोना जिससे वे संगठित न हो सकें और उनके साम्राज्य पर आक्रमण करने का विचार न रख सकें। (ख) जो जंगली जातियाँ साम्राज्य के अन्तर्गत बसी हुई थीं उनको धन देकर खरीद लिया गया था जिससे साम्राज्य पर आक्रमण होने पर आक्रमणकारियों का साथ न दे सकें तथा (ग) जो जातियाँ इसाई धर्म को न मानती थीं, उनमें इसाई धर्म का प्रचार कर उन्हें इसाई बनाना था जिससे वे गैर-इसाई जातियों से मिलकर साम्राज्य पर आक्रमण न करें बाइजेन्टाइन सम्राटों ने कभी अपने विरोधियों को संगठित न होने दिया। अपनी नीति की सफलता के लिए उन्होंने राजदूतों की व्यवस्था की। इनका काम था स्वागतकर्ता राज्य में वहाँ की आन्तरिक परिस्थितियों का अध्ययन, महत्वाकांक्षियों एवं दुर्बलताओं की जानकारी व उनकी सूचनायें सम्राट को पहुंचाना। इस प्रकार राजनयिक आचार में परिवर्तन किया गया। अब राजदूत का कार्य विदेश में भाषण देना ही न रहा बल्कि वह वहाँ की आन्तरिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करें और पड़ोसी राज्यों की दुर्बलताओं से अपने सम्राट को प्रतिवेदन द्वारा अवगत कराते रहें जिससे सम्राट अपनी कार्य-सिद्धि को सही रूप में निर्धारित कर सकें। राजदूतों की नियुक्ति करते समय उनमें तीन गुणों का विशेष ध्यान रखा जाता था - (i) गहरे अवलोकन की क्षमता (ii) लम्बा अनुभव तथा (iii) निष्पक्ष निर्णय देने की क्षमता। निकलसन के अनुसार, "कुशल वक्ता के स्थान पर राजदूत उद्घोषक तथा प्रशिक्षित निरीक्षक रखे गये।

(Even as the orator type replaced the primitive herald type, so also did the orator gave way to the trained observer)।

राजदूतों की संख्या काफी बढ़ गई। योग्य राजदूतों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई। उनको समय-समय पर आवश्यक परामर्श देने तथा उनके कार्यों की देखभाल करने के लिए एक विदेश विभाग का संगठन किया गया। संधि व्यवस्था में भी एक नया प्रयोग जारी हुआ। जब कोई विदेशी शासक राजदूतों के माध्यम से संधि करता था तो उस समय एक विशेष समारोह का आयोजन किया जाता था। के०एम० पणिक्कर के शब्दों में, "यह सुविदित है कि बाइजेन्टाइन के राज दरबार में राजनय एक परिमार्जित कला बन गई और विदेशों से आने वाले राजदूत-मण्डलों के स्वागत के समय बड़ी धूमधाम से समारोह होता था। (At the Byzantine court diplomacy as is well known, had become a fine art and the reception of foreign missions was attended by ceremonies of great pomp.)। इन उपायों से बाइजेन्टाइन सम्राटों ने सूडान, अरब तथा एनासियनों को अपने पक्ष में किया तथा कार्ल सागर एवं कोकेशियन जन-जातियों को नियन्त्रित किया। अपनी नीतियों का सहारा लेकर दुर्बल सैनिक शक्ति रखते हुए भी रूसियों एवं मग्यारों का सफल सामना किया। आक्रमणकारियों की दुर्बलता से लाभ उठाया और अपने शत्रुओं को कभी संगठित होने का अवसर न दिया।

### राजनयिक आचार का इटालियन तरीका (Italian Method of Diplomatic Practice)

इटली को आधुनिक संगठित एवं व्यावसायिक राजनय का जनक माना जाता है। मान्यता है कि प्रथम दूतावास की स्थापना मिलान (Milan) के ड्यूक फ्रांसेस्को स्फोरजा ने 1455 में जेनेवा में की थी। 1496 में वेनिस सरकार ने दो व्यापारियों का उपराजदूत बनाकर लन्दन भेजा। कुछ समयोपरान्त इटली के अन्य राज्यों ने भी लन्दन, पेरिस तथा अन्य यूरोपीय राजधानियों में अपने दूतावास स्थापित किये। 16वीं शताब्दी के अन्त तक स्थायी दूतावास अथवा प्रणिध्यावास नियुक्त करने की परम्परा को अधिकांश यूरोपीय राज्यों ने भी अपना लिया।

मध्य युग के अन्त तक इटली में वेनिस तथा फ्लोरेंस जैसे नगर बसा लिये गये थे। अब गैरधार्मिक मामलों में पोप की सर्वोच्चता नहीं रही थी। सामन्तवादी ठिकानों तथा स्वतन्त्र नगरों ने आपस में मिलकर बड़े नगरों की रचना की। इन नगरों को महत्वाकांक्षी पड़ोसियों तथा प्राचीन शाही परिवारों ने हमेशा सजग रहना पड़ता था। ये अपनी विलुप्त शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए कोई भी तरीका अपना सकते थे। फ्रांस, स्पेन तथा जर्मनी आदि बाहरी शक्तियों के आपसी मनमुटाव ने इटली को युद्ध भूमि बना दिया। यहां शक्तिशाली एवं कमजोर राज्यों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। इन परिस्थितियों में राजनय का महत्व बढ़ गया। कमजोर राज्य अपनी स्वतन्त्रता एवं आत्म रक्षा के लिए राजनयिक तरीकों से शक्तिशाली राज्य से मैत्री सम्बन्ध जोड़ लेते थे।

### वेनिस का राजनय (The Venetian Diplomacy)

मध्ययुग में राजनयिक कला में सर्वाधिक प्रवीण राज्य वेनिस गणराज्य था। 16वीं शताब्दी में उसके राजदूत वियना, पेरिस, मेड्रिड तथा रोम में कार्य कर रहे थे। वेनिसवालों का पूर्व के साथ दीर्घकालीन घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। अब उन पर बाइजेन्टाइन की राजनीतिक विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। दोहराव तथा संदेह के दोष यहां के राजदूत में भी परिलक्षित होते हैं। यहां राजदूतों का चयन उनकी योग्यता के आधार पर सावधानी से किया जाता था। राजनय का संगठित व्यवहार सर्वप्रथम यहीं पर अपनाया गया। यहां के राजदूतों को सर्वाधिक व्यवहारकुशल एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से सूचित माना जाता था। वेनिस के राजनीतिक व्यवहार की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं :-

- (1) राज्यभिलेखागारों को व्यवस्थित रूप में रखने के श्रीगणेश करने का श्रेय वेनिसवासियों को दिया जाता है। उनके नौ शताब्दियों (883 से 1797 तक) के राजनयिक अभिलेख उपलब्ध होते हैं। इन अभिलेखों में राजदूतों को दिये गये निर्देश, राजदूतों के अन्तिम प्रतिवेदन, समाचार-पत्र आदि शामिल हैं। वेनिसवासी यह जानते थे कि विदेश में रहने के कारण राजदूत अपने देश की गतिविधियों से अपरिचित हो जाता है। अतः उसे सामयिक सूचना भेजी जानी चाहिये। इन समाचार-पत्रों को अविसी (avvisi) कहा जाता था।
- (2) वेनिस वालों ने राजदूतों की नियुक्ति एवं आचरण के सम्बन्ध में कुछ नियमों की रचना की थी। वेनिस का राजदूत केवल तीन या चार महीनों के लिए नियुक्त किया जाता था। 15वीं शताब्दी में इसके कार्यकाल की सम्भावित सीमा 2 वर्ष कर दी गई। राजदूत जिस देश को भेजा जाता था वहां पर कोई सम्पत्ति नहीं रख सकता था। यदि यहां उसे कोई भेंट या तोहफा प्राप्त हो तो स्वदेश लौटने पर वह उसे राज्य को सौंप देता था। कार्यकाल में उसे कोई अवकाश नहीं दिया जाता था। लौटने पर 15 दिन के भीतर वह अपने कार्यों का अन्तिम प्रतिवेदन प्रस्तुत करता था।
- (3) राजदूत अपने साथ पत्नी नहीं ले जाता था क्योंकि यह आशंका थी कि गप्पे मारने में समय खराब करके उसके कार्यों में बाधक बन जायेगी। राजदूत के साथ स्वयं का रसोइया होता था ताकि विदेशी रसोइये से जहर खाने का जोखिम न उठाना पड़े।
- (4) वेनिसवासियों की यह धारणा थी कि सभी विदेशी तथा विशेष रूप से विदेशी राजदूत जासूसी करने के लिये आते हैं। अतः उनके व्यवहार को नियमित करने के लिए विशेष नियम बनाये गये। 1481 में निर्मित एक नियम के अनुसार वेनिस के राजदूत

किसी गैर-सरकारी विदेशी के साथ राजनीतिक विचार-विमर्श नहीं कर सकते थे। जो नागरिक विदेशी राजनयिकों से सार्वजनिक विषयों पर विचार-विमर्श करते थे उनको दण्ड देने की व्यवस्था थी।

## राज्यों की स्थिति (The Position of States)

वेनिस के अतिरिक्त इटली के अन्य राज्यों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। वे सामान्यतः कमजोर थे। उनके पास राष्ट्रीय सेना नहीं थी। अपनी सुरक्षा के लिये वे भाड़े के सैनिकों की सहायता लेते थे। उनमें आन्तरिक फूट व्याप्त थी। जब उन पर विदेशी आक्रमण हुए तो उनका बिना विरोध किये ही पतन हो गया। उनकी आपसी फूट के कारण शान्ति व्यवस्था का रहना असम्भव था। सैनिक कमजोरी के कारण वे आत्म रक्षा के लिए राजनय की ओर मुड़। उस समय उनका राजनय किसी आदर्श विचार अथवा दीर्घकालीन लक्ष्य से जुड़ा हुआ नहीं था। वरन् वे तत्कालीन हितों की रक्षा के लिये प्रयत्नशील थे। उस समय के उत्तेजनापूर्ण तथा निर्दयतापूर्ण वातावरण में राजनयिक समझौतों में चालाकी, घूर्तता, छल-कपट एवं झूठ को अपनाया जाता था। इटली के इन राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता के कारण यहाँ का जन-जीवन भी उलझा हुआ था।

## इटालियन राजनय की देन (Contribution of Italian Diplomacy)

इटली के राज्यों ने आपसी समझौते की जिस कला का विकास किया वह धीरे-धीरे अन्य राज्यों द्वारा अपना ली गई। 15 वीं तथा 16 वीं शताब्दियों में विकसित समझौते की इस प्रणाली का वर्णन हैरोल्ड निकल्सन ने तीन शीषकों के अन्तर्गत किया है—सन्धियों पर समझौता वार्ता, सम्मेलन द्वारा राजनय की व्यवस्था तथा अग्रत्व का प्रश्न। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है :—

**(1) सन्धियों के लिए समझौते (The Negotiations of Treaties) :-** 15 वीं शताब्दी में सामन्तवादी परम्पराएं थीं और पोप की सर्वोच्चता के विचार का प्रभाव था। इसके फलस्वरूप सन्धियों के लिए की जाने वाली समझौता-वार्तायें अत्यन्त जटिल बन गईं। कोई बड़ा राज्य यह दावा कर सकता था कि अमुक राज्य उसका अधिराज्य (Vassal) है और इसलिए बिना उसकी स्वीकृति लिये वह दूसरे राज्यों के साथ सन्धि करने का अधिकार नहीं रखता। पोप भी कभी-कभी हस्तक्षेप करने का दावा करता था।

कठिनाईयां होते हुए भी इटालियन राज्यों के बीच समझौता वातायें प्रायः होती थीं तथा स्पष्ट रूप से सन्धियां की जाती थी। कुछ ऐसे प्रोटोकॉल करने का भी रिवाज था जिनमें स्वीकृत बातों की सूची रहती थी किन्तु उन पर सन्धिकर्ता पक्ष हस्ताक्षर नहीं करते थे। पोप द्वारा स्वीकार की गई सन्धियां बाध्यकारी होती थीं। केवल पाप ही राजाओं को शपथ के भार से मुक्त करता था।

सन्धि के अनुमोदन के लिए अत्यन्त उल्लेखनीय समारोह किया जाता था। यह माना जाता था कि यदि सर्वशक्ति सम्पन्न राजदूत कोई सन्धि करे तो उसे सम्प्रभु स्वीकार कर लेगा। ऐसा न करने के परिणाम अत्यन्त भयंकर हो सकते थे। ऐसी स्थिति में राज्यों के बीच सभी सन्धि वार्तायें असम्भव हो जाती थीं। इटालियन राज्य राजनीतिक सन्धियों के अतिरिक्त व्यापारिक सन्धियां भी करते थे जिनमें आपसी व्यापार के प्रश्नों पर समझौता किया जाता था। 1490 में इंग्लैण्ड तथा फ्लोरेंस के बीच व्यापारिक सन्धि की गई। इसके अन्तर्गत इंग्लैण्ड ने फ्लोरेंस को इटली में ऊन के व्यापार का एकाधिकार दिया और बदले में फ्लोरेंस ने अंग्रेज व्यापारियों को पीसा (Pisa) में निगम स्थापित करने की अनुमति दी।

**(2) सम्मेलनीय राजनय (The Diplomacy by Conference) :-** 15 वीं शताब्दी में सम्मेलन द्वारा राजनय का अधिक प्रचलन नहीं था। उस समय इसे अत्यन्त सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। उस समय का सम्मेलन का राजनय सम्प्रभुओं के व्यक्तिगत साक्षात्कार के रूप में होता था। उसमें यह खतरा रहता था कि कहीं एक राजा दूसरे राजा का हरण न कर ले। इसी कारण यह साक्षात्कार सामान्यतः एक पुल के बीच में हुआ करते थे। 1807 में नेपोलियन ने इस अजनबी तरीको को बदला। इन व्यक्तिगत साक्षात्कारों में कुछ अन्य दोष भी थे — (क) यह तरीका पर्याप्त खर्चीला था क्योंकि प्रत्येक पक्ष पैसे को पानी की तरह बहा कर यह प्रदर्शित करना चाहता था कि वह अधिक सम्पन्न एवं प्रभावशाली है। (ख) सम्मेलन से पूर्व दोनों पक्ष अपनी जनता की महत्वाकांक्षाओं को बढ़ा देते थे। दूसरी ओर विदशों में उनके इरादों के प्रति संदेह किया जाता था। (ग) इनके फलस्वरूप अनेक विरोधी अफवाहें फैल जाती थी। इन साक्षात्कारों में होने वाले समझौते लिखित न होकर मौखिक होते थे। अतः गलतफहमी के अवसर बढ़ जाते थे। (घ) इन साक्षात्कारों के कर्ता दो सम्प्रभु होते थे जो अपने बराबर वालों से बात करना नहीं जानते थे। एक दूसरे की भाषा न जानने के कारण भी कठिनाई होती थी। फलतः साक्षात्कार का परिणाम कोई मैत्रीपूर्ण समझौता न होकर पारस्परिक विद्वेष के रूप में प्रकट होता था। इस सम्बन्ध में 15 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध राजनयज्ञ फिलिप डी कोमिन्स (Philippe de Comines) का यह कथन उल्लेखनीय है कि "यदि दो महान राजा परस्पर अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं तो उनको आमने-सामने कभी नहीं मिलना चाहिये वरन् अच्छे और बुद्धिमान राजदूतों के माध्यम से वार्तालाप करनी चाहिये।"

पुनर्जागति काल में राजनीतिक व्यवहार का एक महत्वपूर्ण दोष यह था कि समारोह सम्बन्धी प्रश्नों को अनावश्यक महत्व दिया जाता था। नए राजदूत के आने पर कई सप्ताह उसके स्वागत समारोहों एवं परिचय-पत्रों की देखभाल में ही व्यतीत होते थे। इस काल में नए राजदूत एवं स्वागतकर्ता संप्रभु को अनेक कार्य ऐसे करने होते थे जो आज हमें अनावश्यक तथा अर्थहीन प्रतीत होते हैं।



**(3) अग्रत्व की समस्या (The Problem of Precedence) :-** इटालियन राजनय में अग्रत्व की समस्या अत्यन्त गम्भीर थी। सिद्धान्ततः राजदूत का स्तर उसके राज्य के स्तर के अनुरूप होता था। 1504 में पोप जूलियस द्वितीय ने अग्रत्व की एक तालिका बनाई जो इस प्रकार है : सम्राट, फ्रांस का राजा, स्पेन का राजा, अन्य ड्यूक राजकुमार इत्यादि।

इस सूची में पुर्तगाल छठवें और इंग्लैण्ड सातवें नम्बर पर था। जब पोप की शक्ति का क्षय हुआ और नए राष्ट्रीय राजतंत्रों का उदय हुआ तो उक्त सूची का क्रम टूट गया। स्पेनवासियों ने यह मानने से अस्वीकार कर दिया कि उनका स्थान फ्रांस के बाद है। इस आन्तरिक विरोध के फलस्वरूप राजदरबारों की स्थिति, समझौता वार्ताओं एवं सन्धियों पर होने वाले हस्ताक्षरों में परिवर्तन आया। राज्यों के अग्रत्व को निर्धारित करने का कोई निश्चित तरीका न होने के कारण अनेक बाद संघर्ष पैदा हो जाते थे। यहाँ तक कि राजदूतों को मल्लयुद्ध के लिए भी तैयार होना पड़ता था। 1661 में लंदन में ऐसी ही घटना घटी। वहाँ जब स्पेनिश राजदूत को गद्दी की फ्रांसीसी राजदूत की गद्दी से आगे रखा गया तो लड़ाई हो गई तथा कई लोग हताहत हुए। स्पेन तथा फ्रांस के बीच राजनयिक सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गये और श्वास्तविक युद्ध का भय हो गया। इसी प्रकार 1768 के लन्दन दरबार की बात है। वहाँ जब फ्रांसीसी राजदूत ने यह देखा कि रूसी राजदूत आस्ट्रियन राजदूत के बाद वाली आगे की सीट पर बैठ गया है तो वह पीछे की सीटों पर चढ़ता हुआ और आगे बढ़ा और उन दोनों के बीच जा पड़ा। इसके परिणामस्वरूप मल्लयुद्ध छिड़ गया। इससे रूसी राजदूत बुरी तरह से घायल हो गया।

अग्रत्व की व्यवस्था से सन्धियों पर हस्ताक्षर करते समय भी कठिनाई पैदा होती थी। प्रत्येक राज्य का प्रतिनिधि सन्धि पर पहले हस्ताक्षर करना चाहता था क्योंकि यदि उसने दूसरे राज्य के प्रतिनिधि के नीचे हस्ताक्षर किये तो यह उनके राज्य के सम्मान के विरुद्ध होगा। इस समस्या के निदान के लिये समानान्तर में हस्ताक्षर करने की परम्परा अपनाई गई। इस तरीके में असुविधा होने पर एक अन्य व्यवस्था चालू की गई जिसके अन्तर्गत सन्धि की अनेक प्रतिलिपियां बनाई जाती थीं और प्रत्येक पक्ष अपनी प्रतिलिपि पर पहले स्वयं हस्ताक्षर करता था बाद में शेष भागीदारों के हस्ताक्षर कराये जाते थे। इसके लिए अनावश्यक व्यय एवं समय की बर्बादी को अग्रत्व के नाम पर सहन किया जाता रहा। 1815 की वियना कांग्रेस तक यही स्थिति बनी रही। वियना कांग्रेस में यूरोपीय राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि मध्य युग की अग्रत्व की परम्परा असहनीय बन चुकी है तथा इसे बदला जाना चाहिये। अब राजनयिक प्रतिनिधियों को चार भागों में बांटा गया। सर्वाधिक समय तक इस पद पर कार्य करने वाले वरिष्ठ राजदूत को राजनयिक निकाय का डीन अथवा डयान कहा गया। तीन वर्ष बाद एश ला चेपले की सन्धि में यह निर्णय लिया गया कि सन्धियों पर सन्धिकर्ता राज्यों को वर्णमाला के क्रम से हस्ताक्षर करने चाहिये।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इटली की पुनर्जागति ने यहां राजनय की जो प्रणाली विकसित की वह भ्रमपूर्ण तथा पर्याप्त स्पर्धापूर्ण थी। तत्कालीन राज्यों का राजनय सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों दृष्टियों से उथला था। उसे उस समय यह माना जाता था कि अन्तर्राष्ट्रीय न्याय हमेशा राष्ट्रीय सुविधा के गण है। धोखेबाजी, अवसरवादिता एवं स्वामिभक्तिपूर्ण आदतों को बढ़ावा देकर इटली ने राजनय की कला को निन्दनीय बना दिया। जटिल परिस्थितियों में तात्कालिक परिणाम प्राप्त करने की दृष्टि में अच्छी समझौतावार्ता की क्रमिकता को भुला दिया गया। फलतः सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिज्ञों का यह दायित्व हो गया कि एक अधिक बुद्धिसंगत तथा अधिक विश्वसनीय प्रणाली की खोज करें।

बीसवीं शताब्दी में इटली के राजनय का मूल उद्देश्य स्वार्थ-सिद्धि रहा है जिसकी पूर्ति के लिए वह धूर्ततापूर्ण एवं अवसरवादी तरीके अपनाता है। सन्धि वार्ता की कला में इटली के राजनयज्ञ विशेष रूप से दक्ष होते हैं। किसी देश के स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे पहले उस देश से अपने सम्बन्ध बिगाड़ लेते हैं और तब उन सम्बन्धों को सुधारने का निमन्त्रण देते हैं। सम्बन्ध सुधारने के आश्वासन के बदले में वे अपनी मनोकामना पूर्ण कर लेते हैं। इटालियन राजनयज्ञ द्वारा की जाने वाली सन्धिवार्तार्ये प्रायः तीन प्रकार की होती हैं – (क) इटालियन राष्ट्र में इतर पक्ष के विरुद्ध बनावटी विद्वेष और शत्रुत्व की भावना जागत करना। (ख) जिस देश से सन्धिवार्ता करनी है उसके विरुद्ध कुछ न कुछ उत्पात मचाए रखना। (ग) अन्य पक्ष से ऐसी सुविधा या वस्तु मांगना जिसे लेने की वास्तविक इच्छा तो नहीं है किन्तु जिसे छोड़ देने पर अन्य पक्ष से अभीष्ट प्रतिफल सहज ही प्राप्त हो जायेगा। जब ऐसा होने की आशा नहीं रहती तो इस इतर पक्ष के विरोधी पक्ष से सन्धि वार्ता प्रारम्भ करने का संकेत भी कर दिया जाता है।

### राजनयिक आचार का फ्रांसीसी तरीका (The French Method of Diplomatic Practice)

फ्रांसीसी राजनय पर दो विचारकों के मत का भारी प्रभाव पड़ा। ये थे – ग्रोशियस तथा रिचलू। इनमें से एक तो अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ता था और दूसरा राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ था। दोनों के राजनय सम्बन्धी विचारों के आधार पर ही फ्रांसीसी राजनय के आचार का रूप निर्धारित हुआ।

**ग्रोशियस के विचार (Hugo Grotius on Diplomacy) :-** ग्रोशियस महोदय ने राजनय के सम्बन्ध में चार महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ये निम्नलिखित हैं :-

(1) अपने समय के धार्मिक संघर्ष को देखते हुए ग्रोशियस ने कहा कि प्रोटेस्टेन्ट एवं कैथोलिक मतानुयायियों का एक दूसरे पर

अपने विचारों का लादना अर्थहीन है। यदि वे विरोध और संघर्ष के स्थान पर प्रेम तथा सहयोग से सोचें तो मानवता अनेक कष्टों से मुक्त हो सकती है।

- (2) राजाओं, संस्थाओं एवं सरकारों से स्वतन्त्र तथा इनसे अधिक प्राचीन और स्थाई प्राकृतिक कानून (Natural Law) होता है। यह व्यक्ति की बौद्धिकता पर निर्भर है। जब तक मानवता इस प्राकृतिक कानून की स्वीकृति एवं मान्यता नहीं देगी तब तक अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का समाधान नहीं हो सकता।
- (3) प्राकृतिक कानून का सामान्य रूप में पालन किए बिना शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त खतरनाक साबित होगा। जब तक दुनिया के शासक यह न सोचें कि उनके कार्यों एवं नीतियों का प्रशासित करने वाली उनकी राष्ट्रीय सुविधा ही नहीं है वरन् कुछ निश्चित सिद्धान्त है तब तक न्यायपूर्ण समतुल्यता स्थापित नहीं की जा सकती।
- (4) प्राकृतिक कानून का प्रशासित एवं लागू करने वाली कोई संस्था होनी चाहिये। ग्रोशियस का मत था कि ईसाई राज्यों को एक ऐसे निकाय की रचना करनी चाहिये जहां प्रत्येक राज्य के विवादों का निस्वार्थ पक्षों द्वारा सुलझाया जा सके। बुद्धिपूर्ण शर्तों को लागू कराने के लिए कुछ साधन भी होने चाहिये।

ग्रोशियस द्वारा क्षेत्र बाह्यता (Extra Territoriality) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। उसने राजनयिक प्रतिनिधियों के विशेष अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का विस्तार से उल्लेख किया है। उसका स्पष्ट मत था कि राजनयिकों को स्वागतकर्ता देश के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के सम्बन्ध में ग्रोशियस का कहना था कि ये न तो केवल कर्ता पर ही लागू होती हैं वरन् इनके दायित्व उसके उत्तराधिकारी पर भी आ जाते हैं। उसने माना कि परिस्थितियां बदलने पर सन्धियों को अस्वीकार किया जा सकता है। जो सन्धियां जिन परिस्थितियों में की जायें वे उन्हीं परिस्थितियों में लागू रहनी चाहिये।

**रिचलू के विचार (Richelieu on Diplomacy) :-** ग्रोशियस एक आदर्शवादी विचारक था। इसके विपरीत कार्डिनल रिचलू एक यथार्थवादी विचारक था। यही कारण है कि ग्रोशियस के विचारों को उसके समय में टुकराया गया किन्तु रिचलू के विचारों ने तत्कालीन व्यवहार को प्रभावित किया। उसने राजनय के सिद्धान्त और व्यवहार में कुछ सुधार प्रस्तावित किए। उसकी उल्लेखनीय देन निम्नलिखित है :-

- (1) रिचलू ने बताया कि सन्धिवार्ता (Negotiation) की कला एक स्थाई क्रिया है तथा जल्दबाजी में किया जाने वाला कार्य नहीं है। अतः राजनय का उद्देश्य अवसरवादी प्रबन्ध करना नहीं है वरन् मजबूत और स्थायी सम्बन्ध बनाना है। असफल समझौतावार्ता भी निरर्थक नहीं होती क्योंकि उससे अनुभव और ज्ञात बढ़ता है। राजनय कोई तदर्थ प्रकृति का कार्य नहीं है वरन् वह एक निरन्तरतापूर्ण प्रक्रिया है।
- (2) रिचलू के मतानुसार राज्य का हित प्राथमिक एवं आन्तरिक होता है। यह भावना विचारधारा या सैद्धान्तिक दुराग्रहों से ऊपर है। यदि राष्ट्रीय हित विरोधी विचारधारा वाले राज्य से सन्धि करने की मांग करता है तो बिना हिचक के की जानी चाहिये। खतरे के समय मित्रों का चुनाव उनकी ईमानदारी या लगाव के आधार पर नहीं वरन् भौतिक एवं भोगौलिक मूल्य के आधार पर किया जाना चाहिये।
- (3) रिचलू का कहना था कि कोई नीति तभी सफल हो सकती है जब कि उसे राष्ट्रीय मत या जनमत का समर्थन प्राप्त हो। इसके लिए उसने प्रभावशाली प्रचार व्यवस्था का समर्थन किया और अपनी नीतियों के समर्थन में जनमत जागत करने के लिए छोटे परचे एवं पत्रिकाएं छपाने की बात कही।
- (4) रिचलू के सन्धियों को पवित्र दस्तावेज मानकर उनके अनुशीलन का समर्थन किया। उसका कहना था कि सन्धि एक महत्वपूर्ण साधन है अतः इसे करने से पूर्व पूरी सावधानी बरतनी चाहिये। एक बार जब सन्धि पर समझौता, हस्ताक्षर एवं अनुसमर्थन हो जाये तो उसका पालन अनिवार्य रूप से दिया जाना चाहिये। राजदूतों अथवा सन्धिकर्ताओं को अपने निर्देशों से बाहर कुछ नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर वे सम्प्रभु का विश्वास खो देंगे। सन्धि की पवित्रता नैतिक आधार पर नहीं वरन् व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।
- (5) रिचलू का विचार था कि एक सही राजनय में निश्चितता रहनी चाहिये। यदि किसी सन्धिवार्ता के बाद समझौता न हो सके तो चिन्ता की बात नहीं है। किन्तु यदि समझौता अस्पष्ट तथा अनिश्चित भाषा में हुआ तो चिन्तनीय हो जायेगा। इससे समझौता भंग करने तथा उसे गलत समझने के अवसर बढ़ जाते हैं। निश्चितता के प्रभाव में सन्धि के पक्षों के बीच आदान-प्रदान के सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकते तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन केवल मनोरंजन और प्रचार के साधन मात्र रह जायेगे।
- (6) रिचलू का कहना था कि विदेश नीति का निर्देशन तथा राजदूत का निरन्त्रण एक ही मंत्रालय में केन्द्रित रहना चाहिये अन्यथा समझौता वार्तायें प्रभावहीन साबित होंगी। यदि उत्तरदायित्व को बिखेर दिया गया तो राजदूत एवं उससे सन्धिवार्ता करने वाला दूसरा पक्ष भी भ्रम में पड़ जायेगा।

इन दोनों विचारकों की मान्यताओं ने फ्रांसीसी राजनय के आचार को प्रभावित किया। राजनयिक आचार की दृष्टि से फ्रांस का

योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसने 17वीं तथा 18वीं शताब्दियों में राजनयिक व्यवहार की जो परम्पराएं डाली उनका यूरोप के अन्य राज्यों ने अनुकरण किया। फ्रांसीसी राजनयिक आचार का वर्णन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :-

**(1) लुई 14 वें का योगदान :-** फ्रांस के राजा लुई चौदहवें के मन्त्रिमण्डल में विदेशमंत्री एक स्थाई सदस्य होता था। इसकी नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी तथा राजा के प्रसाद पर्यन्त ही वह अपने पद पर कार्य करता था। सिद्धान्त रूप से विदेश मन्त्री पेरिस में विदेशी राजदूतों का स्वागत करता था तथा विदेशों में फ्रांसीसी राजदूतों को निर्देश भेजता था। कभी-कभी यह कार्य स्वयं राजा ही सम्पन्न कर लेता था तथा विदेश मन्त्री को पता भी नहीं लगने देता था। पर्याप्त स्वेच्छाचारी होते हुए भी लुई चौदहवां अपने नियुक्त मंत्रियों के प्रति अनुदार नहीं रहता था। वह धैर्यपूर्वक उनके मतों को सुनता था और यहां तक कि उनका आलोचनाओं का भी आदर करता था। विदेशी राजदूतों को सुनने से पहले वह हमेशा विदेश मंत्रालय से परामर्श कर लेता था कि उनकी किन बातों को छोड़ना है और किनको मानना है। कभी-कभी राजा उत्तरदायी मन्त्री के नाम पर गुप्त समझौता वार्तायें भी कर लेता था।

**(2) विदेश कार्यालय :-** विदेशमंत्री के अधीन एक छोटा विदेश कार्यालय था जिसमें कुछ क्लर्क, कुछ अनुवादक तथा कुछ अन्य अधिकारी रहा करते थे। इनकी नियुक्ति वह व्यक्तिगतरूप से स्वयं करता था और उसकी पदविमुक्ति, स्वर्गवास या अरुचि के बाद वे पद से हट जाते थे। वियने के संस्मरणों से ज्ञात होता है कि 1961 में फ्रांसीसी विदेश कार्यालय में पांच अधिकारी थे।

फ्रांस की विदेश सेवा अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक थी। 1685 तक फ्रांस में रोम, वेनिस, कान्स्टेन्टिनोपाल, वियना, हेग, लंदन, मैड्रिड, लिस्बन, म्यूनिख, कोपेनहेगन तथा वेरने आदि में अपने स्थायी दूतावास बना लिये गये थे। इसने कुछ राज्यों को अपने विशेष मिशन भेजे तथा कहीं-कहीं निवासी मन्त्री (Ministers Residents) रखे। तत्कालीन राजनयिकों को इन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—असाधारण राजदूत (Ambassadors Extraordinary), साधारण राजदूत (Ambassadors Ordinary), दूत (Envoys) तथा निवासी (Residents)। बाद में साधारण राजदूत होना निन्दनीय समझा जाने लगा और इसलिए सभी राजदूतों के साथ असाधारण शब्द जोड़ दिया गया। यदि राजदूत अयोग्य अथवा अविश्वसनीय नहीं है तो वह कम से कम तीन या चार वर्ष तक कार्य करता था। यदि राजदूत का प्रेषक अथवा स्वागतकर्ता सम्प्रभु मर जाये तो उसे पुनः प्रत्यय-पत्र प्राप्त करना होता था। यदि राजदूत अपने पद पर विदेश में हो और युद्ध घोषित हो जाये तो वह बड़ी परेशानी में पड़ जाता था। उसके घर वापस लौटने से पूर्व ही उसे लूट लिया जाता था।

**(3) राजनयिक निर्देश :-** जब राजदूत अपना पद संभालने जाता था तो उसे लिखित निर्देश दिये जाते थे। इन दस्तावेजों को बड़ी सावधानी से तैयार किया जाता था। इसमें न केवल राजदूत द्वारा अपनाई जाने वाली नीति का उल्लेख होता था वरन् स्वागतकर्ता राज्य की राजनीतिक स्थिति का भी पूरा विवरण होता था। इसमें सम्बन्धित राजनीतिज्ञों एवं राजनयज्ञ साथियों की प्रकृति, पष्ठभूमि एवं व्यवसाय की सूचना होती थी। इन निर्देशों को तैयार करने में सम्बन्धित मन्त्री को घंटों तक परिश्रम करना होता था। समय के साथ-साथ इन निर्देशों के ज्ञापनों का स्वरूप जटिलतर होता गया। 1774 में सियर बेरन डी ब्रेटाली (Sieur Baron de Breteuil) को असाधारण राजदूत के रूप में वियना भेजते समय जो निर्देश का ज्ञापन दिया गया वह पांच अलग अध्यायों में विभाजित है। इसमें पूरी यूरोपीय स्थिति का तथा न केवल आस्ट्रिया के प्रति वरन् प्रत्येक देश के प्रति अपनाई जाने वाली नीति का वर्णन है। इन निर्देशों में उच्च धार्मिक और नैतिक भावनाओं की अभिव्यक्ति की गई है तथा राजदूत को सत्य का पथ अपनाने को कहा गया है।

**(4) राजनयिक तौर-तरीके :-** फ्रांसीसी राजनय में हमेशा उचित तौर-तरीकों पर जोर दिया गया है। आज भी यहाँ के राजदूतों की टिप्पणियां और पत्र दूसरों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होते हैं। यहाँ की भाषा सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में राजनय की भाषा बन गयी। राजदूत की नियुक्ति के समय दिये जाने वाले निर्देश में उसके रहन-सहन के तरीके, अग्रत्व एवं रस्म रिवाजों पर विशेष जोर दिया जाता था। उसमें यह भी बताया जाता था कि राजदूत को किससे सम्बन्ध बढ़ाने चाहिए तथा किससे नहीं। 1772 में जब फ्रांसीसी राजदूत को लंदन भेजा गया तो उसे यह निर्देश दिया गया, ब्रिटिश संविधान के अनुसार राजदूतों का विरोधी दल से सम्पर्क स्थापित करना गलत नहीं माना जाता, अतः उसे विरोधी दल वालों से कट कर रहने की आवश्यकता थी।

**(5) दूतावास के कर्मचारी :-** फ्रांसीसी दूतावास के सभी कर्मचारी राजदूत द्वारा नियुक्त किये जाते थे और वही उनको वेतन देता था। राजदूत के सचिव तथा सहचारी उसके परिवारजनों एवं मित्रों से ही लिये जाते थे तथा प्रायः अपने काम में पूरे कुशल नहीं होते थे। इतने पर भी राष्ट्रीय सम्मान की दृष्टि से उन पर पर्याप्त धन खर्च किया जाता था। राजदूत के साथ अनेक सहयोगी, सेवक, सचिव, संगीतकार आदि जाते थे। वह अपने साथ फर्नीचर, तस्वीरें, प्लेट, पर्दे आदि सामान ले जाता था। वह स्वागतकर्ता राज्य में अपने खर्च से मकान किराये पर लेता था। आवागमन के साधन सही न होने के कारण दूर देश में राजदूत की नियुक्ति अधिक सम्मानजनक नहीं मानी जाती थी। इसे टालने के लिये राजा पर अनेक दबाव बनाये जाते थे।

**(6) आर्थिक हितों की अभिवृद्धि :-** फ्रांस के राजदूत का यह एक महत्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था कि देश के व्यापार की वृद्धि के लिए वह अपनी क्षमता के अनुसार प्रत्येक संभव प्रयास करे। कुछ चीजों का व्यापार इतना महत्वपूर्ण समझा जाता था कि उनसे

सम्बन्धित प्रदेशों को भेजे जाने वाले राजदूतों की नियुक्ति विदेशमंत्री द्वारा नहीं होती थी वरन् वित्त एवं व्यापार मंत्री द्वारा होती थी। फ्रांस छोड़ने से पहले वे चेम्बर ऑफ कॉमर्स से मिलते थे तथा उनकी मांगों और सिफारिशों के प्रति पूरी रुचि प्रदर्शित करते थे। ये राजदूत अपने कार्यों का प्रतिवेदन विदेश मंत्रालय को नहीं वरन् फ्रांसीसी व्यापार के नियंत्रक को भेजते थे।

(7) **राजदूतों का स्वागत :-** 17वीं शताब्दी में यह रिवाज नहीं था कि राजदूत भेजते समय विदेशी राजा या सरकार की पूर्व स्वीकृति ली जाये। प्रायः किसी को भी अचानक राजदूत बनाकर भेज दिया जाता था। इस प्रकार जब 1685 में सर विलियम ट्रम्बल (Sir William Trumbull) को ब्रिटिश राजदूत बनाकर पेरिस भेजा गया तो लुई 14 वें को अच्छा नहीं लगा। इस महान सम्राट की राजदूत एवं विदेशी शासकों के सम्बन्ध में अपनी पसन्द और नापसन्द थी और तदनुसार ही उनका स्वागत समारोह किया जाता था। स्वागत समारोह का कार्यक्रम पर्याप्त विस्तृत रखा जाता था। कुछ समय के लिये राजदूत तथा उसके स्टाफ को राजदूतों के लिए बनाये गये होटल में टिकाया जाता था तथा सरकारी दौरो के लिये भुगतान किया जाता था। वार्साय (Versailles) में होने वाले दिन-प्रतिदिन के समारोहों में विदेशी राजदूत शामिल नहीं होते थे। राजा से उनकी भेंट भी कदाचित ही हो पाती थी। राजदरबार में भी उनको विशेष सीट नहीं दी जाती थी।

(8) **गोपनीय विचार-विमर्श :-** लुई चौदहवां सम्मेलनीय राजनय के पक्ष में नहीं था। उसके मतानुसार यह समझौता वार्ता का एक धीमा, व्यय साध्य और उलझा हुआ तरीका था। इसके स्थान पर विशेषज्ञों के बीच होने वाली गुप्तवार्ता को वह प्राथमिकता देता था। उसका कहना था कि खुली समझौतावार्ताओं में वार्ताकार अपने सम्मान का ध्यान रखते थे तथा अपना गौरव बनाए रखना चाहते थे। वे अपने सम्प्रभु के हितों एवं तर्कों का ही ध्यान रखने के कारण समयानुकूल उपयुक्त एवं उच्चतर तर्क नहीं दे पाते थे। लुई चौदहवें का विचार था कि निजी विचार-विमर्श के समय जो रियायतें दी जा सकती हैं वे अनेक पर्यवेक्षकों की उपस्थिति में नहीं दी जा सकती। यदि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन कुछ व्यावसायिक विशेषज्ञों के हाथों में सौंप दिया जाये तो अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं ऐसे ही सुलझ जायेंगी। राजा ने पेरिस की संसद तथा स्थानीय संसदों को अपने द्वारा की गई सन्धियां प्रकाशित एवं पंजीकृत करने का अधिकार दिया। किन्तु यह अधिकार केवल नाममात्र का था। मूल सिद्धान्त यह था कि समझौता वार्ता यथासम्भव गुप्त रहनी चाहिये।

### राजनयिक आचार का भारतीय तरीका (Indian Method of Diplomatic Practice)

यद्यपि भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि वह एक छत्र शासक के अन्तर्गत न रहकर विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित रहा था तथापि राजनय के उद्भव और विकास की दृष्टि से यह स्थिति अपना विशिष्ट मूल्य रखती है। यह दुर्भाग्य उससमय और भी बढ़ा जब इन राज्यों में मित्रता और एकता न रहकर आपसी कलह और मतभेद बढ़ते रहे। बाद में कुछ बड़े साम्राज्य भी अस्तित्व में आये। इनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध थे। एक-दूसरे के साथ शांति, व्यापार, सम्मेलन और सूचना लाने ले जाने आदि कार्यों की पूर्ति के लिये राजा दूतों का उपयोग करते थे। साम, दान, भेद और दण्ड की नीति, षाड़गुण्य नीति और मण्डल सिद्धान्त आदि इस बात के प्रमाण हैं कि इस समय तक राज्यों के बाह्य सम्बन्ध विकसित हो चुके थे। दूत इस समय राजा को युद्ध और संधियों की सहायता से अपने प्रभाव की वृद्धि करने में सहायता देते थे।

भारत में राजनय का प्रयोग अति प्राचीन काल से चलता चला आ रहा है। वैदिक काल के राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में हमारा ज्ञान सीमित है। महाकाव्य तथा पौराणिक गाथाओं में राजनयिक गतिविधियों के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। प्राचीन भारतीय राजनयिक विचार का केन्द्र बिन्दु राजा होता था, अतः प्रायः सभी राजनीतिक विचारकों-कौटिलय, मनु, अश्वघोष, बहस्पति, भीष्म, विशाखादत्त आदि - ने राजाओं के कर्तव्यों का वर्णन किया है। स्मृति में तो राजा के जीवन तथा उसका दिनचर्या के नियमों तक का भी वर्णन मिलता है। राजशास्त्र, नपशास्त्र, राजविद्या, क्षत्रिय विद्या, दंड नीति, नीति शास्त्र तथा राजधर्म आदि शास्त्र, राज्य तथा राजा के सम्बन्ध में बोध कराते हैं। वेद, पुराण रामायण, महाभारत, कामन्दक नीति शास्त्र, शुक्र नीतिसार, आदि में राजनय से सम्बन्धित उपलब्ध विशेष विवरण आज के राजनीतिक सन्दर्भ में भी उपयोगी हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद राजा को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जासूसी, चालाकी, छल-कपट और धोखा आदि के प्रयोग का परामर्श देते हैं। ऋग्वेद में सरमा, इन्द्र की दूती बनकर, पाणियों के पास जाती है। पौराणिक गाथाओं में नारद का दूत के रूप में कार्य करने का वर्णन है। यूनानी पृथ्वी के देवता "हर्मस" की भांति नारद वाक चाटुकारिता व चातुर्य के लिये प्रसिद्ध थे। वे स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य एक-दूसरे राजाओं को सूचना लेने व देने का कार्य करते थे। वे एक चतुर राजदूत थे। इस प्रकार पुरातन काल से ही भारतीय राजनय का विशिष्ट स्थान रहा है। प्राचीन भारत में विभिन्न धर्म ग्रन्थों में राजनय से सम्बन्धित उपलब्ध सामग्री का वर्णन इस प्रकार है :-

मानव धर्म पर लिखित मनुस्मृति, भारत की एक ऐसी अति प्राचीनतम कृति है, जिसमें राजदूतों तथा उनके कार्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। मनु के द्वारा दिये गये नियमों में पड़ोसी देशों के साथ राजनीतिक सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए राजदूत की नियुक्ति का प्रावधान था। वह राजदूत को बहुत ही महत्व देता था। राजा को केवी एक ऐसी व्यक्ति को ही राजदूत नियुक्त करना चाहिये जो सभी विषयों का ज्ञाता हो, जो दूसरों के मुख पर आये भावों को पढ़ सके तथा जो सत्यवादी, गुणी और उच्च वंश का हो। मनु

उस व्यक्ति के लिये राजदूत की नियुक्ति पर बल देता है जो सब शास्त्रों का विद्वान हो, अच्छे व्यक्तित्व वाला हो, धूम्रपान व मद्यपान से दूर रहता हो तथा जो चतुर और श्रेष्ठ कुल का हो। मनु के अनुसार "राजा को राजदूत नियुक्त कर देना चाहिये, सेना को सेनापति पर आश्रित रहना चाहिये, प्रजा पर नियंत्रण सेना पर निर्भर करता है, राज्य की सरकार राजा पर, शांति और युद्ध राजदूत पर।" मनु का मत है कि एक योग्य व चतुर राजदूत मित्र राज्यों में मतभेद तथा शत्रु राज्यों के बीच मित्रता स्थापित करने में सफल होता है। मनु राजा को युद्ध के प्रयोग का परामर्श, युद्ध की अनिवार्यता तथा विजय की सुनिश्चितता की स्थिति में एक अन्तिम शस्त्र के रूप में ही देता है। चूंकि युद्ध का परिणाम अनिश्चित होता है, अतः मनु राजा को परामर्श देता है कि उसे मित्र, शत्रु अथवा तटस्थ राज्य को कभी भी अपने से अधिक शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहिये। राज्य की रक्षा तथा शत्रु का विनाश राज्य का प्रमुख कर्तव्य है। शत्रु से युद्ध करना राजा का धर्म है। वह उसे शत्रु के सर्वनाश के लिये बगुले की भांति व्यवहार का परामर्श देता है। इसके अतिरिक्त राजा को शेर की भांति शक्तिशाली और लोमड़ी की भांति चालाक होना चाहिये। मनु ने राज्यों की विदेश नीति के बारे में विस्तार से वर्णन किया है। मनु का मौलिक सिद्धान्त षाड्गुण्य मंत्र है, जिसमें वह राजा को संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय गुणों को ग्रहण करने का परामर्श देता है। इसी के माध्यम से राजा सूचनायें एकत्रित करता था। मनु के मत में दूत के तीन प्रमुख कार्य थे। पर राजा के साथ युद्ध अथवा शांति की घोषणा करना, संधियां करना और विदेशों में रहकर कार्य करना। राजदूत को अपने गुप्तचरों के माध्यम से अपना ज्ञानवर्धन करना चाहिये तथा विरोधी पक्ष के लोभी व्यक्तियों व अधिकारियों को भ्रष्ट करने का निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिये। प्रलोभन और भेंट देकर सूचना प्राप्ति का मनु परामर्श देता है। वास्तव में प्राचीन काल में गुप्तचर व गुप्तचरी का विरोध न करके, उसके उपयोग पर बल दिया गया था।

याज्ञवल्क्य स्मृति में राज्य और प्रजा की रक्षा, राजा का प्रमुख कर्तव्य माना गया है। अतः युद्ध करना राजा का धर्म है। राजा को इस स्थिति को ध्यान में रखकर ही अपनी नीति अपनानी चाहिये तथा साम, दान, भेद और दण्ड सभी उपायों का प्रयोग कर सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये। याज्ञवल्क्य स्मृति के एक श्लोक में राजा के गुण संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव बताये गये हैं, अर्थात् राजा को आवश्यकता तथा परिस्थिति अनुसार अपने पड़ोसी राज्यों के साथ मित्रता, शत्रुता, आक्रमण, उपेक्षा, संरक्षण अथवा फूट डालने का प्रयत्न करना चाहिये।

विश्व साहित्य के प्राचीनतम महाकाव्यों की तुलना में रामायण व महाभारत उत्कृष्ट कृति हैं। भारत के महाकाव्यों—रामायण व महाभारत—में राजनय की उपयोगिता व उन्मुक्तियों से सम्बन्धित उदाहरण मिलते हैं। महर्षि बाल्मीकि द्वारा रचित रामायण में राम ने लंका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा के पूर्व, अंगद ने नीति के अनुसार समझौते का पूर्ण प्रयास किया था। रावण द्वारा हनुमान के लंका दहन के कारण प्राणदण्ड के आदेश देने पर रावण के भाई विभीषण ने व्यवधान डालते हुए कहा था कि शास्त्रानुसार दूत का वध नीति विरोधी है, उसे दण्डित नहीं किया जा सकता, चाहे वह कैसा ही अपराध क्यों न करे। विभीषण को अपने पक्ष में करना तथा रावण के दरबार में गतिविधियों की जानकारी प्राप्त कर लेना, कुशल राजनयिक योग्यता का परिचायक है। शुक राक्षस द्वारा राम की सेना का भेद पता लगाने के लिये आने पर उसे पकड़ लिया गया, परन्तु राम ने उसे छोड़ दिया क्योंकि शुक ने अपने को रावण का दूत घोषित कर दिया था। इस प्रकार इस काल में दूत भेजने की प्रथा थी तथा इनका मुख्य कार्य सन्देशों का लाना, ले जाना तथा जासूसी करना था। अयोध्या काण्ड में राजा दशरथ राम को परामर्श देते हैं कि राजा को दूतों के माध्यम से सत्य का पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। तुलसीदास ने रामचरित मानस में साम, दान, भेद और दण्ड चारों उपायों का वर्णन किया है।

महाभारत हमारे प्राचीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन का एक प्रमुख साधन है। रामायण की भांति महाभारत भी नीतिशास्त्र की ऐसी पुस्तक थी जिसका अध्ययन कर राजा स्वयं के राज्य के हितों की रक्षा के लिये कार्य कर सकता था। गीता को विद्वानों ने नीतिशास्त्र, नीति मीमांसा, कर्तव्य शास्त्र आदि अनेक नाम दिये हैं। गीता के उपदेश राजनीति के उच्चतम आदर्श के रूप में देखे जाते हैं। इस समय तक राजनय विकसित हो चुका था। महाभारत में दूतों का वर्णन मिलता है। शासन की सफलता के लिए दूतों और गुप्तचरों की आवश्यकता पर इसमें बल दिया गया है। दूत केवल वही व्यक्ति नियुक्त हो सकता था जो कुलीन वंश का, प्रिय वचन कहने वाला, अच्छी स्मृति वाला और यथोक्तवादी हो। शांतिपूर्व में वर्णित है कि दूतों के माध्यम से राज्य को अपने शत्रु और मित्र दोनों ही पक्षों के अभिलाषित विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। संजन ने विभिन्न अवसरों पर दूत का कार्य किया था। पांडवों की ओर से श्रीकृष्ण एक विशेष दूत बनकर कौरवों के राजा दुर्योधन के दरबार में दोनों पक्षों के मध्य समझौता कराने गये थे, जिससे कि भविष्य में संग्राम न हो। द्रोपदी द्वारा ऐसे असम्भव कार्य के औचित्य के सम्बन्ध में पूछने पर श्रीकृष्ण ने जो उत्तर दिया वह राजनय से परिपूर्ण था। श्रीकृष्ण का मत था कि भले ही वे युद्ध को टालने में असफल रहे, परन्तु वे विश्व को दिखा देंगे कि वे किस प्रकार से न्यायोचित हैं तथा कौरव अन्याय कर रहे हैं। उन्होंने कहा था कि इसी सन्दर्भ में "मैं तुम्हारी बात को कौरवों के दरबार में अच्छी प्रकार से रखूंगा और प्राणप्रण से यह चेष्टा करूंगा कि वे तुम्हारी मांग को स्वीकार कर लें। यदि

मेरे सारे प्रयत्न असफल हो जायेंगे और युद्ध अवश्यम्भावी होगा, तो हम संसार को दिखायेंगे कि कैसे हम उचित नीति का पालन कर रहे हैं और वे अनुचित नीति का, जिससे विश्व हम दोनों के साथ अन्याय नहीं कर सके।" इस सन्दर्भ में श्रीकृष्ण ने कहा था कि "धतराष्ट्र के समक्ष मैं न केवल अपने परन्तु कौरवों के हितों की भी रक्षा करूंगा।" युद्धनीति एवं राजनीति के कृष्ण एक महान ज्ञाता थे। धर्मराज युधिष्ठिर व अर्जुन को दिये गये नीति प्रवचन, कृष्ण के योग्य एवं आदर्श राजदूत होने के द्योतक हैं। भीष्म पितामह ने दूत की योग्यताओं का वर्णन किया है। उनके अनुसार वह पुरुष जो दक्ष, प्रिय भाषी, यथोक्तवादी और अच्छी स्मृति वाला हो वही दूत नियुक्त किया जा सकता है। राजा को किसी भी परिस्थिति में दूत का वध नहीं करचा चाहिये।" दूत को मारने वाला राजा मंत्रियों सहित नरकगामी होगौ। भीष्म पितामह द्वारा अन्तिम क्षणों में दिये गये वचन राजा तथा राजनय पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। महाभारत में उच्च साध्य की प्राप्ति में सभी प्रकार के साधनों के उपयोग का समर्थन है। शांतिपर्व राजनय और युद्ध व शान्ति के परामर्श से भरा पड़ा है। वनपर्व में विजय प्राप्ति हेतु सभी साधन मान्य बताये गये हैं। क्षत्रिय धर्म नैतिकता के ऊपर तथा परे है। ये दोनों महाकाव्य शासन, राजनय, युद्ध और शांति पर लिखे गये महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इस प्रकार रामायण और महाभारत काल में राजनय का संस्थागत स्वरूप उभर आया था। रामचन्द्र दिक्षितार के अनुसार राजनय इस समय पूर्ण विकसित हो चुका था।

मौर्य काल भारतीय राजनय का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। इस काल में दूतों को भेजने की प्रथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक भाग बन चुकी थी। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी विकसित हो चुके थे। दूतों का स्थायी व अस्थायी रूप से आदान-प्रदान होता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में मैगस्थनीज (Magasthenes) और समुद्रगुप्त के दरबार में सिंहल राजा के दूत आये थे। इसी प्रकार भारत की ओर से चीन व रोम को दूत भेजे गये थे। इन दूतों का कार्य मूलरूप से व्यापारिक सुविधायें प्राप्त करना था। राजतरंगिणी में भी विदेशों में दूतों की नियुक्ति का वर्णन है। मैगस्थनीज की पुस्तक "इण्डिका" में मौर्यकालीन भारत की राजनीतिक दशाओं का वर्णन है। बिन्दुसार के राज्य काल में सीरिया के राजा एन्टीयोक्स (Antiochus) ने डायमेकस (Deimachos) नामक व्यक्ति को तथा मिस्र के राजा टोलेमी (King Ptolemy) ने डायोनिसियस (Dionysius) को अपने दूत के रूप में भेजा था। सम्राट अशोक ने लंका, मिस्र, सीरिया, मैसीडोन आदि देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित किये थे तथा अपने पुत्र महेन्द्र व पुत्री संघमित्रा को धर्मदूत के रूप में लंका भेजा था। मौर्य शासकों तथा पुल्लेशिन द्वितीय (Pulkesin-II) के फारस के राजा खुसरो परवेज (Khusro Parwiz) के साथ तथा हर्षवर्धन के चीन के साथ सम्बन्ध थे। राजदूतों के आदान-प्रदान की व्यवस्था पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। इस प्रकार राजनय को राज्य शिल्प का ही एक भाग माना जाता था। राजनय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मूल आधार था।

भारतीय राजशास्त्र के चार प्रसिद्ध आधारभूत सिद्धान्त साम, दान, भेद और दण्ड राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को, प्राचीनकाल की भाँति आज भी निर्धारित करते हैं। इन्हें नीतिशास्त्र में 'चतुर्पद' कहा गया है। साम का अर्थ मित्रता तथा अनुनय है। राजनय के इस नियम के अन्तर्गत विपक्षी राजा को वाणीचातुर्य तथा राजनयिक कुशलता अर्थात् तर्क और विनम्रता से मित्र बनाये रखा जाता था। विजिगीषु राजा को इस नीति का पालन करना चाहिये। यदि साम की नीति सफल हो जाये परन्तु फिर भी उसका पूर्ण परिणाम नहीं निकले तो कौटिल्य दान की नीति के पालन का परामर्श देता है। दान का अर्थ है देना। दान सिद्धान्त के अन्तर्गत शत्रुपक्ष को अपनी ओर मिलाने के लिए लोभ और लालच देता है। राजनय में कुछ दिये बगैर प्राप्त नहीं होता है। अतः यदि राज्य को कुछ प्राप्त करना है तो उसे कुछ देना भी पड़ेगा। साम व दान अर्थात् अनुनय और समझौते में असफल रहने पर भेद अथवा फूट डालने का प्रयत्न किया जा सकता है। शत्रु पक्ष में फूट डालकर उसे दुर्बल बना अपना प्रभाव बढ़ाना राजा का परम कर्तव्य होता था। कौटिल्य के अनुसार भेद डालने के कार्य के अन्तर्गत पड़ोसी राज्यों को उत्तेजित करना अथवा प्रतिष्ठित नागरिकों और अधिकारियों को विद्रोह के लिये प्रेरित करना था। उपर्युक्त तीन उपायों की असफलता के पश्चात् ही चौथे उपाय अर्थात् दण्ड के उपयोग का परामर्श मिलता है। मनु भी यथासम्भव अन्तिम अस्त्र के रूप में ही उसके प्रयोग की छूट देता है। मनु के अनुसार साम, दान और भेद इनमें से एक अथवा तीनों के साथ प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये, युद्ध से नहीं। इन तीनों उपायों के द्वारा जब सिद्धि प्राप्त न हो तब दण्ड का आश्रय लेना उचित होगा। प्राचीन भारतीय इतिहास में उपलब्ध अनेक उदाहरण इस बात को प्रमाणित करते हैं। सभी युगों में अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये दण्ड की व्यवस्था रही है। दण्ड का अर्थ राजनयिक युद्ध के रूप में भी था। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही साम, दान, भेद और दण्ड का प्रयोग होता चला आ रहा है। आधुनिक युग इसका अपवाद नहीं है।

राजनय के क्षेत्र में कौटिल्य का महान् योगदान है। वास्तव में कौटिल्य और राजनय पर्यायवाची हैं। कौटिल्य अरस्तू का समकालीन था। इसका वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था। इतिहास में वह चाणक्य के नाम से प्रसिद्ध है। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का राजगुरु तथा परामर्शदाता था। चाणक्य ने 326 ई० पू० में सिकन्दर महान् के आक्रमण से उत्पन्न आन्तरिक अराजकता तथा हिन्दू व्यवस्था के विघटन की स्थिति में मौर्यवंश के प्रथक सम्राट चन्द्रगुप्त के पथ प्रदर्शन के लिये 'नरेन्द्र हेतु' एक प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' की रचना की थी। इस पुस्तक की रचना में कौटिल्य का मूल उद्देश्य सशक्त राजतन्त्र के माध्यम से भारत का राजनीतिक एकीकरण करना

था। ये अपने ढंग की एक ऐसी अनोखी पुस्तक है जिसे भारत की राजनीति शास्त्र की प्रथम पुस्तक कहा जा सकता है। इसमें राजनीति का विवेचन स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में दिया गया है। राज्य व्यवस्था के संचालन हेतु कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत परामर्श के आधार पर ही मौर्य शासक एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने में सफल हो सके थे। इसी की सहायता से चन्द्रगुप्त चक्रवर्ती सम्राट बना। राज्य शास्त्र के साहित्य में इस विशिष्ट, अद्वितीय तथा अपूर्व ग्रन्थ का महत्व चिरन्तन है। इसमें उच्च कोटि की शासन व्यवस्था, सरकार, राजा तथा नीतिशास्त्र जैसे महत्वपूर्ण विषयों के गूढ़ अध्ययन के साथ-साथ प्रथम खण्ड के सोलहवें अध्याय में राजनय व राजदूतों के कार्यों के बारे में विस्तार से वर्णन किया गया है। इसका सातवां खण्ड विदेश नीति, संधियों और राष्ट्रीय हितों की रक्षार्थ विषयों से सम्बन्धित है। अर्थशास्त्र के अध्ययन से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम, किसी भी देश की नीति के गुणों का मूल्यांकन उनके द्वारा सम्पादित कार्यों के परिणामों के आधार पर किया जा सकता है। उत्तम इच्छाओं के गलत परिणाम खराब नीति के द्योतक हैं। द्वितीय, राजनीति की प्रेरणा तथा उनके परिणाम दोनों ही चूंकि मानव द्वारा निर्मित हैं अतः परिकल्पनीय है।

कौटिल्य ने प्रथम बार भारत को व्यवस्थित और स्थापित राजनय के नियमों को भेंट की। निश्चय ही प्राचीन भारत, राजनयिक व्यवस्था में परिपक्व था। इसके द्वारा दिये गये नियम, साधारण परिवर्तन के पश्चात् आज भी लागू किये जा सकते हैं, हालांकि इनका निर्माण आज से हजारों वर्ष पूर्व किया गया था। कौटिल्य वर्तमान अर्थव्यवस्थाओं का संस्थापक था। उसने राज्य के सम्बन्धों को राष्ट्रों के मध्य शक्ति संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया था। कौटिल्य का उद्देश्य सुदृढ़ और शक्तिशाली राज्य की स्थापना करता था। अतः उसने राजा को परामर्श दिया कि वह अपनी भौतिक शक्ति की वृद्धि करे, और इस ओर निरन्तर यत्नशील रहे। चन्द्रगुप्त मौर्य तथा समुद्रगुप्त की नीतियों में यथार्थवाद का प्रकट अंश पाया जाता है। अपनी यथार्थवादी नीतियों के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त साम्राज्य स्थापित करने तथा उस समय को राजनीति को स्थायित्व प्रदान करने में सफल रहा। अपनी यथार्थवादी नीतियों के आधार पर ही कौटिल्य मार्गेनथो के यथार्थवादी स्कूल की स्थापना करने वालों का पितामह तथा बिस्मार्क इसका योग्य शिष्य माना जा सकता है।

कौटिल्य शासन की सम्पूर्ण शक्ति राजा में केन्द्रित करना चाहता था। अतः उसके विचार का मूल केन्द्र बिन्दु राजा ही था। कौटिल्य राजा से कछुए की भांति अपनी धन सम्पदा और स्रोतों को शत्रु से छिपाकर रखने की अपेक्षा करता था, जिससे कि शत्रु पक्ष उसकी शक्ति का सही अनुमान नहीं लगा सके। उसने राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। उसकी यह मान्यता थी कि राजा के गुण और दोषों पर ही राज्य की उन्नति और पतन निर्भर है। कौटिल्य का, जो कि एक सशक्त भारत के निर्माण का इच्छुक था, चन्द्रगुप्त मौर्य की भांति यह विश्वास था कि ऐसा चतुर उपायों—साम, दान, भेद और दण्ड द्वारा ही सम्भव है। क्योंकि अर राज्य की व्यवस्था व समस्याएँ अलग होती हैं अतः राज्य अपनी पथक् स्थितियों के अनुरूप निर्दिष्ट चतुर्विधाओं में से एकाधिक का उपयोग कर सकता है। कौटिल्य के राजनय का उद्देश्य विजिगीषु राज्य को विजय प्राप्त कराने तथा उसे स्थायी बनाने में सहायता देना भी था। कौटिल्य द्वारा राजनय के उपयोग के सात तत्व थे, स्वामी, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। कौटिल्य ने इस सभी का विस्तृत वर्णन किया है। स्वामी अर्थात् राजा इन सबका केन्द्र था। इसके पद के अपने अधिकार और उत्तरदायित्व थे। कौटिल्य राजा तथा राज्य को शक्तिशाली एवं सुरक्षित बनाये रखने के लिये राजा के जीवन की सुरक्षा को महत्व देता है। राजा का दुर्ग चहार दीवारी और चारों ओर खाई से पूर्ण रक्षित होना चाहिये। घोषाल के शब्दों में “राजा को व्यक्तिगत सुरक्षा राज्य की सुरक्षा की कुंजी है।” अर्थशास्त्र भी राजा को अपने राज्य की सुरक्षा तथा प्रभुसत्ता को बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने का परामर्श देता है।

भारतीय राजनय के इतिहास में कौटिल्य की माण्डलिक व्यवस्था यथार्थवाद की द्योतक है। वैदेशिक नीति का संचालन षाड्गुण्य सिद्धान्त के अनुसार चलता था। कौटिल्य के अनुसार—विदेश नीति का मूल उद्देश्य राजा द्वारा सर्वोच्च शक्ति प्राप्त कर अपने शत्रु को उससे वंचित करना होता है। राजा को ऐसी नीति अपनानी चाहिये जिससे उसके स्वयं के हित का संवर्धन तथा शत्रु को हानि हो। यदि पड़ोसी राज्य दुर्बल हो अथवा उसकी सेनिक शक्ति क्षीण हो तो राजा को आवश्यकतानुसार उसकी सहायता कर, उसकी प्रशंसा कर, उसके साथ स्थायी अथवा अस्थायी सन्धि कर अपने उद्देश्य की प्राप्ति करनी चाहिये। पड़ोसी राज्य के साथ मित्रता अथवा स्थायी मैत्री सम्बन्धों को बनाने के लिए कौटिल्य ने इन राज्यों की कन्याओं के साथ वैवाहिक सम्बन्धों की स्थापना पर भी बल दिया है। उसके अनुसार शक्तिशाली राजा की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अपनी सीमा पर एक कमजोर शत्रु भी हानिकारक होता है। कौटिल्य ने शत्रु की विशेष परिभाषा दी है। शत्रु वह देश है जो अपने देश की सीमा पर हो और मित्र वह है जो तुम्हारे देश की सीमा पर स्थित राज्य की सीमा पर हो। कौटिल्य का मत था कि सीमा पर स्थित शक्तिशाली देश भविष्य का सम्भावित शत्रु है। यह राजनय का कर्तव्य है कि वह इसकी शत्रुता को समाप्त करे, क्योंकि सीमा पर स्थायी शत्रु की उपस्थिति देश के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

शक्तिशाली राज्य के सम्बन्ध में कौटिल्य का परामर्श था कि उसके प्रति अस्थायी काल के लिये ‘उपेक्षा’ की नीति का प्रयोग करना चाहिये। मध्यान्तर के इसकाल में राजा को शत्रु पक्ष को दुर्बल करने के लिए गुप्तचरों के सहयोग से उनमें मतभेद पैदा करना चाहिये।

इस बीच शक्तिशाली राज्यों के निजी संघर्षों, संधियों अथवा गुटों के प्रति तटस्थता की नीति अपनानी चाहिये अथवा शक्तिशाली राज्य का समर्थन करना चाहिये। कौटिल्य का मत था कि यदि सम्भव हो तो दुर्बल अथवा आश्रयहीन शत्रु को आत्मसात कर, अपनी शक्ति का निरन्तर विकास करना चाहिये। इस प्रकार कौटिल्य राजा को शक्ति संतुलन की नीति को अपनाकर अपनी सुरक्षा और अपना मान तथा धन बढ़ाने का परामर्श देता है। उल्लेखनीय है कि कौटिल्य द्वारा वर्णित राजनय आदर्शों से प्रेरित न होकर केवल ठोस और वास्तविक परिणामों को दृष्टि में रखता था। यही कारण है कि कौटिल्य राजा को शत्रु पक्ष के प्रति 'उपेक्षा' के साथ-साथ 'माया' व 'इन्द्रजाल' अर्थात् जासूसी के उपयोग का भी परामर्श देता है। इसके अतिरिक्त, कौटिल्य राजा को राजनीति के सम्बन्ध में दो और महत्वपूर्ण परामर्श देता है। प्रथम, देश की नीति पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित एवं जनकल्याणकारी होनी चाहिये। द्वितीय, उस नीति में समयानुकूल परिवर्तन करते रहना चाहिये जिससे शत्रु पक्ष को लाभ न पहुंचे।

कौटिल्य राजा को जहां तक सम्भव हो सके शान्ति का मार्ग अपनाने का परामर्श देता है। "जब शान्ति और युद्ध से समान लाभ की आशा हो तो शान्ति की नीति अधिक लाभप्रद होगी, क्योंकि युद्ध में सदैव ही शक्ति व धन का अपव्यय होता है। इसी प्रकार जब तटस्थता और युद्ध से समान लाभ हो, तटस्थ नीति ही अधिक लाभप्रद व सन्तोषप्रद होगी।" कौटिल्य का यह विचार था कि शान्तिपूर्ण उपायों की असफलता की स्थिति में प्रत्येक राज्य युद्ध को एक विकल्प के रूप में अपने समक्ष रखता है। पणिककर के शब्दों में "वास्तव में जब सभी प्रयत्न असफल हो गये हों, तथा सभी परिस्थितियां शस्त्रों के प्रयोग के लिए अनुकूल हों, तभी युद्ध की नीति के रूप में जारी रखना विचारणीय है।" प्राचीन भारत में युद्ध को यथासम्भव टालने की नीति का अनुकरण किया जाता था। उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त जैसे शक्तिशाली राजा ने सेल्युकस जैसे दुर्बल पड़ोसी राजा के साथ भी आक्रामक नीति का पालन नहीं किया था। कौटिल्य ने युद्ध तीन प्रकार के बताये हैं, प्रकाश युद्ध, कूट युद्ध और तष्णी युद्ध। राज्य की प्रतिरक्षा के लिये कौटिल्य ने दुर्ग विधान का महत्व प्रदर्शित किया है। बल अथवा सेना सप्तांग राज्य का प्रधान शस्त्र था।

कौटिल्य राज्य की सुरक्षा तथा समृद्धि के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये नैतिकता को गौण मानता था। कौटिल्य के धोखे, छल कपट, हिंसा और युद्ध के पीछे उसका यथार्थ, तीव्र बुद्धि और राष्ट्र-प्रेम झलकता था। इस सबके बावजूद, कौटिल्य राजा को धर्म विरोधी व अत्याचारी नहीं होने देता है। वह राज्य को स्वेच्छाचारी बनने देता है, परन्तु राजा को हर हालत में धर्म शास्त्रों और नीति शास्त्रों के स्थापित सिद्धान्तों के अनुसार चलने का ही परामर्श देता है। वह गुप्तचर सेना के उपयोग को राज्य की रक्षार्थ आवश्यक समझता था। वह असंतुष्ट तत्वों, देशद्रोहियों तथा विदेशी शत्रुओं के साथ व्यवहार में नैतिकता के त्याग का परामर्श देता है। कौटिल्य शासन कला तथा राजा व राज्य के हित में अनैतिक कार्य तथा शत्रु व अपराधियों को धोखे से मरवा डालने को भी न्यायोचित ठहराता है। एक यथार्थवादी होने के नाते कौटिल्य ने राज्य के हित के आगे नैतिक मूल्यों को महत्व नहीं दिया था। वह यह भली-भांति समझता था कि नैतिकता के आधार पर राज्य नहीं टिक सकते हैं। विदेशियों से लड़ने के लिये धर्म के उपयोग का वह समर्थक था। वह मन्दिरों अथवा देवताओं की मूर्ति में शस्त्र छिपाकर रखने का समर्थक था, पूजा पर आये राजा का वध किया जा सकता था, एक शक्तिहीन राजा द्वारा शक्तिशाली राजा के विरुद्ध गुप्त षड्यन्त्रों और हत्याओं के उपयोग का वह समर्थक था। उसकी दृष्टि में शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिये नैतिकता और धर्म वांछनीय था। वह नैतिकता को, सैद्धान्तिक दृष्टि से मूल्यवान मानते हुये भी, व्यावहारिक दृष्टि से उसके अनुपयोगी होने के कारण, त्याग्य मानता है।

कौटिल्य ने दूतों की योग्यता, प्रकार, कर्तव्य, आचार आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। कौटिल्य ने राज्यों की बाह्य नीति के संचालन में दूत का विशेष महत्व माना है। कौटिल्य दूत को "राजा का मुख" मानता था। इसी के माध्यम से राज्यों के मध्य पारस्परिक वार्ता-विनिमय चलता था। कौटिल्य दूतों को तीन श्रेणी में विभाजित करता है। निसप्तार्थ, परिमितार्थ और शासनहार। आमात्य पद किसी भी दूत की श्रेणी में निर्धारण का मापदण्ड होता था। आमात्य पद की योग्यता वाला दूत निसप्तार्थ, उसकी तीन चौथाई योग्यता रखने वाला परिमितार्थ और आधी योग्यता वाला शासनहार कहलाता था। निसप्तार्थ श्रेणी के दूत का कार्य अपने राजा का सन्देश दूसरे राजा के समक्ष प्रस्तुत करना होता था। समस्त विवादपूर्ण समस्याओं के सम्बन्ध में ऐसे राजदूत के पास पूर्णाधिकार सुरक्षित थे। उदाहरणार्थ श्रीकृष्ण कौरवों के पास निसप्तार्थ दूत के रूप में भेजे गये थे। श्रीकृष्ण का यह कथन इस तथ्य की पुष्टि करता है—"मैं शान्तिदूत बनकर हस्तिनापुर जाऊंगा और शान्ति प्रयास असफल होने पर युद्ध की घोषणा कर दूंगा।" इस प्रकार निसप्तार्थ दूत को वार्ता के पूर्णाधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार के दूत को हम वर्तमान काल के राजदूत के समान मान सकते हैं। परिमितार्थ दूत के अधिकार निसप्तार्थ दूत से कम होते थे। यह दूत राजा द्वारा दिये गये निर्देशों की सीमा के अन्तर्गत ही वार्ता करने का अधिकार रखता था। वह अपने निर्देशों से बाहर नहीं जा सकता था। शासनहार जो तृतीय श्रेणी का दूत होता था वह केवल सन्देशवाहक होता था। इसका प्रमुख कार्य राजाओं के मध्य सन्देशों का आदान-प्रदान करना होता था। इसे किसी भी प्रकार के कोई अधिकार नहीं थे; अपने कार्य की समाप्ति पर दूत अपने देश लौट जाते थे। "प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय कानून" के एक लेख में विश्वनाथ



ने मत प्रकट किया है कि इस काल में स्थायी दूतों की नियुक्ति की प्रथा का प्रारम्भ नहीं हुआ था। दूतों को अस्थायी तौर पर थोड़े समय के लिये ही नियुक्त किया जाता था। कौटिल्य एक अन्य प्रकार का "अनधिकृत" दूत का भी वर्णन करता है। यह दूत अपने राजा तथा पर-राजा से वेतन लेकर दोनों ओर से ही कार्य करता था। इसे कामन्दक ने "उभयवेतन भोगी दूत" की संज्ञा दी है। कौटिल्य दूत की नियुक्ति में व्यक्ति के नैतिक चरित्र और उसके व्यक्तित्व को महत्व देता है। उसके मत में जहाँ तक सम्भव हो अपने ही राज्य के नागरिक को दूत नियुक्त किया जाना चाहिये। अर्थशास्त्र के भाग एक, अध्याय 16 में दूत के आचरण सम्बन्धी निर्देशों का उल्लेख है। कौटिल्य के अनुसार दूत को पर-राज्य में पूर्ण वैभव से रहना चाहिये, क्योंकि वह विदेश में स्वदेश के वैभव एवं गौरव का प्रतिनिधित्व करता है। दूत को पर-राज्य में प्रवेश के समय राजा की आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिये। आज्ञा मिलने के पश्चात् ही दूत को पूर्ण सम्मान के साथ एक जुलूस में राजा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। इसे राजा के निकट बैठने का स्थान दिया जाता था। दोनों पक्ष एक-दूसरे की प्रतिष्ठा को दृष्टिगत रखते हुए एक-दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करते थे। दूत भरे दरबार में अपने राजा का सन्देश सुनाता था। कौटिल्य दूत के लिये कुछ निषेधाज्ञायें भी देता है। उदाहरणार्थ दूत को पर-राज्य में मिले आतिथ्य की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रसन्नता व्यक्त करने, अपने बल का प्रदर्शन करने, अनिष्ट बोलने, पर-स्त्रीगमन करने और मद्यपान करने से बचना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसे न तो अकेले सोना चाहिये और न ही गुप्तभेद के सम्बन्ध में बातें करनी चाहिये। इन सतर्कताओं के पश्चात् भी यदि पर-राजा दूत से अप्रसन्न हो जाये तथा उसके फलस्वरूप उसके वध की थोड़ी-बहुत भी सम्भावना हो तो उसे सूचना मिलते ही तुरन्त भाग जाना चाहिये।

कौटिल्य ने दूतों के कार्य का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। राजदूत का मूल कार्य दो राज्यों के मध्य शान्तिपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखना था। कौटिल्य ने दूत के दो प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया है। प्रथम, शान्तिकालीन कार्य, द्वितीय संकटकालीन कार्य।

### शान्तिकालीन कार्य

इनके अर्न्तगत दूत का कर्तव्य है कि वह अपने राजा के सन्देश को मूल रूप से पर-राजा के समक्ष रखे। कौटिल्य के अनुसार अप्रिय सन्देश को सुनकर दूत के वध हेतु शस्त्र उठा लेने पर भी दूत को अपने राजा का सन्देश यथोक्त ही कहना चाहिये। दूत का प्रथम कर्तव्य अपने राजा के सन्देश को पर-राज्य के राजाओं के समीप ले जाना और उनको उनके समक्ष यथोक्त प्रस्तुत करना है। कौटिल्य के अनुसार दूत को समय और परिस्थिति के अनुसार कार्य करना चाहिये, जैसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अन्य दूतों व जनपदों से मित्रता, शत्रु पक्ष में विभेद, चापलूसी अथवा घूस आदि सभी साधनों का प्रयोग करना चाहिये। पर-राज्य में अपने राजा के सम्मान में "कुल का गौरव, उसके ऐश्वर्य, त्याग, सम्पन्नता, सौष्ठव, अक्षुद्रता, सज्जनता, शत्रु को सन्तापित करने को क्षमता आदि का प्रभाव वहां की जनता पर डालते रहना चाहिये।" साथ ही वहां के कोष, शक्ति आदि को भी सामर्थ्य तथा शत्रु की दुर्बलताओं, उनके सैनिक ठिकानों, सैनिक योग्यताओं, दुर्गों, सुरक्षा व्यवस्था, सड़कों, नदी-नालों आदि का विस्तार से वर्णन कर, अपने देश की व्यवस्था से तुलना कर अपने स्वामी को योग्य परामर्श देते रहना चाहिये। उसका कार्य संधि करना, मित्रता बढ़ाना, विदेशी गुप्तचरों को गतिविधियों का पता लगाना और इस सब की सूचना अपने राज्य तक पहुंचाना भी था।

### संकटकालीन कार्य

कौटिल्य संकटकालीन स्थिति में दूत से अपेक्षा करता है कि उसे पर-राज्य के असन्तुष्ट वर्ग को अपनी ओर मिलाने का निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। यदि उसके शान्तिकालीन सभी प्रयास असफल रहें और शत्रु राजा आक्रमण की तैयारी में लग जाये तो अन्तिम शस्त्र के रूप में जनता को राजा के विरुद्ध भड़का कर राज्य में फूट, मतभेद और क्रान्ति करवाने का प्रयत्न करना चाहिये। शत्रु के मध्य वैमनस्य और झगड़ों के बीज बोने के लिये गुप्तचरों का खुला प्रयोग करना चाहिये। कौटिल्य के अनुसार दूतों का कार्य उच्चाधिकारियों को प्रलोभन देकर एक-एक करके राज्य को छोड़ देने के लिए उकसाना भी है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अपने गुप्तचरों को वैद्य, व्यापारी, ज्योतिषी, तीर्थयात्री, शिकारी, राजा के सेवक, रसोइयों तथा साधु आदि के रूप में भेजना, उसका प्रमुख कार्य है। वेश्याओं और नर्तकियों से भी बहुधा गुप्तचरों का काम लिया जाता था। कभी-कभी राजमहल में स्त्रियां, तांबूल या छत्र-वाहिकाओं का पद भी प्राप्त कर लेती थी ताकि उन्हें राजा के समीप रहकर राज्य की अंतरंग गतिविधियों का भेद निरन्तर मिलता रहे। दूत को पर-राज्य के जेल तथा थल मार्गों एवं दुर्गों आदि की शक्ति से भी अवगत रहना चाहिये। सेनाओं के ठहरने योग्य भूमि, रास्तों का ज्ञान, दुर्ग और शस्त्रों आदि की सूचना अपने राजा के पास निरन्तर भेजते रहना चाहिये, जिससे कि इस सूचना का संकट काल में उपयोग किया जा सके। इन सब कार्यों के करने के लिये कौटिल्य गुप्तचरों के उपयोग का परामर्श देता है। आलतेकर के शब्दों में दूत का कार्य विदेशों में राज पुरुषों से जान-पहचान करके उस देश की वास्तविक राजनीति की जानकारी प्राप्त करना था। राज्य की सामान्य स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना, उसके जन, बल और अन्य साधनों का ठीक-ठीक अनुमान कर अपने गुप्तचरों के माध्यम से गूढ़ लेख द्वारा अपनी सरकार को भेजना था।"

कौटिल्य ने दूत की अबध्यता का पूर्ण समर्थन किया है। उसका मत था कि दूत चाहे कैसी ही अप्रिय बात कहे अथवा किसी भी जाति का हो, वह प्रत्येक अवस्था में अबध्य है। कौटिल्य, ब्राह्मण दूत का तो किसी भी परिस्थिति में वध स्वीकार नहीं करता है। शत्रु राजा के नाराज होने पर दूत को राजा को याद दिला देना चाहिये के वे जो कुछ अप्रिय सन्देश दे रहे हैं वह उनके राजा का है। दूत राजा का प्रतिनिधि होता है, अतः अप्रिय सन्देश को देते तथा अपने कर्तव्य की पूति करते हुए राजदूत को सजा नहीं मिलनी चाहिये। इस प्रकार इस काल में राजदूत की स्थिति पवित्र एवं निर्दोष संदेशवाहक की थी।

मौर्य राजनीति व्यवस्था में गुप्तचरों का खुला उपयोग होता था। कौटिल्य ने इस व्यवस्था को और भी अधिक निपुण बनाकर उसे राज्य व्यवस्था का एक अभिन्न अंग बना दिया था। उसने आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में गुप्तचरों का उपयोग प्रस्तावित किया था। इस तथ्य के अनेक प्रमाण हैं कि इनका जाल सम्पूर्ण साम्राज्य तथा पड़ोसी देशों में बिछा हुआ था। कौटिल्य ने बताया है कि गुप्तचरों को कापटिक, भिक्षु, व्यापारी आदि के रूप में विदेशों में रहकर सूनायें प्राप्त करनी चाहिये। ये फूट डालने और विद्रोह को भड़काने का भी कार्य करते थे।

संधियों का आधार मण्डल सिद्धान्त को, अर्थात् अपने पड़ोसी तथा पड़ोसी के पड़ोसी के साथ शत्रुता व मित्रता का व्यवहार अपेक्षित था। कौटिल्य ने राज्य शिल्प के अन्तर्गत छः प्रकार की नीतियों का उल्लेख किया है, संधि (शांति), विग्रह (युद्ध), यान (शत्रु के विरुद्ध अभियान), संश्रय (मैत्री) और द्वैधीभाव (छल-कपट एक के साथ युद्ध व दूसरे के साथ सन्धि), कौटिल्य ने इन नीतियों में संधि का सर्वप्रथम उल्लेख करके उसके महत्व को दर्शाया है। वह प्रत्येक मान्य संधि को महत्वपूर्ण तथा अनुल्लंघनीय मानता था। वह संधि की पवित्रता हेतु, शपथ की प्रक्रिया को आवश्यक समझता था। कौटिल्य ने पन्द्रह प्रकार की संधियों का वर्णन किया है। संधि की व्याख्या करते हुए उसने लिखा है कि संधि "वह है जो राजाओं को पारस्परिक विश्वास में बाँधती है।" अथवा संधि "राजाओं के पारस्परिक विश्वास की प्रेरक है।" सरल भाषा में, दो राज्यों के मध्य मैत्री सम्बन्ध स्थापित होने का नाम संधि है। कौटिल्य की कूटनीति के प्रमुख अंग के रूप में संधि का उपयोग किया जाता था। कौटिल्य, संधि द्वारा शांति सम्बन्ध बनाये रखने का समर्थक था। इस दृष्टि से वह संधि की ऐसी लचीली शर्तों के पक्ष में था जो शांति स्थापना के उद्देश्य प्राप्ति के साथ-साथ शत्रु राजा को निर्बल और स्वयं को शक्तिशाली बनाने में सहायक हों। कौटिल्य का मत था कि एक राजनीतिज्ञ को यथार्थवादी होना चाहिये न कि स्वप्नलोक में विचरने वाला। वह संधि को सुविधाजनक मानता है। उसके अनुसार उन्हें तभी तक मानना चाहिये जब तक वे अपने राज्य के हित में हों, तत्पश्चात् उनका उल्लंघन माननीय है। कौटिल्य हारे हुए राजा का अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए सन्धि उल्लंघन की छूट देता है। इस प्रकार कौटिल्य संधि के क्षेत्र में दो प्रकार के व्यवहार को बताता है सुरक्षा सन्धियाँ अपरिवर्तनीय होती हैं और अन्य सन्धियाँ उल्लंघनीय। कौटिल्य का नैतिकता का मापदण्ड असाधारण है।

कौटिल्य पक्का भौतिकवादी था। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वह नैतिकता के त्याग को सही मानता था। वह नैतिकता और धर्म को उद्देश्य प्राप्ति में सहायक मानता था। उसका अन्तिम उद्देश्य राष्ट्रीय हित था। उन अराजक परिस्थितियों में, जिनमें उसने अर्थशास्त्र के माध्यम से राजा को परामर्श दिया है शान्ति, सुरक्षा, स्वतन्त्रता और सार्वभौमिकता की रक्षा केवल शक्ति और युक्ति से ही सम्भव थी। उल्लेखनीय है कि अपने को नष्ट होने से बचाना ही सर्वोच्च धर्म है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपनाये जाने योग्य नियम कौटिल्य की राजनय की एक बहुत बड़ी देन है। राजनयिक नियमों के निर्माण में उसके समक्ष एकमात्र उद्देश्य राष्ट्रीय हित तथा राजतन्त्र का सशक्त बनाना था। नैतिकता का त्याग और धर्मनिरपेक्षता का मार्ग इसी उद्देश्य से प्रेरित था। इसी में कौटिल्य की महानता थी। अन्त में कहा जा सकता है कि कौटिल्य वह प्रथम विचारक था जिसने राजनय का सांगोपांग विवेचन व विश्लेषण किया। राजनय के सम्बन्ध में इससे पूर्व जो विचार हमें प्राप्त होते हैं, उनमें कौटिल्य जैसी क्रमबद्धता, सुव्यवस्था और वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त नहीं होती। कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राजनय सम्बन्धी विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में राजनय का सम्पूर्णतः विवेचन करने वाला सर्वप्रथम व्यक्ति कौटिल्य ही है।

राज्य और शासन के सम्बन्ध में लिये गये कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" के पश्चात् कामन्दकाय तथा शुक्रनीतिसार का महत्वपूर्ण स्थान है। कामन्दक के नीतिसार में विष्णुदत्त (चाणक्य) की प्रशंसा प्रमाणित करती है कि लेखक के विचार चाणक्य से प्रभावित थे। कामन्दक का नीतिसार कौटिल्य की भांति ही राजाओं को शिक्षा हेतु लिखा गया है। इसमें राजा की शिक्षा, राज्य के विभिन्न अंगों, युद्ध कला, राज्य की सुरक्षा और अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों आदि का विवरण है। कामन्दक राजा को सर्वोच्च महत्वपूर्ण स्थान देता है। उसने राजा के गुणों और दुर्गुणों का वर्णन किया है। कामन्दक ने षाड्गुण सिद्धान्त और साम, दान, भेद और दण्ड आदि उपायों के प्रयोग का परामर्श दिया है। उसके अनुसार उसी व्यक्ति का दूत नियुक्त किया जाना चाहिये जो चतुर, बुद्धिमान, परिश्रमी और तर्क के आधार पर कार्य करने वाला हो। दूत का मूल कार्य परदेश का ज्ञान प्राप्त कर राजा को सूचित करना है। वह दूत को राजा की आँखें मानता है। इसीलिये कामन्दक दूतों से रहित राजा को अंधे मनुष्य के समान मानता है। वह गुप्तचरों को भी दूत कहता है।

शुक्राचार्य द्वारा शुक्र नीतिसार में राजा को सफल और समर्थ बनाने के परामर्शों का उल्लेख है। इसके चौथे अध्याय में राजा, शत्रु,

शासन कला आदि का वर्णन है। शुक्र ने मंत्री को राजा की आंख, मित्र को कान, कोष को मुख, सेना को मन, दुर्ग को हाथ और राष्ट्र को पैर माना है। शुक्र के अनुसार सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था में राजा का महत्व राज्य के सभी अंगों से बढ़कर है। कौटिल्य की भांति शुक्र ने भी राजा की दिनचर्या का विस्तृत वर्णन किया है तथा शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन राजाओं का उल्लेख किया है। राज्य की रक्षा के लिये दुर्ग व्यवस्था पर बल दिया गया है। शुक्र के अनुसार दूत भी राजाओं के मंत्रियों में से एक होता है। वही व्यक्ति दूत बनने योग्य है जो अच्छी स्मतिवाला, देशकाल का ज्ञाता, योग्य, कुशल और निर्भिक हो।

किरानार्जुनीय में दूत को राजा का नेत्र माना गया है तथा उसे परामर्श दिया गया है कि उसे राजा को धोखा नही देना चाहिये। संधि को भंग करने के लिये राजा संधि में दोष बता सकता है। ऐसी सन्धि भंग करने वाला राजा दोषी नहीं है। विवेक और शांति राजा के गुण बताये गये हैं। राजा को क्रोध, अहंकार और मद को त्यागना चाहिये।

द्रविड़ साहित्य में तीरुवल्लुवर के ग्रंथ 'कुराल' में राजदूतों पर एक पूरा अध्याय लिखा गया है। एक आदर्श राजदूत को उच्च वंशज, मदुल स्वभाव वाला तथा सुसंस्कृत होना चाहिये। एक अन्य स्थान पर आदर्श राजदूत में आकर्षक व्यक्तित्व होने की अपेक्षा की गई है। अपने स्वामी के प्रति दृढ़ निष्ठा तथा विदेशी राजा के प्रति शिष्टता उसके आचार का अभिन्न अंग माना गया है। कुराल में शत्रु के विरुद्ध संधियों पर बल दिया गया है। शक्तिहीन राज्यों को चाहिये कि वे अपने पड़ोसी शक्तिशाली राज्यों के साथ संधि कर मित्रता बनाये रखें। तामिल विदेश नीति और राजनय का आधार यथार्थता ही था।

सोमदेव की पुस्तक 'नीतिवाक्यामत' राजनयिक ज्ञान का भण्डार है। वह राजा को परमदेव मानता है। राज्य की रक्षा और उचित न्याय का वितरण उसका कर्तव्य है। इसने राजा की दिनचर्या का वर्णन किया है। सोमदेव दूतों को, शुक्र की भांति मन्त्रियों की श्रेणी में रखता है। दूतों की योग्यता का वर्णन करते हुए सोमदेव उनसे अपेक्षा करता है कि उन्हें वाक्पटु, कुलीन, प्रतिभा सम्पन्न, दक्ष और बुद्धिमान होना चाहिये। उसने भी तीन प्रकार के दूतों का वर्णन किया है। निस्सटार्थ, परिमितार्थ और शासनहार। वह प्रथम श्रेणी के दूतों को ही केवल संधि करने का अधिकार देता है। दूत का कर्तव्य है कि वह पर-राज्य में फूट डाल असंतुष्ट वर्ग को अपने राज्य के पक्ष में करे तथा योग्य गुप्तचरी से शत्रु-पक्ष की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर अपने स्वामी को सूचित करे। सोमदेव की 'नीतिवाक्यामत' परामर्श देती है कि दूत चाहे चांडाल ही क्यों न हो, अथवा वह कैसा भी गलत कार्य ही क्यों न करे, वह अवध्य है। 'नीति-प्रकाशिका' में महाकाव्यों की भांति दूत की अवध्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

चंडेश्वर ने भी दूत के वध का निषेध किया है। हर्षवर्धन ने चीनी यात्री ह्यूनसांग को दूत के बराबर मानकर उसकी वापिसी पर उसकी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की थी। 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' की कहानियां भी राजाओं को राज्यशिल्प में प्रशिक्षित करने के लिए ही रची गई थी। ये कहानियां उस समय के भारत की राजनीतिक तथा राजनयिक परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करती हैं। हितोपदेश सोलह प्रकार की संधियों का वर्णन करता है। यह पवित्र पूजा स्थानों को गुप्तचरी का केन्द्र के रूप में उपयोग का भी परामर्श देता है। पंचतन्त्र भी गुप्तचरी का समर्थक है। 'मुद्राराक्षस' में राजाओं व मन्त्रियों के पात्रों के माध्यम से कही गई बातें राजनय से परिपूर्ण हैं। मिथिला राजा के मंत्री ने अपनी रचना "राजनीति रत्नाकर" में राज की ब्रह्मनीति का आधार मण्डल सिद्धान्त बताया है। यह भी षाड्गुण्य सिद्धान्त और साम, दान, भेद और दण्ड के उपायों के प्रयोग का परामर्श देता है।

इस प्रकार वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, जातक, राजतरंगिणी आदि कृतियों में राजनय का विशद वर्णन किया गया है। मनु, याज्ञवल्क्य, कौटिल्य, कामन्दक, शुक्र आदि राजशास्त्रियों ने विस्तार से राजा, मंत्री, सभा, परिषद्, अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों, सेना, दूत, दुर्ग आदि का वर्णन किया है। इनके द्वारा दिये गये परामर्श का निष्ठापूर्वक पालन किसी भी राजा को सशक्त बनाने में सहायक हो सकता है। राजनय के सम्बन्ध में जो नियम आधुनिक काल में वियाना कांग्रेस द्वारा स्वीकृत किये गये हैं वे हमारे देश में हजारों वर्ष पूर्व ही विकसित हो चुके थे। राजनय की दृष्टि से मौर्यकाल राजनय का स्वर्णकाल था। राजनय पर लिखने वाला कौटिल्य इस काल का प्रथम तथा प्रमुख विद्वान था। इसी की नीति की क्रियान्विति के फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य वैभव एवं सम्पन्नता के उच्च शिखर पर पहुंच सका था। कालान्तर में जब कौटिल्य के व्यावहारिक सिद्धान्त की अवहेलना की जाने लगी तो राजवंश क्षीण हो गये, केन्द्र शक्तिहीन बन गया और लगभग ई० सन् 700 के बाद हिन्दू गणतन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया।

हिन्दू राजतंत्र के पराभव के बावजूद कौटिल्य के सिद्धान्तों का महत्व कम नहीं हुआ है। कौटिल्य द्वारा वर्णित चिन्तन आधुनिक युग में भी उपयोगी है। भारतीय विद्वान भोगले का मत है कि "निश्चयपूर्वक यह कहना सम्भव है कि जो यह (अर्थशास्त्र) कहता है, वह विश्व राजनीति के सन्दर्भ में आज भी अधिकांशतः सम्भव है। प्राचीन भारत में राजनय सुव्यवस्थित और सुनियोजित था। राजनय पर प्राचीन भारतीय विचारकों के विचार इतिहास की बहुमूल्य धरोहर है।

### अध्याय-3

## राजनय के प्रकार : पुराना व नवीन राजनय, गुप्त तथा खुला राजनय

## (Types of Diplomacy : Old and New Diplomacy, Secret and Open Diplomacy)

---

राज्यों के मध्य राजनयिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। ये उतने ही प्राचीन हैं जितने कि राज्य। यूनान, रोम व प्राचीन भारत में राजनयिक सम्बन्ध अति व्यापक थे तथा इन सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले नियम भी प्रतिपादित किये जा चुके थे। पुराने राजनय का अर्थ प्राचीन कालीन राजनय से कदापि नहीं है। इ सका तात्पर्य सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में योरोप में प्रचलित राजनय से है। रिचलु द्वारा प्रतिपादित व कैलियर्स द्वारा व्याख्यायित राजनय को, जिसे पुराने राजनय की संज्ञा दी जाती है, सारे यूरोप ने स्वीकार किया था यह राजनय अठारहवीं शताब्दी तक गोपनीयता के आधार पर सफलतापूर्वक चलता रहा। 1919 के पूर्व का राजनय पुराना राजनय था। 1815 की वियाना की संधि और 1914 के प्रथम विश्वयुद्ध के बीच का काल प्रतिष्ठित राजनय का स्वर्णकाल था। यह निश्चित नियमों से बंधा था। इस समय का राजनय शिष्टता, अनुभव एवं वस्तुस्थित पर आधारित था। यह विश्वास, स्पष्टता और यथार्थ को सफल राजनय का आधार मानता था। वार्ताएं गुप्त रूप से होती थीं। आवागमन व संदेह वाहन के साधनों के समुचित विकास के अभाव में राजनीयक प्रक्रिया की गति मंद थी। वार्ताएं धीरे-धीरे चलती रहती थीं। इसमें गतिरोध आने पर, इन्हें थोड़े समय के लिए स्थगित कर दिया जाता था, एवं अनुकूल समय व परिस्थिति आने पर इन्हें फिर चालू कर दिया जाता था। लोगों को कानोंकान खबर नहीं मिलती थी। 1907 में ऐंग्लोरशन कन्वेंशन की वार्ताएं पन्द्रह माह तक चलती थी।

1918 के बाद राजनय का जो नया स्वरूप हमारे समक्ष आया उसे नवीन राजनय की संज्ञा दी जाती थी। यद्यपि 1919 में राजनय की स्थिति में परिवर्तन आया, किन्तु 1919 का वर्ष वास्तव में कोई विभाजक रेखा नहीं है। निकलसन के अनुसार केवल इतना ही हुआ है कि राजनय ने नयी बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको बदल लिया है। जूलेस केम्बान का भी मत था कि पुराने तथा नए राजनय के मध्य भेद भ्रम है। रेगाला का तो यहां तक मत है कि भले ही कार्य करने की विधि में परिवर्तन आया हो, परन्तु आधुनिक नवीन राजनय अभी भी पुराने राजनय के कई गुणों को अपनाये हुए है। राजनय एक निरन्तर गतिशील व्यवस्था है। इसके आज के विचार तथा सिद्धान्तों का आधार सैंकड़ों वर्षों का अनुभव है। वे, जिन्होंने पुराने राजनय की कटु आलोचना की और नयी व्यवस्था को स्वीकार किया, जैसा राष्ट्रपति विलसन ने किया था, उन्हें भी शीघ्र ही पुरानी व्यवस्था पर फिर आना पड़ा था। खुले राजनय के इस युग में सन्धि वार्ताएं आज भी गुप्त चलती हैं। इतना सब कुछ लिखने के बाद भी इस बात से नकारा नहीं जा सकता है कि यद्यपि टेलरा और बिस्मार्क तथा किसिंगर के द्वारा प्रयुक्त राजनय के साधनों में विभाजन रेखा खींची जा सकती है, तथापि राजनयिक विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये हैं। आज राजनय कुछ गिने चुने व्यक्तियों – राजा महाराजाओं अथवा उनके प्रिय पात्रों द्वारा संचालित न होकर अब जनता तथा उनके प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है।

### पुराना राजनय (Old Diplomacy)

पुराना राजनय के काल में राजा सर्वोच्च होता था। राजनय का उपयोग राजाओं का ही कार्य क्षेत्र था। इनके निर्णय अन्तिम होते थे। ये अपने देश के भाग्य निर्माता होते थे। राजनय इनके ही चारों ओर विद्यमान था। संवैधानिक राजतन्त्र के आगमन के बाद भी राजा स्वयं ही राजनयिक गतिविधियों के केन्द्र बने रहे। फ्रांस का राजा लूई चतुर्दश, रूस की साम्राज्ञी कैथरीन, प्रशा का सम्राट फ्रेडरिक महान् अपने देश की विदेश नीति के संचालक थे। जर्मन सम्राट कैसर स्वयं ही पत्राचार करता था। बजारकों का समझौता इसी ने किया था। सम्राट एडवर्ड सप्तम की रोम, बर्लिन व पैरिस यात्रा के परिणामस्वरूप ही ब्रिटेन अपने पार्थक्य से निकलने में सफल रहा था। रानी विक्टोरिया भी विदेश मामलों से सरकार को प्रभावित करती थी। इसके कई यूरोपीय राज्यों के साथ वंशीय सम्बन्ध भी थे। यह इसी का प्रयास था कि बिस्मार्क ने 1875 में फ्रांस पर आक्रमण नहीं किया। इस प्रकार पुराना राजनय राजाओं से प्रभावित था। राजा, महाराजाओं के अतिरिक्त उनके कुछ कृपापात्र राजनयिक भी राजनय को प्रभावित करते थे। विशिष्ट व्यक्तियों का व्यक्तिगत प्रभाव अधिक महत्व रखता था। इस काल में राजदूत उच्च सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित घराने से ही नियुक्त किये जाते थे। ये राजा के व्यक्तिगत प्रतिनिधि होते थे। इनकी अपनी अलग प्रतिष्ठा थी। वे अपने स्वामी के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते थे तथा इनके प्रति विशेष उत्तरदायी होते थे। यह राजनय विश्वास, स्पष्टता और यथार्थ पर आधारित था। मित्रता, मानवता और शिष्टता इसके मूल नियम थे। इसमें घणा और कटुता

का अभाव था। दूत अपने राजा के लिए झूठ बोलता था। इसका मूल कार्य जहां एक ओर मित्र प्राप्ति और संधि समझौता करना था, तो दूसरी ओर दूसरों के मित्रों को अपनी ओर मिलाना भी रहता था। फ्रांस के संदर्भ में बिस्मार्क का राजनय इसका उदाहरण है।

### पुराने राजनय की विशेषतायें (Characteristics of the Old Diplomacy)

हेरल्ड निकलसन ने पुराने राजनय की निम्नलिखित विशेषतायें बतायी हैं :

(1) **यूरोप की प्रभुता** :- पुराने राजनय के समय यूरोप को सभी महाद्वीपों से महत्वपूर्ण माना गया है। इस समय एशिया तथा अफ्रीका को साम्राज्यवाद, व्यापार एवं धर्म प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र माना गया। संयुक्त राज्य अमेरिका अवश्य इस युग में शक्तिशाली राज्य बन गया था पर वह 1897 तक विश्व राजनीति में भाग नहीं लेता था। वह अपने महाद्वीप तक सीमित रहा और पथकतावादी नीति अपनाए रहा। इस काल में कोई भी युद्ध उस समय तक बड़ा युद्ध नहीं माना जाता था जब तक कि पाँच यूरोपीय महाशक्तियों में से कोई एक भाग न ले। यूरोपीय राज्यों द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और युद्ध सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय किया जाता था।

(2) **महाशक्तियों और छोटी शक्तियों में भेद** :- यूरोप की महाशक्तियाँ जिनके पास आर्थिक और सैनिक शक्तियाँ थीं, वे अपने हितों की रक्षा के लिए राजनय का खुलकर प्रयोग करती थी। छोटे और कम शक्ति वाले राज्यों के हितों की उपेक्षा की जाती थी। उनका महत्व उनके सैनिक साधनों, युद्ध नीति, बाजार सम्बन्धी मूल्यों और कच्चे माल के स्रोतों के आधार पर आँका जाता था। छोटी शक्तियों के हित, मत एवं समर्थन महाशक्तियों के निर्णयों को बदल नहीं सकते थे। राजनय में महान शक्तियों का ही प्रभाव रहता था। छोटे राज्य उन्हीं का अनुसरण करते थे तथा उन्हीं के समर्थन से अपने हितों को सुरक्षित रख पाते थे।

(3) **महाशक्तियों का दायित्व** :- इस काल में महाशक्तियों का यह उत्तरदायित्व था कि छोटी शक्तियों के आचरण का निरीक्षण करें और उनके बीच शान्ति स्थापित करें। छोटी शक्तियों के बीच संघर्ष होने पर महाशक्तियाँ हस्तक्षेप करती थी। इस संघर्ष को महाशक्तियों का संघर्ष बनने से रोकने का पूरा प्रयास किया जाता था।

(4) **व्यवसायिक राजनयिक सेवा** :- पुराने राजनय की अन्य विशेषताओं में एक विशेषता यह भी थी कि यूरोप के प्रत्येक राज्य ने एक जैसी ही व्यवसायिक राजनयिक सेवा स्थापित कर रखी थी। ये राजनयिक अधिकारी विदेशों की राजधानियों में अपने देश के प्रतिनिधि माने जाते थे। इनकी शिक्षा, अनुभव तथा लक्ष्यों में पर्याप्त रूप से समता दिखाई देती थी। इनका एक पथक वर्ग बन गया था। उनकी सरकार की नीति कुछ भी हो पर उनका लक्ष्य शान्ति की रक्षा करना था। राज्यों के मध्य शान्ति अथवा सन्धि वार्ताओं में इन राजनयिक अधिकारियों का प्रभाव काफी रहता था। इनका सदैव लक्ष्य यही रहता था कि आपसी संघर्ष को जहाँ तक संभव हो टाला जाये।

(5) **निरन्तर एवं गोपनीय सन्धि वार्ता** :- पुराने राजनय की पांचवी मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें सन्धिवार्ताओं के निरन्तर तथा गोपनीय होने के नियम को मान्यता दी जाती थी। इसके लिए सार्वजनिक सम्मेलन आयोजित नहीं किये जाते थे। सन्धिकर्ता राजदूत को स्वागतकर्ता राज्य की जनता की पूरी जानकारी रहती थी, वह उनकी शक्ति एवं कमजोरियों का पहले से ही अनुमान लगा सकता था। उसे स्थानीय हितों, दुराग्रहों एवं महत्वाकांक्षाओं की जानकारी रहती थी। वहाँ के विदेश मन्त्री से बार-बार मिलने पर भी जनता का ध्यान आकर्षित नहीं होता था। वार्तालाप गोपनीय होने के कारण बुद्धिपूर्ण और सम्मानजनक सन्धियाँ की जा सकती थीं। सन्धि वार्ता के दौरान जनता की महत्वाकांक्षाएँ नहीं बढ़ पाती थी। दो राज्यों की सन्धि में प्रत्येक पक्ष को थोड़ा अवश्य झुकना पड़ता है। यदि जनता को यह बात पहले से ही ज्ञात हो जाये तो विरोधी आन्दोलन भड़कने की आशंकाएँ पैदा हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में सन्धि-वार्ता असफल हो जाती है। पुराने राजनय में गोपनीयता और विश्वसनीयता रहने के कारण ऐसी आशंका नहीं रहती थी।

पुराने राजनय के तरीकों के अनुसार सन्धि वार्ता करने वाले राजनयज्ञ को समय की कमी नहीं रहती थी। इस काल में दोनों पक्षों की सरकारें सन्धि पर अपना मत व्यक्त कर देती थी। यदि सन्धि वार्ता में कोई गतिरोध पैदा हो जाता था तो वार्ता को कुछ समय के लिये रोक दिया जाता था। अन्त में जो समझौता होता था वह जल्दबाजी का परिणाम न होकर पर्याप्त सोच विचार एवं गम्भीर विचार विमर्श का परिणाम होता था। उदाहरण के लिए 1907 का आँग्ल-रूसी अभिसमय एक वर्ष तीन माह के विचार-विमर्श का परिणाम था।

### पुराने राजनय के दोष (Defects of Old Diplomacy)

यद्यपि आज के राजनय की अपेक्षा पुराना राजनय निकलसन की दृष्टि में उच्च स्तर का था क्योंकि उसमें गम्भीर बुद्धिमता, परिपक्वता एवं गोपनीयता जैसे गुण पाये जाते थे, परन्तु वह सर्वथा दोष रहित न था। उसमें प्रमुख दोष 'गोपनीयता' बताया जाता है। आलोचकों का कहना है कि सन्धिवार्ता को विश्वसनीय बनाने के लिए गोपनीयता की आदत विकसित की गई। उच्च अधिकारी तथा आदरनीय व्यक्ति भी ऐसी गुप्त सन्धियों में उलझ गये जिनका वे उल्लंघन नहीं कर सकते थे। निकलसन ने स्वयं स्वीकार किया है कि "गुप्त बातों को प्रोत्साहन करने वाली विश्वसनीय सन्धि वार्तायें आज के खुले राजनय में बुरी मानी जाती हैं।

पुराने राजनय में व्यावसायिक राजनयज्ञ कुछ कार्यात्मक दोष भी विकसित कर लिया करते थे। उनमें अहंकार या मूर्खता से पूर्ण कार्य करने का दोष भी आ जाता था। कभी-कभी वे राष्ट्रहित की चिन्ता न कर भावावेश में आकर सन्धि कर बैठने की गलती कर देते थे। जिससे राष्ट्र का पतन भी हो जाता था। वे यह भी समझने लगते थे कि विदेशों की स्थिति का जितना ज्ञान उन्हें है, उतना अन्य राजनीतिज्ञों को नहीं। इस अहंकार में वे गलत निर्णय कर बैठते थे। उस समय के राजनयज्ञों में यह गलत मान्यतायें प्रचलित हो गई थी कि समय बीतने पर स्वतः ही समझौता हो जाएगा, अतः महत्वहीन बातों की चिन्ता करना बेकार है। महत्वपूर्ण बातें स्वयं सुलझ जायेंगी, अतः जल्दबाजी करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस लापरवाही का परिणाम कभी-कभी समस्त राष्ट्र को भोगना पड़ता था। इस प्रकार कह सकते हैं कि पुराना राजनयज्ञ एक आत्मतुष्ट व्यक्ति होता था। उसके कार्य, अनुभव और चरित्र की कमजोरियां अनेक बार राजनयिक असफलता के कारण बन जाती थी।

### नवीन राजनय (New Diplomacy)

सभी मानवी संस्थाओं की भाँति राजनय भी गतिशील है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ, विशेषकर प्रथम महायुद्ध के बाद, राजनय में हुए परिवर्तनों को नवीन राजनय की संज्ञा दी गई है जिसके परिणामस्वरूप राजनय की कार्य पद्धति में अनेक नवीनताओं का समावेश हुआ है। बीसवीं शताब्दी, नये राजनय, नये राजदूत, नये राजनयिक तरीकों और नई व्यवस्था का युग है। हैरल्ड निकलसन के अनुसार पुराने राजनय के पतन तथा नवीन राजनय के उदय के तीन कारण हैं (Three developments which contributed to the decline of old or the classical diplomacy and the emergence of the new diplomacy)।

(1) **राष्ट्रों के मध्य सामुदायिक भाव का विकास :-** उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों के कारण राष्ट्रों में सामुदायिक भाव विकसित हुआ। धीरे-धीरे राष्ट्रीय हितों से हटकर सामुदायिक भाव से प्रेरित होने लगे। परिणामस्वरूप नेपोलियन के डर से योरोप एक हो गया। इस काल में कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा शान्ति सम्मेलनों का आयोजन हुआ। मेटर्निक व्यवस्था (Metternich System) यूरोप को प्रभावित करती रही। इस व्यवस्था ने कुछ समय के लिए यूरोपीय राज्यों के विदेश सम्बन्धों का आधार सामुदायिक हित बना दिया। प्रथम महायुद्ध के काल के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, गुटों तथा सम्मेलनों की संख्या बढ़ी। इनका परिणाम था बहुपक्षीय राजनय। आधुनिक युग की जटिल समस्याओं के समाधान के लिए सभी सम्बन्धित राज्यों के सहयोग की आवश्यकता थी, यही बहुपक्षीय राजनय का आधार था। इसने व्यक्तिगत राष्ट्रीय स्वार्थों को पीछे छोड़ दिया और यूरोपीय संहति (Concert of Europe) विश्व व्यवस्था और सामान्य राष्ट्रीय हितों पर बल दिया।

**जनमत का प्रभाव :-** राजनय के प्रारम्भिक काल में यह सोचना भी अजीब लगता था कि सामान्य जनता का विदेश नीति व राजनय पर प्रभाव हों, परन्तु मध्य वर्ग के बढ़ते प्रभाव ने राजनय के स्वरूप को बदल दिया। अब मध्य वर्ग के राजनयिक अभिकर्ता योग्यता और शिक्षा के आधार पर चुने जाते थे। धीरे-धीरे यह धारणा घर कनने लगी है कि जनमत से प्रभावित विदेश नीति निश्चित ही शान्ति लायेगी। जनमत का प्रभाव बढ़ा और 19वीं शताब्दी तक राजनय व विदेशनीति जनमत से प्रभावित होने लगे। कैनिंग व बिस्मार्क ने इस प्रबुद्ध जनमत का उपयोग अपने उद्देश्य पूर्ति के लिये किया। पामस्टन का तो यहां तक मत था कि जनमत सेना से भी अधिक शक्तिशाली है जो संगीनों और गोलियों से भी अधिक सफलता प्रदान करता है। आज तो हर राज्य के नीति-निर्माता जनमत से प्रभावित हैं, अतः किसी भी प्रकार का निर्णय लेने से पूर्व सामान्य जनता की क्या प्रतिक्रिया होगी इस बात पर अवश्य विचार कर लेते हैं। शिक्षा के विकास, समाचार पत्रों, रेडियो और टेलीविजन के उदय ने निश्चय ही विदेश नीति तथा राजनय को प्रभावित किया है।

**यातायात के साधनों में सुधार :-** आधुनिक युग में यातायात के द्रुतगामी साधनों के विकास ने राजनय को पर्याप्त प्रभावित किया है। निकलसन के अनुसार भाप के इंजिन, बेतार के तार, वायुयान तथा दूरभाष ने पुराने राजनय के व्यवहार को बदलने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। पहले यातायात एवं संचार के आधुनिक साधन न होने के कारण राजनयज्ञों को अपनी बुद्धि के अनुसार ही निर्णय लेने होते थे और प्रत्येक कार्य के लिए वही उत्तरदायी होते थे। आज की परिस्थितियों में वे आवश्यकता के समय अपनी सरकार से शीघ्र सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। आजकल दूतों की योग्यता और कुशलता का पुराने समय जैसा महत्व नहीं है। इसके बावजूद भी राजदूत के अनुभव, स्वभाव, बुद्धिमता, सदाचरण आदि की उपयोगिता है।

नया राजनय वास्तविक अर्थ में प्रथम महायुद्ध के पश्चात आरम्भ हुआ जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों ने विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया। अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध यूरोप तक ही सीमित नहीं रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राज्यों की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पर्याप्त महत्वपूर्ण बन गई है। अमेरिका और जापान ने अब अपनी पथकतावादी नीति त्याग कर विश्व राजनीति में सक्रिय रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। नवीन राजनय को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित तत्व हैं :-

(1) संयुक्त राज्य अमेरिका अपनी पथकतावादी नीति के लिए प्रसिद्ध था। प्रथम विश्व युद्ध के समय उसने इस नीति को अल्पकाल

मे लिये बदल दिया था। लेकिन द्वितीय युद्ध में जब से उसने भाग लिया है, तब से विश्व राजनीति का वह प्रसिद्ध खिलाड़ी माना जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त लैटिन अमेरिका के राज्य भी विश्व राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगे हैं। के०एम० पानिक्कर के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और राजनय का कार्य क्षेत्र अब केवल यूरोपीय राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रहा है, अब उसका केन्द्र यूरोप से हटकर अन्य महाद्वीपों में बिखर गया है।"

- (2) एशिया तथा अफ्रीका के देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तथा वे भी अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच का एक अभिनेता मानने लगे। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व जापान के अतिरिक्त किसी एशियाई देश का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नाम नहीं था। विश्व रंगमंच में न तो उनकी कोई स्थिति थी और न ही उनकी आवाज को कोई महत्व दिया जाता था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थिति में परिवर्तन आया तथा राष्ट्रवादी चीन, अफगानिस्तान, ईरान और स्याम आदि एशियाई देश राष्ट्र संघ के सदस्य बन गये। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया के अनेक देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। ये संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बन गये तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इनकी आवाज का महत्व बढ़ गया। प्रसिद्ध इतिहासकार ऑरनाल्ड टायनवी ने लिखा है कि 1919 से पहले केवल 16 छोटे राज्य गम्भीरतापूर्वक विश्व राजनीति में भाग लेते थे। इनमें से 15 यूरोपीय देश थे। 1919 के बाद यह संख्या बढ़ कर 47 हो गई। इनमें से केवल 22 ही यूरोपीयन थे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इस नये वातावरण में एशिया के देश यूरोपीय अथवा अमेरिका राजनयिक दांव पेशों के अखाड़े मात्र नहीं रह गये। राजनय पर अब यूरोप का एकाधिकार नहीं रहा।
- (3) नवीन राजनय के उदय का तीसरा कारण पुराने शक्ति सन्तुलन का नष्ट होना था। शक्ति संतुलन में परिवर्तन आने के कारण राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आने लगता है। हिटलर तथा उसके सहयोगियों की पराजय के बाद संसार स्पष्ट रूप से दो सैद्धान्तिक दलों में बंट गया। पूर्वी एशिया में लाल चीनी का उदय हुआ। इन नए परिवर्तनों से युक्त विश्व के राजनय का स्वरूप बदलना भी स्वाभाविक था।
- (4) सोवियत रूस में होने वाली महान क्रान्ति के बाद लेनिन तथा उसके साथियों ने रूसी राज्यभिलेखागारों के गुप्त अभिलेखों को प्रकाशित किया। इस प्रकार गोपनीय सन्धिवाता का प्रकाशन करके एक नये राजनय का सूत्रपात किया गया। अनेक देशों ने जारशाही रूस के साथ जो संधियां की थी, वे उनकी जनता के सामने खुल गईं। अतः गुप्त संधियों के प्रति विभिन्न देशों का शासन एवं जनता चौकन्नी रहने लगी।
- (5) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रारम्भ होने वाले शीत युद्ध ने संसार को स्पष्टतः दो शिविरों में विभाजित कर दिया। इसमें से प्रत्येक शिविर दो प्रकार के राजनय प्रयोग करता था—एक, शिविर के साथ राज्यों के साथी तथा दूसरे, शिविर के साथ विरोधी राज्य। इस परिवर्तित सन्दर्भ में पुराना राजनय समयातीत बन गया। सन् 1991 ई० में सोवियत संघ के अवसान के बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गई है, और शीतयुद्ध की समाप्ति हो गई। इससे भी राजनय के स्वरूप में परिवर्तन आना अपरिहार्य है।

### नवीन राजनय की विशेषतायें (Characteristics of New Diplomacy)

श्री के० एम० पानिक्कर ने नए राजनय की पांच मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है—

- (1) नवीन राजनय के अन्तर्गत एक देश अपनी बात को समझाने के लिए अन्य देश के शासकों से ही अपील नहीं करता, वरन् वहां की जनता से अपील करता है।
- (2) विरोधी राज्य की सरकार को बदनाम करने के लिए उसके लक्ष्यों को तोड़-मरोड़ कर रखा जाता है, तथा दोषारोपण किया जाता है।
- (3) अपने राज्य की जनता का विरोधी राज्य की जनता से सम्पर्क तोड़ दिया जाता है। केवल अधिकारी स्तर पर ही राजनयिक सम्बन्ध बनाये रखे जाते हैं। साम्यवादी चीन तथा तानाशाही पाकिस्तान द्वारा भारत के प्रसंग में इसी प्रकार की नीति अपनाई गई है।
- (4) विरोधी राज्यों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्कों को कम से कम कर दिया जाता है तथा किसी भी समझौते के साथ आक्रमणकारी भाषा में अधिक से अधिक शर्तें लगाई जाती हैं।
- (5) प्रत्येक राज्य अपने विरोधी पक्ष को डराने की दृष्टि से अस्त्र-शस्त्रों के लिए बहुत सा धन खर्च करता है तथा हड़तालें, सम्मेलनों और आन्दोलनों का आयोजन करता है।

स्पष्ट है कि आधुनिक राजनय का स्वरूप अपने पूर्ववर्ती से पर्याप्त भिन्न है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नई पद्धति का विकास हो रहा है। राजनय के पुराने तरीके अपनाए जाने से अनेक बार कठिनाईयां एवं समस्यायें राजनय की नई विधियों की खोज के आधार बन जाती हैं। जब कभी एक नया राज्य विश्व शक्ति के रूप में उदित होता है तो राजनय के तरीकों में एक संकट आ जाता है। इस संकट से उत्पन्न अस्थिरता एवं अनिश्चितता को पानिक्कर महोदय ने चिन्तनीय माना है।

## पुराने और नए राजनय में अन्तर (Difference between Old and New Diplomacy)

पुराने और नये राजनय के बीच लक्ष्य एवं प्रक्रिया की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण अन्तर निम्नलिखित हैं :-

- (1) **लक्ष्य की दृष्टि से :-** पुराने राजनय (1500 से 1914 तक) का मुख्य उद्देश्य मित्र बनाना और दूसरे के मित्रों को उनसे तोड़ना था। नये राजनय का लक्ष्य इसके साथ-साथ राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अखण्डता की रक्षा करना है। आधुनिक राजनय में यह माना जाता है कि राज्य की सुरक्षा के लिए केवल विदेशी सेनाओं से ही खतरा नहीं रहता वरन् आर्थिक और राजनीतिक मोर्चों पर भी खतरा हो सकता है। अतः एक राज्य सदैव दूसरे राज्य की राष्ट्रविरोधी गतिविधियों पर नजर रखता है तथा उनको निष्फल बनाने का प्रयास करता है। आजकल राजनय का मुख्य दायित्व देश के व्यापारिक हितों की उपलब्धि है। व्यावसायिक राजनय आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक सक्रिय अंग बन गया है।
- (2) **सद्व्यवहार की दृष्टि से :-** पुराने राजनय में पत्र-व्यवहार तथा दूसरे विचार-विमर्शों में सभ्य तथा शिष्ट भाषा का प्रयोग किया जाता था। प्रत्येक राज्य अपना दृष्टिकोण तथा लक्ष्य इस प्रकार प्रकट करता था ताकि दूसरे राज्य को बुरा प्रतीत न हो। के०एम० पनिककर के मतानुसार, "पुराना राजनय एक मैत्रीपूर्ण उदार तथा शिष्ट कला थी जिसकी साधना बड़ी दक्षता के साथ की जाती थी और उसमें पारस्परिक सहिष्णुता बरती जाती थी।" इसके विपरीत नया राजनय अपने विरोध को कड़े रूप में प्रदर्शित करता है तथा समय-समय पर अशिष्ट भाषा का प्रयोग भी करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ में अनेक बार गालियों का प्रयोग जूते उठाने की सीमा तक भी जा पहुंचता है। आज शिष्टाचार की भाषा का युग नहीं रहा। विरोधी के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार को सामान्य जनता विश्वासघात की परिधि में मानती है। आज अनौपचारिक मेलजोल का सर्वथा बहिष्कार किया जाता है।
- (3) **क्षेत्र की दृष्टि से :-** पुराने राजनय का क्षेत्र सीमित था और केवल यूरोपीय राज्यों, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान तक ही सीमित था। आज इसका सम्बन्ध विश्व के छोटे से छोटे राज्य से भी है। विश्व राजनीति में लिए जाने वाले निर्णय महाशक्तियों की मनमानी से नहीं वरन् छोटे राज्यों की आवाज के अनुसार लिये जाते हैं। इस प्रकार नये राजनय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है।
- (4) **तरीकों की दृष्टि से :-** पुराने राजनय का व्यवहार रूढ़िवादी और पुराने तरीकों से संचालित किया जाता था। अब यह सिद्धान्त और तरीके पुराने और बेकार हो चुके हैं। आज के राजनयज्ञों के सम्पर्कों की नयी पद्धतियां हैं। निकलसन के कथनानुसार "आज पुरानी मुद्रा चलन से बाहर हो चुकी है। हम नये सिक्कों को काम में ले रहे हैं।"
- (5) **गोपनीयता की दृष्टि से :-** पुराने राजनय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियां और समझौते गुप्त हुआ करते थे। प्रशासकों द्वारा गुप्त रूप से पूरे देश की कुछ शर्तों से बद्ध कर दिया जाता था। सोवियत संघ में साम्यवाद का उदय होने के बाद गुप्त सन्धियों का युग समाप्त हो गया और इसके स्थान पर खुली सन्धियां की जाने लगी। अमेरिकी राष्ट्रपति ने खुले ढंग से किये गये खुले करारों का समर्थन किया। विश्व के राज्यों ने इसे मान्यता दी।
- (6) **जन सम्पर्क की दृष्टि से :-** पुराने राजनय में मुख्य कार्यकर्ता राज्यों की सरकारों होती थीं। किन्तु नये राजनय में जनता प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है। जनसम्पर्क के लिए रेडियो, समाचार पत्र, सांस्कृतिक संगठन आदि का सहारा लिया जाता है। आजकल प्रेस तथा सूचना विभाग राजदूत के कार्यालय का एक आवश्यक अंग बन गया है। कुछ दूतावासों में सांस्कृतिक सहचारी भी रखे जाते हैं।
- (7) **व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की दृष्टि से :-** पुराने राजनय में राजदूतों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व अधिक होता था। उस समय यातायात और संचार के साधनों का विकास नहीं हो पाया था। अतः वे अपनी सरकार से पथ-प्रदर्शन प्राप्त किये बिना ही व्यक्तिगत सूझ-बूझ तथा योग्यता के आधार पर कार्य करते थे। आजकल यातायात एवं संचार के द्रुतगामी साधनों ने यह सम्भव बना दिया है कि राजदूत किसी भी समय अपनी सरकार का निर्देशन एवं पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सकें। इसलिए आज के राजनयज्ञ अपने कार्यों के लिए पूर्ववत् व्यक्तिगत उत्तरदायित्व नहीं रखते।

## राजनय का भविष्य (Future of Diplomacy)

राजनय के दोषों के होते हुए भी इसका भविष्य उज्ज्वल है। इसके भविष्य का सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि परम्परागत राजनय के उन तथ्यों तथा परिणामों को दूर किया जाये जो इसके पतन के लिये उत्तरदायी हैं, जैसे लोकप्रिय तथा सार्वजनिक राजनय की व्यवस्था, शिखर सम्मेलन, कटु और उत्तेजित करने वाले भाषण, समाचार-पत्रों की सुखिंधियां आदि। व्यावसायिक राजनय को महत्व दिया जाना चाहिये, गैर-व्यावसायिक नियुक्तियां जितनी कम से कम हों उतना अच्छा है, अधिक से अधिक गोपनीयता होनी चाहिये, योग्य, प्रशिक्षित एवं अनुभवी राजदूतों के हाथों में ही केवल वार्ता का कार्यभार सौंपा जाना चाहिये। वार्ताकार में अतुल



धैर्य होना चाहिये तथा उसे सस्ती लोकप्रियता के लोभ से परे होना चाहिये। साथ ही राजनेताओं को स्वयं पर नियन्त्रण लगा लेना चाहिये कि वे अधिक यात्राओं पर नहीं जायें तथा सार्वजनिक मंच से कटु आलोचनायें समाप्त कर दे। एनडू शॉनफील्ड के अनुसार दूतावासों की संख्या कम कर देनी चाहिये। मास्को, टोकियो, वाशिंगटन जैसे गिने-चुने राजधानियों में ही केवल दूत नियुक्त किये जायें तथा अविकसित देशों में मिले जुले दूतावास खोले जायें। इन्हें देख कर ही छोटे राज्य नये दूतावासों को बोलने से पहले दो बार सोचेंगे। जर्मनी की एक समिति का परामर्श था कि क्षेत्रीय दूतावासों को खेलने से पहले दो बार सोचेंगे। जर्मनी की एक समिति का परामर्श था कि क्षेत्रीय दूतावास खोले जायें यदि वे सम्भव नहीं हों तो दूतावासों में दो से अधिक व्यक्ति कार्य न करें तथा यह विशेष कार्य हेतु ही नियुक्त किये जायें। अयोग्य सिद्ध होने पर उन्हें नौकरी से निकाल दिया जाये। उनकी सेवा किसी भी परिस्थिति में 60 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिये जिससे कि तरुण वर्ग के राजदूतों को पदोन्नति के अवसर मिलते रहे। विदेश विभाग के कार्यालयों को जहाँ तक सम्भव हो एक ही स्थान पर तथा एक ही भवन में होना चाहिये। किसी भी राजदूत को एक स्थान से दो-तीन वर्षों में ही स्थानान्तरण कर देना गलत है, क्योंकि उसे अपने कार्य को जानने में ही एक आध वर्ष लग जाता है और जब वह निपुणता के स्तर पर आता है उसका स्थानान्तरण कर दिया जाता है। अतः किसी भी राजदूत को एक स्थान से चार वर्ष से पूर्व नहीं हटाना चाहिये। राजनय के प्रभावपूर्ण उपयोग के लिये राजदूतों को समय-समय पर दूसरे विभागों और व्यवसायों – पत्रकारिता, उद्योग, व्यापारिक संस्थाओं, प्रतिरक्षा, व्यापार व वाणिज्य, विदेशी सचिवालय आदि में कार्य करने की सुविधा दी जानी चाहिये। इनमें दो-चार वर्ष कार्य करने से उसे सामान्य व्यक्ति से सम्पर्क तथा वास्तविक जगत् का ज्ञान प्राप्त होगा। यह कार्य निश्चित ही पुनः दोहराने के लिये सिखाये जाने वाले पाठ (refresher course) की भांति उसमें नई स्फूर्ति देने वाला होगा। वे थोड़े से कदम हैं जिनको उपयोग में लाने से राजनय का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

हम अपने सामान्य जीवन में प्रजातन्त्रीय हैं, अतः एक बार किसी को कार्य सौंपकर उसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते। कार्यभार सौंपते समय शिक्षा, अनुभव आदि की पूछताछ करते हैं, परन्तु एक ऐसे कार्य के लिए जिस पर विश्व का वर्तमान ही नहीं, वर्न् भविष्य भी निर्भर करता है ऐसे कार्य को अनाड़ी गैर-व्यावसायिक खिलाड़ी, शिक्षक, व्यापारी आदि को सौंप देते हैं। यही नहीं, संसद आदि के माध्यम से उनके कार्यों में हस्तक्षेप व नियन्त्रण भी रखे रहते हैं। राजनय के भविष्य के लिये निश्चित ही यह आवश्यक है कि प्रशिक्षित एवं अनुभवी राजदूतों की ही नियुक्तियां अधिक हो जायें।

आज राजदूत का कार्य दो राज्यों के मध्य सम्बन्धों को ही मैत्रीपूर्ण बनाना नहीं है। वर्तमान जटिल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के कारण ये सम्बन्ध दो राज्यों के मध्य न रहकर अनगिनत राज्यों के मध्य बन गये हैं। इन सम्बन्धों की जटिलता इनके विरोधी राष्ट्रीय हितों के कारण हैं। राजनय के भविष्य को और भी अधिक उज्ज्वल बनाने के लिये आवश्यक है कि अपने देश की राष्ट्रीय सुरक्षा व अखण्डता को बनाये रखते हुए सभी विरोधी राष्ट्रीय हितों के मध्य सामंजस्य बैठाया जाये। इस प्रकार राजनय का भविष्य तभी सुरक्षित रह सकता है जब राष्ट्रीय मर्यादित सीमाओं में रहते हुए अन्तर्राष्ट्रीय हित वद्धि पर बल दिया जाये। जिस प्रकार एक आदर्श नागरिक वही होता है जो दूसरों के हित को ध्यान में रखे, ठीक उसी प्रकार राज्यों को भी चाहिये कि वे हर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्या को दूसरे राज्यों की दृष्टि से देखें-समझें। राजदूत के धर्म, जाति व राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर कार्य करने में ही विश्व का हित है। राजनय की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि उसे अपनी तथा अन्य राज्यों में हो रही गतिविधियों की पूर्व जानकारी होती रहे। यदि सम्भव हो तो विभिन्न क्षेत्रों – जैसे यूरोप, अमेरिका, लेटिन-अमेरिका, एशिया, अफ्रीका, मध्यपूर्व, सुदूर पूर्व आदि क्षेत्रों के राजदूतों की समय-समय पर (और वर्ष में एक बार अवश्य) बैठकें बुलाकर उनके क्षेत्र में हो रही गतिविधियों का अध्ययन कराते रहना चाहिये। इन औपचारिक सम्मेलनों आदि में न तो कोई दिखावा होगा, न लम्बे-चौड़े प्रचार के लिये भाषण होंगे और न हॉंगी रेडियो, टेलीविजन तथा समाचार-पत्रों की सुर्खियां।

मॉर्गन्थो का विचार है कि आधुनिक युग में कुछ ऐसे विकास हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप राजनय की प्रभावशीलता को आघात पहुंचा है, तथापि यदि राजनय उन तरीकों का पुनः प्रयोग करे जिनके द्वारा सुदूर अतीत से राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध नियन्त्रित हुए हैं, तो इसकी उपयोगिता का पुनः प्रवर्तन हो सकता है। मॉर्गन्थो ने राजनय के "नौ नियमों" चार मौलिक नियम (Four Fundamental Rules) तथा समझौते की पांच पूर्वापेक्षित शर्तें (Five Pre requisites of Compromise) का उल्लेख किया है जिनके माध्यम से यह 'समायोजन द्वारा शान्ति' (Peace Through Accommodation) स्थापित कर सकता है और राष्ट्रीय शक्ति तथा राष्ट्रीय हित संवर्द्धन के एक शक्तिशाली साधन के रूप में पुनः प्रतिष्ठित हो सकता है।

**(1) राजनय को धर्मयुद्धीय भावना से अवश्य रहित होना होगा (Diplomacy must be divested of the crusading spirit) :-**  
यह उन नियमों में से पहला नियम है जिसकी अवहेलना राजनय युद्ध का संकट लेकर ही कर सकता है। कोई भी धर्म अथवा मत पूर्ण सत्य नहीं होता, अतः अपने धर्म को ही सत्य मानकर उसे शेष संसार पर आरोपित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

ऐसा कोई भी प्रयत्न शान्ति के लिए घातक होगा। विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा एक विश्वव्यापी राजनीतिक धर्म के रूप में नहीं की जानी चाहिये। धर्मयुद्धीय भावना से रहित होकर ही राजनय को उन वास्तविक समस्याओं का सामना करनेका अवसर प्राप्त होगा जिनके लिए शान्तिपूर्ण समाधान आवश्यक है। राष्ट्रवादी विश्ववाद की महत्वाकांक्षाओं के परित्याग पर ही राजनय राष्ट्रीय शक्ति और राष्ट्रीय हित-सम्बर्द्धन का एक सफल साधन सिद्ध हो सकता है।

- (2) **विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ में अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ट शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होगा (The objectives of Foreign Policy Must be defined in terms of the national interest and must be supported with adequate power) :-** शान्ति-संरक्षण राजनय का यह दूसरा नियम है। एक शान्तिप्रिय राष्ट्रीय हित की परिभाषा केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के अर्थ में हो सकती है, तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की परिभाषा राष्ट्रीय क्षेत्र एवं इसकी संस्थाओं की अखण्डता के रूप में अवश्य होनी चाहिये। तब राष्ट्रीय सुरक्षा वह न्यूनतम वस्तु है, जिसकी राजनय को यथेष्ट शक्ति द्वारा बिना समझौते के रक्षा करनी होगी।
- (3) **राजनय को राजनीतिक क्षेत्र पर दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण से अवश्य देखना होगा (Diplomacy must look at political scene from the point of view of other nations) :-** राजनय को, यदि उसे राष्ट्रीय हित-सम्बर्द्धन की दृष्टि से सफल होना है तो दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण और राष्ट्रीय हित को भी ध्यान में रखना चाहिये। "आत्म-पक्षपात की अतिशयता एवं अन्य लोग स्वभावतः क्या आशा अथवा किस से भय करते हैं, इस विषय के पूर्णतः अभाव के समान किसी राष्ट्र के लिये और कुछ भी घातक नहीं है।"
- (4) **राष्ट्रों को उन सभी प्रश्नों पर, जो उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं, समझौता करने के लिए अवश्य इच्छुक रहना होगा (Nations must be willing to compromise to all issues that are not vital to them) :-** यही राजनय का कार्य सबसे अधिक कठिन है। प्रत्येक राष्ट्र के स्थायी और अस्थायी दो प्रकार के हित हैं। अस्थायी हित अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते, अतः ऐसे राष्ट्रीय हितों पर समझौता करने की भावना रखनी चाहिये।
- (5) **यथार्थ लाभ की वास्तविकता हेतु निरर्थक अधिकारों की प्रतिच्छाया का परित्याग कर दीजिये (Give up the shadow of worthless rights for the substance of real advantage) :-** समझौता करते समय राजनयज्ञ को अमूर्त बातों की अपेक्षा तथ्यगत वस्तुओं को ध्यान में रखकर विचार करना चाहिये। राजनयज्ञ के समक्ष वैधता एवं अवैधता के बीच नहीं, वरन् राजनीतिक विवेक एवं राजनीतिक मूर्खता के बीच विकल्प होता है।
- (6) **अपने आपको कभी ऐसी स्थिति में न रखिये जहां से आप बिना प्रतिष्ठा गंवाए पीछे नहीं हट सकते तथा जहां से आप बिना गंभीर संकटों के आगे नहीं बढ़ सकते (Never put yourself in a position from which you cannot retreat without to losing face and from which you cannot advance without grave risks) :-** राजनीतिक परिणामों से असावधान रहकर एक राष्ट्र किसी ऐसी स्थिति के साथ अनन्यता स्थापित कर सकता है, जिसे अपनाने का उसे अधिकार हो भी सकता है और नहीं भी, तब फिर समझौता होना कठिन हो जाता है। अपनी प्रतिष्ठा में गंभीर हानि के बिना एक राष्ट्र उस स्थिति से पीछे नहीं हट सकता। राजनीतिक संकटों, और सम्भवतः युद्ध के संकट के प्रति अपने को प्रस्तुत किये बिना यह उस स्थिति से आगे भी नहीं बढ़ सकता। अरक्षणीय स्थितियों में असावधान होकर गतिशीलतापूर्वक जाना और विशेषकर उचित समय में उनसे अपने को मुक्त करने से हठपूर्वक अस्वीकार करना अयोग्य राजनय का लक्षण है। सन् 1870 ई० के फ्रोकोप्रशियन युद्ध के ठीक पहले नैपोलियन तृतीय की नीति तथा प्रथम महायुद्ध के ठीक पहले आस्ट्रिया एवं जर्मनी की नीतियाँ इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। ये उदाहरण यह भी प्रदर्शित करते हैं कि युद्ध के संकट और इस नियम के उल्लंघन में कितनी घनिष्ठता है।
- (7) **एक निर्बल संश्रित राष्ट्र को अपने लिए कभी निर्णय नहीं करने दीजिये (Never allow a weak ally to make decisions for you) :-** राजनय की दृष्टि से एक शक्तिशाली राष्ट्र को इस बात से सावधान रहना चाहिये कि उसके लिए कोई निर्बल राज्य निर्णय न ले। अपने शक्तिशाली मित्र की सहायता द्वारा सुरक्षित होकर निर्बल संश्रित राष्ट्र अपनी विदेश-नीति के ध्येयों एवं तरीकों को अपनी आवश्यकतानुसार चुन सकता है। तब शक्तिशाली राष्ट्र अपने को इस स्थिति में पाता है कि उसे ऐसे हितों को अवलम्बन देना होगा, जो उसके अपने नहीं हैं तथा वह उन प्रश्नों पर समझौता करने के लिए असमर्थ है, जो उसके लिए नहीं वरन् उसके संश्रित राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण है। 1853 के क्रीमिया युद्ध के ठीक पहले टर्की ने जिस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस को बाध्य किया, उसमें इस नियम के उल्लंघन का श्रेष्ठ उदाहरण मिलता है। यूरोपीय-संघ (The Concert of Europe) रूस तथा टर्की के बीच के संघर्ष के निपटारे के लिए एक समझौते को प्रायः स्वीकार कर चुका

था। उसी समय टर्की ने यह जानते हुए कि रूस के साथ युद्ध होने पर पाश्चात्य शक्तियां इसकी सहायता करेंगी उस युद्ध के आरम्भ के लिए पूरा प्रयत्न किया। फलतः ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस को अपनी इच्छा के विरुद्ध युद्ध में अन्तर्ग्रस्त होना पड़ा। इस प्रकार टर्की ने अपने राष्ट्रीय-हितों के अनुसार ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस के राष्ट्रीय हितों के लिए रूस के साथ आवश्यक नहीं था और वे इसके आरम्भ को रोकने में प्रायः सफल हो गये थे, तथापि उन्हें यह निर्णय स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने कार्य की अपनी स्वतन्त्रता को एक ऐसे निर्बल संश्रित-राष्ट्र को समर्पित कर दिया था, जिसने उनकी नीतियों पर अपने नियन्त्रण का अपने हितों के लिए प्रयोग किया।

(8) **सशस्त्र सेनाएं विदेश-नीति की यन्त्र हैं, इसकी स्वामी नहीं (The Armed Forces are the instruments of foreign policy, not its master) :-** इस नियम के पालन के बिना कोई सफल एवं शान्तिपूर्ण विदेश-नीति सम्भव नहीं है। यदि सेना विदेश नीति के साध्यों एवं साधनों को निर्धारित करे तो कोई भी राष्ट्र समझौते की नीति का अनुसरण नहीं कर सकता। सशस्त्र सेनाएं युद्ध के यन्त्र हैं, विदेश नीति शांति का एक यन्त्र है। युद्ध का लक्ष्य सरल एवं शर्तरहित है, अर्थात् शत्रु की इच्छा को भंग करना। इसके ढंग भी समान रूप से सरल एवं शर्तरहित हैं अर्थात् शत्रु के कवच के सबसे अधिक भेद्य स्थान पर अधिक से अधिक हिंसा का प्रयोग करना। फलतः सैनिक नेता अवश्य ही दुराग्रही ढंग से विचार करेगा। विदेश-नीति का उद्देश्य सापेक्ष एवं सशर्त है। अपने महत्वपूर्ण हितों की रक्षा के लिए दूसरे पक्ष के महत्वपूर्ण हितों को हानि पहुंचाये बिना जितना आवश्यक हो, उतना दूसरे पक्ष की इच्छा को तोड़ना नहीं, वरन् झुकाना। विदेश-नीति के ढंग सापेक्ष एवं सशर्त हैं। अपने मार्ग की बाधाओं को समाप्त कर आगे बढ़ना नहीं, वरन् उनके समक्ष पीछे हटना, उन पर विजय पाना, उनके समीप चालें चलना, तथा अनुनय वार्ता एवं दबाव की सहायता द्वारा उन्हें धीरे-धीरे मन्द एवं विघटित करना। परिणाम यह है कि राजनयज्ञ का मस्तिष्क जटिल एवं सूक्ष्म होता है। अपने समक्ष प्रश्न को वह इतिहास में एक क्षण के रूप में देखता है, तथा कल की विजय से परे वह भविष्य की असीम सम्भावनाओं की प्रत्याशा करता है।

(9) **सरकार जनमत की नेता है, इसकी दास नहीं (The Government is the leader of public opinion, not its slave) :-** यदि विदेश नीति के संचालन के लिए उत्तरदायी व्यक्ति इस नियम का अविच्छिन्न रूप से ध्यान नहीं रखते, तो वे राजनय के पूर्वगामी नियमों का भी अनुपालन नहीं कर सकेंगे। जनमत की अभिरुचियाँ युक्तिसंगत होने की अपेक्षा भावनापूर्ण होती हैं। यदि राजनयज्ञ लोक भावावेग से प्रभावित होकर विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय लेगा तो वह राजमर्मज्ञ के रूप में अपना अनिष्ट और साथ ही अपनी विदेश-नीति का अनिष्ट आमन्त्रित करेगा। एक राजनयज्ञ को लोक-भावावेग के समक्ष न तो आत्मसमर्पण करना चाहिये और न ही उसे इसकी अवहेलना करनी चाहिये। उसे ऐसा मार्ग अपनाना चाहिये जिससे वह दोनों स्थितियों के अनुकूल रह सके। एक शब्द में, उसे नेतृत्व अवश्य करना होगा। मॉर्गेन्थो (Morgenthau) ने यह प्रतिपादित किया है कि "यदि कोई राष्ट्र राजनय को प्रयोग में नहीं लाना चाहता अथवा उसके पास राजनय को कार्यान्वित करने की क्षमता नहीं है तो वह अपने राष्ट्रीय हित सम्वर्द्धन के लिए युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी विकल्प का सहारा नहीं ले सकता। यदि वह युद्ध का सहारा भी नहीं लेना चाहता या नहीं ले सकता तो उसे अपने राष्ट्रीय हितों का परित्याग करना होगा।" इस प्रकार से राजनय शांति के संरक्षण का सबसे उत्तम साधन है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि राजनय मानव द्वारा शान्ति प्राप्ति का एक सर्वाधिक प्रभावकारी साधन है। यही एकमात्र ऐसा विकल्प है जिस पर मानव निर्भर कर सकता है। थोड़ी सतर्कता और सावधानी से राजनय का भविष्य निश्चित उज्ज्वल है।

# ईकाई-II

## अध्याय-1

### राजनयिक अभिकर्ता : उनकी श्रेणियां एवं उन्मुक्तियां

### (Diplomatic Agents : Their Classes and Immunities)

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में अभिकर्ताओं या प्रतिनिधियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राजनयिक अभिकर्ताओं का अर्थ ऐसे व्यक्तियों से है जो अपने राज्य और स्वगाकर्ता राज्य के राजनीतिक सम्बन्धों का संचालन तय करते हैं। फ्रांस में इनको सार्वजनिक मन्त्री (Ministers Public) कहा जाता है। एक राजनयिक अभिकर्ता का यह कर्तव्य है कि वह अन्य राज्यों से अपने राज्य के अच्छे सम्बन्धों का तथा अपने देशवासियों के हितों को ध्यान में रखे और सभी महत्वपूर्ण विषयों पर अपनी सरकार को प्रतिवेदन प्रस्तुत करें। इन अभिकर्ताओं की सहायता अनेक पदाधिकारियों द्वारा की जाती है। स्थायी मिशन के अध्यक्ष के अतिरिक्त कभी-कभी विशेष उद्देश्यों के लिए अन्य राजनयिक अभिकर्ता भी नियुक्त किये जाते हैं। ये शव-यात्रा के समय अथवा किसी समारोह के समय अपने सम्प्रभु या शासनाध्यक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्थायी दूतावासों की स्थापना आधुनिक काल की देन है। मध्य युग में राज्यों के बीच आपसी सम्बन्ध बहुत कम थे और जो सम्बन्ध थे उनका संचालन विशेष कार्य के लिए भेजे गए प्रतिनिधि द्वारा किया जाता था। अपना कार्य समाप्त होने पर वह वापस आ जाता था। स्थाई राजदूत भेजने की प्रथा 14 वीं शताब्दी में इटली गणराज्य में प्रारम्भ हुई। फ्रांस के लुई 11 वें ने अनेक राज्यों की राजधानियों में अपने स्थाई दूत भेजने की परम्परा अपना ली। डॉ० फेनविक के कथनानुसार आज कोई भी राज्य शेष संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर अलग-थलग नहीं रह सकता। उसे विश्व समाज में सहयोगपूर्ण रहना पड़ता है।

प्रत्येक मान्यता-प्राप्त स्वतन्त्र राज्य दूसरे राज्यों में अपने हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए राजनीतिक अभिकर्ता भेजता है और दूसरे राज्यों के अभिकर्ताओं का स्वागत करता है, किन्तु ऐसा करने के लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से बाध्य नहीं है। राजनयिक अभिकर्ता भेजने और स्वागत करने का अधिकार एक अर्द्ध-सम्प्रभु राज्य को ही है, पर नहीं, इसका निश्चय उस अर्द्ध-सम्प्रभु राज्य तथा उसको प्रभावित करने वाले राज्य के बीच होने वाली सन्धि पर निर्भर करता है। जब तक मिश्र टर्की साम्राज्य का भाग रहा तब तक उसे विदेशों से व्यापारिक सन्धियां करने का अधिकार था, किन्तु वह स्थायी दूत नहीं भेज सकता था।

राजनयिक अभिकर्ता की नियुक्ति राजतन्त्रात्मक राज्यों में सम्प्रभु द्वारा की है। सामान्यतः यह अधिकार संविधान में परिभाषित कर दिया जाता है। फ्रांस का राष्ट्रपति तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति (सीनेट की सहमति से) राजदूतों की नियुक्ति करता है। भारत में यह शक्ति राष्ट्रपति के नाम से प्रधानमन्त्री द्वारा प्रयुक्त की जाती है। सामान्य व्यवहार के अनुसार प्रत्येक देश की राजधानी में केवल एक स्थाई राजनयिक अभिकर्ता नियुक्त किया जाता है। युद्ध के समय तटस्थ मित्र राज्य का प्रतिनिधि एक युद्धप्रवत्त राज्य में दूसरे युद्धप्रवत्त राज्य की जनता के हितों की रक्षा करता है। सिद्धान्ततः इस बात में भी कोई आपत्ति नहीं है कि एक ही व्यक्ति को एक से अधिक देशों के प्रतिनिधित्व का कार्य सौंपा जाये। ऐसा प्रायः तब किया जाता है जब कई छोटे राज्य निकटवर्ती हों अथवा सरकारी व्यय कम करने के लिए ऐसा किया जाता है।

एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को भेजे जाने वाले दूतों की श्रेणी उनके पारस्परिक समझौतों पर निर्भर करती है। सामान्यतः एक राज्य जिस श्रेणी में दूतों का स्वागत करता है उसी श्रेणी के दूत प्रेषित करता है। स्विट्जरलैण्ड इसका अपवाद है। यहां ग्रेट ब्रिटेन तथा अनेक देशों के राजदूतों का स्वागत किया जाता है, किन्तु यह किसी देश में अपने राजदूत नहीं भेजता है।

### राजनयिक अभिकर्ताओं की श्रेणियाँ (Classification of Diplomatic Agents)

दूतों को अनेक प्रकारों में विभाजित किया गया है। भारतीय विचारकों ने दूत की आवश्यकता एवं उपयोगिता को स्वीकार करके उसकी श्रेणियों का उल्लेख किया है। प्रमुख भारतीय राज्यशास्त्री कौटिल्य द्वारा दूत को राजा का मुख कहा गया है क्योंकि इसके द्वारा लोग एक-दूसरे से बातचीत करते हैं। इस सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य मत का उल्लेख करना आवश्यक है।

**भारतीय मत :-** कौटिल्य ने योग्यता और अधिकारों की दृष्टि से दूतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है, ये हैं—निःसप्तार्थ,

परिमितार्थ और शासनहर। प्रथम श्रेणी के दूतों में आमात्य जैसी सभी योग्यताएं, दूसरी में आमात्य पद की कुछ योग्यताएं और तीसरी में आमात्य पद की आधी योग्यताएं पर्याप्त मानी गई हैं। प्रथम श्रेणी के दूतों को व्यापक अधिकार और कर्तव्य सौंपे गए थे। इनकी तुलना आधुनिक राजदूतों से की जा सकती है। दूसरी श्रेणी में राजदूतों के अधिकार सीमित थे और तीसरी श्रेणी के राजदूतों को केवल सन्देश-वाहक मात्र माना गया है।

कामन्दक ने भी कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत दूतों के वर्गीकरण को स्वीकार किया है। इन्होंने दूतों के कर्तव्यों का विस्तार से उल्लेख किया है। उनके मतानुसार, दूत को अपने और दूसरे देशों के बीच सम्पर्क स्थापित करने चाहिये, दूसरे राज्यों में अपने राजा के प्रभाव तथा गुणों का प्रचार करना चाहिये, उसे अन्य राज्य के विभिन्न अंगों की वास्तविक शक्ति का परिचय प्राप्त करके अपने राजा को बताचार चाहिए, विदेशी राजा के असन्तुष्ट वर्ग को अपने साथ मिला लेना चाहिये आदि-आदि।

**पाश्चात्य मत :-** प्रो० ऑपेनहेम ने राजनयिक दूतों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—(1) वे दूत जो राजनीतिक सन्धि-वार्ता के लिए भेजा जाता है और (2) वे दूत जो समारोहपूर्ण कार्यों के लिए अथवा अध्यक्षों में परिवर्तन की सूचना देने के लिए भेजे जाते हैं। विभिन्न राज्य समय-समय पर दूसरे राज्यों को विशेष दूत भेजते हैं जो राजनीतिक, शादी, दाह-क्रिया आदि में भाग लेते हैं। दोनों प्रकार के दूत एक जैसा स्तर रखते हैं। राजनीतिक दूतों को पुनः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) स्थाई और अस्थायी रूप से किसी राज्य में समझौता-वार्ता करने के लिए भेजे गए दूत और (2) किसी कांग्रेस या सम्मेलन का प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजे गए दूत। दूसरे प्रकार के राजनीतिक दूत यद्यपि जिस राज्य को भेजे जाते हैं उसमें बसते नहीं हैं किन्तु वे निश्चय ही राजनयिक दूत होते हैं और इस पद के सभी विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हैं।

उल्लेखनीय है कि मध्यकाल तक राजदूतों की श्रेणियां नहीं थीं। उस समय अगत्व की व्यवस्था थी और प्रत्येक देश का दूत अपनी सवारी और गाड़ी अन्य देशों के दूत से आगे रखने का प्रयत्न करता था। उस समय यह विश्वास किया जाता था कि किसी देश विशेष में प्राप्त अग्रत्व के आधार पर ही उनकी महत्ता तय की जाती है। इसलिए राजदूत श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के लिए अपनी चतुराई, शौर्य एवं ऐश्वर्य का प्रयोग करते थे। प्राथमिकता का निर्धारण सबसे पहले रोम के पोप द्वारा किया गया। उसके अनुसार स्वर्ग की राह दिखाने वाले पोप का स्थान सर्वोपरि था। उसके बाद रोम के सम्राट का स्थान था। सम्राट के उत्तराधिकारी तीसरी श्रेणी में रखे गये। इनके बाद फ्रांस, एरागन और पुर्तगाल के शासकों का स्थान था। यह वर्गीकरण राज्यों द्वारा स्वेच्छा से स्वीकार नहीं किया गया था, अतः अनेक राजदूत आपस में इसी प्रश्न पर लड़ बैठते थे। ऐसे संघर्षों में कार्य-कलापों का क्षेत्र न होकर द्वन्द्व-युद्धों का अखाड़ा बन गए। सन् 1661 ई० में स्वीडन के नए राजदूत के लन्दन आने पर उसके स्वागत के समय गाड़ियां आगे पीछे करने के विवाद को लेकर फ्रांस तथा स्पेन के राजदूतों में झगड़ा हो गया। फ्रांसीसी चालक गाड़ी से खींच लिया गया तथा दो घोड़े अंगविहीन कर दिये गये। एक सैनिक की हत्या कर दी गई। लुई 14वें ने इस कार्य से रुष्ट होकर स्पेन से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिये और यह धमकी दी कि यदि लन्दन स्थित स्पेन के राजदूत को दण्डित न किया गया और स्पेन ने फ्रांस से क्षमा याचना नहीं की तो वह स्पेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देगा। स्पेन ने कटुता समाप्त करने के लिए फ्रांस से क्षमा याचना करते हुए क्षतिपूर्ति भी की।

उक्त विवादों का अन्त करने के लिए तथा विश्व के सभी भागों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए 1815 की वियना कांग्रेस ने तथा 1818 की एक्स लॉ शैपल (Aix La Chapelle) कांग्रेस ने विभिन्न प्रकार के दूतों की श्रेणियों तथा वरिष्ठता का क्रम निश्चित किया। वियना कांग्रेस ने दूतों की तीन श्रेणियों का उल्लेख किया। इसमें छोटे राज्यों के दूतों का कोई स्थान नहीं था। एक्स ला शैपल की कांग्रेस ने निवास मन्त्री (Ministers Resident) की नई श्रेणी की रचना की। दूतों की विभिन्न श्रेणियां निम्न प्रकार हैं :-

### (1) राजदूत (Ambassadord)

राजदूत को प्रेषक राज्य के सम्प्रभु का प्रतिनिधि माना जाता है। प्रारम्भ में केवल शाही सम्मान से युक्त राज्यों द्वारा ही राजदूत भेजे तथा स्वीकार किये जाते थे किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कुछ छोटे राज्य भी राजदूत नियुक्त करने लगे। अपने राज्य के सम्प्रभु का प्रतिनिधि होने के कारण राजदूत को अनेक विशेषाधिकार, सम्मान एवं सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। इसे स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष से सीधे मिलने और वार्ता करने का अधिकार होता है। राजतंत्रात्मक व्यवस्था में राजदूत के ये अधिकार महत्वपूर्ण थे, किन्तु आज की लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में मन्त्रियों का महत्व बढ़ जाने से अधिकांश राजनयिक कार्य विदेश विभाग स्वतः ही निबटा लेता है। राजदूतों का अन्य अधिकार यह है कि उन्हें परम श्रेष्ठ (His Excellency) के रूप में सम्बोधित किया जाये। इस शब्द का प्रयोग उस समय से ही किया जाता है जब ये राजदूत अपने राजा के व्यक्तिगत प्रतिनिधि हुआ करते थे। राजदूत का स्थान, पद, प्रतिष्ठा और अग्रत्व क्रम की दृष्टि से सर्वोपरि होता है। केवल प्रथम श्रेणी के राजनयिक अभिकर्ता को ही राजदूत कहा जाता है।

19वीं शताब्दी के अन्त तक फ्रांस प्रत्यय-पत्रों में केवल राजदूत शब्द का ही प्रयोग करता था। किन्तु बाद में वह असाधारण और पूर्ण शक्तियुक्त शब्दों का भी प्रयोग करने लगा। 1893 से पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका राजदूत स्तर के राजनयिक अभिकर्ताओं की नियुक्ति नहीं करता था और इसलिए वाशिंगटन भेजे जाने वाले विदेशी राजनयिक अभिकर्ता भी निम्न स्तर के होते थे। आज केवल बड़े राज्य ही राजदूत भेजते हैं। छोटे राज्यों द्वारा भेजे जाने वाले दूत प्रायः इस श्रेणी के नहीं होते।

### (2) पूर्ण अधिकारयुक्त मंत्री और असाधारण दूत (Ministers Plenipotentiary and Envoys Extraordinary)

इन्हें दूसरी श्रेणी का राजनयिक अभिकर्ता माना जाता है। ये अपने प्रेषक राज्य के सम्प्रभु के व्यक्तिगत दूत नहीं होते इसलिए इनको राजदूत जैसा सम्मान और अधिकार नहीं मिलता। ये राजदूतों की भाँति स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष से प्रत्यक्ष नहीं मिल सकते और न इनको विशेष सम्मान सूचक अधिकार है। इनका सौजन्यतावश परमश्रेष्ठ कहकर सम्बोधित किया जा सकता है, किन्तु यह उनका अधिकार नहीं है। पोप के अन्तरनन्शियों नामक दूत इसी श्रेणी में आते हैं।

यूरोप में अस्थाई कार्यों के लिए भेजे जाने वाले दूतों के साथ साधारण शब्द का प्रयोग किया जाता था ताकि उन्हें वहां स्थाई रूप से बसने वाले मन्त्रियों से अलग किया जा सके। बाद में इनके साथ पूर्ण अधिकारी शब्द का प्रयोग भी किया जाने लगा। इन्हें प्रेषक राज्य समस्त शक्तियां सौंपता है।

### (3) निवासी मंत्री (Ministers Resident)

यह राजनयिक अभिकर्ताओं की तीसरी श्रेणी है। इस नये वर्ग का जन्म 1818 के एकल ला शैपल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में हुआ। व्यवहार में इनके तथा द्वितीय श्रेणी के दूतों में विशेष अन्तर नहीं है। इनका औचित्य यह है कि ग्रेट-ब्रिटेन, आस्ट्रिया, फ्रांस आदि महाशक्तियां यह चाहती थी कि उने तथा लघु शक्तियों के दूतों में अन्तर बना रहे। इस नये वर्ग को बनाने का लक्ष्य यह था कि लघु शक्तियों के दूतों को अधिक प्रतिष्ठा नहीं सौंपी जाये। इन दूतों को शिष्टता के कारण भी परमश्रेष्ठ के रूप में सम्बोधित नहीं किया जाता। आजकल निवासी मन्त्री नियुक्त करने की प्रथा कम होती जा रही है।

### (4) कार्य दूत (Charge D' Affairs)

इस वर्ग के दूत उपरोक्त दूतों की भाँति राज्य के अध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्य के अध्यक्ष के लिए नहीं भेजे जाते वरन् एक राज्य का विदेश मंत्रालय दूसरे राज्य के विदेश मंत्रालय के लिए भेजता है। फलतः इन दूतों को अन्य की भाँति विशेष सम्मान, विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियां प्राप्त नहीं होते। ये दूत अपनी नियुक्ति के प्रत्यय-पत्र राज्य के अध्यक्ष को नहीं सौंपते वरन् विदेश मंत्री के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। भारत में मक्सिको, मंगोलिया और इथियोपिया आदि राज्यों के कार्य दूत हैं।

किसी देश में स्थित सभी विदेशी दूतों को सामूहिक रूप से राजनयिक निकाय (Diplomatic Corps) कहा जाता है। इनमें वरिष्ठतम दूत को डायन अथवा शिरोमणि (Doyan) कहा जाता है। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य आपस में जिन दूतों का आदान-प्रदान करते हैं उन्हें उच्चायुक्त (High Commissioner) कहते हैं। भारत में वाणिज्य दूतों के अलावा, राजदूत, उच्चायुक्त और दूतों की अन्य श्रेणियां विद्यमान हैं। लगभग 50 देशों के यहां के हैं।

परम्परागत रूप से राज्य प्रायः समान श्रेणी के राजनयिक दूतों का आदान-प्रदान करते हैं। व्यवहार में इस नियम के अपवाद भी हैं। आजकल यह प्राचीन परम्परा टूट चुकी है जिसके अन्तर्गत केवल बड़े राज्यों द्वारा ही राजदूत भेजे जाते थे। अब किसी छोटे देश के लिए महाशक्ति द्वारा राजदूत भेजना एक प्रकार से छोटे राज्य के अहंकार को संतुष्ट करना है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने राष्ट्रपति एफ० रूजवेल्ट की अच्छे पड़ोसी की नीति के अन्तर्गत सभी लैटिन अमेरिकी राज्यों में राजदूत स्तर के प्रतिनिधि नियुक्त किये।

राजदूत या मन्त्री के नीचे एक राजनयिक मिशन में सैंकड़ों व्यक्ति होते हैं। आवश्यकता के समय मिशन के सरकारी और गैर-सरकारी सदस्यों के बीच अन्तर किया जाता है। सरकारी सेवी-वर्ग वह है जिसके सभी सदस्य प्रेषक राज्य के अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। गैर-सरकारी सेवी-वर्ग में रसोइयों, माली तथा मिशन के अधिकारियों के सेवक आते हैं। इनकी स्थिति के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है। अनेक राज्यों में सौजन्यतावश इनको राजनयिक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां सौंपी जाती हैं। सोवियत संघ जैसे देशों में इन कर्मचारियों को विशेष स्तर प्रदान नहीं किया जाता।

राजदूतों के अग्रत्व का क्रम उनके आगमन की सरकारी सूचना की तिथि से निश्चित होता है। यह नियम वियना कांग्रेस में बनाया गया था। आजकल इस नियम का कई राज्य अनुसरण नहीं करते और वे राजदूतों की ज्येष्ठता उनके प्रमाणपत्र उपस्थित किये जाने की तिथि से निर्धारित करते हैं। भारत में इसी परम्परा का पालन किया जाता है।

## दूतों की नियुक्ति (Appointments of Envoys)

### राजदूत की योग्यता

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कहीं भी राजदूतों की योग्यता सम्बन्धी नियमों का उल्लेख नहीं है। इसका निश्चय करना राज्यों का ही कार्य है। राजनय के प्रारम्भिक काल में उच्च वंश, मधुर भाषा, बुलन्द आवाज, तीव्र स्मृति, वक्तव्य शक्ति अथवा आकर्षक व्यक्तित्व ही राजदूतों की योग्यता मानी जाती थी। आज दो प्रकार की नियुक्तियां होती हैं—व्यावसायिक और गैर—व्यावसायिक। प्रथम विदेश—सेवा की नियुक्तियां हैं, द्वितीय खुली नियुक्तियां, जो विदेश सेवा के बाहर से की जाती हैं। चयन के पूर्व व्यवसायिक राजदूतों को लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षा में उत्तीर्ण होकर साक्षात्कार के लिए उपस्थित होना पड़ता है। चयन के पश्चात् इन्हें पूर्णरूपेण प्रशिक्षित करके ही कार्यभार सौंपा जाता है। राजदूत के पद तक पहुंचने के लिए किसी भी पदाधिकारी को अपनी योग्यता एवं कुशलता का प्रमाण देना पड़ता है।

### राजदूत की राष्ट्रीयता का प्रश्न

राजदूतों की नियुक्ति प्रायः राज्य के उच्च एवं प्रतिष्ठित घरानों से होती थी। यह आवश्यक नहीं था कि वे उसके अपने ही देश के हों। पूर्व—राष्ट्रीयता के युग में विदेशियों की राजदूत के रूप में नियुक्ति सामान्य बात थी। परन्तु आज ऐसा नहीं है। फ्रांस, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों के संविधान में इसका निषेध है। 1928 में जब लिथुनिया की सरकार ने एक नागरिकीकरण प्राप्त अमेरिकी नागरिक को वाशिंगटन में राजदूत की नियुक्ति की स्वीकृति मांगी तो अमेरिका ने इसे अस्वीकार कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका के एक वरिष्ठ प्रोटोकॉल अधिकारी ने घोषित किया था कि “संयुक्त राज्य अमेरिका एक अमेरिकी नागरिक को इस सरकार के प्रति राजदूत अथवा मन्त्री के रूप में नियुक्ति स्वीकार नहीं कर सकता।” इस नियम के अपवाद में अमेरिकी नागरिकीकरण प्राप्त पोलवासी को युद्ध के पश्चात् 1945 में पौलैण्ड की अस्थायी सरकार का प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया गया था। आज यह सामान्य नियम है कि प्रेषित राज्य का नागरिक ही केवल राजदूत नियुक्त किया जा सकता है। 1961 में वियाना सम्मेलन की धारा 8 में भी ऐसा ही वर्णित है।

### पूर्व स्वीकृति

राज्य को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह किसी भी व्यक्ति को उसके लिंग, धर्म, जाति और आयु आदि पर विचार किये बगैर राजदूत नियुक्ति कर सकता है। ठीक इसी प्रकार राज्य को भी यह अधिकार है कि वह किसी भी ऐसी नियुक्ति को जो पर—देश द्वारा की गई हो अस्वीकार कर दे। इस प्रकार की अस्वीकृति से उत्पन्न परिस्थिति से कटुता और द्वेषपूर्ण सम्बन्ध न हो जायें, इसलिए किसी भी व्यक्ति के राजनयिक पद पर नियुक्ति के पूर्व उसके नाम की स्वीकृति विदेशी सरकार से ले ली जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था जो पूर्व स्वीकृति एवं राजदूत अभिमत व्यक्ति की द्योतक है, अति स्वीकृति (Agreation) कहलाती है। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह किसी भी ऐसे व्यक्ति को जिसे उसके देश में राजनयिक नियुक्त किया जा रहा है, बिना कारण बताये अस्वीकार कर दे। 1928 के हवाना कन्वेंशन की धारा 8 के अनुसार “किसी भी राज्य को अन्य राज्यों में अपने राजनयिक अधिकारी को उनकी पूर्वानुमति प्राप्त किये बिना भेजने का अधिकार नहीं होगा। ऐसे राज्य चाहें तो दूसरे राज्य के अधिकारी को स्वीकार करने से इन्कार कर सकते हैं अथवा उसे स्वीकार कर चुकने के पश्चात् भी उसे वापिस बुलाने के लिए प्रार्थना कर सकते हैं; तथा इसके लिये कारण बतलाने के लिए बाध्य नहीं है। अस्वीकृति की स्थिति से बचने के लिए राज्य प्रायः प्रस्तावित राजनयिक का नाम गोपनीय रूप से पर—राज्य की सरकार की स्वीकृति के लिए भेजते हैं। इसपद में नियुक्ति किये जाने वाले राजदूत की संक्षिप्त जीवनी तथा उसकी विशेष योग्यता आदि का वर्णन होता है तथा उसकी नियुक्ति की स्वीकृति की प्रार्थना की जाती है। थेरर के शब्दों में “प्रेषित राज्य स्वागतकर्ता से यह दूत है कि उसे किसी विशेष व्यक्ति को राजदूत के रूप में नियुक्ति के विरुद्ध कोई आपत्ति तो नहीं है, और जब तक प्राप्त करने वाला देश अपनी स्वीकृति न दे, ऐसी नियुक्ति की सामान्य घोषणा नहीं की जाती है। प्रायः जिस व्यक्ति को राजदूत मनोनीत किया जाता है उससे भी गुप्त रूप से स्वीकृति ले ली जाती है। वह स्वीकृति देने से मना भी कर सकता है। इसी के पश्चात् ही नियुक्ति सार्वजनिक की जाती है। मनोनीत करने के पूर्व स्वागतकर्ता राज्य के प्रेषित राज्य में राजदूत तथा स्वीकारी राज्य में अपने देश के सेवानिवृत राजदूत से भी परामर्श लिया जाता है। कैलियर्स का मत है कि मनोनीत राजदूत को पर—राज्य में जाने के पूर्व अपने देश में स्वीकारी राज्य के राजदूत से सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये। नियुक्ति की घोषणा व कार्यभार संभालने के बीच प्रायः कई सप्ताह गुजर जाते हैं। इस बीच मनोनीत राजदूत विदेश मन्त्रालय के वरिष्ठ अधिकारियों से भेंट कर स्वीकारी राज्य के सम्बन्ध में सभी प्रकार की सूचनायें प्राप्त करता है। स्वीकारी राज्य से सम्बन्धित सांस्कृतिक एवं भिन्न संस्थाओं आदि में स्वागत समारोह, चाय व भोज पार्टियों में भाग लेता है और प्रस्थान के पूर्व देश के अध्यक्ष

से भेंट करता है। ब्रिटेन में राजा अथवा रानी, दूत व उसकी पत्नी को भोज पर बुलाते हैं। राष्ट्रपति डिगॉल दूत को पर-देश जाने के पूर्व बुलाकर भावोत्तेजक भाषण भेजता है।

स्वीकृति के लिए कभी-कभी दो या तीन नामों की सूची भेजी जाती है, जिसमें से स्वीकारी राज्य सामान्यतः प्रथम नाम ही स्वीकार करते हैं। सेटी के अनुसार 1819 में फ्रांस के विदेश मंत्री डैसोलेस (Dessolles) ने सन्त पीटरसबर्ग में राजदूत के पद पर नियुक्ति के लिए रूप सरकार के पास चार नामों की सूची भेजी थी, जिसमें से रूस सरकार ने सामान्य परिपाटी के विरुद्ध द्वितीय नाम को ही स्वीकार किया था। अस्वीकृति का कारण मनोनीत राजदूत का व्यक्तिगत चरित्र अथवा स्वागतकर्ता राज्य के प्रति शत्रुता हो सकती है। स्वीकारी राज्य कारण बताकर अथवा बिना कारण बताये किसी भी नियुक्ति को अस्वीकार कर सकता है। अस्वीकृति के कारण नहीं दिये जाते अथवा असन्तोषजनक कारण होने पर प्रेषित राज्य, नाराजगी स्वरूप उस पद पर किसी अन्य राजदूत की नियुक्ति न कर, अपने दूतावास के किसी निम्न अधिकारी को कार्यवाहक कार्य करने के लिए रख सकता है। रूसी सम्राट जार निकोलस ने 1832 में उसकी पूर्व स्वीकृति नहीं लेने के कारण ब्रिटिश राजदूत, सर स्टेटफोर्ड केनिंग को स्वीकार नहीं किया था, परन्तु वास्तविक कारण कुछ और ही था। केनिंग ने जार निकोलस के साथ, जब वह ग्रांड ड्यूक था, अभद्र व्यवहार किया था। ब्रिटिश सरकार ने इस प्रकरण पर अपनी नाराजगी दिखाते हुए 1835 तक किसी भी नये व्यक्ति की राजदूत के रूप में नियुक्ति नहीं की। 1885 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने केली (A.M. Keiley) को रोम में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। इटली सरकार ने बिना कारण बताये उसे अस्वीकार कर दिया। वास्तव में इस अस्वीकृति का मूल कारण, केली द्वारा वेटिकन राज्य को इटली में मिलाने के सम्बन्ध में 1871 में एक आम सभा में इटली विरोध वक्तव्य देना था। विदेश सचिव ब्यार्ड (Bayard) ने केली को तुरन्त त्यागपत्र देने का परामर्श दिया, तथा उसके स्थान पर जॉन स्टेलो को नियुक्त किया। इसके पश्चात् केली को वियाना में दूत नियुक्त कर दिया गया किन्तु आस्ट्रिया सरकार की पूर्व स्वीकृति नहीं लिये जाने के कारण अस्वीकार कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने उक्त आपत्ति को उचित नहीं माना और परिणामस्वरूप वियाना में कार्यवाहक दूत ही दो वर्ष तक कार्य करता रहा। 1891 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने भूतपूर्व सीनेटर हैनरी ब्लेयर (H.W. Blair) को जीवन में अपना मन्त्री नियुक्त किया। ब्लेयर अभी मार्ग में ही था कि चीन सरकार ने उसे, उसके द्वारा 1888 में सीनेट में दिये गये चीन विरोधी वक्तव्य के आधार पर अस्वीकार कर दिया। इस बीच ब्लेयर चीन पहुंच चुका था। चीनी अस्वीकृति के कारण ब्लेयर को त्यागपत्र देना पड़ा, जिसे अमेरिका ने स्वीकार तो कर लिया, परन्तु चीनी आरोप का विरोध अवश्य किया। संयुक्त राज्य अमेरिका अपनी अप्रत्याशित नियुक्तियों के लिए माना हुआ है। एक बार जब रॉबर्ट बटलर डेमोक्रेटिक राष्ट्रीय समिति से हटा तो उसे आस्ट्रेलिया में दूत नियुक्त कर दिया गया। आस्ट्रेलिया सरकार तथा अमेरिकी विदेश सचिव को भी इसी नियुक्ति का पता उस समय लगा जब उसके सम्मान में एक भोज दिया गया। पूर्व स्वीकृति नहीं लेने पर आस्ट्रेलिया सरकार ने इस पर कड़ा विरोध प्रकट किया।

## महिला राजदूत

राजनयिक सम्बन्धों के प्रारम्भिक काल में महिला राजदूतों की नियुक्ति के विरुद्ध एक पूर्वाग्रह था। एक महिला के राजदूत के रूप में नियुक्ति के अवसर के सन्दर्भ में विकेफोर्ट ने कहा था कि "इस बात से नकारा नहीं जा सकता है और यह राजा के सम्मान से भी मेल नहीं खाता कि इसका प्रतिनिधित्व एक महिला करे।" यद्यपि कालान्तर में चलकर पूर्वाग्रह की यह भावना समाप्त हो गई, परन्तु फिर भी राजनय के प्रारम्भिक इतिहास में महिला राजदूतों की नियुक्ति के काफी कम उदाहरण मिलते हैं। लुई चौदहवीं, प्रथम राजा था जिसने पौलैण्ड में महिला राजदूत की नियुक्ति की थी। आज प्रायः रानी राज्य महिला राजदूतों की नियुक्ति करते हैं। भारत की प्रथम महिला राजदूत श्रीमती विजय पण्डित थीं। लन्दन में नियुक्त वे सबसे प्रथम महिला राजदूत थी। ये सोवियत रूप में भी भारत की प्रथम राजदूत थीं। ये संयुक्त राज्य अमेरिका में भारत की राजदूत, ब्रिटेन में उच्चायुक्त तथा संयुक्त राष्ट्र को साधारण सभा की प्रथम महिला अध्यक्ष भी थीं। भारत की महिला राजदूत के रूप में श्रीमती रुकमणी मेनन, कुमारी मुथाम्मा, कुमारी एस० बाला सुब्रामिनियन आदि भी विविध राजनयिक नियुक्तियों पर कार्य कर चुकी हैं। बेगम राणा नियाकत अली खॉं को पहली पाकिस्तानी महिला राजदूत होने का गौरव प्राप्त है। वे चार वर्षों तक विदेशों में तथा कुछ समय के लिए संयुक्त राष्ट्र में अपने देश का प्रतिनिधित्व कर चुकी हैं। शाइस्ता चौधरी व शहजादी सुलताना ब्राजील पर मॉरिशस में पाकिस्तानी दूत रह चुकी हैं।

रूस की प्रथम महिला राजदूत एक सेनापति की पुत्री एलेक्जेंडरा कोलेन्टे (Madame Alexandra Kollontay) थी, जिसकी नियुक्ति लेनिन द्वारा नार्वे में की गई थी, जो बाद में मैक्सिको और स्वीडन में भी कार्य कर चुकी थी। इसी प्रकार स्टीला ब्लैगोएवा (Stelle Blagoeva) बलगेरिया में रूसी राजदूत थी। एलेक्जेंडरा कोलेन्टे की नियुक्ति के सन्दर्भ में रूस की मान्यता है कि वे विश्व की प्रथम महिला थी जिसे राजदूतीय श्रेणी का पद प्राप्त था।

काफी समय तक संयुक्त राज्य अमेरिका, महिला नियुक्ति का विरोधी था, परन्तु बाद में उसका यह प्रयत्न रहता था कि महिला



नियुक्ति के पश्चात् उस देश में अनुभवी व्यावसायिक पुरुष को प्रथम सचिव अथवा कांसूल नियुक्त किया जावे। संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रथम महिला राजदूत श्रीमती रुथ ब्रॉयन ओवन थीं, जिनकी नियुक्ति डेनमार्क में की गई थी। ये बहुत ही सफल राजदूत सिद्ध हुई थीं। दूसरी महिला राजदूतों में फ्लोरेन्स जाफरे हैरीमेन (Florence Jaffray Harrimann) थी, जिसे राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 1937 में नार्वे में नियुक्त किया था। इनका कार्यकाल युद्ध का था। विदेश सचिव हल ने इनके कार्यकाल की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। कुमारी फ्रांसिस विलिस संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रथम व्यावसायिक महिला थीं जो राजदूत पद तक पहुंची। उन्होंने स्विट्जरलैण्ड तथा नार्वे में राजदूत पद पर कार्य किया था। उनकी यह मान्यता थी कि "यह तथ्य कि, मैं औरत हूँ, कभी भी मेरे विरुद्ध नहीं गया।" जनवरी, 1975 में पश्चिमी जर्मनी में युगेन्डा की महिला राजदूत को पोप के राज्य (Holy See) में नियुक्ति के करीब 900 वर्ष पुराने एक कीर्तिमान को तोड़ा है। वेटिकन राज्य में महिला राजदूतों की नियुक्ति पर प्रतिबंध था। इससे पूर्व, 1970 में पश्चिमी जर्मनी, श्रीमती एलिजाबेथ मुलार को वेटिकन राज्य में जर्मन दूत के रूप में भेजना चाहते थे तो वेटीकन ने यह कहकर इस नियुक्ति को अस्वीकार कर दिया कि "होली सी" की परम्परा है कि वहां पुरुषों को ही दूत के रूप में स्वीकार किया जाता है। यद्यपि आज महिला राजदूत के चयन अथवा नियुक्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं है, परन्तु फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से इनकी संख्या अब भी कम है। भले ही नार्वे में स्त्री-पुरुषों की समानता है, परन्तु राजनय के क्षेत्र में स्त्रियों को मान्यता देने का बड़ा विरोध किया जाता है। भारत महिला राजदूतों की नियुक्तियों में अग्रगामी रहा है। कुछ का मत है कि कई देशों (विशेषकर मध्य पूर्व) में स्त्रियों को हेय दृष्टि से देखा जाता है।

### प्रत्यय पत्र और पूर्ण शक्ति पत्र (Letter of Credence and Full Powers)

पर-राज्य की स्वीकृति प्राप्ति के पश्चात्, राजदूत स्वीकारी राज्य में भेजा जाता है, जहां वह राज्याध्यक्ष के समक्ष अपने प्रत्यय पत्र पेश करता है। प्रत्यक्ष पत्र पेश करने की प्रथा अति प्राचीन है, उस समय ऐसे किसी भी व्यक्ति को जिसके पास प्रत्यय पत्र नहीं होते थे, तुरन्त मार डाला जाता था। नये राजदूत को स्वीकारी राज्य जाते समय अपने साथ प्रत्यय पत्र ले जाने पड़ते हैं, जो प्रेषित राज्य के राज्याध्यक्ष द्वारा स्वीकारी राज्य के राज्यध्यक्ष के नाम होते हैं। यदि राजदूत कार्यवाहक स्तर का है तो वह पत्र प्रेषित राज्य के विदेश मन्त्री द्वारा लिखित स्वीकारी राज्य के विदेश मन्त्री के नाम सम्बोधित होते हैं। ये पत्र इस बात का प्रमाण होते हैं कि वह व्यक्ति का राज्य का प्रतिनिधि है। ह्वीटन के अनुसार "हर राजनयिक अभिकर्ता को उसी रूप में स्वीकार किये जाने के लिए तथा अपने पद से सम्बन्धित अधिकारों और सम्मान का उपभोग करने के लिए प्रत्यय पत्र अवश्य दिया जाना चाहिये। इस पत्रों में राजदूत की नियुक्ति की सूचना होती है तथा यह आशा व्यक्त की जाती है कि स्वीकारी राज्य उसे प्रेषित राज्याध्यक्ष का व्यक्तिगत प्रतिनिधि समझेगा। नये राजदूत को यह देख लेना चाहिये कि उसके पूर्वाधिकारी राजदूत ने वापसी पत्र अथवा प्रत्यावहन पत्र (Letter of Recall) पेश कर दिया है। यदि नहीं तो उसे वह पत्र भी अपने साथ ले जाना चाहिये। प्रत्यय पत्र में राजदूत का परिचय उसकी स्थिति तथा उसके कार्यों का वर्णन होता है। पहले से अलंकृत भाषा में लिखे जाते थे, परन्तु आजकल ये सामान्य सरल भाषा में लिखे जाते हैं।

ये पत्र स्वीकारी राज्य के राज्याध्यक्ष के समक्ष एक समारोह में प्रस्तुत किये जाते हैं। इस औपचारिकता की पूर्ति के पश्चात् ही कोई राजदूत अपना कार्य कर सकता है, अर्थात् इसके पश्चात् ही उसका सरकारी जीवन प्रारम्भ होता है। प्रत्यय पत्र खो जाने अथवा किन्हीं विशेष कारणों के साथ नहीं होने पर राजदूत को अस्थायी काल के लिए नये प्रत्यय पत्र की प्राप्ति तक कार्य करने की अनुमति दे दी जाती है। राजतन्त्रात्मक देशों में राजा अथवा सम्राट की मृत्योपरान्त अथवा राज्य त्याग के पश्चात् नये प्रत्यय पत्र जारी किये जाते हैं, परन्तु उस समय कोई समारोह नहीं होता है। गणतन्त्र देशों में राष्ट्रपति अथवा प्रधानमन्त्री की मृत्यु पर ऐसा कुछ नहीं होता, क्योंकि वहां प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में नहीं वरन् जनता में निहित होती है। कभी-कभी प्रत्यय पत्र देरी से भी प्रस्तुत किये जाते हैं। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण उस समय आया जब 1885 में चार्ल्स डेनबो (Charles Denby) को चीन में अमीरीकी राजदूत नियुक्त किया गया था। हालांकि वह तुरन्त ही काम करने लगा था, परन्तु होने वाले सम्राट क नाबालिग होने के कारण छः वर्ष पश्चात् 1891 में वह अपने प्रत्यय पत्र प्रस्तुत कर सका। ऐसी ही एक विकट समस्या उस समय आयी जब अवीसीनिया पर विजय के पश्चात् इटली सरकार ने इटली के राजा को इथियोपिया का सम्राट भी घोषित कर दिया। इस बीच फ्रांस द्वारा इटली में मनोनीत राजदूत रोम के लिए रवाना हो चुका था। इसके प्रत्यय पत्रों में 'इटली के राजा' न कि 'इथियोपिया का सम्राट' लिखा था। यदि फ्रांस अपने प्रत्यय पत्र में 'इथियोपिया का सम्राट' लिखता तो इटली की इथियोपिया पर विजय फ्रांस द्वारा स्वीकृत हो जाती। फ्रांस द्वारा ऐसा नहीं करने के कारण उसके राजदूत को साक्षात्कार नहीं दिया गया तथा महीनों तक यह विवाद चलता रहा एवं फ्रांस कार्यवाहक दूत से ही कार्य चलता रहा। 2 अक्टूबर, 1974 को संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने दक्षिणी अफ्रीका के प्रत्यय पत्र को अस्वीकार कर दिया था, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका निरन्तर संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की अवहेलना कर रहा था।

## पूर्ण शक्ति-पत्र अथवा पूर्णाधिकार पत्र (Full Powers)

किसी भी राजनयिक प्रतिनिधि के विशेष कार्यवश किसी सम्मेलन में भाग लेने अथवा संधि करने के लिए भेजे जाने पर सरकार अथवा राज्याध्यक्ष द्वारा उसे विशेष अधिकार पत्र दिये जाते हैं, जिन्हें पूर्ण शक्ति पत्र कहते हैं। इस पत्र में राजनयिकों के कार्य और अधिकारों का वर्णन होता है। विशेष दूत अपने प्रत्यय पत्र के साथ पूर्ण अधिकार हेतु एक अन्य पत्र (Letter patent) भी प्रस्तुत करता है। प्रारम्भ में इनकी भाषा लेटिन होती थी, परन्तु आज इनकी भाषा प्रायः अंग्रेजी ही होती है। सम्मेलन के पूर्व इन पत्रों की जांच होती है तथा ये सम्मेलन बुलाने वाले देश की सरकार अथवा सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के पास ही रहते हैं। प्रेषित राज्य अपने राजनयिकों को इन पत्रों के अलावा और भी निर्देश दे सकता है जो लिखत एवं मौखिक, अथवा गुप्त एवं सार्वजनिक दोनों ही हो सकते हैं। प्रायः ये लिखित व गुप्त होते हैं।

### स्वागत समारोह

कोई भी राजदूत सरकारी तौर पर अपने देश का प्रतिनिधि तब तक नहीं बात जब तक कि उसका राजकीय सम्मान के साथ 'स्वागत' नहीं कर लिया जाता। कभी-कभी, अपवाद के रूप में किसी राजदूत के स्वागत और प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने के पूर्व ही उसे कार्य करने की अनुमति दे दी जाती है। 1919 में राष्ट्रपति विल्सन की बीमारी के काल में तीन राजदूतों को 'अस्थायी मान्यता (Provisional recognition)' दे दी गई थी। इन्होंने बाद में ही अपने प्रत्यय पत्र प्रस्तुत किये थे, हालांकि राष्ट्रपति उस समय भी बीमार थे। 1955 में स्थिति उस समय उलझी जब राष्ट्रपति आर्जन्जहोवर बीमार पड़े। इन्होंने बीमारी की हालत में ही पांच राज्यों के राजदूतों—आइसलैंड, लाओस, लेबनान, लक्समबर्ग और पाकिस्तान के प्रत्यय पत्र सैनिक अस्पताल में बिना किसी स्वागत समारोह के स्वीकार कर लिये। इसके पश्चात् फिर उनका कोई विशेष स्वागत समारोह नहीं किया गया, परन्तु बाद में राष्ट्रपति ने 12 राज्यों के राजदूतों को दोपहर के एक विशेष भोज में निमन्त्रित कर उनका स्वागत किया। विभिन्न देशों में प्रोटोकॉल के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न नियम हैं। राजदूत का रेल के स्टेशन अथवा हवाई अड्डे पर प्रोटोकॉल विभाग के विशेष अधिकारियों द्वारा स्वागत किया जाता है। प्रोटोकॉल के नियमों तथा राजनयिक शिष्टाचार के नियम के आधार पर कस्टम अधिकारी आदि राजदूत के सामान की जांच नहीं कर सकते।

स्वीकारी राज्य की राजधानी में पहुंचने पर राजदूत विदेश मन्त्री को अपने पहुंचने की सूचना देर, राज्याध्यक्ष से मिलने और अपने प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने की अनुमति तथा तिथि निश्चित करने का अनुरोध करता है। प्रायः राजदूतों को काफी प्रतीक्षा के पश्चात् ही प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है। भारत के रूस के साथ घनिष्ट मैत्री सम्बन्धों के कारण भारतीय राजदूत डी०पी० धर को मास्को पहुंचने के तीन दिनों के अन्दर ही यह अवसर मिल गया था। यह कहा जाता है कि रूसी नयाचार (Soviet Protocol) में यह एक रिकार्ड है। साथ ही राजनयिक परम्परानुसार दूत का प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने के पूर्व विदेश विभाग सम्मान करता है परन्तु विदेश मन्त्री ग्रोमिको द्वारा धर के साथ 40 मिनट तक व्यक्तिगत वार्ता एक अद्भुत बात मानी थी। प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने के पूर्व राजदूत द्वितीय निकाय के अन्य राजनयिकों, वरिष्ठ राजदूतों व शिरोमणि से भी भेंट कर लेता है। राजनयिक शिष्टाचार की इस परम्परा (making calls) की सभी ने आलोचना की है और उसे पुरावशेष माना है। (Diplomats have called it an "anachronism")। यदि वह सभी पुराने राजदूतों के यहां भेंट की जाये तो किसी भी बड़ी राजधानी में इस काम की पूर्ति में उसे कम से कम एक वर्ष लग जायेगा। अमेरिकी राजदूत गेलबेथ ने इस सम्बन्ध में एक बार व्यंग्य में कहा था कि भले ही यह कार्य कठिन हो, परन्तु यह राजदूत को व्यस्त तो रखता है। राष्ट्रपति कैनेडी को एक पत्र में उसने इस परम्परा को 'समय की बरबादी' (an incredible wast of time) कहा था तथा अपनी डायरी में इसे 'उद्देश्यहीन और निरर्थक; (endless and futile) बताया था।

प्रत्येक देश में राजदूतों, पूर्णाधिकार युक्त मन्त्रियों, असाधारण दूतों तथा अन्य निम्न स्तर के राजदूतों के स्वागत सम्बन्धी भिन्न-भिन्न नियम हैं। राजदूत, पूर्णाधिकार युक्त मन्त्री और असाधारण दूत को प्रोटोकॉल विभाग का वरिष्ठ अधिकारी अपने वाहन में स्वागत कक्ष में ले जाता है, जबकि अन्वॉय आदि को अपने ही वाहन में जाना पड़ता है। प्रायः राजदूत अकेला ही उपस्थित होकर राज्याध्यक्ष के समक्ष अपने प्रत्यय पत्र पेश करता है। 'विधिनायक' (Master of Ceremonies) द्वारा राजदूत का राज्याध्यक्ष से परिचय कराया जाता है। प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने के पूर्व राजदूत अपने भाषण को प्रतिनिधि स्वागतकर्ता देश के विदेश मन्त्री को सूचनार्थ भेज देता है, जिससे कि उसमें आवश्यकता होने पर संशोधन किया जा सके। यह भाषण सामान्य होता है जिसमें एक दूसरे देश की प्रशंसा अथवा सहयोग की सराहना की जाती है। इस भाषण में किसी भी प्रकार की कोई मांग अथवा आपसी मतभेद का वर्णन नहीं होता है। भाषण के पश्चात् अध्यक्ष उसका उत्तर देता है। यह भाषण भी केवल औपचारिक ही होता है। तत्पश्चात् ये अनौपचारिक वार्ता करते हैं। इस समय दूत अपने परिवार का भी परिचय कराता है। प्रत्यय पत्र प्रस्तुतीकरण समारोह के पश्चात् ही माना जाता है कि राजदूत ने अपना कार्यभार संभाल लिया है। एन्वॉय असाधारण और मन्त्री अपने स्वागत समारोह में अकेले हो जाते हैं। ये विदेश मन्त्री के समक्ष प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करते हैं। इस समय कोई भाषण नहीं दिये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में राजदूत, एन्वॉय

आदि में कोई भेद नहीं किया जाता तथा दोनों का ही स्वागत राष्ट्रपति ही समान रूप से करता है। इस प्रकार राजदूत के पहुंचने के काफी समय पश्चात् ही उसका औपचारिक जीवन शुरू होता है।

आधुनिक युग में राजदूत अपने अवकाश ग्रहण कर लेने पर वापसी के पत्र (Letter of Recall) स्वयं ही प्रस्तुत करता है, परन्तु कभी-कभी उसका उत्तराधिकारी भी, अर्थात् नया राजदूत, अपने प्रत्यय पत्र के साथ पूर्व राजदूत के वापसी पत्र भी प्रस्तुत करता है। प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने का समारोह वापसी पत्र प्रस्तुत करने के समारोह से अधिक औपचारिक होता है।

### राजदूत का प्रत्ययीकरण (Accreditation of a Diplomat)

प्रायः राज्य एक राजधानी में एक से अधिक व्यक्ति को प्रत्ययीकरण नहीं करते हैं, परन्तु स्थिति विशेष में कभी-कभी ऐसा किया भी जाता है। युद्ध के काल में तकनीकी, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में राजदूत के साथ-साथ मन्त्रियों की भी नियुक्ति की जाती है। द्वितीय महायुद्ध के काल में वाशिंगटन में ब्रिटेन का एक राजदूत व तीन मन्त्री कार्य करते थे। कई राज्यों में राजदूत व मन्त्री एक साथ कार्य करते हैं, जैसे वाशिंगटन स्थित दूतावास में श्री टी०एन० कौल राजदूत तथा मन्त्री श्री ई० गॉन्सालवेस (E. Gonsalves) थे। एक ही राज्य में एक से अधिक राजदूत नहीं रखा जाता है, परन्तु एक राजदूत एक ही समय में एक से अधिक प्रतिनिधित्व कर सकता है। ऐसा राज्यों की निकटता अथवा मितव्यवता के कारण किया जाता है। वाशिंगटन में भारत के राजदूत मोहम्मद करीम छागला क्यूबा में भी भारत के राजदूत थे। अमेरिका ने एन्थोनी डेवसल बिहल (Antony Dresel Biddle) को एक साथ ही बेलजियम, नीदरलैण्ड, नार्वे और पौलैण्ड की निर्वाचित सरकारों में राजदूत तथा चैकोस्वावाकिया, यूनान, यूगोस्लेविया और लक्समबर्ग की सरकारों में निवास मन्त्री नियुक्त किया था। धनाभाव के कारण ही बंगला देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् बंगाल देश द्वारा लंका में मिशन खोलने के बाद भी श्रीलंका ने ढाका में अपना मिशन नहीं खोला। कभी-कभी समझौते द्वारा कोई राज्य अन्य राज्य के राजदूत को अपने प्रतिनिधि के रूप में भी काम में ले लेता है। 1875 में पीरू राज्य ने संयुक्त राज्य अमेरिका के दूत की सेवा चीन व जापान में अपने प्रतिनिधि के रूप में ली थी।

किसी भी देश में दूतावास का बना रहना परस्पर मधुर सम्बन्धों पर निर्भर करता है। दो राज्यों के मध्य युद्ध की स्थिति में राजनयिक सम्बन्धों के टूट जाने पर किसी अन्य मित्र देश का राजदूत, पर-राज्य के हितों की रक्षार्थ कार्य कर सकता है। 1971 के भारत-पाक युद्ध के पश्चात् पाकिस्तान में भारतीय हितों की रक्षा का कार्य स्विट्जरलैण्ड का राजदूत देखता था।

### विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियां (Privileges and Immunities)

राजनयिक प्रतिनिधि अपने कार्य एवं दायित्वों को सम्पन्न कर सकें, इसलिए उन्हें अनेक विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियां प्रदान की जाती हैं। ये विशेषाधिकार रिवाजी एवं अभिसमयात्मक कानूनों पर आधारित होते हैं। राजदूतों के स्वतंत्र कार्य संचालन के लिए ऐसी व्यवस्था की जाती है ताकि वे अपना पत्र-व्यवहार गुप्त रख सकें और उन पर किसी प्रकार के भय तथा दबाव का प्रयोग नहीं किया जा सके। उन्हें स्वागतकर्ता राज्य के न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य विचारक ओपेन होम के कथनानुसार "राजनयिक प्रतिनिधि राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका गौरव होता है। वे अपने कार्यों को पूरी तरह तभी सम्पन्न कर सकेंगे जब उन्हें विशेषाधिकार सौंपे जायें।" आजकल सामान्यतः निम्नलिखित विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तियों को उचित माना जाता है :-

#### (1) व्यक्तिगत अनतिक्रम्यता (Personal Inviolability)

राजनयिक अभिकर्ताओं को उतना ही पवित्र माना जाता है जितना कि राज्य का अध्यक्ष। अतः उनको अपने शरीर की भी रक्षा की विशेष सुविधा दी जाती है तथा स्वागतकर्ता राज्य के कानूनी क्षेत्राधिकार से अलग रखा जाता है। राजदूत पर किया गया आक्रमण उनके राज्य पर किया गया आक्रमण है जो युद्ध का कारण बन जाता है। अतः उसे विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं। राजदूत को दी गई सुरक्षा अंशतः अथवा पूर्ण नहीं होती। यदि राजनयज्ञ कोई गैर-कानूनी कार्य करे तो स्वागतकर्ता राज्य आत्म-रक्षा के लिए कदम उठा सकता है।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने दूत को शारीरिक क्षति पहुंचाना, मारना अथवा बन्धन में रखना निन्दनीय कार्य बताया है। कौटिल्य के अनुसार दूत चाण्डाल होने पर भी अवध्य है। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया कि दूत को मारने वाला नरक गामी और भ्रूण हत्या के पाप का भागी होता है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून और न्यायालय के निर्णयों द्वारा यह सुस्थापित हो चुका है कि किसी राजदूत को बन्दी बनाना तथा उसका माल जब्त करना अवैध है। यहां तक कि शत्रुराज्य के दूत को हानि पहुंचाना भी उचित नहीं है। यदि उत्तेजना में किसी दूतावास को हानि पहुंचाई जाती है तो सम्बन्धित राज्य को इसका मुआवजा दिया जाना चाहिये।

स्पष्ट है कि दूत की अवध्यता का अर्थ उसे पूर्ण सुरक्षा प्रदान करना है। यह अनतिक्रम्यता है। इसके अनुसार दूत का शरीर इतना पवित्र माना जाता है कि कोई व्यक्ति हिंसा या उपद्रव द्वारा उसकी क्षति नहीं कर सकता। न्यायालय उस पर मुकद्दमा चलाकर दण्डित नहीं कर सकते। दूत के सहयोगी व्यक्तियों और वस्तुओं को सुरक्षा प्रदान की जाती है। उसका परिवार, अनुचर—वर्ग, गाड़ियाँ, पत्र—व्यवहार आदि अनतिक्रम्य समझे जाते हैं। देश का दण्ड विधान उस पर लागू नहीं होता। इस संदर्भ में राजदूत का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह आत्मनियन्त्रण से काम ले और स्वागतकर्ता देश के कानून का आदर करे। लार्ड मेहोन के कथनानुसार “यदि कोई दूत स्वागतकर्ता राज्य की सरकार के विरुद्ध षडयंत्र करता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करता है। उसके विशेषाधिकारों की शर्त यह है कि वह अपने कर्तव्यों की सीमा का उल्लंघन नहीं करे। यदि उसने ऐसा किया तो स्वागतकर्ता राज्य अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सकता है। यदि कोई राजदूत स्वयं ही आग में कूद पड़े तो अनतिक्रम्यता का दावा नहीं कर सकता। यदि वह अनियंत्रित भीड़ में अपने को डाल दे तो उसके अधिकारों की रक्षा नहीं की जा सकती।”

### (2) राज्य क्षेत्र बाह्यता (Extra Territoriality)

राजदूतों एवं उनके परिवार के सभी सदस्यों को स्वागतकर्ता राज्य के बाहर रखा जाता है। उन्हें स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में एक नया विकास है, प्राचीन विचारकों के लिए यह अज्ञात था। पहली बार इसे ग्रीशियस की रचनाओं में स्पष्ट किया गया। प्रो० ओपेनहोम के मतानुसार राज्य—क्षेत्र बाह्यता एक कल्पना मात्र है। क्योंकि राजनयज्ञ यथार्थ में स्वागतकर्ता राज्य के प्रदेश में रहता है। वह राज्य के कानूनी दायित्व से मुक्त नहीं रहता। किन्तु वहाँ के न्यायालय के क्षेत्राधिकार से मुक्त रहता है। अनेक मामलों में यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य—क्षेत्र बाह्यता केवल साहित्यिक अर्थ में महत्व रखती है। 1934 में बर्लिन स्थित अफगान राजदूत की हत्या हो गई। इस मामले में जर्मन न्यायालय ने यह तर्क स्वीकार नहीं किया कि अफगान दूतावास में घटित यह घटना जर्मन प्रदेश से बाहर है।

### (3) निवास स्थान की उन्मुक्ति (Immunity of Domicile)

राजदूत को निवास स्थान सम्बन्धी उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। राज्य की पुलिस, न्यायालय तथा न्यायालय का कोई कर्मचारी इसमें प्रवेश नहीं कर सकता। यदि इस प्रदेश में कोई अपराधी प्रवेश कर जाये तो दूतावास के अधिकारियों का कर्तव्य है कि वे उस राज्य को सौंप दें। अपने इस विशेषाधिकार का दुरुपयोग करके दूतावास अपराधियों के अड्डे नहीं बन सकते। ऐसा होने पर राज्य आवश्यक कदम उठा सकता है। घुड़साल एवं मोटर गैरिज को निवास—स्थान का भाग माना जाता है। निवास—स्थान में राज्य के अधिकारियों का प्रवेश दूतावास के अधिकारी की अनुमति से ही होता है। अनेक बार दूतावास शरण पाने के इच्छुक अपराधियों को शरणदान देता है। यदि राज्य न्यायिक कार्यवाही के लिए उस अपराधी की मांग करे तो दूतावास को उसे सौंपने का कर्तव्य है। यदि राजदूत ऐसा न करे तो स्वागतकर्ता राज्य उसे शारीरिक क्षति पहुंचाने के अतिरिक्त कोई भी कदम उठा सकता है।

### (4) विदेशी दूतावास में शरणदान (Asylum in Foreign Legations)

दूतावास में राजनीतिक अपराधियों को शरण देने के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में अलग—अलग व्यवस्थाएँ हैं। प्रारम्भ में अधिकांश राज्यों के दूतावासों में ऐसे शरणदान की परम्परा थी। आजकल यह केवल दक्षिण अमेरिका के राज्यों में है। दूसरे राज्यों में दूतावासों का यह विशेषाधिकार नहीं है कि वे अपनी इमारतों में राजनीतिक अपराधियों को शरण दे सकें। यदि राजदूत ऐसा करे तो स्थानीय सरकार शक्ति का प्रयोग करके अपराधी को पकड़ सकती है। मानवीय दृष्टि से ऐसे लोगों को दूतावास में शरण दी जा सकती है जो उत्तेजित भीड़ या गैर—कानूनी कार्य करने वालों के आक्रमण से भयभीत हो।

### (5) फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति (Exemption from Criminal Jurisdiction)

राजनीतिक अभिकर्ताओं को स्वागतकर्ता राज्य के फौजदारी क्षेत्राधिकार से पूर्ण उन्मुक्ति प्रदान की जाती है। कानून और व्यवस्था के नाम पर उनको बन्दी नहीं बनाया जा सकता। पुलिस द्वारा इन्हें पकड़ कर मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता। इनसे यह आशा की जाती है कि अपराध न करें और स्वागतकर्ता राज्य के कानून की स्वेच्छा से पालन करे। ऐसा न करने पर उन्हें प्रेषक राज्य को वापिस भेजने तथा उनके देश में दण्ड देने की व्यवस्था की जा सकती है। राजा या राज्य के विरुद्ध षडयन्त्र में शामिल होने वाले दूतों को प्रायः स्वदेश वापिस जाने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

### (6) दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति (Exemption from Civil Jurisdiction)

दूतावास के सदस्यों पर कोई दीवानी कार्यवाही नहीं की जा सकती। उन्हें ऋण न चुकाने पर बन्दी नहीं बनाया जा सकता और न ही उनकी गाड़ियों, घोड़ों तथा साज—सामान को जब्त किया जा सकता है। ग्रीशियस का कहना था कि “राजदूत की व्यक्तिगत सम्पत्ति न्यायालय या सम्प्रभु राजा के आदेशों से ऋणों की अदायगी या सुरक्षा के लिए जब्त नहीं की जा सकती।” यह विशेषाधिकार

राजदूत को चिन्तामुक्त रहकर कार्य करने के लिए दिया जाता है। ग्रेट-ब्रिटेन में 1708 में एक कानून बनाया गया जिसके अनुसार यदि राजदूत कर्ज अदा नहीं करता तो उसके विरुद्ध सम्मन जारी नहीं किया जा सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस के कानून द्वारा राजदूत के विरुद्ध की गई कार्यवाही को असंवैधानिक घोषित किया गया है। दीवानी क्षेत्राधिकार से मुक्ति के कुछ अपवाद भी हैं।

#### (7) गवाही देने के कार्य से उन्मुक्ति (Exemption from Witnessing)

राजदूत को किसी मामले में गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। उसे गवाही के लिए न तो किसी न्यायालय में बुलाया जा सकता है और न ही घर जाकर कोई अधिकारी उसकी गवाही ले सकता है। यदि वह स्वयं गवाही देने के लिए राजी जो तो न्यायालय उसके प्रमाण का लाभ उठा सकते हैं। 1881 में अमेरिकी राष्ट्रपति गोरफील्ड की हत्या के समय बनेजुएला का राजदूत वहां उपस्थित था। वह अपनी सरकार से अनुमति प्राप्त करके गवाह बन गया। राजदूत चाहे तो गवाही देने की प्रार्थना को टुकरा सकता है। 1856 में हालैण्ड के राजदूत ने एक नर हत्या का काण्ड देखा था किन्तु अदालत में इसकी गवाही देने से मना कर दिया।

#### (8) पुलिस से उन्मुक्ति (Exemption from Police)

राजदूत को स्वागतकर्ता राज्य की पुलिस से अलग रखा जाता है। वहां की पुलिस के आदेश एवं नियमन उस पर बाध्यकारी नहीं होते। दूसरी ओर जिन विषयों पर पुलिस नियंत्रण रखती है उन पर राजदूत मनमानी नहीं कर सकता। यह आशा की जाती है कि राजदूत उन सभी आज्ञाओं एवं नियमों का पालन करेगा जो उसके मार्ग में बाधक नहीं हैं और समाज की सामान्य सुरक्षा एवं व्यवस्था के लिए उपयोगी है। यदि राजदूत ऐसा न करे तो प्रेषक सरकार को उसे वापिस बुलाने की प्रार्थना की जा सकती है।

#### (9) करों से उन्मुक्ति (Exemption from Taxes)

राजनयिक विशेषाधिकार का सबसे उत्कृष्ट अधिकार करों से उन्मुक्ति है। प्रेषित राज्य के अध्यक्ष के प्रतिनिधि होने के आधार पर राजनयिक सभी प्रकार के करों से मुक्त होता है। थेयर का मत है कि "राजनयिक अधिकारों में सबसे प्रिय अधिकार करों से स्वतन्त्रता है।" इसी प्रकार हॉल का भी मत है कि "राजनयिक अभिकर्ता स्वयं, उसकी व्यक्तिगत वस्तुएं तथा वह सम्पत्ति जो उसके प्रभु के प्रतिनिधि के रूप में उसकी है, कर मुक्त है।" 1928 के पान अमेरिकन कन्वेंशन की धारा 18 द्वारा राजनयिकों को करों से उन्मुक्ति दी गई है। इस धारा के अनुसार "राजनयिक अधिकारीगण उस राज्य में जहां से प्रत्यापित हैं, करों से मुक्त होंगे—(1) सभी व्यक्तिगत कर, चाहे वे राष्ट्रीय हों या स्थानीय (2) सभी राजदूतावास की उन इमारतों पर लागू होने वाले भूमि कर, जो उनकी अपनी सरकार की सम्पत्ति हो, उन वस्तुओं पर सीमा शुल्क जो राजदूतावास में सरकारी उपयोग में अथवा राजनयिक अधिकारी से व्यक्तिगत या उसके परिवार के उपयोग में आने वाली हों।" 1961 से 1963 के वियाना सम्मेलनों की धारा 34 और धारा 49 और 50 में भी राजनयिक अभिकर्ताओं की करों से उन्मुक्ति का वर्णन है।

साधारणतः राजनयिक सीमा कर, मोटर कर, आयकर, स्थानीय कर, रेडियो शुल्क आदि से उन्मुक्ति होती है। कुछ देशों में राजनयिकों को नगरपालिका सम्बन्धी कर—सफाई, रोशी, पानी आदि—अवश्य देने पड़ते हैं। इस प्रकार राजनयिक राष्ट्रीय, प्रान्तीय, क्षेत्रीय अथवा स्थानीय करों तथा सीमा करों से मुक्त होते हैं। सीमा करों के सम्बन्ध में वाटल का मत है कि राजदूत को इससे कोई छूट नहीं होनी चाहिये क्योंकि इस कर का उसके कार्य भार से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु वाटल इस मत से सहमत हैं कि राजदूत को सभी प्रकार के करों से निश्चित ही स्वतन्त्र होना चाहिये। सीमा करों से सम्बन्धित एक अपवाद यह है कि यदि सीमा अधिकारी यह अनुभव करे कि राजदूत द्वारा आयातित वस्तुओं में कोई अनियमितता है तो वे राजनयिक अधिकारों और उन्मुक्तियों को परे हटाकर राजदूत के समान का निरीक्षण कर सकते हैं जैसे कि 1905 में संयुक्त राज्य अमेरिका के राजदूत हैनरी व्हाइट के सामान का आस्ट्रियन सीमा अधिकारियों ने निरीक्षण किया था।

#### (10) धार्मिक अधिकार (Right of Chapel)

राजनयिकों को अपने धर्म के मानने व पूजा करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस हेतु यदि वे चाहें तो अपने निवास में पूजा गृह स्थापित कर सकते हैं तथा धर्म पुरोहितों को अपने साथ ले जा सकते हैं। इन धर्म पुरोहितों को भी राजनयिकों की भांति सभी उन्मुक्तियां एवं अधिकार प्राप्त हैं। इन पूजा गृहों में राजदूत के देश के अन्य निवासी भी पूजा में शामिल हो सकते हैं। जहाँ दूतों को इस प्रकार की धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है, वहां उन पर कुछ नियन्त्रण भी हैं। ऐसे स्थानों पर गिरजे या मन्दिर के घंटे नहीं बजाये जा सकते। धार्मिक स्थान बाहर से ऐसा नहीं दिखे कि वह पूजा गृह है तथा पूजा की भाषा स्वीकारी देश की ही हो। 1846 में प्रशा के पूजा गृह की भाषा इतावली नहीं होने पर पोप ने ये निर्देश दिया था कि पूजा की भाषा बदली जाये। धार्मिक स्वतन्त्रता के प्रयोग पर नियन्त्रण का एक उदाहरण उस समय का है जब फिलिप द्वितीय ने रानी ऐलिजाबेथ के लेगेशनवासियों को धार्मिक स्वतन्त्रता

का यह अधिकार नहीं दिया था। अन्यथा मध्य युग से राजदूत, उसके परिवार, उसके कर्मचारियों तथा उसके देशवासियों को दूतावास में धर्म तथा पूजा के पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं।

### (11) पत्राचार की स्वतन्त्रता (Freedom of Communication)

अपने कर्तव्य की पूर्ति हेतु राजनयिकों को अपने देश की सरकार के साथ पत्राचार की पूर्ण स्वतन्त्रता है। सामान्यतया शान्ति काल में इस नियम का अतिक्रमण नहीं होता है। राजनयिक पत्राचार का सील बन्द दूतावास प्रेष (Diplomatic Bag) खोला नहीं जा सकता। वे व्यक्ति हो सन्देशवाहक (messengers and couriers) का काम करते हैं, किसी भी प्रकार के स्थानीय नियमों के अन्तर्गत नहीं आते। कभी-कभी सील बन्द दूतावास प्रेष में घड़ी, कैमरे आदि अन्य बहुमूल्य वस्तुएं ले जाकर पत्राचार की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग भी किया जाता है इसलिए सन्देश होने पर पत्राचार की स्वतन्त्रता के अधिकारी के विरुद्ध स्वीकारी राज्य दूतावास प्रेष को खोल लेते हैं। अक्टूबर, 1976 में उत्तरी कोरिया की सरकार ने अपने राजदूत और कई अन्य राजनयिक अभिकर्ताओं को प्योनग्यांग वापिस बुला लिया क्योंकि स्वीडन सरकार ने उन पर आरोप लगाया था कि उन्होंने दूतावास प्रेष के जरिये चीजें भेजने का धंधा कर रखा था। डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन की भांति, फिनलैंड की सरकार ने भी चार राजनयिक अभिकर्ताओं को देश छोड़कर जाने की आज्ञा दी थी। 1977 में कीनिया उच्चायुक्त के तीन राजनयिक अभिकर्ताओं के सामान की जांच होने पर सात लाख से ऊपर की घड़ियां निकलीं। राजनयिक उन्मुक्ति के कारण उन्हें छोड़ देना पड़ा। बाद में उन्हें देश छोड़ कर जाना पड़ा। छोटे-बड़े सभी राज्य दूतावास प्रेष का दुरुपयोग करते हैं। इस सम्बन्ध में (दिसम्बर, 1971 को) एक गोष्ठी में यह खुलकर आरोप लगाया गया था कि राजदूत प्रायः दूतावास प्रेष में पुरानी मूर्तियां व चित्र आदि की चोरी कर अपने देश भेजते हैं। न्यूयार्क टाइम्स की एक रिपोर्ट के अनुसार राष्ट्रीय सुरक्षा (National Security) का बहाना बनाकर दो अमरीकी संस्थाओं (FBI and CIA) ने 1958 से लेकर 1971 तक दूतावास प्रेषों को खोलकर रूस तथा पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशों के पत्राचार का खुला अध्ययन किया था। ऐसा करने के लिए उनके पास कोई कानूनी आज्ञा नहीं थी, परन्तु राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर यह सब कुछ होता रहा। रॉकफेलर कमीशन ने भी इस मत की पुष्टि की थी। इस सन्दर्भ में भारत सरकार ने कुछ विदेशी राजदूतों को दूतावास में चोरी का माल ले जाने के आरोप में पकड़ा तथा भारत के कड़ा विरोध प्रकट करने पर उन्हें देश छोड़कर जाना पड़ा। संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने आप ही द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने पर राजनयिक पत्राचार के युद्ध के सन्दर्भ में कुछ नियमों का निर्माण किया था जिससे पत्राचार की स्वतन्त्रता बनी रहे।

### (12) व्यावसायिक कार्य (Business Activities)

कुछ लेखकों के मतानुसार राजदूतों को व्यापारिक कार्यों की उन्मुक्ति नहीं देनी चाहिये। यदि राजदूत के पास उसके कार्यालय और निवास के अतिरिक्त कोई वास्तविक सम्पत्ति है तो इस पर कर लगाया जा सकता है। एक राजदूत द्वारा निजी व्यवसाय किए जाने पर अभियोग चलाया जा सकता है। अनेक विचारक इस मत का समर्थन करते हैं। किन्तु समस्या यह है कि राजदूत की व्यक्तिगत सम्पत्ति और उन्मुक्ति से युक्त सम्पत्ति के बीच अन्तर किस प्रकार किया जाये।

### (13) अनुचर वर्ग के लिए उन्मुक्तियां (Immunities for Retinue)

राजदूत को जो विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं वे एक सीमा तक उसके अनुचर वर्ग को भी प्राप्त होते हैं। इनमें दूतावास में काम करने वाले कर्मचारी, दूत के व्यक्तिगत सेवक, उसके पारिवारिक-जन तथा नौकर-चाकर शामिल हैं। राजदूत द्वारा अपने अनुचर-वर्ग की पूरी सूची स्वागतकर्ता राज्य के विदेश मंत्रालय को सौंपी जाती है। इस सूची के अलावा किसी अन्य व्यक्ति को राजनयिक विशेषाधिकार नहीं दिया जाता।

राजदूत की पत्नी को उक्त सभी विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। यदि राजदूत चाहे तो उसके पारिवारिक सदस्यों के विशेषाधिकारों को हटाया भी जा सकता है। दूतावास में काम करने वाले कर्मचारी, परामर्शदाता, सचिव तथा सहचारी इत्यादि को दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान की जाती है। राजदूत के निजी नौकरों के सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित नियम नहीं है किन्तु उन्हें प्रायः दीवानी उन्मुक्ति प्राप्त होती है और फौजदारी उन्मुक्ति सीमित है। राजदूत के सन्देशवाहकों को पूर्ण दीवानी और फौजदारी उन्मुक्ति प्रदान की जाती है।

### राजनयिक निकाय (The Diplomatic Body)

किसी भी राज्य की राजधानी में स्थित सभी राजनयिक अभिकर्ताओं का सामूहिक नाम राजनयिक निकाय (Diplomatic Body) है। इसके अन्तर्गत राजधानी में स्थित समस्त राज्यों के दूतावास के कर्मचारी, उनकी पत्नियां उनकी वयस्क पुत्रियां आती हैं। इस निकाय का नेतृत्व, प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने की तिथि के आधार पर सबसे वरिष्ठ राजनयिक करता है, जिसे दूत शिरोमणि-डॉयन (Doyen)

कहते हैं। इसे राजनयिक निकाय का अधिष्ठाता (Dean of the Diplomatic Body) भी कहते हैं। कैथोलिक देशों में यह नेतृत्व प्रायः पोप के राजदूत नन्सियों को ही दिया जाता है, चाहे उसके प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने की कोई भी तिथि क्यों न हो। दूत शिरोमणि के कार्य सीमित हैं। वह अपने साथियों की स्वीकृति से उनके प्रवक्ता के रूप में कार्य करता है। सामान्य रूप से वह सूचनाओं के आदान-प्रदान का कार्य करता है। वह राजनयिक अधिकारों तथा उन्मुक्तियों का रक्षक होता है। कभी-कभी वह राजनयिक अभिकर्ताओं की संयुक्त बैठक भी बुलाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर सम्मिलित कार्यवाही भी करता है। वह सामान्य स्थानीय मामलों से भले ही सम्बन्धित हो, परन्तु राजनीतिक-राजनयिक मामलों में दूत शिरोमणि कभी भी सम्मिलित कार्यवाही में भाग नहीं लेता है। दूत शिरोमणि के प्रभावकारी तथा सम्मानीय पद तथा इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के कारण कई बार छोटे-छोटे राज्य अपने दूत को लम्बी अवधि तक एक ही राजधानी में इसलिए रखते हैं जिससे कि छोटा देश होते हुए भी उसका दूत, दूत शिरोमणि बन सके। 1970 में वाशिंगटन में निकारागुआ का राजदूत, दूत शिरोमणि था क्योंकि वहाँ 27 वर्षों से दूत का कार्य कर रहा था। इसी प्रकार 1972 में लन्दन में लक्समबर्ग का राजदूत, दूत-शिरोमणि था क्योंकि वह वहाँ 17 वर्षों से था।

दूत शिरोमणि की पत्नी को डॉयनी (Doynee) कहा जाता है। इसका प्रमुख कार्य राजनयिकों की पत्नियों को दरबार में प्रस्तुत करना होता है। सेटो के अनुसार नीदरलैण्ड में नये आये राजनयिकों की पत्नियों के साथ विदेश मन्त्री की पत्नी के घर शिष्टाचार के नाते डायनी साथ जाती है।

### नयाचार (प्रोटोकॉल) (Protocol)

भले राजदूतों पर स्वीकारी देश के नियम लागू नहीं होते हैं, फिर भी उसके द्वारा निर्मित आत्म नियन्त्रण के कुछ नियम होते हैं, जिन्हें प्रोटोकॉल के नियम कहा जाता है। ये नियम सामाजिक शिष्टाचार तथा राजदूत के स्थान और उसके व्यवहार आदि से सम्बन्धित होते हैं। वास्तव में ये अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक खेल के नियम हैं। ये राजदूत को बताते हैं कि उसे कहां बैठना है, क्या पहनना है तथा कैसा व्यवहार करना है। इस प्रकार के नयाचार का उद्देश्य राजनयिक कार्य को व्यवस्थित ढंग से चलाना है। इनके अभाव में चारों ओर अव्यवस्था फैल जायेगी। ऐसी अव्यवस्था की स्थिति में राजदूत का अपमान, उसके राज्य का अपमान होगा, यह सामान्यतः माना जाता है। इसी कारण नयाचार का राजनीतिक महत्व है। नयाचार का सर्वोच्च नियम अग्रत्व से सम्बन्धित माना जाता है।

### अग्रत्व का नियम (Principle of Precedence)

प्राचीन राजनय के काल में अग्रत्व का प्रश्न को भी देश महत्त्व देते थे। उनका यह विश्वास था कि किसी भी देश की महत्ता उसकी अग्रता के आधार पर होती है। अतः वे अग्रता प्राप्ति में निरन्तर लगे रहते थे। राजनय के प्रारम्भिक काल से ही राजदूत के स्थान के सम्बन्ध में एक मत नहीं रहा है। अग्रत्व के प्रश्न को लेकर समय-समय पर झगड़े होते रहे हैं। विभिन्न शासकों की भांति राजनयिकों में भी अग्रत्व के लिए प्रतिस्पर्धा रहती थी। यह स्पर्धा कभी द्वन्द्व युद्ध, तो कभी राज्यों के मध्य कटु सम्बन्ध, तो कभी राज्यों के मध्य युद्ध के रूप में भी प्रकट होती थी। इन संघर्षों का कारण यह था कि प्रत्येक राजदूत, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अपने राज्य तथा राज्याध्यक्ष के उत्कर्ष और गौरव का प्रतीक समझा जाता था। ऐसी स्थिति में, किसी राजदूत का स्थान निम्न होना उस राज्य तथा राज्याध्यक्ष का अपमान समझा जाता था। प्राचीन काल में अग्रत्व का प्रश्न राज्य की शक्ति के आधार पर तय कर लिया जाता था। इसके अन्तर्गत सर्वोच्च शक्तिशाली राजा के दूत का प्रथम, उससे कम शक्तिशाली का द्वितीय, और इसी में से सबसे निम्न शक्ति के राजदूत का स्थान सबसे अन्त में होता था। आभासित रूप से यह नियम अच्छा था, परन्तु इसका क्रियात्मक स्वरूप कठिन था, क्योंकि किसी लिखित नियम के अभाव में किसी राज्य की तुलनात्मक शक्ति का मूल्यांकन करना असम्भव था। यही कारण है कि अग्रत्व अथवा पूर्ववर्तिता के प्रश्न को लेकर समय-समय पर राजदूतों के मध्य झगड़े होते रहे हैं। वियाना रेगलमेन्ट की धारा 4 के अनुसार राजदूत का क्रम, पर-राज्य में पहुंचने को घोषित सरकारी तिथि से तय किया जाता है। कभी-कभी यह क्रम उसके प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने की तिथि से भी निश्चित किया जाता है। राजदूत चाहे महाशक्ति का ही प्रतिनिधि क्यों न हो, परन्तु छोटे से छोटे राज्य के राजदूत ने भी यदि प्रत्यय पत्र पहले प्रस्तुत किया है तो वह महाशक्ति के राजदूत से वरिष्ठ होगा। किसी राजा अथवा सम्राट की मृत्यु के कारण जो नये प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने पड़ते हैं; उससे राजनयिक वरिष्ठता में कोई अन्तर नहीं आता।

राजनय के प्रारम्भिक काल में अग्रत्व के नियमों के निधारित करने का अधिकार पोप अपने अधिकार में मानता था। पोप जूलियस द्वितीय के काल में 1504 के स्मृति पत्र (Memoir) में 28 यूरोपीय राज्यों के अग्रत्व की एक सूची बनाई गई थी, जिसमें पोप तथा पवित्र रोमन सम्राट का प्रथम व द्वितीय स्थान रखा गया था। इसके पश्चात् उसका युवराज, तत्पश्चात्, फ्रांस, स्पेन, अरागॉन और पुर्तगाल के राजा आते थे। ग्रेट ब्रिटेन का छठा स्थान था। किन्तु इन निर्णय के व्यापक विरोध के कारण यह व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकी। इस बीच कई और प्रस्तावों पर विचार किया गया और अन्त में यह निर्णय लिया गया कि राज्य की प्राचीनता

के आधार पर क्रम निश्चित किया जावे। इस आधार पर 19 राज्यों की एक सूची बनाई गई, परन्तु यह योजना भी असन्तोषजनक लगी। स्पेन और फ्रांस के मध्य अग्रत्व क प्रश्न पर कटु संघर्ष था। फ्रांसीसी राजदूतों को निर्देश था कि वे किसी भी परिस्थिति में, स्पेन के राजदूत को प्राथमिकता नहीं प्राप्त करने दें। पोप पायस चतुर्थ (Pope Pius IV) ने 1564 में फ्रांस व स्पेन के राजदूतों के मध्य अग्रत्व के प्रश्न पर फ्रांस के पक्ष में निर्णय किया। स्पेन द्वारा इस निर्णय से असन्तुष्ट होने के कारण 1633 में क्रिश्चियन चतुर्थ के पुत्र के विवाह के अवसर पर दोनों राज्यों के राजनयिकों के मध्य झगड़ा हो गया। फ्रांस के राजदूत ने उस समय घोषित किया कि "मैं स्पेन के दूत को उसकी इच्छा का सर्वोच्च सम्मानीय स्थान लेने दूंगा और जब वह यह स्थान लेगा तो उसे हटा कर मैं वहां बैठ जाऊंगा।" स्पेन और फ्रांस के राजदूतों के मध्य एक विकट परिस्थिति उस समय आयी जब 1659 में हेग स्थित फ्रांस के दूत डी थो (De Thou) और स्पेन के दूत डॉन डी गमारा (Don Estehen De Gamarra) की गाड़ियाँ विरोधी दिशा में आते हुस हेग की एक संकरी गली में फंस गईं। चूँकि दोनों ही अपनी गाड़ियाँ पीछे हटाने तो तैयार नहीं थे, अतः एक अहाते को तोड़ कर उस स्थान पर रास्ता चौड़ा किया गया, तत्पश्चात् दोनों गाड़ियाँ एक साथ गुजरीं। 30 सितम्बर, 1961 को लन्दन में हुए ऐसे ही एक झगड़े का सेटो रोचक वर्णन देता है। इसके अनुसार, स्वीडन के राजदूत के स्वागत समारोह के अवसर पर, जुलूस में, वाहन के अग्रत्व के प्रश्न को लेकर उन दोनों देशों के सेवकों के मध्य तलवारें खिंच गईं। फ्रांस के राजदूत एस्ट्रेडस (Count d' Estrade) के साथ 150 सेवक थे जिसमें से 40 सशस्त्र थे। स्पेन के राजदूत वतेवाइल (de Watteville) के साथ 40 सशस्त्र सेवक थे। इस संघर्ष में फ्रांस के दूत को पीछे हटना पड़ा। फ्रांस के सम्राट लूई चौदहवें ने जब यह घटना सुनी तो उसने स्पेन के शासक को विरोध पत्र भेजा, उस देश के साथ राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिये तथा दोनों देशों के मध्य युद्ध तक की सम्भावना आ गई। यह मामला उस समय शान्त हुआ जब स्पेन के शासक फिलिप चतुर्थ ने फ्रांस को सन्तुष्ट करने के बलए क्षमा याचना की, फ्रांस के अग्रत्व को स्वीकार कर लिया तथा वायदा किया कि भविष्य में स्पेन, फ्रांस के अग्रत्व को कभी चुनौती नहीं देगा। रूसी और फ्रांसीसी राजदूतों के मध्य भी ऐसी ही प्रतिस्पर्धा थी। इन दोनों देशों के राजदूतों का आज्ञा थी कि वे प्रत्येक स्थिति में एक-दूसरे से आगे रहेंगे। 1768 में लन्दन राज्य दरबार में एक नृत्य समारोह के अवसर पर दोनों देशों के राजदूतों के मध्य पूर्ववर्तिता के प्रश्न को लेकर झगड़ा हो गया। रूसी दूत के पहिले आने पर वह पवित्र रोमन सम्राट (Holy Roman Emperor) के दूत को बगल में बैठ गया। इसके पश्चात् फ्रांसीसी राजदूत आया और वह पीछे की कुर्सी पर से खड़ा होकर जबरदस्ती दोनों के बीच कूद कर बैठ गया। इस पर दोनों राजदूतों के मध्य द्वन्द्व हुआ, जिसमें रूसी दूत घायल हो गया।

1815 की वियाना कांग्रेस के समय नियुक्त एक समिति ने, राजनयिकों के स्थान को निश्चित करने के लिये, दो माह के विचार-विमर्श के पश्चात् कुछ विशेष निर्णय लिये। धारा-4 के अन्तर्गत यह तय किया गया कि किसी भी राजनयिक का स्थान पर-राज्य में पहुंचने की सरकारी घोषणा की तिथि से तय किया जायेगा। इस प्रकार वह राजदूत जो किसी राजधानी में सबसे अधिक समय से रह रहा है, वह सबसे वरिष्ठ माना जायेगा। इस नियम के अपवाद में पोपीय राजदूत कैथोलिक देशों में, राजनयिक निकाय का दूत शिरोमणि माना जाता है। इस कांग्रेस के निर्णयों में धारा 3 के अन्तर्गत यह बताया गया है कि किसी विशेष मिशन के सदस्यों को दूसरे नियमित राजदूतों के ऊपर स्थान नहीं दिया जायेगा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक पोप तथा महाशक्तियों के दूत को प्राप्त होने वाला अग्रत्व समाप्त हो गया। इसके पश्चात् अग्रत्व का निर्णय प्रत्यय पत्र प्रस्तुत करने की तिथि के आधार पर तय किया जाने लगा। ब्रिटेन के राजा जार्ज षष्ठम् ने राज्याभिषेक समारोह में तिथि का ही ध्यान रखा गया था। समारोह के पूर्व जर्मनी ने यह जान कर तिथि के आधार पर उसके प्रतिनिधि को काफी नीचा स्थान मिलेगा अपने विशेष दूत फील्ड मार्श वॉन ब्लोमबर्ग (Field Marshall Von Blomberg) को राज्यभिषेक में भाग लेने से मना कर दिया। बाद में बहुत कुछ अनुनय के पश्चात् जर्मनी राज्यभिषेक में भाग लेने को राजी हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि को तिथि के अनुसार जार्ज षष्ठम् के मृत्यु समारोह में काफी निम्न स्थान मिला था।

1815 व 1818 में दूतों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में लिये गये निर्णयों के पुनर्मूल्यांकन के लिए 1927 में विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की गई, उक्त समिति ने 1928 में विभिन्न राज्यों से प्राप्त सुझावों के आधार पर परामर्श दिया कि 1815 व 1818 में लिये गये निर्णयों में संशोधन की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार हवाना में हुए पान अमेरिकन कन्वेंशन (Pan American Convention at Havanna) ने भी संशोधन के लिए मना कर दिया। 1961 के वियाना कन्वेंशन की धारा 16 व 17 के द्वारा अग्रत्व के निश्चित नियमों का निर्माण कर दिया गया है।

धारा 16 - (1) दूतों के प्रमुख, धारा-13 के अनुसार, अपने कार्यभार ग्रहण करने के दिनांक तथा समय के क्रम से अपने-अपने वर्गों में अग्रत्व ग्रहण करेंगे।

(2) दूतावास के प्रमुख के प्रत्यय पत्र में हुए ऐसे परिवर्तन, जिनसे उसकी श्रेणी में कोई अन्तर नहीं पड़ता हो, उसके अग्रत्व पर कोई प्रभाव नहीं डालेगा।



(3) इस धारा का कोई भी प्रतिकूल प्रभाव स्वागतकर्ता राज्य के द्वारा स्वीकृत उस पद्धति पर नहीं पड़ेगा जो पोप को प्रतिनिधि के अग्रत्व के सम्बन्ध में हो।

धारा 17 - दूतावास के राजनयिक अभिकर्ताओं का अग्रत्व दूतावास के प्रमुख द्वारा विदेश मन्त्रालय अथवा अन्य किसी ऐसे मन्त्रालय को जैसा कि स्वीकृति हो जाये, विज्ञापित किया जायेगा। अग्रत्व के प्रश्न से जनित प्रत्येक विवाद में अन्तिम निर्णय स्वागतकर्ता राज्य का होता है।

### राजनयिकों पर प्रतिबन्ध

जहाँ राजनयिकों को विशेष सुविधायें, अधिकार तथा उन्मुक्तियां प्राप्त हैं, वहीं उनके कुछ कर्तव्य भी हैं, जिन्हें निषेधाज्ञा अथवा प्रतिबन्ध के रूप में उन पर लागू किया जाता है। स्मरणीय है कि ये प्रतिबन्ध राजनयिक अधिकारों का हनन नहीं, वरन् उन्हें और भी सुदृढ़ बनाते हैं। राजनयिक शिष्टाचार यह अपेक्षा करता है कि राजनयिक अभिकर्ता ऐसा कोई कार्य नहीं करेगा, जो कि उच्च कोटि का न हो। 1928 के हवाना कन्वेंशन को दृष्टिगत रखते हुए 1940 के हवाना के विदेश मन्त्री सम्मेलन में पास किये गये एक प्रस्ताव (Norms concerning Diplomatic and Consular Functions) द्वारा राजनयिकों के लिये कुछ निषेधात्मक परामर्श दिये गये हैं। इसके अन्तर्गत उन्हें निर्देश हैं कि वे देश की आन्तरिक राजनीति जैसे व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, दलीय राजनीति तथा किसी भी प्रकार की विवादास्पद समस्याओं में हस्तक्षेप न करें, उनको प्रदत्त अधिकार व उन्मुक्तियों का दुरुपयोग नहीं करें, और स्वागतकर्ता राज्य के साथ हुए पत्राचार को उनकी पूर्व अनुमति बिना प्रकाशित न करे। वियाना अभिसमय की धारा 41 में राजनयिक अभिकर्ताओं से अपेक्षित है कि वे स्वीकारी राज्य के कानूनों का आदर करेंगे, उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करेंगे और स्वीकारी राज्य की सम्प्रभुता का आदर करेंगे।

प्राचीन काल में ही राजदूतों की नियुक्ति के साथ ही, मानव प्रकृति के आधार पर, इन्हें स्वीकारी राज्य में घूस आदि दी जाने लगी थी, परन्तु प्राचीन काल से ही राजनयिक अभिकर्ताओं को किसी भी प्रकार के उपहार आदि लेने का निषेध है। ऐथेन्स के राजदूत टिमागोरस का, पर-राज्य के शासक अर्ताकजेरीज (Artaxerxes) से उपहार लेने के कारण वध करा दिया गया था। ब्रिटेन की रानी ऐलीजाबेथ प्रथम ने अपने दो राजदूतों को अलंकार स्वीकार करने के अपराध में पदमुक्त कर बन्दी बना दिया था। जार्ज तृतीय ने एक बार कहा था कि "मेरा कुत्ता मेरे ही पट्टे पहनेगा" अर्थात् एक देश का राजनयिक दूसरे देश के अलंकार आदि ग्रहण नहीं करेगा। स्वीकारी राज्यों ने उपहारों पर प्रतिबन्धों के पश्चात् राजदूतों को अपने देश के पदक देने शुरू कर दिये। इस व्यवस्था के निषेध स्वरूप यह सामान्य नियम बन गया है कि कोई भी राजदूत गृह सरकार की अनुमति बिना, किसी भी प्रकार के विदेशी पदक स्वीकार नहीं कर सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की धारा एक, उपधारा 9 में इसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाया गया है। कभी-कभी कोई प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति अथवा राजा या सम्राट खुश होकर कोई साधारण-सा उपहार जैसे सिगरेट लाइटर, कलम, सिगरेट केस आदि दे सकते हैं, परन्तु 3000 डालर की कीमती मोटर, जो सऊदी अरेबिया के राजा ने उप-प्रोटोकॉल अफसर की पत्नी को दी, वह वर्जित है।

### राजप्रश्रय (Right of Asylum)

किसी भी विदेश को किसी अन्य राज्य में प्राप्त हुई राजनीतिक शरण के अधिकार को शरणागत अधिकार कहते हैं। इस अधिकार के अन्तर्गत मान्यता यह है कि किसी भी विदेशी को अस्थायी शरण दी जा सकती है। इस प्रथा का प्रथम प्रयोग 1979 की फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के दौरान हुआ होगा। बाद में राज्य सरकारों ने आपसी समझौतों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा इसे स्वीकार किया। शरणागत अधिकार की स्वीकृति का विकास धीरे-धीरे हुआ है। 1889 में मान्टिवीडो के पाँच देशों के पान अमेरिकन सम्मेलन ने शरण देने के अधिकार को स्वीकार किया था। शरण देने वाले राज्य से अपेक्षा की गई थी कि वह शरण लेने वाले के राज्य को इसकी तुरन्त सूचना देकर शरणागत को यथाशीघ्र देश से बाहर भेज देगा। 1928 के बीस देशीय हवाना कन्वेंशन, 1933 के मान्टिवीडो सम्मेलन तथा 1954 के करेकस सम्मेलन (Inter American Conference at Caracas, 1954) ने इस अधिकार को स्वीकार किया था। 1961 व 1963 के वियाना सम्मेलनों में राजप्रश्रय का वर्णन नहीं है। संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा द्वारा स्वीकृत मानव अधिकारों (Universal Declaration of Human Rights) के चार्टर में राजप्रश्रय का वर्णन उपलब्ध है। इसके अन्तर्गत साधारण अपराध अथवा सजा से भागे व्यक्तियों को शरण नहीं दी जाती है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा शरण ले लेने के बाद भी शरण देने वाले दूतावास से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसे व्यक्ति को तुरन्त स्वीकारी राज्य को सौंप देता। संयुक्त राज्य अमेरिका ने हवाना कन्वेंशन पर हस्ताक्षर करते समय यह स्पष्ट कर दिया था कि वह राजप्रश्रय के अधिकार का न तो समर्थन करता है और न ही उसे प्रोत्साहित ही करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश विभाग के नियमों के अनुसार उन्हीं विदेशियों को शरण देने जाने की व्यवस्था है

जिनका जीवन खतरे में हो। 1911 में अमेरिका की सरकार ने पीकिंग स्थित अपने कार्यदूत को चीन के सम्राट तथा साम्राज्ञी को शरण देने की अनुमति दे दी थी। राजप्रश्रय के अधिकार का प्रयोग राजनीतिक एवं राजनयिक शरण के रूप में होता है—

### राजनीतिक शरण (Political Asylum)

कोई भी विदेशी नेता अपने देश में बन्दी बनाये जाने के भय से पर—राज्य में प्रवेश अथवा निवास की प्रार्थना कर सकता है। इस प्रार्थना को स्वीकार करना पूर्ण: पर—राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है। प्रार्थना स्वीकार होने पर दी गई शरण को राजनीतिक शरण करते हैं। जर्मन सम्राट विलियम कैसर को हॉलैण्ड सरकार द्वारा राजनीतिक शरण दी गई थी। 1956 में हंगरी क्रान्ति के फलस्वरूप कार्डिनल मिन्डजेण्टी (Cardinal Josef Mindszenty) ने अमेरिकी दूतावास में शरण ली थी। वह बुदापेस्ट दूतावास में 15 वर्षों तक रहा और अन्त में पोप की प्रार्थना पर उसने हंगरी को छोड़ा। एक अप्रैल, 1959 को दलाईलामा को भारत ने ऐसी ही राजनीतिक शरण दी थी। 9 सितम्बर, 1975 को अमेरिका ने चैकोस्लोवाकिया की टेनिस खिलाड़ी 18 वर्षीय मार्टिना नवराटिलोवा को राजनीतिक शरण दी। नवराटिलोवा का मत था कि उस पर लगाये गये नियन्त्रणों के कारण वह विश्व की सर्वोच्च खिलाड़ी नहीं बन सकती। पुर्तगाल क राष्ट्रपति जनरल स्पिनोला व उसकी पत्नी व पाँच उच्च अधिकारियों को ब्राजील ने राजनीतिक शरण उस समय दी जब स्पिनोला का तख्ता पलट दिया गया। सितम्बर, 1976 में मिग 25 के रूसी हवाई चालक लेफ्टिनेंट विक्टर इवानोविच वैलन्को ने अपना जहाज जापान में उतारा और संयुक्त राज्य अमेरिका में राजनीतिक शरण की प्रार्थना की जो बाद में उसे दे दी गई। चिली के राष्ट्रपति एलनडे की हत्या के पश्चात् बड़ी संख्या में चिली निवासियों ने विदेशी दूतावासों में राजनीतिक शरण ली थी। इस नई परिस्थिति के परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य ने एक समिति (Legal Committee of the United Nations) का निर्माण किया जिसे राजप्रश्रय के प्रश्न पर विचार कर संयुक्त राष्ट्र को अपना परामर्श देना था। भारत के प्रतिनिधि डॉ० सयैद महमूद के राजप्रश्रय से सम्बन्धित भारत का दृष्टिकोण रखा। भारत सरकार ने 1967 में ही दिल्ली स्थित विभिन्न दूतावासों को सूचित कर दिया था कि वह स्थानीय व्यक्तियों को राजनीतिक आधार पर शरण देने का विरोधी है। इस मत को भारत ने विधि समिति के समक्ष फिर से रखा तथा माँग की कि जहाँ तक सम्भव हो राजनीतिक आधार पर स्थानीय व्यक्तियों को शरण नहीं दी जाये।

### राजनयिक शरण

“राजनयिक शरण” शब्द का उपयोग शरण देने की उस स्थिति में किया जाता है जब कोई राज्य शरणागत या शरण—प्रार्थी व्यक्ति को अपने दूतावास अथवा जहाज पर शरण दे दें और उस व्यक्ति के मूल राज्य को लौटाने की याचना के बावजूद उसे लौटाए नहीं। अपवाद स्वरूप प्रायः अपराधियों को याचना करने पर लौटा दिया जाता है। इसे क्षेत्रतर (Extra-territorial) शरण भी कहते हैं। प्रायः राजप्रश्रय के अधिकार का प्रयोग संकट अथवा क्रान्ति के काल में ही किया जाता है। 19वीं शताब्दी में इस अधिकार का काफी प्रयोग किया जाता था। इसके खुले प्रचलन के कारण इसके लिए कुछ नियमों का निर्माण किया गया है। 1928 के हवाना कन्वेंशन की धारा एक और दो में इस नियम का वर्णन है।

शरण माँगने के राजनयिक इतिहास से कई उदाहरण हैं। 1726 में स्पेन के मन्त्री ड्यूक डॉ० रिपेडां (Duke de Ripperda) ने देशद्रोह के कारण ब्रिटिश दूतावास में शरण ली, परन्तु बाद में स्पेन की सरकार द्वारा उसे जबरदस्ती दूतावास से पकड़ कर जेल में डालने के कारण, ब्रिटिश सरकार ने इस कार्यवाही को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का खुला उल्लंघन बताकर कड़ा विरोध प्रदर्शित किया। इस काण्ड के परिणामस्वरूप दोनों देशों के सम्बन्ध अति कटु हो गये, जो केवल 1729 में सेवाइल की सन्धि से ही ठीक हो सके। 1906 में तेहरान स्थित ब्रिटिश दूतावास में एक ही बार में 12,000 फारस वासियों ने शरण ली थी। 1936 में स्पेन गृह युद्ध काल में कुछ फ्रेंकों विरोधियों ने चिली दूतावास में शरण ली थी। फ्रेंको की विजय के पश्चात् इनकी वापसी की माँग पर चिली सरकार ने शरणार्थियों को देश छोड़कर भागने में सहायता दी थी। इस पर स्पेन ने चिली सरकार के साथ राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिये थे। 1954 में केनवस स्थित रूसी दूतावास के गुप्त पुलिस के वरिष्ठ अधिकारी वालाटिमोर पेट्रीव ने राजनयिक शरण माँगी, जो उसे दे दी गई। शरण दिये जाने की सूचना रूसी दूतावास को भी मिल गई। इससे पहले कि पेट्रीव की पत्नी भी उसके पास चली जाती, उसे पकड़ लिया गया जिससे कि पेट्रीव कुछ भेद नहीं खोल सके, बाद में उसकी पत्नी को हवाई जहाज द्वारा रूस ले जाने का इन्तजाम किया गया, परन्तु जब हवाई जहाज डार्विन हवाई अड्डे पर था आस्ट्रेलिया की पुलिस ने उस पर छापा मार, पेट्रीव की पत्नी को रिहा कर, उसक पति क पास भेज दिया। 1958 में पुर्तगाल के राष्ट्रपति सालाजार के विरुद्ध निर्वाचन में पराजित व्यक्ति ने ब्राजील के दूतावास में शरण ली थी। राजनयिक शरण की एक अस्वाभाविक घटना उस समय घटी जब 3 जुलाई, 1976 को माटिविडो की पुलिस ने वेनेजुएला के दमतावास में जबरदस्ती घुसकर एक राजनयिक अभिकर्ता को पीटा तथा उस स्त्री को जबरदस्ती घसीट कर बाहर ले गये जिसने वेनेजुएला दूतावास में राजनयिक शरण ली थी। वेनेजुएला के राष्ट्रपति कार्लोस एन्ड्रेज

पेरैज ने उरेगुए सरकार को चेतावनी दी कि यदि उसने स्त्री को वापिस नहीं लौटाया तो वेनेजुएला उरेगुए के साथ अपने राजनयिक सम्बन्धों को तोड़ देगा। लैटिन अमरीकी देशों में राजनीतिक व राजनयिक शरण प्रायः ली जाती है। अपदस्त किये जाने पर अथवा सैनिक क्रान्ति अथवा सत्ता का तख्ता पलटने पर (coup d'etat) असफल राजनेता उनके परिवार तथा समर्थक प्रायः शरण लेते रहते हैं। वैसे तो संयुक्त राज्य अमेरिका शरण के अधिकार का स्वीकार नहीं करता, परन्तु राजनीतिक क्रान्ति से प्रभावित व्यक्तियों को इसके दूतावास शरण देते रहते हैं। कुछ समय पूर्व संयुक्त राज्य अमरिका ने स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना को राजनीतिक शरण दी थी।

## अनिभिमत व्यक्ति (Persona non grata)

स्वीकारी राज्य, यदि किसी राजनयिक से किन्हीं कारणों से अप्रसन्न हो, यदि उसने दोनों राज्यों के सम्बन्धों को तनावपूर्ण बना दिया हो, यदि उसने कोई ऐसा काम किया जो जिससे उसका स्वागतकर्ता राज्य में रहना असम्भव हो जाये तथा वह राज्य इन कार्यों के आधार पर उसे स्वीकार करने से मना कर दे, तथा उसकी वापसी की माँग करे तो ऐसे राजनयिक को अनभिमत व्यक्ति (persons non grata) कहते हैं। राजनयिक इतिहास में इस प्रकार अनभिमत हुए व्यक्तियों के उदाहरणों की कमी नहीं है। प्रायः स्वीकारी राज्य की शिकायत पर, राज्य अपने दूतों को वापिस बुला लेते हैं, परन्तु यदि कोई राज्य न करे, तब स्वीकारी राज्य ऐसे व्यक्ति को अनभिमत व्यक्ति घोषित कर, प्रेषित राज्य को अपने दूत को वापिस बुलाने को बाध्य कर सकता है। सामान्यतः राजनयिक के अनभिमत व्यक्ति घोषित किये जाने के कारण बताये जाते हैं, यद्यपि ऐसा किया जाना आवश्यक नहीं है। 1928 के हवाना कन्वेंशन की धारा 8 में लिखा है ".....कोई राज्य किसी अन्य राज्य के अधिकारी को स्वीकार करने से इन्कार कर सकता है अथवा पहिले स्वीकृति प्रदान कर देने पर भी उसे वापिस बुलाने के लिए प्रार्थना कर सकता है और ऐसे निर्णय का कारण बतलाने के लिए वह बाध्य नहीं है।" ब्रिटिश सरकार का मत है कि इस सम्बन्ध में कारण अवश्य दिये जाने चाहिये। संयुक्त राज्य अमेरिका जहाँ किसी राजदूत को वापिस बुलाने का कोई कारण नहीं बताता, वहाँ वह स्वयं किसी वापिस बुलाने की प्रार्थना को तब तक स्वीकार नहीं करता जब तक पर-राज्य कारण नहीं बताये। उल्लेखनीय है कि यदि प्रेषित राज्य स्वीकारी राज्य की वापसी की माँग के कारण से सन्तुष्ट नहीं हो तो वह इस माँग को अस्वीकृत कर सकता है तथा स्वीकारी राज्य पर राजनयिक को निकालने का उत्तरदायित्व डाल सकता है। इस तरीको "handing him his passports" कहते हैं। इस प्रकार "किसी राजदूत को उसका पारपत्र सौंप देना इस बात का विनम्र किन्तु दृढ़ निमन्त्रण है कि वह अपने देश चला जावे।" इसी प्रकार यदि प्रेषित राज्य स्वयं अपने राजनयिक को स्वागतकर्ता राज्य की गलती अथवा उसके व्यवहार के कारण वापिस बुलाती है तो वह अपने राजनयिक को निर्देश देती है कि वह स्वागतकर्ता राज्य को "अपने परिपत्रों को लौटाने" (to ask for his passports) की प्रार्थना करे। इसका अर्थ यह है कि "राजदूत को सम्बन्ध विच्छेद करने का अनुदेश दिया गया है।" इस प्रकार पारपत्रों के मांगने अथवा थमा देने से कभी-कभी राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते हैं, आवश्यक नहीं है कि इन सम्बन्धों के तोड़ नेदेन पर युद्ध हो, किन्तु यदि युद्ध हो ही जाता है तो राजदूत अल्टीमेटम (ultimatum) प्रस्तुत कर स्वयं की वापसी की प्रार्थना करता है। मैड्रिड स्थित ब्रिटेन के राजदूत बुलवर ने स्पेन सरकार की आन्तरिक राजनीति किस प्रकार से संचालित की जाये, का परामर्श दिया था, इसपर स्पेन सरकार ने बुलवर द्वारा उसकी आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप के आरोप पर छुट्टी लेने का कहा। बुलवर का उत्तर था कि उसके पास कोई छुट्टी नहीं है। इस पर बुलवर को उसका पारपत्र थमा दिया गया तथा उसे देश छोड़ देने का कहा गया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री पामसंटन ने केवल स्पेन के साथ राजनयिक सम्बन्ध 1888 में अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव कार्य में हस्तक्षेप के कारण राष्ट्रपति क्लीवीलैण्ड से ब्रिटिश राजदूत लार्ड सैकविले वैस्ट (Sir Lionel Sackville West) की वापसी की माँग की, ब्रिटिश सरकार द्वारा इस माँग की अस्वीकृति पर वेस्ट को उसके पारपत्र थमा दिये गये।

शीत युद्ध के काल में रूसी व अमरीकी पक्षों ने एक-दूसरे के मध्य कटुता और घणा के वातावरण में, बगैर कारण अथवा छोटे-मोटे कारणों के आधार पर एक-दूसरे के राजदूतों को समय-समय पर अनभिमत व्यक्ति घोषित किया था। 1952 में रूसी सरकार ने अमेरिकी राजदूत जार्ज एफ० कैनन को इसलिए अनभिमत व्यक्ति घोषित किया कि उसने बर्लिन हवाई अड्डे पर रूस में दूतों की स्थिति का वर्णन नात्सी नजरबन्द शिविरों में युद्ध बन्दियों के समान बताया था। रूस ने कैनन के इस आरोप को "गम्भीर" तथा "निन्दात्मक" बताया। अमेरिकी सरकार ने तुरन्त ही कैनन के "परामर्श" हेतु वाशिंगटन वापिस बुला लिया। रूस सरकार ने ब्रिटिश दूतावास के द्वितीय सचिव एन्थोनी बिशप (Anthony Bishop) को बगैर कारण बताये देश की सुरक्षा हेतु 29 जुलाई, 1965 को अनभिमत व्यक्ति घोषित कर देश से निकाल दिया। 1967 में चीन ने भारत के द्वितीय व तृतीय सचिवों को जासूसी के आरोप में अनभिमत घोषित कर दिया था। युगेन्डा सरकार ने कम्पाला स्थित ब्रिटिश द्वितीय सचिव पीटर चान्दले को मध्य रात्रि के पूर्व ही देश छोड़ कर जाने की आज्ञा दी क्योंकि वह इजरायली हवाई आक्रमण में गायब हुई श्रीमती डोरा ब्लाक के बारे में झूठी अफवाहें

फैला रहा था। ब्रिटेन तथा आइसलैण्ड के मध्य कोल्ड वार (Cold War) के कारण तनाव की स्थिति में आइसलैण्ड सरकार ने ब्रिटिश राजनयिक मार्शल ईलियट को देश के बाहर निकाल दिया क्योंकि उसने आइसलैण्ड के मछली मारने वाले जहाजों की संख्या और स्थिति के बारे में एक पत्रकार सम्मेलन में सूचना दी थी।

कभी-कभी राजनयिक अपने आपको बगैर किसी कारण के भी 'अनभिमत व्यक्ति' पाते हैं। चीन, रूस, अमेरिका, भारत व पाकिस्तान आदि अनेक देशों द्वारा किसी राजनयिक अभिकर्ता को जासूसी के कारण अनभिमत व्यक्ति घोषित कर निकाला जाता है, तो दूसरे देश की सरकार उसी स्तर के अन्य राजनयिक अभिकर्ता पर वैसा ही झूठा आरोप लगाकर 'अनभिमत व्यक्ति' घोषित कर उसे देश छोड़ने को कह देती है। यदि प्रथम सचिव के विरुद्ध आरोप है तो दूसरे देश में प्रथम सचिव को ही 'अनभिमत व्यक्ति' घोषित किया जावेगा, द्वितीय अथवा तृतीय सचिव को नहीं। जिस देश का अहित होता है, यदि वह अपनी प्रतिक्रिया दिखाने में देरी करता है, तो दूसरा पक्ष, भले ही वह कानून तोड़ने वाला हो, देरी का फायदा उठाकर, विश्व के समक्ष अपने पक्ष को तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत करके, जनमत को भ्रम में डाल देता है। भारत द्वारा एक पाकिस्तानी राजनयिक को रंगे हाथ जासूसी करने पकड़ा गया, पाकिस्तान को सूचना मिलने पर, पाकिस्तान ने प्रार्थना की कि भारत इस बात को कुछ समय के लिए प्रकाशित न करे। इस बीच पाकिस्तान ने भारतीय राजनयिक के विरुद्ध जासूसी का आरोप लगाकर उसे तुरन्त देश छोड़ने की आज्ञा दे दी। जब भारत ने पाकिस्तानी राजनयिक को निकाला, तो ऐसा अनुभव किया गया कि यह सब कुछ प्रतिक्रिया स्वरूप किया गया है जबकि वास्तविकता इसके विपरीत थी। इस प्रकार विश्व के समक्ष भारत को ही दोषी सिद्ध किया गया। यह ठीक ही कहा गया है कि समय सबसे उत्तम मित्र है।

अन्त में यह भेद जान लेना उपयुक्त है कि राजनयिक की वापसी (Recall) तथा उसे निकाल देना (Dismissal) दोनों में क्या अन्तर है? वापसी की स्थिति में स्वीकारी राज्य राजदूत की वापसी पत्रों का इन्तजार करता है, जबकि निकाल देने की अवस्था में राजनयिक की वापसी तुरन्त की जाती है। कभी-कभी प्रेषित सरकार स्वयं ही अपने दूत के गलत कार्यों के कारण इन्हें वापस बुला लेती है। पाकिस्तान ने इण्डोनेशिया में अपने राजदूत अली गमन तथा कांसूलन गुलाम साबिर को इसलिए वापस बुला लिया क्योंकि उन्होंने अपने राजनयिक अधिकार का लाभ उठाकर मर्सिडीज मोटरों मंगाकर बेचनी शुरू कर दी थी।

### **तृतीय राज्य में राजनयिक अभिकर्ता की स्थिति (Position of Diplomatic Agent with regard to Third State)**

राजदूत को अपनी नियुक्ति के पश्चात् अपना कार्यभार ग्रहण करने के लिए जाते समय, पद निवृत्ति से लौटते समय, अपनी सरकार से परामर्श के लिए जाते समय अथवा युद्ध की स्थिति से लौटते समय, विभिन्न राज्यों की सीमाओं में से होकर गुजरना पड़ता है। ऐसे समय में उसकी क्या स्थिति है, यह जानना आवश्यक है। कुछ लेखक उदाहरणार्थ, जेन्टिलिस, हैकिंग आदि का मत है कि राजदूत के विशेषाधिकार केवल स्वीकारी राज्य तक ही सीमित होने चाहिये, परन्तु आधुनिक लेखकों—हीटन, हस्टन, विवियर, हैलैक, सैटो आदि का मत है कि राजदूत को तीसरे राज्य से गुजरते सुय भी निर्दोष गमन अधिकार (Right of innocent passage) मिलना चाहिये। तीसरे राज्य के सम्बन्ध में कृष्णामूर्ति एक रोचक उदाहरण देते हैं। संयुक्त राष्ट्र में गिनी राज्य के शिष्टमण्डल की वापसी पर आईवरी कोस्ट के आविदजान हवाई अड्डे पर इन्हें असूचीबद्ध रूप में एकदम उतरना पड़ा था। उन्हें तुरन्त ही पकड़ कर रोक लिया गया। महासचिव उथांट के हस्तक्षेप व विरोध करने के बाद भी शिष्टमण्डल के सदस्यों को छोड़ा नहीं गया। इस पर विश्व भर की विरोधी प्रतिक्रिया और विश्व जनमत को बिगड़ते देखकर ही आईवरी कोस्ट की सरकार ने गिनी शिष्टमण्डल को छोड़ा।

तीसरे राज्य की स्थिति में सामान्यतः राजदूत को उस राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। उसे शिष्टतापूर्वक अपनी यात्रा करनी चाहिये। तीसरे राज्य की स्थिति के सन्दर्भ में 1961 के वियाना कन्वेंशन की धारा 40 में भी निर्बाध गमन का अधिकार दिया गया है। राजदूत जब छुट्टी पर हो अथवा सरकारी कार्य पर नहीं हो तो क्या उसे तीसरे राज्य में ये सभी अधिकार प्राप्त हैं? इस सन्दर्भ में सामान्य मत यह है कि राजदूत को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत नहीं वरन् सामान्य शिष्टाचारवश ये सभी अधिकारी मिलने चाहिये। शान्ति और युद्धकाल में राजदूत की तीसरे राज्य में स्थिति निम्नानुसार पथक-पथक होती है—

#### **शान्ति काल**

साधारणतः तीसरे राज्य से गुजरते समय किसी भी राजनयिक के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाती है। शर्त केवल यही है कि उसके पास पार-पत्र (Pass Port) हो, उसकी यात्रा निर्दोषपूर्ण हो तथा तीसरे राज्य के कानूनों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया गया हो। इस प्रकार राजदूत का तीसरे राज्य से निर्बाध रूप से आना-जाना होता है तथा उसे प्राप्त होने वाली सभी सुविधायें उपलब्ध होती हैं, हालांकि वह उनका दावेदार नहीं होता। 1928 के हवाना कन्वेंशन की धारा 23 में राजदूत के तीसरे राज्य में से गुजरने के सम्बन्ध में स्पष्ट वर्णन है—“दूतावास के व्यक्तियों को वे सब उन्मुक्तियां तथा परमाधिकार उन राज्यों में प्राप्त होंगे जिनमें से होकर वे अपने नियुक्ति वाले स्थान पर पहुंचने के लिए अथवा वहां से अपने देश को लौटने के लिए गुजरेंगे। ये उस राज्य में भी प्राप्त

होंगे जहां वे आकस्मिक रूप से अपने कार्य सम्पादन के इच्छुक होंगे तथा जहां उन्होंने अपनी परिस्थिति के वहां की सरकार को विज्ञापित कर दिया होगा।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ हैलक का भी यही मत है। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जब राजदूत को तीसरे राज्य में से शान्तिकाल में भी नहीं गुजरने दिया गया। जब मेडम एलेक्जेन्डरा को मैक्सिको में रूस का राजदूत नियुक्त किया गया तो मेडम ने मैक्सिको जाते समय बर्लिन में अमरीकी कौन्सिल से संयुक्त राज्य अमेरिका में से गुजरने की अनुमति मांगी। मैडम कोलोनटे को विदेश सचिव कैलोग ने अमेरिका में से निर्दोष गमन का अधिकार इसलिए नहीं दिया क्योंकि वह रूसी साम्यवादी दल की सदस्या थी तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के रूस के साथ राजनयिक सम्बन्ध नहीं थे। अमेरिका ने यह इसलिए किया जिससे कि डोरोथी पार्कर के शब्दों में, संयुक्त राज्य अमेरिका में "साम्यवादी दूत के राजनीतिक कीड़े औरों के न लग जायें।" ओपनहोम का मत है कि कोई भी राज्य इस बात के लिए बाध्य है कि वह राजदूत को अपने राज्य में से निर्बाध गुजरने दे, जब तक कि वह प्रेषित अथवा स्वीकारी राज्य से युद्धरत न हो।

### युद्ध काल

युद्ध होने की सम्भावना होते हुए भी साधारणतः राजनयिक को सुरक्षित जाने दिया जाता है। यदि प्रेषित राज्य किसी तीसरे राज्य के साथ युद्ध की स्थिति में हो और ऐसी स्थिति में राजदूत को बन्दी बना लिया जाये तो, हाल के मत में, यह कार्यवाही किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध नहीं होगी। रिवियर भी इसी मत का है, उसके अनुसार "यदि कोई दो राज्य युद्धरत हों तो प्रतिनिधि को सुरक्षित रूप से नहीं जाने देने की स्थिति में कैदी बनाया जा सकता है।" 1918 में मैड्रिड स्थित जर्मन नाविक अतारी कैप्टेन वॉन क्रोहन (Captain Von Crohen) को स्पेन सरकार की प्रार्थना पर, फ्रांस सरकार ने अपने देश में से सुरक्षित गुजरने दिया था, जबकि जर्मनी और फ्रांस में मध्य युद्ध चल रहा था। द्वितीय महायुद्ध के दौरान भी 1940 में राजदूतों को निर्दोष गमन के अभय पत्र दिये गये थे। जब युद्ध की स्थिति में युद्धरत राज्य शत्रु राज्य पर विजय प्राप्त कर लेता है तो ऐसे राज्य में स्थित राजदूत अपने राजनयिक अधिकार खो देते हैं। विजय के पश्चात् स्थिति बदल जाती है।

यदि स्वागतकर्ता राज्य तीसरे राज्य से युद्ध की स्थिति में हो तो कभी-कभी राजदूत बन्दी बना लिया जाता है। 1762 में स्वीडन और पोलैण्ड के बीच युद्ध छिड़ जाने पर स्वीडन जाने वाले फ्रांसीसी राजदूत को पोलैण्ड की भूमि पर बन्दी बना लिया गया था। फ्रांस द्वारा विरोध करने पर पोलैण्ड ने स्पष्ट किया कि दूत के पास पारपत्र नहीं था। यदि स्वागतकर्ता राज्य पर तीसरा राज्य आक्रमण कर दे और स्वागतकर्ता राज्य अपनी राजधानी हटा ले, जैसा कि फ्रांस ने द्वितीय महायुद्ध के दौरान किया और अपनी राजधानी पेरिस से हटाकर बोरोवो ले गया, तो राजदूत अपनी सरकार की अनुमति से दूसरी राजधानी जा सकता है। यदि स्वीकारी राज्य पर तीसरे राज्य का आधिपत्य हो जाये तो प्रेषित राज्य यह निर्णय लेगा कि वह अपने राजदूत को वहां से हटाये अथवा नहीं। आधिपत्य स्थापित करने वाला राज्य राजदूतों की वापसी की भी मांग कर सकता है जैसे कि जर्मनी ने 1914 में लक्सबर्ग पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् फ्रांस और बेल्जियम के राजदूतों की वापसी की मांग की थी।

### राजनयिक अधिकारों और उन्मुक्तियों की अवनति

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सामान्य परिपाटी के विरुद्ध राजनयिकों के ऊपर कुछ देशों में निषेध और नियन्त्रण लगाये जाते रहे हैं। इससे राजनयिकों के अधिकारों और उन्मुक्तियों पर निश्चित ही विपरीत प्रभाव पड़ता है। प्रायः यह मान्यता है कि इस प्रकार की स्थिति द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तथा शीत युद्ध के काल की देन है। यह देखा गया है कि राजनयिक अधिकारों और उन्मुक्तियों का उपयोग पारस्परिकता के आधार पर टिका हुआ है। यदि एक राज्य निषेधाज्ञा देता है तो दूसरा प्रतिक्रिया स्वरूप वैसा ही करता है। दूतावास राजनयिक अभिकर्ताओं की संख्या, उनके यातायात का क्षेत्र, उनके दूतावास के बाहर पुलिस और सैनिक गार्ड की नियुक्ति आदि साधनों से नियन्त्रण और निषेध लगाये जाते हैं। जनवरी, 1952 के एक आदेशानुसार रूसी सरकार ने उन 22 शहरों में, जिनकी आबादी एक लाख और उससे अधिक हो, विदेशी राजदूतों के अपने-जाने पर नियन्त्रण लगा दिया था। इसी प्रकार राजधानी (मास्को) में रहने वाले विदेशी राजनयिक अभिकर्ता केवल 25 मील के क्षेत्र में ही बगैर रोक-टोक के घूम सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी प्रत्युत्तर में रूसी राजनयिकों पर वाशिंगटन के 25 मील के क्षेत्र के बाहर जाने तथा कुछ क्षेत्रों में प्रवेश पर रोक लगा दी थी। इसके बाहर जाने पर राजनयिक को अड़तालीस घण्टे की पूर्व सूचना देकर पहले ही सरकारी अनुमति लेनी पड़ती है। इस प्रकार राजनयिकों पर अनेकों निषेधाज्ञायें व नियन्त्रण लगाये जाते हैं जिससे उनके अधिकारों और उन्मुक्तियों की अवनति होती है। स्मरणीय है कि प्रतिक्रियास्वरूप नियन्त्रण लगा देने से समस्याओं का समाधान नहीं निकलता। आवश्यकता यह है कि ठण्डे दिमाग से इस प्रकार की बातों पर विचार कर कोई और रास्ता निकाला जाये जिससे राजनयिकों के अधिकार तथा उन्मुक्तियां बनी रहें और वे अपने कर्तव्यों को सही रूप में निभा सकें।

## राजनयिक मिशन की समाप्ति (Termination of a Mission)

राजनयिक नियुक्ति की भांति राजनयिक मिशन की समाप्ति का भी अपना महत्व है। किसी भी राजनयिक के कार्यकाल में उनके मिशन की समाप्ति, सेटो के अनुसार निम्नलिखित किन्हीं बारह कारणों से हो सकती है—

- (1) उस कार्यकाल की समाप्ति पर, जिसके लिए उसको नियुक्ति की गई है अथवा उस व्यक्ति के वापिस लौटने पर, जिसके स्थान पर उसकी अस्थायी काल के लिए नियुक्ति की गई हो।
- (2) मिशन के विशेष उद्देश्य प्राप्ति की समाप्ति पर जैसे कि किसी समारोह, राज्यभिषेक, मृत्यु, समझौता वार्ता आदि की पूर्ति।
- (3) अन्य जगह नियुक्ति होने अथवा स्वयं के द्वारा त्यागपत्र देने पर।
- (4) प्रेषित राज्य को अपने राजदूत के कार्य से असन्तुष्टि पर अथवा स्वागतकर्ता राज्य की शिकायत पर।
- (5) अपने तथा पर—राज्य के राजा अथवा सम्राट की मृत्यु पर। स्मरणीय है कि किसी गणराज्य के राष्ट्रपति की मृत्यु पर ऐसा नहीं होता है।
- (6) किसी भयंकर काण्ड तथा अपने स्वयं के द्वारा किसी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन के कारण, राजदूत उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर राजनैतिक सम्बन्धों को तोड़कर लौट जाता है। संचार साधनों के विकास के इस युग में यह उत्तरदायित्व आज विदेश मन्त्रालय पर डाल दिया गया है।
- (7) स्वागतकर्ता राज्य की सरकारें राजनयिक के “पारपत्र को उनके पास भेज देती है” (to hand over his passport) इसका अर्थ होता है उसकी वापसी तथा ऐसा राजनयिक “अनभिमत व्यक्ति” हो जाता है।
- (8) राजनयिक अभिकर्ता के पद परिवर्तन होने पर जैसे कि एक दूत, राजदूत बन जाये, एक निवास मन्त्री दूत बन जाये अथवा कार्यदूत निवास मन्त्री बन जाये।
- (9) दो राज्यों के मध्य युद्ध होने पर, दोनों देशों के मध्य राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते हैं। जैसे 1971 में भारत—पाक युद्ध के परिणामस्वरूप राजनयिक सम्बन्ध टूटे थे। 8 दिसम्बर, 1975 को पुर्तगाल सरकार ने पूर्वी टिमोर पर इन्डोनेशिया समर्थक सेनाओं के आक्रमण के परिणामस्वरूप इन्डोनेशिया के साथ राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिये थे।
- (10) दोनों में से किसी भी राज्य के राजा अथवा सम्राट के पद त्याग पर।
- (11) राज्य में गणतन्त्र के स्थान पर राजतन्त्र अथवा राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना की।
- (12) दोनों में से किसी एक राज्य के विलोप होने पर। 1928 में आस्ट्रिया के जर्मनी में विलय होने पर ऐसा ही हुआ था।

1928 के कन्वेंशन की धारा 25 में हस्ताक्षरकर्ता देशों ने राजनयिक मिशन की समाप्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित निर्णय लिये थे :—

- (1) प्रेषित राज्य यह सूचना दे कि राजनयिक अभिकर्ता अब राजनयिक नहीं रहा है।
- (2) राजनयिक के कार्यकाल की समाप्ति पर।
- (3) किसी एक विशेष उद्देश्य की समाप्ति पर, जैसे राज्याभिषेक आदि में भाग लेने के पश्चात्।
- (4) स्वागतकर्ता राज्य द्वारा राजदूत को उसे पारपत्र लौटा देने पर; तथा
- (5) स्वयं राजदूत द्वारा अपने पारपत्र मांग लेने पर।

1961 के वियाना कन्वेंशन में भी राजनयिक मिशन की समाप्ति से सम्बन्धित निर्णयों की धारा 43 और 44 में वर्णित किया है—

- (1) प्रेषित राज्य द्वारा स्वीकारी राज्य को सूचना भेजने पर कि राजनयिक का कार्य समाप्त हो गया है।
- (2) स्वीकारी राज्य द्वारा प्रेषित राज्य को सूचना देने पर कि वियाना कन्वेंशन की धारा 9 के पैरा दो के आधार पर वह राजनयिक को मिशन का एक अधिकारी स्वीकार नहीं करता है।

किसी मिशन की समाप्ति उस समय भी समभव हो जाती है जब मिशन यह अनुभव करे कि स्वीकारी राज्य उनके मिशन के प्रति द्वेष एवं कटुतापूर्ण व्यवहार से युक्त है। 31 अक्टूबर, 1975 को उत्तरी कोरिया की सरकार ने केनबरा, आस्ट्रेलिया में अपना दूतावास बन्द कर दिया, क्योंकि आस्ट्रेलिया सरकार दूतावास के कार्यों पर नियन्त्रण लगा रही थी। साथ ही प्योनप्यान स्थित आस्ट्रेलिया के कार्यवाहक दूत को बुलाकर उसे “तुरन्त” देश छोड़कर चले जाने की आज्ञा दे दी। युगेन्डा में ब्रिटिश नागरिकों के साथ दुर्व्यवहार

के कारण 28 जुलाई, 1976 को विदेश सचिव एन्थोनी क्रॉसलैण्ड ने युगोण्डा के साथ राजनयिक सम्बन्धों को तोड़ने की घोषणा की थी। राजनयिक मिशन की समाप्ति कभी-कभी जासूसी के तथाकथित आरोप के कारण भी हो जाती है। जैसे भारत-पाकिस्तान, रूस-चीन, अमेरिका और रूस के मध्य होती रहती है। 1950 में बुल्गेरिया सरकार ने अमेरिकी राजदूत डोनेल्ड हीथ को जासूसी के आरोप में अनभिमत व्यक्ति घोषित कर दिया था, इस पर 21 फरवरी, 1950 को अमेरिका ने बुल्गेरिया के साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिये थे। ये सम्बन्ध 9 वर्ष पश्चात् 1959 में ही पुनः स्थापित हुए। अपने देश से सम्बन्धित राजनीति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण भी मिशन समाप्त हो जाता है, जैसे जून, 1975 में दक्षिणी वियतनाम के दूतावास में तैनात स्थित अपने कार्यालय को बन्द कर दिया था। युगोण्डा के एनतीबी हवाई अड्डे पर इजरायली हवाई आक्रमण के विरोध स्वरूप मारिशस ने युगोण्डा के साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने पर अमेरिका ने तैवान स्थित अपने मिशन को समाप्त कर दिया था। राजनयिक मिशन उस समय भी समाप्त हो जाता है जब राजदूत की मृत्यु हो जाये, वह त्यागपत्र दे दे, उसे वापिस बुला लिया जाये अथवा उसे निकाल दिया जाये। चूंकि प्रत्यय पत्र राजदूत के व्यक्तिगत नाम से होते हैं, अतः उसके हटने से राजनयिक मिशन स्वतः ही समाप्त हो जाता है। अपनी सरकार की नीति से असहमति होने पर भी राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रायः राजदूत जनरल पैट्रिक हर्ले (General Patrick Hurley) ने अपने पद से इसलिये त्यागपत्र दे दिया क्योंकि विदेश विभाग गके कुछ अधिकारी चीन के प्रति अमरीकी नीति को जान-बूझकर बेकार रहे थे। इसी प्रकार पोलैण्ड में अमरीकी दूत आर्थर ब्लिस लेन (Arthur Blis Lane) ने अपने पद से इसलिये त्यागपत्र दे दिया क्योंकि अमेरिका ने पोलैण्ड के साथ धोखा किया था। लेन का मत था कि अमेरिका ने रूस पर वाल्टा सम्मेलन का पोलैण्ड सम्बन्धी भाग के पूर्ण पालन पर बल नहीं दिया था। सौदी-अरेबिया में अमेरिकी राजदूत जैम्स अकिन्स ने सरकार के साथ तेल की राजनीति पर मतभेद के कारण दूतीय पद से त्यागपत्र दे दिया था। दो राज्यों के मध्य सम्बन्धों के कटु होने पर भी मिशन की समाप्त होती है जैसे रंगभेद की नीति के कारण भारत और दक्षिण अफ्रीका के साथ तथा गौआ के प्रश्न को लेकर भारत और पुर्तगाल के राजनयिक सम्बन्ध समाप्त हो गये थे।

युद्ध आरम्भ के पूर्व का पहला कदम दो राज्यों के मध्य राजनयिक सम्बन्धों का टूटना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य नियम के अन्तर्गत युद्ध घोषणा के तुरन्त बाद शत्रु पक्ष के सभी राजनयिक अभिकर्ताओं और परिवार आदि की तुरन्त पार-पत्र बना दिये जाते हैं तथा यात्रा सुरक्षा और निर्दोष गमन का पूरा इन्तजाम भी कर दिया जाता है। 1914 तथा 1939 के महायुद्धों में राजदूतों व अन्य राजनयिक अभिकर्ताओं को ऐसी ही यात्रा सुरक्षा दी गई थी। उस राष्ट्रीयता तथा छोटे-मोटे सम्मान के प्रश्न को लेकर भी आये दिन राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिये जाते हैं।

राजनयिक सम्बन्धों के टूटने पर या तो मिशन बन्द कर दिया जाता है अथवा राजदूत अधीनस्थ अधिकारियों के हाथों शक्ति सौंप, देश छोड़कर चले जाते हैं। मिशन की समाप्ति पर, उसकी चल और अचल सम्पत्ति तथा देश के अन्य हितों की रक्षा का कार्य किसी अन्य मित्र देश के हाथों सौंप दिया जाता है जो दोनों देशों को स्वीकृत हो। वियाना कन्वेंन्शन की धारा 45 व 46 में इस बात का वर्णन है। कभी-कभी वाणिज्य दूतावासों को कार्य करते रहने दिया जाता है। सम्बन्धों के सामान्य होने पर विरले ही कभी पूर्व-राजदूत वापिस उसी देश भेजा जाता है।

### मिशन समाप्ति पर समारोह

किसी भी एक पक्ष-प्रेक्षित अथवा स्वीकारी राज्य-द्वारा राजनयिक मिशन की समाप्ति की सूचना मिलने पर दूतावास एक निश्चित विधि का पालन करके ही राज्य को छोड़ते हैं। इसका प्रथम कदम सम्बन्धित राजनयिक द्वारा राज्याध्यक्ष से विदाई भेंट के लिये प्रार्थना करना होता है जिससे कि वापसी का पत्र (Letter of recall) प्रस्तुत किया जा सके। इस बीच पत्र की एक प्रतिलिपि राजध्यक्ष को विदेश विभाग के माध्यम से पहले ही पहुँचा दी जाती है। राजनयिक की यह भेंट व्यक्तिगत होती है। यहां वापसी का पत्र प्रस्तुत कर दिया जाता है। इस समय राजनयिक की राज्याध्यक्ष द्वारा प्रतीती पत्र (Letter of re-credential) दिया जाता है, इसे (Letter of recreance) भी कहते हैं। इस पत्र में राज्याध्यक्ष राजनयिक के लौटने पर दुःख प्रकट करता है तथा राजनयिक के कार्यों की प्रशंसा करता है। स्मरणीय है कि जब राजनयिक की वापसी युद्ध अथवा किन्हीं अन्य कारणों से राजनयिक सम्बन्धों के टूटने के कारण हुई हो तो ऐसे समय विदाई भेंट नहीं होती है। कभी-कभी यह भेंट विदेश मन्त्री द्वारा ही औपचारिक रूप से पूरी हो जाती है, जैसा कि प्रथम महायुद्ध काल में संयुक्त राज्य अमेरिका के राजदूत जेम्स बेसर्ड (James W. Gerard) को विदेश मन्त्री की ही वापसी पर प्रस्तुत करने पड़े थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के ही राजदूत एन्ड्रू व्हाईट (Andrew D. White) तथा उसकी पत्नी की जर्मन सम्राट ने व्यक्तिगत रूप से दोपहर के विशेष भोज के लिये आमन्त्रित किया था। सम्राट ने उस समय उसे एक स्वर्ण पदक (Great Gold Medal for Arts and Science) भेंट के रूप में दिया तथा बाद में एक चीनी का फूलदान भेंट किया गया जिस पर उसका चित्र अंकित था।

# आदर्श राजदूत (Ideal Diplomat)

### व्यावसायिक तथा गैर-व्यावसायिक राजनयिक

राजनय के प्रारम्भिक काल में, जब राजनय अपनी चरम सीमा पर था, राजदूत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को निश्चित रूप से प्रभावित करते थे, यद्यपि उस समय राजनय व्यक्तिगत था, तथापि एक योग्य राजदूत राजनीति को निर्णायक रूप से संचालित करता था। राजनय के प्रारम्भिक काल में राजदूतों का चयन उच्च घरानों, चर्च, सेना तथा कानून के क्षेत्रों में उपलब्ध प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से किया जाता था। फ्लॉबर्ट ने एक बार लिखा था कि "राजनय केवल उच्च वंशीय व्यक्तियों के लिए ही उपयुक्त है।" आज राजदूतों की नियुक्ति का आधार उच्चवंश न रहकर सामान्य प्रतियोगिता हो गया है। आज राजनयिक नियुक्तियां सभी वर्ग के व्यक्तियों में से की जाती हैं, चाहे वह श्रमिक, उद्योगपति, व्यापारी, विद्वान्, खिलाड़ी, कलाकार आदि कोई भी हो। वेटिकन में फ्रांसीसी राजदूत जैक्युअस, मारटेन एक विद्वान व्यक्ति था, स्पेन में संयुक्त राज्य अमरीका का राजदूत कार्लटन हेज इतिहासकार था, पियानों बजाने वाला पोडेरेसवस्की पोलैण्ड का सद्भाव राजदूत था, वाल्टर लिपमैन प्रसिद्ध पत्रकार, पोप के पास वेटिकन में राजदूत था, डॉ० गिरिजा मुखर्जी विद्वान् प्रोफेसर व लेखक पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस और इटली में राजदूत थे, जनरल चौधरी व तत्पश्चात् जनरल रैना कैनेडा में भारत के राजदूत थे। इसी प्रकार पटियाला के महाराजा यादवेंद्र सिंह हॉलैण्ड में भारत के राजदूत थे। अब राज्य अपने दूतों की नियुक्ति में किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रहों से प्रभावित नहीं होते हैं।

आज राजनयिक अभिबकर्ताओं के सामान्यतः दो वर्गीकरण किये जाते हैं—व्यावसायिक तथा गैर—व्यावसायिक। वह व्यक्ति जो राजनय को अपने जीवन यापन के रूप में अपना लेता है वह व्यावसायिक राजदूत है। इसके विपरीत वह व्यक्ति जो अन्य व्यवसायों से आता है तथा जो राजनय को जीवनवृत्ति के रूप में नहीं अपनाता वह गैर—व्यावसायिक राजनयिक कहलाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका को एक प्रमुख राजदूत, श्रीमती क्लारे बूथ ल्यूस ने राजनयिकों का एक अन्य वर्गीकरण भी किया है। अर्ध—व्यावसायिक (Semi-professional) और अव्यावसायिक (Un-professional) ये राजनयिक वे हैं जिन्होंने राजनय को जीवन—यापन का साधन तो नहीं बनाया है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों आदि से जिनके सम्पर्क तथा निकट सहयोग के कारण वे एक प्रकार व्यावसायिक से बने गये हैं। श्रीमती ल्यूस इन गैर अथवा अर्ध—व्यावसायिकों की नियुक्ति के प्रयोग को स्वीकार तो करती है, परन्तु राजदूत के पद पर वे व्यावसायिक राजनयिक की नियुक्ति को ही अधिक पसन्द करती हैं। अमरीका विदेश विभाग की कुमारी डोरोथी फॉसडिक ने न्यूयार्क टाइम्स के एक लेख में इसी प्रकार का अपना मत व्यक्त किया था, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गैर—व्यावसायिक राजदूतों की नियुक्ति ही नहीं की जाये। गैर—व्यावसायिकों ने भी जटिल से जटिल परिस्थितियों में अपना उत्तरदायित्व सफलता से निभाया है। लार्ड लोथियन और लार्ड हेलिफेक्स ने वाशिंगटन में तथा सर सेम्युल होर ने मेड्रिड में युद्धकाल में अपने पद का कार्य पूर्ण योग्यता से निभाया था। टेलरां, मेटरनिक, बेकन्सफील्ड, सेलिसबरी, ओलिवर फ्रेंक्स, कृष्णामेनन, श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित और सर्वपल्ली राधाकृष्णन् विख्यात गैर—व्यावसायिक राजनयिक थे। विभिन्न कालों में अनेक व्यक्तियों के राजनयिक सेवा के कार्य किये हैं और ये व्यक्ति विभिन्न व्यवसायों से आये हैं। विश्व के सभी देशों में समय—समय पर गैर व्यावसायिक नियुक्तियां प्रायः होती रही हैं।

राजनय के प्रारम्भिक काल में धर्मगुरुओं को ही प्रायः नियुक्त किया जाता था, परन्तु 1620 के पश्चात् राजनयिक नियुक्तियों में धर्म के प्रति आकर्षण कुछ कम हो गया। केलियर्स व्यावसायिक राजदूतों का समर्थक था। उनका मत था कि धर्मगुरुओं को विदेश सेवा में नहीं रखना चाहिये। निकलसन भी इन नियुक्तियों का विरोधी था। उसका मत था कि धर्मगुरु अच्छे राजदूत नहीं हो सकते। कुछ लोगों की मान्यता है कि वकील सफल राजदूत रहते हैं। केलियर्स तथा निकलसन वकीलों की राजदूत के स्वरूप में नियुक्ति के भी विरोधी थे। एक वकील का प्रशिक्षण उसमें उन गुणों को बढ़ाता है जो राजदूत कार्य के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं। केलियर्स के मत में "वकील का प्रशिक्षण ऐसा मानसिक आदतें तथा स्वभाव उत्पन्न करता है जो राजनय के अभ्यास के अनुकूल नहीं है।" वकील का धन्धा कुछ भी नहीं है। उसमें वस्तुतः बाल की खाल निकालने जैसा है, जो राजनय के क्षेत्र में गम्भीर सार्वजनिक मामलों को निपटाने की अच्छी तैयार नहीं हो सकती।" ब्रिटिश विदेश विभाग के स्थायी उप—सचिव सार्जेन्ट भी वकीलों की राजदूत के रूप में नियुक्ति का विरोधी था। राजदूत चूंकि शान्ति स्थापना का प्रमुख साधन है, अतः सैनिकों को राजदूत नियुक्ति नहीं करनी चाहिये। सैनिक अच्छे राजदूत सिद्ध नहीं होते हैं। हालांकि सैनिक जनरलों की नियुक्ति होती रही है और वे कभी—कभी सफल भी रहे हैं, परन्तु फिर भी कुछ लोग सैनिकों की राजदूत के रूप में नियुक्ति के भी विरोधी हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह विश्वास व्याप्त है कि व्यापारी एक अच्छा राजदूत सिद्ध हो सकता है, क्योंकि राजनयिक समझौता वार्ता की भांति ही है। यह तर्क उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि



व्यापारिक वार्ता एक बार पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है, किन्तु राजनयिक सन्धि नहीं। नेटों की सन्धि पर शायद ही कोई वर्ष जाता हो, जब पुनः विचार नहीं होता हो।

धर्मगुरुओं, वकीलों तथा व्यापारियों की भाँति कला प्रेमी भी सफल राजदूत नहीं हो सकते क्योंकि वे स्पन्जलोक में विचरने वाले व्यक्ति होते हैं। केनेडा में कला-प्रेमियों की नियुक्ति के विरुद्ध प्रदर्शन के परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका को व्यावसायिक नियुक्ति करनी पड़ी थी। राजनीतिज्ञों की राजदूत के रूप में नियुक्ति को भी समय-समय पर आलोचना की जाती रही है। इस प्रकार की नियुक्तियों में योग्यता अथवा निपुणता की भी समय-समय पर आलोचना की जाती रही है। इस प्रकार की नियुक्तियों में योग्यता अथवा निपुणता गौण होकर दलीय लाभ को ही महत्त्व दिया जाता है। जॉन गन्थर के अनुसार राष्ट्रपति रुजवेल्ट राजनयिकों का चुनाव, बाजार में सामान खरीदने वाली गहस्वामिनी की भाँति, उनकी व्यावसायिक योग्यता का ध्यान रखे बगैर ही करते थे। उदाहरणार्थ रुजवेल्ट ने प्रो० विलियम डॉड को जर्मनी का राजदूत इसलिये नियुक्त किया कि वह नासीवाद का कट्टर शत्रु था। डॉड विख्यात साहित्यकार होते हुए भी असफल राजदूत सिद्ध हुआ। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने एक व्यक्ति को दक्षिण पूर्वी एशिया के एक देश में केवल इसलिये राजदूत नियुक्त किया क्योंकि वह उस देश में बड़े जानवरों का शिकार खेल चुका था। राजनीतिक नेताओं की राजदूत के रूप में यदि भविष्य में व्यावसायिक, राजनयिक की नियुक्ति की गई तो लक्समबर्ग अमरीकी राजदूत को स्वीकार नहीं करेगा। अमेरिका को लक्समबर्ग की इस मांग को स्वीकार करना पड़ा था।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राजनयिक नियुक्तियाँ प्रायः "लूट व्यवस्था" के आधार पर ही जाती है। अर्थात् किसी भी व्यक्ति द्वारा राजनैतिक अथवा आर्थिक समर्थन के बदले में। क्लार्क के अनुसार 1970 में संयुक्त राज्य अमेरिका की 30 प्रतिशत राजदूतीय नियुक्तियाँ गैर-व्यावसायिक राजनीतिज्ञों को दी गई थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में गैर-राजनयिक नियुक्तियों में धन सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान देता रहा है। दल को पर्याप्त चन्दा देने पर कोई भी व्यक्ति राजनयिक नियुक्ति प्राप्त करने में सफल हो सकता है। थेयर एक उदाहरण देता है कि एक अमीर बात ने मृत्यु से पूर्व अपने पुत्र को रिपब्लिक दल को चन्दा देने को कहा। पिता की मृत्योपरान्त, उसके पुत्र ने चन्दे के सम्बन्ध में अपने मित्र से परामर्श लिया और 1932 के चुनाव में रिपब्लिकन दल के स्थान पर डेमोक्रेटिक दल को खूब चन्दा दिया। इसके बदले में फ्रैंकलिन रुजवेल्ट ने चुनाव के पश्चात् उसे यूरोप के एक देश में राजदूत नियुक्त कर दिया। सीनेट की वाटरगेट समिति ने एक गुप्त रिपोर्ट में रहस्योद्घाटन किया कि निक्सन को राष्ट्रपति पद के चुनाव के लिये, 8 राजदूतों ने 18 लाख डालर का चन्दा दिया था। नवम्बर, 1972 के पश्चात् हर गैर-व्यावसायिक राजदूत ने 25,000 हजार का चन्दा दिया तथा निक्सन के चुनाव कार्य पर करीब 7,06,000 डालर चन्दा इकट्ठा किया गया। इन चन्दा देने वालों में से छः वे व्यक्ति थे जो दूतीय पद के लिये प्रयत्नशील थे। हालांकि निक्सन ने 25 नवम्बर, 1973 के प्रेस सम्मेलन में इस बात से मना किया था कि राजदूत का पद बेचने के लिये है, परन्तु 1974 में अटोरनी हर्बर्ट कामबाक (Herbert Kalmbach) को राजदूत पद बेचने (selling an ambassadorship) के आरोप में दण्ड दिया गया। इसने 1972 में ट्रिनीडाड में सीमिंगटन और जैमेका में विन्सेट रॉलेट से अच्छे स्थानों पर नियुक्ति के लिये 1,00,000 डालर एक-एक से चन्दा लिया। संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जबकि किसी सम्पादक अथवा पत्रकार को दल के समर्थन में लेख लिखने अथवा एक वकील द्वारा दलीय मुकदमें लड़ने पर राजनयिक नियुक्ति प्राप्त करने में सफलता मिली है। कई बार राजनीतिक नियुक्ति में योग्यता तथा क्षमता गौण हो जाती है। सत्तारूढ़ दल, अपने आलोचकों को दूर देश में राजदूत नियुक्त कर, उनसे अपना पीछा छुड़ लेते हैं। हिटलर ने अपने चांसलर लूथर से पीछा छुड़ाने के लिये वाशिंगटन में राजदूत बनाकर भेजा था। इसी प्रकार जर्मनी के चांसलर अदानाऊ ने अपने दलीय प्रतियोगिता को लन्दन दूत बनाकर भेजा था।

ग्रेट ब्रिटेन में, आपातकालीन स्थिति को छोड़कर सामान्य रूप से गैर-व्यावसायिक व्यक्तियों को राजदूत के रूप में नियुक्ति अति कठिन है, परन्तु समय-समय पर ऐसी नियुक्तियाँ होती भी रहीं हैं। 1939 में लार्ड लोथियन और 1940 में लार्ड हैलीफैक्स वाशिंगटन में राजदूत थे। 1961 में सर डेविड आरम्बसी गोर को कैनेडी परिवार के मित्र होने के कारण संसद से त्यागपत्र दिलाकर वाशिंगटन भेजा गया। जर्मनी में गैर-व्यावसायिकों के चयन की कम ही संभावना होती है। युद्धोपरान्त जर्मनी में प्रशिक्षित व्यक्ति मिलने लगे तो जर्मन विदेश विभाग ने गैर-व्यावसायिक राजदूतों की नियुक्ति बन्द कर दी। अदानाऊ के काल में कुछ गिने चुने उन व्यक्तियों को उसके पक्के समर्थक थे, तथा क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक दल के स्वामिभक्त सदस्य थे, उनके लिये जरूर इस सामान्य नियम से छूट रखी गई थी। फ्रांस में भी गैर-व्यावसायिकों की नियुक्ति की कम ही संभावना रहीं हैं। किसी भी गैर-व्यावसायिकों को राजदूत पद प्राप्त करने के लिये, आंतरिक प्रशासन का महत्वपूर्ण पद प्राप्त करना पड़ेगा और राजनेताओं के रास्ते में रोड़े अटकाने पड़ेंगे। फ्रांस में राजनेताओं के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाले को प्रायः विदेशों में राजदूत नियुक्त किया जाता रहा है। लेनिन ने एक अनाड़ी और वह भी एक औरत मदाम एलेक्सन्दर कोलोन्टाई, जो रूसी मान्यताओं के अनुसार विश्व की प्रथम महिला राजदूत थी को नियुक्त

किया था। आज रूस सामान्यतः अनाड़ी गैर-व्यावसायिक व्यक्तियों की नियुक्ति नहीं करता। किसी ऐसे व्यक्ति को जो सत्ताधारियों के लिये मुसीबत बन गया है, कभी-कभी विदेश में राजदूत बनाकर भेजा जाता है। स्टालिन ने अपरे विरोधी केमेनव को रोम और खुश्चेव ने अपने विरोधी मोलोटोव को बाहरी मंगोलिया भेजा था।

प्रत्येक राज्य तथा पीढ़ी में ऐसे विख्यात राजदूत हुए हैं जिन्होंने किसी भी प्रकार की राजनयिक शिक्षा प्राप्त नहीं की थी परन्तु फिर भी वे अत्यधिक सफल राजदूत रहे। 1942 में रूजवेल्ट ने इतिहास के प्रोफेसर डॉ० हेज को स्पेन भेजा था। हेज के आदेश थे कि वह स्पेन को जर्मनी का साथ नहीं देने देगा। हेज अपने कार्य में अत्यधिक सफल रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश विभाग का मत था कि हेज प्रतिष्ठित दूतों की श्रेणी का था। एवरेल हैरीमेन तथा हैरी हॉपकिन्स ने व्यावसायिक राजदूतों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण और विश्वसनीय भूमिकाएँ निभाई हैं। राष्ट्रपति कैनेडी ने अक्टूबर 1962 में क्यूबा संकट के समय एक "अनाड़ी" डीन एचिसन को यूरोप में अमेरिकी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने को भेजा था। शर्मन कूपर, चेस्टर वाउल्स आदि भारत में सफल गैर-व्यावसायिक राजदूत रह चुके हैं। वे जो गैर-व्यावसायिकों की राजदूत के रूप में नियुक्ति के विरोधी रहे हैं, अपने पक्ष के समर्थन में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा मैक्सवैल ग्लक को श्रीलंका में राजदूत के रूप में नियुक्ति का उदाहरण देते हैं। जिसने रिपब्लिकन दल को 20,000 से 30,000 डालर का चन्दा दिया था। नियुक्ति के पूर्व सीनेट विदेश समिति में सीनेटर फुलब्राइट ने जब रत्नक से पूछा कि श्रीलंका का प्रधानमंत्री कौन है ? तो वह उत्तर नहीं दे सका। नाम बताये जाने पर उसने स्वीकार किया कि प्रधानमंत्री एस०डब्ल्यू०आर०डी० भंडारनायक के नाम का बोलना भी उसके लिये कठिन है। विदेश मंत्री डलेस ने उस पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि वह स्वयं भी उन व्यक्तियों के नाम याद नहीं रख सकता जिनके सम्पर्क में वह रोज आता है, जब तक कि पहले इसकी तैयारी न की जाये। रत्नक की नियुक्ति ने प्रकारांतर से व्यावसायिक नियुक्ति की ही पुष्टि की, क्योंकि एक व्यावसायिक राजनयिक कभी भी ऐसी गलती नहीं कर सकता था। गैर-व्यवसायिकों का विरोध इस कारण भी रहा है कि थोड़े समय के लिये नियुक्त गैर-व्यावसायिक राजदूतों को विदेश सेवा में दीर्घकालीन सुधार के प्रति कोई अधिक रुचि नहीं होती है। गैर-व्यावसायिक नियुक्तियों के समर्थकों का मत है कि वे व्यावसायिक राजदूत की भाँति अत्यधिक सतर्कता नहीं बरतते हैं, अतः निडर होकर सफलतापूर्वक कार्य करते हैं, क्योंकि उन्हें भविष्य में उन्नति नहीं होने का कोई डर नहीं रहता। राजनीतिज्ञ, प्रत्यक्ष रूप से अपने विदेशमन्त्री व प्रधानमन्त्री से मिल सकते हैं, जैसा कि कृष्णमेनन मिला करते थे, जबकि व्यावसायिक राजदूत ऐसा कुछ नहीं कर सकते। गैर-व्यावसायिक राजदूत अपनी सरकार को बुरी लगने वाली बातें भी लिखकर भेज सकता है, जबकि व्यावसायिक ऐसा करने में हिचकेगा।

गैर-व्यावसायिक राजनीतिक अपने सरकार का दृष्टिकोण सरलता से व खुलकर रख सकता है, जैसा कि क्रिस्टोफर सोमस ने पैरिस में एक भाषण में ब्रिटेन को ईईसी में सदस्यता का खुलकर समर्थन दिया, जबकि संसद का विरोध पक्ष इस सदस्यता का विरोधी था। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि राजनय को सफल बनाने के लिये व्यावसायिक और गैर-व्यावसायिक राजदूतों का सम्मिश्रण आवश्यक है। कलाउडन का मत है कि "इस प्रकार की नियुक्तियाँ असाधारण रूप से सफल हो सकती हैं और जैसे-जैसे अवसर मिले उन्हें समय-समय पर नियुक्त करने रहना चाहिये। फिर भी ऐसी नियुक्तियाँ अपवाद होनी चाहिये नियम नहीं।" यह बात सत्य है कि व्यावसायिक राजदूत विदेशी दुनिया को उन व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छे ढंग से समझता है जिन्होंने रातोंरात नवीन प्रवेश पाया है।

राजदूत व्यवसायिक अथवा गैर-व्यवसायिक हो, इस पर कोई एक निर्णायक मत व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि कोई भी व्यावसायिक राजदूत भी उतना ही अयोग्य अथवा श्रेष्ठ है जितना कि एक अनाड़ी गैर-व्यावसायिक। फिर भी इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि राजनयिक सेवा में गैर-व्यावसायिकों को अधिक नहीं भरना चाहिये। आज के राजदूत के बढ़ते कार्य और उनके कंधों पर डाले गये नये-नये उत्तरदायित्व उनके कार्यों को जटिलता प्रदान करते हैं। उसके आर्थिक, सामाजिक, व्यावसायिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, तकनीकी, सैनिक आदि कार्य विभिन्नता के कारण एक व्यावसायिक राजदूत ही गैर-व्यावसायिक की अपेक्षा अधिक सफल रह सकता है। अतः सामान्य रूप से राजदूतीय कार्य यथासम्भव केवल व्यावसायिक व्यक्तियों को ही दिया जाना चाहिये। कैनेन का भी यही विश्वास है कि राजनय में व्यावसायिक राजदूतों की नियुक्ति राज्य के लिये लाभकारी है।

### आदर्श राजदूत

राजदूत का मूल कार्य राष्ट्रों के मध्य मैत्री व सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध बनाना है। उनके इन कार्य का न केवल उसके देश के वरन् सम्पूर्ण विश्व के सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है। विश्व में शांति रहे अथवा युद्ध इस प्रश्न का उत्तर भी उसकी योग्यता पर निर्भर करता है। अतः आवश्यकता है कि एक ऐसे व्यक्ति को ही राजदूत नियुक्त किया जावे जिसकी कुशलता व योग्यता असंदिग्ध हो क्योंकि इसी आधार पर विश्व शांति और व्यवस्था निर्भर है। ऐसे आदर्श राजनयिक को किस प्रकार का होना चाहिये ? उसके क्या गुण होने चाहिये ? एक आदर्श राजनयिक कौन हो सकता है ? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं।

यूनानी राजनय के प्रारम्भिक काल में राजदूतों का चयन उनकी आवाज, मधुर भाषण, मान्य बुद्धि एवं आकर्षक व्यक्तित्व के आधार

पर होता था। बाइजेनटिनी युग के राजनयिक से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे विदेशियों के प्रति शिष्ट हो तथा उसकी आलोचना नहीं करे। निकलसन के अनुसार राजनयिक व्यवस्था के अनुभव के आधार पर पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में आदर्श राजनयिक से निम्न नौ योग्यताओं की अपेक्षा की जाती थी :-

1. वह अच्छा भाषाविद् हो,
2. वह सुरुचिपूर्ण तथा विद्वान् हो,
3. उसे आनी चतुरता छिपानी चाहिये और दुनिया के एक मौजी व्यक्ति की भांति प्रकट होनी चाहिये,
4. उसे स्वाभाविक रूप से धैर्यशील व्यक्ति होना चाहिये,
5. उसे आतिथ्य सत्कार करने वाला होना चाहिये,
6. उसे प्रत्येक अच्छी बुरी परिस्थिति में वाणी संयम तथा मानसिक संतुलन बनाये रखना चाहिये।
7. उसका निजी-जीवन इतना संयमशील होना चाहिये कि शत्रुओं को उसके विषय में किसी प्रकार का विवाद फैलाने का अवसर प्राप्त न हो सके।
8. उसमें अपने देश की सरकार को किसी प्रश्न पर नीति अथवा अज्ञानता छिपाने तथा उसे दिये गये कठोर निदेशों को सहन करने की क्षमता होनी चाहिये और
9. उसे याद रखना चाहिये कि शक्ति प्रदर्शन के आधार पर अर्जित राजनयिक विजय अपने पीछे अपमान की भावना तथा बदले की इच्छा छोड़ जाती है। कोई भी आदर्श राजनयिक धमकी, डांट-फटकार अथवा चिड़चिड़ाहट से काम नहीं लेगा।

यद्यपि एक राजनयिक अभिमुर्ता की योग्यतायें राज्य के कानूनों द्वारा निश्चित की जाती हैं, परन्तु राजनयिक अभिमुर्ता की योग्यता के सम्बन्ध में ऐसे सिद्धान्तों का निरूपण कर दिया है जो सभी देशों में राजनयिकों से अपेक्षित है। राजनय के स्वरूप तथा राजनयिकों को योग्यता के सम्बन्ध में नियमों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, लेकिन वर्तमान युग में एक सफल व आदर्श राजदूत के गुणों को जानने के पूर्व यह उचित ही होगा कि प्राचीन व मध्यकालीन लेखकों व स्वयं राजदूतों द्वारा वर्णित आदर्श राजदूतों के गुणों का विहंगावलोकन किया जाये।

### प्राचीन विद्वानों के मत में आदर्श राजनयिक के गुण

माप्सबरी के द्वारा लार्ड मेकटन (Lord Camden) को लिखे गये एक पत्र में जो परामर्श दिया गया था वह राजदूत का एक उच्च गुण माना गया था। माप्सबरी ने लिखा था कि प्रथम व सर्वोत्तम सलाह जो मैं इस व्यवसाय में प्रविष्ट होने वाले नवयुवक को दे सकता हूँ वह ध्यानपूर्वक सुनना, और बात नहीं करना, कम से कम उससे अधिक नहीं जो दूसरे लोगों को बात करने को उत्साहित करने के लिये आवश्यक हो।" कैलियर्स ने भी एक ही वाक्य में आदर्श राजदूत की योग्यता-दूसरों को सुनना बताया है। कैलियर्स के मत में यह उसकी सबसे बड़ी योग्यता है। इसके साथ-साथ वह साहस, सत्यनिष्ठा, विश्वसनीयता और गोपनीयता पर भी बल देता है। वह साहस को महत्वपूर्ण योग्यता मानता है। चार्ल्स पंचम के ललकारने पर भी फ्रांसीसी राजदूत द्वन्द्व युद्ध के लिये तैयार नहीं हुआ। फ्रांस के राजा फ्रांसिस प्रथम ने जब यह सुना तो उसने न केवल राजदूत को नौकरी से निकाल दिया वरन् कसम खाई कि वह कभी भी कायर व्यक्ति को अपना दूत नियुक्त नहीं करेगा। हालांकि आज द्वन्द्व युद्ध करने के साहस की भी आवश्यकता नहीं है, परन्तु फिर भी राजनयिक में आवश्यकतानुसार सरकार को अप्रिय बातें लिखने का साहस अवश्य होना चाहिये। मेकियावेली ने, जो स्वयं एक सफल राजदूत था, परामर्श दिया है कि राजदूत को अपने आचरण व कार्यों से सम्माननीय प्रतीत होना चाहिये। सद्भाव व ईमानदारी की कीर्ति प्रत्येक राजदूत के लिये आवश्यक है। वह कभी-कभी झूठ व छल-कपट का सहारा ले सकता है परन्तु उसका यह कृत्य दूसरों को प्रकट नहीं होना चाहिये। यदि किसी कारण उसका भेद खुल जाये तो उसको उत्तर के लिये भी तैयार रहना चाहिये।

डॉ० वैरा के मत में राजदूत का सर्वप्रथम कर्तव्य अपने स्वामी को सही-सही बातें बताना है, चाहे वे अप्रिय ही क्यों न हों। डॉ० वैरा युद्ध की स्थिति में धोखे के उपयोग को स्वीकार करता है। वह सैटो के इस मत से भी सहमत है कि असम्मान और संकट से बचने के लिये तथा शांति की स्थापना के लिये, आवश्यकता पड़ने पर अपने मूर्ख राजा के निर्देशों के विरुद्ध भी जाया जा सकता है। विकेफोर्ट बुद्धिमत्ता को राजदूत का आवश्यक गुण मानता है। यह ठीक ही कहा गया है कि बुद्धिमत्ता, युद्धास्त्रों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

राजदूत आत्मसंयमी होना चाहिये। विकेफोर्ट के मत में "आत्मसंयत...एक गुण है और यह राजदूत के लिये परक-आवश्यक है क्योंकि जो आप को संयत नहीं रखता वह दूसरे व्यक्त को, जिसके साथ वह वार्ता करता है, महान लाभ प्रदान करता है।" क्रोध दूत का

एक बहुत बड़ा अपगुण है। कार्टिनल मैजरीन ने जो उसे समय केवल बीस वर्ष का ही था, मिलन के गर्वनर फेरिया के ड्यूक को इतना गुस्सा दिलाया कि उसनवे गुस्से में जो कुछ कहा उससे मेजरीन ड्यूक के उद्देश्य को जान गया। यह सब कुछ वह कभी भी नहीं जान पाता यदि ड्यूक ने विवेक, धैर्य और आत्म संयम से काम लिया होता। विवेक राजदूत को सफल बनाता है। विकेफोट ने कहा था कि “वे मस्तिष्क जो शोरे तथा गंधक से निर्मित हो, जिन्हें छोटी से छोटी चिन्गारी आग लगा देती हो, उनके द्वारा अपने प्रेषणों से मामलों को बिगाड़ देने की भारी संभावना होती है, क्योंकि उनके क्रोध को उत्तेजित करना और उन्हें क्रोधान्माद में डाल देना सरल होता है। क्रोध की अवस्था के दौरान वे नहीं जानते कि वे वा कह रहे हैं।” निकलसन ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था कि “वे अवसर जब राजदूत ने गुस्सा किया आने वाली पीढ़ी द्वारा घणा से याद किये जाते रहेंगे।”

बनोर्ड डी रोजियर के अनुसार एक आदर्श राजदूत में धैर्य, सत्यनिष्ठा, स्वामिभक्ति और विश्वसनीयता आदि गुणों का होना आवश्यक है। एरमोलाओं बारबारो ने राजदूत में झूठ व छल-पट को न केवल अविवेकपूर्ण और अनुपयोगी वरन् अनैतिक भी बताया है। डी० वैरा ने भी छल-कपट का विरोध किया और कहा था कि छल-कपट और धोखे के आधार पर प्राप्त राजनयिक विजय कभी भी स्थायी नहीं हो सकती है। एक आदर्श राजदूत को “धूर्तता तथा दुरंगी नीति जैसी छोटी-छोटी बातों से ऊपर रहना चाहिये, जो केवल एक दुर्बल तथा बिगड़े मस्तिष्क की उपज होती है।” विकेफोट भी झूठ का विरोधी था। उसी के शब्दों में “यह कहना शायद ही आवश्यक है कि अन्यायपूर्ण आरोप में नरमी दिखाने के किसी भी अवसर, किसी भी उत्तेजना, किसी भी आतुरता के लिये तुम्हारे समक्ष उद्देश्य को आगे बढ़ाने वाले किसी भी विचार के लिये चाहे वह कितना भी प्रलोभनकारी हो, झूड़ की आवश्यकता नहीं हो सकती। ...इस प्रकार प्राप्त सफलता अस्थिर तथा निराधार है। पता लगने पर वह न केवल तुम्हारी कीर्ति को ही सदा के लिये बरबाद कर देगी बल्कि तुम्हारे सम्मान को भी भारी ठेस पहुंचायेगी।” इसीलिये विकेफोट के मत में किसी भी राजदूत की सर्वोच्च एवं सर्व-प्रथम योग्यता सत्यनिष्ठा होनी चाहिये। जीन हॉटमैन का मत था कि किसी भी व्यक्ति के लिये झूठ और धोखा उसके सम्मान और प्रतिष्ठा के विरुद्ध है।

ओटावियानो मार्गो के अनुसार राजदूत को प्रशिक्षित धर्मशास्त्री होना चाहिये तथा उसे प्लेटो और अरस्तु के विचारों तथा विभिन्न भाषाओं तथा विषयों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। किसी भी आदर्श राजदूत को अधिक शराब पीकर संतुलन नहीं खोना चाहिये। एक समय था जब जर्मनी व हॉलैण्ड में अधिक शराब पीना राजदूत की प्रशंसनीय योग्यता मानी जाती थी। कैलियर्स के मतानुसार एक योग्य राजदूत को साधन-सम्पन्न होना चाहिये। उसे अधिक विनोदी नहीं होना चाहिये। उसे अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिये। उसे स्त्रियों से सम्पर्क तो रखना चाहिये, परन्तु प्रेम के चक्कर में नहीं फंसना चाहिये। साहस आदर्श राजदूत का आवश्यक गुण है। उसमें घड़ीसाज की भांति धैर्य अतुल मात्रा में होना चाहिये, एक धैर्यवान व्यक्ति ही सफल वार्ताकार हो सकता है। योग्य राजदूत को भाषाविद होना चाहिये। जर्मन, फ्रांसीसी, इतावली और स्पेनिश भाषा का ज्ञान आवश्यक है। लेटिन भाषा की अनभिज्ञता उसके लिये शर्म की बात होगी, क्योंकि वह पूर्ण ईसाई जगत की भाषा है। आदर्श राजदूत को साहित्य विज्ञान, तथा गणित का भी थोड़ा बहुत ज्ञान होना चाहिये। उसे समय समय पर भोज देते रहना चाहिये। एक अच्छा रसोइया वार्ता की सफलता का बड़ा रहस्य है। एक आदर्श राजदूत कैसा हो, इस पर टैसो ने कहा था कि “आदर्श राजदूत रखने के लिये तुम्हें पहले आदर्श राजा रखना होगा।” (To have the perfect ambassador, you must first have the perfect prince)।

राजनय के मध्ययुगीन काल के विभिन्न लेखकों डोलेट, ब्रान, मैगियस, जेन्टली, हॉटमैन, लीवेयर, टासो आदि ने अपने-अपने दृष्टिकोण से एक आदर्श राजदूत की योग्यताओं के बारे में लिखा है परन्तु सभी इस बात पर सहमत हैं कि आदर्श राजदूत को उच्चवंश का, धनी तथा सुन्दर होना चाहिये। जहां तक सम्भव हो उसका स्वास्थ्य भी अच्छा हो, क्योंकि रोगी राजदूत अपने कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन नहीं कर सकेगा। आदर्श राजदूत को धर्मशास्त्र, संगीत, गणित ज्योति और दर्शन शास्त्र का भी ज्ञान होना चाहिये। जेन्टली इतिहास के ज्ञान को आदर्श राजदूत की सहायताार्थ ही मानता था। उसकी यह भी मान्यता थी कि इतिहास के ज्ञान से शून्य कोई व्यक्ति राजदूत हो सकता है, ऐसा वह कभी सोच भी नहीं सकता। जेन्टली के अनुसार एक आदर्श राजदूत में स्वाभाविक, वीरता संयम और विवेक होना चाहिये। रोजियर आदर्श राजदूत को विनीत, धैर्यवान, पवित्र, परोपकारी, मद्बुभाषी तथा सदृच्छा वाला मानता है।

### आधुनिक समय में आदर्श राजनयिक के गुण

मानव प्रकृति लगभग वैसी ही है जैसी आज से सैंकड़ों वर्ष पूर्व थी, अतः आदर्श राजदूत को दिये गये उस समय के परामर्श आज भी उल्लेखनीय हैं। आधुनिक राजदूत को भी उनका गूढ़ अध्ययन करना चाहिये। वर्तमान जगत की बढ़ती हुई जटिल समस्याओं और वैज्ञानिकों व तकनीकी क्रान्ति के कारण आज के राजनयिक से 16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दी के राजनयिकों से कहीं अधिक अपेक्षाएँ की जाती हैं। आज उसके कार्य अधिक जटिल एवं उत्तरदायित्वपूर्ण हैं। उससे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक,

तकनीकी, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार के उत्तरदायित्वों की पूर्ति की अपेक्षा की जाती है। उनमें विभिन्न पक्षों की विशेष योग्यता व ज्ञान होना चाहिये। उसका कार्यक्षेत्र आज अति विस्तृत है। भारतीय राजदूत जी०एल० मेहता के अनुसार आज का राजदूत अपने देश का प्रतिनिधित्व "उसके नानाविध पक्षों तथा स्वरूपों में करता है" वास्तव में आधुनिक राजदूत विविध दशाओं और धरातलों पर अपने देश का प्रतिनिधित्व करता है। विश्व राष्ट्रों के मध्य अच्छी समझ के लिये चुनौती इतिहास में इससे पूर्व कभी भी उतनी प्रबल नहीं रही, जितनी कि वह आज है। आज राजनय की यह मांग है कि राजदूत में अन्तर्दृष्टि की भावना हो, उसका विशाल ज्ञान हो तथा न्यायोचित समझ हो। आज राजनय इतना महत्वपूर्ण बन गया है कि इनकी योग्यता पर ही राज्य का भाग्य निर्भर करता है। दो देशों के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं अथवा कटुतायुक्त, यह राजदूत की योग्यता व निपुणता पर ही निर्भर करेगा। आवश्यक है कि योग्य एवं निपुण व्यक्ति का ही दूत के रूप में चयन हो। अतः प्रश्न है कि आधुनिक जगत में अपने महत्वपूर्ण दायित्वों की पूर्ति के लिये आदर्श राजदूत की क्या योग्यतायें हों ?

### आकर्षक व्यक्तित्व

किसी भी राजदूत का व्यक्तित्व आकर्षक एवं स्वास्थ्य उच्चकोटि का होना चाहिये। एक आकर्षक व्यक्तित्व सभी को प्रभावित करता है। किसी भी सफलता की कुंजी आकर्षक व्यक्तित्व है। रूस की महारानी कैथरीन महान की माता ने प्रशा के सम्राट फ्रेड्रिक महान को एक पत्र में लिखा था कि वह तो केवल एक खूबसूरत, अच्छे रंग तथा मधु स्थाव के राजदूत को ही स्वीकार करेगी।

### राष्ट्रीय सम्मान

राजदूत को अपने देश का सम्मान बराबर बनाये रखना चाहिये। फ्रांस के राजदूत ने, राष्ट्रीय सम्मान को बराबर बनाये रखने के लिये रूप द्वारा तुर्की पर विजय के उपलक्ष में किये गये एक समारोह में केवल इसलिये भाग लेने से मना कर दिया क्योंकि वह हाल जिसमें समारोह हो रहा था, उन फ्रांसीसी झंडों से सजाया गया था, जो फ्रांस से कभी जीते गये थे। आधुनिक समय में राष्ट्र के लिये कहे गये अपमानसूचक शब्दों के प्रयोग अथवा राष्ट्र विरोधी बातें कहने पर समय-समय पर विरोध प्रकट किया गया है। भारतीय दूतों ने समय-समय पर पाकिस्तान व चीन द्वारा भारत विरोधी रवैये के कारण, समारोह अथवा भोज से उठ कर अपना विरोध प्रकट किया। चीन उप-प्रधानमंत्री टेंग द्वारा रूस "युद्ध का प्रमुख स्रोत" कहने पर रूस व पूर्वी यूरोप के सात राजदूत सामूहिक भोज का बहिष्कार कर, भोज से बाहर चले अये थे। जर्मन गणतन्त्र में चीनी राजदूत पेंग क्यांग बी तथा उसका दुभाषिया एक समारोह में से उस समय उठ कर चले गये जब जर्मन गणतन्त्र के प्रतिरक्षा मन्त्री ने चीनी विचारधारा की आलोचना की। 2 अक्टूबर, 1975 को भी उप-प्रधानमंत्री टेंगापंग द्वारा यूगोस्लाविया के प्रधानमंत्री डलैमल विजडिक (Djemal Bkjedic) के सम्मान में दिये गये भोज का रूस व अन्य साम्यवादी देशों के राजदूतों ने उस समय बहिष्कार किया था जब पिंग ने रूस विरोधी बातें कही थी। इस प्रकार आदर्श राजदूत को राष्ट्रीय सम्मान को सर्वोपरि रखना चाहिये।

### सत्यनिष्ठा

आदर्श राजदूत की कोई भी योग्यता क्यों न हो, परन्तु इसी मत से सहमत हैं कि झूठ, धोखा और छलकपट उसकी योग्यतायें नहीं हैं। निमलसन के मत तें राजदूत की सर्वप्रथम योग्यता सत्यनिष्ठा है। लार्ड पामर्सटन ने एक बार कहा था कि राजदूत बाईबल के दस नियमों (Ten Commandments) के सभी आदेश, सिवाय ग्यारहवें के—तू पकड़ा नहीं जायेगा—तोड़ सकता है। राजदूत को यथासम्भव झूठ नहीं बोलना चाहिये। झूठ बोलने से हो सकता है कि उसे तात्कालिक लाभ अथवा सफलता भले ही मिल जाये परन्तु भविष्य में उसका कोई स्थान नहीं रहेगा। भविष्य में यदि वह सत्य बोलेगा भी तो सह झूठ ही समझा जायेगा। सामान्यतः राजनयिकों की यह प्रतिष्ठा कि वह झूठ बोलते हैं, का लाभ उठाकर बिस्मार्क और डिजरायली ने बताया था कि वे सदा ही सत्य बोलते रहे हैं क्योंकि वे जानते थे कि लोग उनका विश्वास नहीं करेंगे। नेपोलियन का मत था कि कभी-कभी झूठ बोला जा सकता है। टेलरां ने मैजरीन व मैटरनिक की तुलना करते हुए कहा था कि मैजरीन धोखा देता है परन्तु झूठ नहीं बोलता। मैटरनिक झूठ बोलता है परन्तु धोखा नहीं देता है। स्मरणीय है कि खुला व्यवहार विश्वास पैदा करता है। टेलरां ने एक बार कहा था कि राजनय झूठ और धोखे का विज्ञान नहीं है। (Diplomacy is not a science of stratagem and duplicity)। हाँ, सत-उद्देश्य से बोले गये झूठ को बाद में ठीक कर देने से राजदूत की साख बन जाती है तथा भविष्य में उसके प्रति विश्वास बढ़ जाता है। कैलियर्स का मत है कि "अच्छा वार्ताकार कभी भी अपनी सफलता झूठे वायदों अथवा विश्वास के उल्लंघन पर आधारित नहीं करेगा। यह मान लेना गलत है जैसा कि जनमत मान लेता है कि कुशल राजनयिक को धोखेबाजी की कला में पारंगत होना आवश्यक है। झूठ तो वास्तव में उस व्यक्ति के मानविक ओछेपन का प्रमाण है जो उसका सहारा लेता है और यह प्रदर्शित करता है कि वह अपने उद्देश्य को न्यापूर्ण तथा उचित साधनों के द्वारा प्राप्त करने के लिये पर्याप्त रूप से सक्षम नहीं है। निःसंदेह झूठ बोलने की कला का उपयोग कभी-कभी राजनयिकों

द्वारा सफलतापूर्वक किया जाता है, किन्तु इसके विपरीत ईमानदारी यहां अथवा अन्यत्र कहीं भी सर्वोत्तम नीति है। झूठ सदा ही अन्त में जहर की बूँद छोड़ जाता है...अधिक से अधिक चकाचौंध करने वाली यह राजनयिक विजय जो धोखेबाजी से प्राप्त की गई, असुरक्षित नींव पर आधारित रहती है। वह पराजित पक्ष में आक्रोश की भावना, बदला लेने की इच्छा और प्रतिरोध का साथ छोड़ जाती है जो सदा के लिये एक खतरा होता है। भले ही धोखेबाजी किसी भी सही मानसिक स्थिति वाले व्यक्ति को अपने आप में विरोध की भावना युक्त न लगे, फिर भी वार्ताकार को स्मरण रखना चाहिये कि वह बचे हुए जीवन में लगातार राजनयिक काल में लगा रहेगा और उसके लिये अत्यन्त आवश्यक है कि वह सरल, सीधी, ईमानदार, व्यवहार के लिये ऐसी कीर्ति स्थापित करे ताकि लोग बाद में उसके शब्दों का विश्वास करने के लिए विश्वास करने के लिये तैयार रहें। देश के अध्यक्ष अथवा विदेश मन्त्री को राष्ट्रीय हित में झूठ बोलने का अधिकार है। प्राचीन विचारक भी इस मत से सहमत थे। प्लेटो ने अपनी पुस्तक "रिपब्लिक" में इसी प्रकार की छूट दी है। सुकरात ने एक बार कहा था कि "राज्य के शासक ही वे व्यक्ति हैं जिनको देश अथवा विदेश सर्वत्र ही मिथ्या भाषण का विशेष अधिकार प्राप्त है उन्हें राज्य की भलाई के लिये झूठ बोलने की अनुमति दी जा सकती है।" कौटिल्य का भी यही विचार था। राजदूत को, मैकियावेली के इस परामर्श को कि चूँकि दूसरे लोग झूठ बोलते हैं अतः तुम्हारे द्वारा बोला गया झूठ न्यायसंगत है, कभी भी नहीं मानना चाहिये। इटली के विदेश मन्त्री बैरन सोबकनो (Bron Soanmino) ने 1918 में अपने कमरे की अंगीठी का कार्नास पर ये शब्द खुदना दिये थे कि "अन्य भले ही (बोलें) तुम्हें नहीं" झूठ बोलना चाहिये। आधुनिक राजदूत को इस आदर्श वाक्य को सर्वद स्मरण रखना चाहिये। लार्ड साम्सबरो ने भी अपने अनुभव से यही सीख दी थी कि झूठ और छलकपट कभी भी लाभदायक नहीं है। अतः किसी भी परिस्थिति में राजदूत को झूठ का आश्रय नहीं लेना चाहिये। प्रायः राष्ट्राध्यक्ष व राजदूत बौद्धिक झूठ बोलते हैं। द्वितीय महायुद्ध के दौरान अमरीकी राजदूत ने अपनी सरकार को एक प्रतिवेदन में यह लिखा था कि रूस लम्बे समय तक लड़ सका है तथा रूस में खूब समृद्धि है, जबकि अपनी रेल यात्रा के दौरान उसने चारों तरफ सूखे-सड़े खेत देखे थे। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल द्वारा 1956 में जब मिस्र पर आक्रमण किया गया तो उसके कार्य के औचित्य के लिये प्रधानमंत्री ईडन ने कई झूठ बोले। पहले तो उसने यह कहा कि आक्रमण का उद्देश्य मिस्र में ब्रिटिश सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा है; फिर कहा कि उसका उद्देश्य स्वेज नहर में जहाजों की रक्षा है, फिर कहा कि मिस्र पर आक्रमण नहीं, बल्कि "पुलिस कार्यवाही" है जिससे कि लड़ते हुए मिस्रियों और इजरायलियों को अलग रखा जा सक। जब संयुक्त राष्ट्र ने ब्रिटेन और फ्रांस की कार्यवाही की भर्त्सना की तो ईडन का कहना था कि हमने जो कुछ भी किया है उसका उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र को मध्य पूर्व में कार्य करने के लिये बाध्य करना था। ईडन द्वारा इस प्रकार की झूठ का सहारा लेने पर डा० गेट्सकी ने व्यंग्य में कहा था कि हर चोर अपने कार्य को औचित्य तथा उसे न्यायिक यह कह कर बता सकता है कि वह चोरी इसलिये करता है कि जिससे पुलिस वालों की चोरी रोकने की शिक्षा मिलती है। यू-टू काण्ड (1 मई 1960) के सामय संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने यह झूठ बोला था कि उनका हवाई जहाज जन्तु विज्ञान के अध्ययन हेतु भेजा गया था तथा गलती से ही रूसी सीमा में चला गया था, जबकि वास्तव में वह जासूसी जहाज था तथा जानबूझ कर रूस में जर्मनी करने के लिये भेजा गया था। संसार इस बात को जानता है कि इस झूठ के परिणामस्वरूप पैरिस की शिखर वार्ता टूट गई और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को दूर करने का एक अच्छा अवसर हाथ से निकल गया। क्यूबा की घटना के पूर्व रूस ने झूठ बोला था कि उसने क्यूबा को केवल रक्षा के लिए आवश्यक शस्त्र दिये हैं। क्यूबा पर आक्रमण (पिग्स की खाड़ी की घटना) के पूर्व राष्ट्रपति कैंनेडी के प्रेस-सचिव को आज्ञा दी गई थी कि वह यह साफ मना कर दे कि उसका देश क्यूबा पर कोई आक्रमण करना चाहता है।

प्राचीन व आधुनिक दोनों की कालों में ऐसे राजदूतों की कभी नहीं रही है, जिन्होंने झूठ, छल-कपट और धोखे का सहारा नहीं लिया हो, और साथ ही उन्हें न्यायसंगत नहीं ठहराया हो। जर्मनी के राजनीतिज्ञ प्रिन्स वूलो का कहना था कि बैथमन हालवेग (Bethman Hollweg) को साफ मुकर जाना चाहिये था कि उसने वर्साय की सन्धि के लिए "कागज का टुकड़ा" (Scrap of Paper) शब्द का प्रयोग किया था। इसी सन्दर्भ में गिरिजा मुकर्जी ने अपनी पुस्तक "राजनय-सिद्धान्त और इतिहास" में एक उदाहरण दिया है। सम्राट मैक्सीमिलियन ने इंग्लैण्ड जाने वाले एक राजदूत से कहा था कि वह इंग्लैण्ड के एक राजनेता से मिले और पता लगाये कि वह सम्राट के बारे में क्या सोचता है? राजदूत ने वापस लौटने पर बताया कि राजनेता का कहना था कि सम्राट ने उससे दो बार झूठ बोला था। सम्राट ने उत्तर दिया "झूठा कहीं का, मैंने तो उस दिन तीन बार झूठ बोला था।" काउन्ट जिलासी (Count Seilassy) ने राजनय की पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि किन्हीं परिस्थितियों में झूठ बोलना "राष्ट्रीयता" का प्रतीक है। राष्ट्रपति विलसन दो परिस्थितियों में झूठ बोलने की स्वीकृति देते थे। प्रथम, जब किसी स्त्री के सम्मान का प्रश्न हो। द्वितीय, जब सार्वजनिक हित निहित हो। स्वयं विलसन ने सीनेट की विदेश समिति के समक्ष उस समय झूठ बोला जब उसने कहा था कि उसे मित्र देशों के मध्य गुप्त सन्धियों का कोई ज्ञान नहीं था। उपर्युक्त मान्यताओं के बावजूद प्रायः सभी इस बात से सहमत हैं कि "साख" और "विश्वास" झूठ और धोखे से कहीं अधिक उपयोगी है। यह निर्विवाद सत्य है कि सत्य वार्ताओं और सम्बन्धों में सुविधा उत्पन्न करता है जबकि झूठ उसे निष्क्रिय

बनाती है। जूलेस केम्बो नैतिक सत्यता को राजदूत को सर्वोच्च योग्यता मानता है। वास्तव में राजदूत का नैतिक प्रभाव ही उसकी सबसे प्रभावकारी योग्यता है।

## गोपनीयता

गोपनीयता राजनय का वह मूल आधार है, जिसके बनाये रखना राजदूत का परम कर्तव्य है। इस कर्तव्य में असफलता एवं अयोग्यता राजदूत को उपहास का पात्र बनाती है। 1854 में संयुक्त राज्य अमेरिका को सरकार के आदेशानुसार ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन स्थित अमेरिकी राजदूतों ने विचार-विमर्श के पश्चात् यह परामर्श दिया कि चूँकि क्यूबा खरीदा नहीं जा सकता, अतः उस पर अधिकार जमा लिया जाना चाहिये। यह गुप्त परामर्श प्रकट हो गया और क्यूबा व अन्य देशों में अमेरिकी नागरिक उपहास के पात्र बन गये। सरकार को झूठ बोलकर यह विज्ञप्ति निकालनी पड़ी कि उसका इस परामर्श से कोई सरोकार नहीं था, जबकि वास्तविकता में वह इससे प्रत्यक्षतः सम्बन्धित थी। कैलियर्स के अनुसार "गोपनीयता राजनय की आत्मा है और गुप्त रहस्यों की रक्षा करने की योग्यता राजनयिक के लिये आधारभूत है" (Secrecy is the very soul of diplomacy and ability to guard secrets is basic for diplomacy)।

राजदूत की वार्ता के दस्तावेजों तथा संकेताक्षरों को तिजोरियों में सुरक्षित रखना चाहिये। द्वितीय महायुद्ध के दौरान तुर्की में ब्रिटिश राजदूत सर ह्यू क्नेचदुल हमेसन (Sir Hugh Knatchbull Hugeson) ने अपनी तिजौरी की चाबी भूल से अपनी पैंट की जेब में छोड़ी दी थी। राजदूत की इस असावधानी का उसके नौकर सिसरो ने लाभ उठाकर तिजौरी से गुप्त कागजात निकाल कर जर्मनी को बेच दिये थे। परिणामस्वरूप ब्रिटिश राजदूत काफी समय तक राजनयिक निकाय की चर्चा का विषय बना रहा। राजदूत के घर अथवा दूतावास के कमरों में भी जासूसी यन्त्र लगे रहते हैं। राजनयिकों को इनसे भी सावधान रहना चाहिये। श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित का यह विश्वास था कि उनके घर में ऐसे ही यन्त्र लगे हुये थे तथा दूतावास के रूसी कर्मचारी उनके यहां गुप्तचरी करते थे। उन्होंने ऐसे एक गुप्तचर को तो रंगे हाथों पकड़ा भी था। जासूसी और गुप्तचरी आज सभी देशों के राजनय का एक अभिन्न अंग बनव बये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की सी०आ०ए० की गतिविधियां इसका प्रमाण हैं। नितानता राजनय के इस युग में गोपनीयता बनाये रखना आवश्यक है। इसे सुरक्षित रखने की दृष्टि से राजदूत को अपने दस्तावेजों, फाइलों आदि को किसी को भी कहीं भी नहीं ले जाने देना चाहिये, भले ही अपने समक्ष किसी पत्र के अध्ययन की अनुमति दे दे। किसी भी गुप्त पत्र, फाइल, दस्तावेज आदि को खुला नहीं छोड़ना चाहिये तथा समय-समय पर उसे स्वयं इनका निरीक्षण कर यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि वे वैज्ञानिक उपकरण जो छोटी से छोटी बातों को अंकित कर लेते हैं तथा जिनका प्रयोग सामान्य होता जा रहा है, इससे सावधान रहना आवश्यक है। यू-टू काण्ड के सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र में हुई वार्ता के मध्य अमेरिका ने लकड़ी की एक चील को मंच पर रखा और सभी को बताया कि रूस ने इस चील में सुनने के सूक्ष्म यन्त्र लगा रखे थे।

गोपनीयता बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि राजदूत को अधिक बातूनी और शराब पीने वाला नहीं होना चाहिये। कैलियर्स ने चेतावनी दी थी कि "शराब की उष्णता प्रायः महत्वपूर्ण गुप्त रहस्यों की खोज की ओर ले जायेगी।" कुछ समय पूर्व तक अधिक शराब पीकर भी जो राजदूत अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखता था, वह आदर्श राजदूत माना जाता था। आज यह माना जाने लगा है कि जनसम्पर्क के लिये जो "कॉकटेल पाटियाँ" आयोजित की जाती हैं, वे निरर्थक हैं, समय और साधनों की बर्बादी तथा उबाने और थकाने वाली हैं। शराब की मदद के बिना राजनीतिक महत्व की जानकारी नहीं हासिल की जा सकती है। यह मानने का कोई कारण नहीं है। राजनय का इतना विकास हो चुका है और इसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इतने तरीके निकाले जा चुके हैं कि अब शराब अपनी उपयोगिता खो बैठी है। शायद यही कारण है कि ब्रिटेन ने अपने राजनयिकों को सलाह दी है कि विदेशों में अपने निवास स्थान को "शानदार निजि मधुशाला" बनाने के बजाय वे जनता से मिलने, उसको देखने और सुनने-समझने की अधिक कोशिश करें। राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति और दायित्वों के निर्वाह में सुरा की भूमिका अब समाप्त सी होती जा रही है। आज राजनय के अनेक द्वार खोल लिये हैं। अधिक बातूनी राजदूत आज भी दूतावासों द्वारा दिये गये भोज्यों तथा अन्य समारोहों में प्रिय हैं क्योंकि वह बातों के मध्य लापरवाही से गुप्त बातें निकाल सकता है। राजदूत को अपने ऊपर नियन्त्रण रख कर अपनी मुख मुद्रा से भी अपने हृदयगत विचारों को प्रकट नहीं होने देना चाहिये। आज जब विज्ञानव में गोपनीयता से सुनने व तस्वीर खींचने आदि की व्यवस्था है तो इसको और भी अधिक आवश्यकता है। बहुराज्यीय व्यवस्था तथा सन्धि मित्रों के इस युग में गुप्तता को बनाये रखना कठिन होता जा रहा है। आयरलैण्ड की यह लोकोक्ति कि वह "गोपनीयता नहीं है जो तीन को मालूम हो", ठीक ही है। राजदूत को घूस तथा आर्थिक सहायता देने में अति विवेक का प्रयोग करना चाहिये। उसे उन छोटे-छोटे आदमियों को भी घूस देनी चाहिये जिनकी बड़े आदमियों तक पहुंच हो। भ्रष्ट साधनों के उपयोग का कार्य उसके द्वारा प्रत्यक्ष न होकर उसके निम्न अधिकारियों के माध्यम से ही होना चाहिये। उसे स्वयं कभी भी जासूसी नहीं करनी चाहिये।

## संक्षिप्तता और सुस्पष्टता

संक्षिप्तता और सुस्पष्टता निकलसन के मत तें राजदूत की विशिष्ट योग्यता है। राजदूत को स्पष्ट, उपयुक्त, सम्माननीय तथा आपत्तिहीन शब्दों में अपनी बातें कहनी चाहिये। उसके द्वारा दिये गये नोट अथवा स्मरण पत्र आदि की भाषा स्पष्ट होनी चाहिये, जिससे गलत व्याख्या और गलतफहमी की कोई सम्भावना नहीं रहे। उसके द्वारा भेजे गये प्रतिवेदन स्पष्ट, सरल, सही एवं विस्तृत होते हुए भी संक्षिप्त होनी चाहिये और साथ ही निश्चित, निष्पक्ष और सत्य भी। राजदूत प्रायः अपने आपको इस लोभ से वंचित नहीं कर पाते हैं कि वे विस्तृत प्रतिवेदन न भेजें। विस्तृत प्रतिवेदनो का एक दुष्परिणाम यह होता है कि वे आद्योपीत पढ़े नहीं जाते। अमेरिकी सीनेटर हैनरी जैकसन ने एक कमेटी के समक्ष साक्ष्य में कहा था कि विदेश विभाग में दूतों द्वारा भेजे गये प्रतिवेदनों की बाढ़ सी आ जाती है।

कैलियर्स के अनुसार किसी भी प्रतिवेदन को लिपिबद्ध करने के पूर्व कुछ नियमों का पालन करना चाहिये अर्थात् प्रतिवेदनों में आलंकारिक भाषा न हो, स्पष्ट वर्णन हो, परदेश का सही चित्रण हो, उसके देश के नेताओं, अधिकारियों, मन्त्रियों आदि का वर्णन हो और उसमें वे सब बातें हों जो कि प्रेषित राज्य को स्वीकारी राज्य का सही ज्ञान उसके अनुकूल परदेश के प्रति न्यायिक नीति निर्मित करने में सहायक हो। इन प्रतिवेदनों में राजदूत को अपने व्यक्तिगत विचार और प्रस्ताव भी भेजने चाहिये जिससे कि सरकार सही विदेश नीति का निर्माण कर सके। उसे इस प्रलोभन से भी दूर रहना चाहिये कि वह अपने देश को वही प्रतिवेदन भेजे जो उसके राज्य को पसन्द हो। यह बात तानाशाह देशों के राजदूतों पर विशेष रूप से लागू होती है जहां राजनयिकों को तानाशाह की इच्छा के विरुद्ध बातें लिखकर अपना पद व नौकरी खोने का सदा डर लगा रहता है। 1914 व 1939 में जर्मन सरकार यह प्रतिवेदन मानने को तैयार नहीं थी कि ब्रिटेन इतना सशक्त है कि युद्ध होने पर वह प्रभावी ढंग से लड़ सकेगा। 1939 में गवाही देते हुए विख्यात राजदूत एवरेल हैरीमेन ने कहा था कि "मैंने कई आदमियों के जीवन को नष्ट होते देखा है।" क्योंकि उनके विचार अपनी सरकार के विचारों से नहीं मिलते थे। आदर्श राजदूत को अपने द्वारा भेज जाने वाले प्रतिवेदनों को कई बार दोहरा लेना चाहिये जिससे कि कोई गलती नहीं रह जाये। एक मामूली सी उगलती भी दो राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों को कटु बना देती है। यदि राजदूत विदेश मन्त्री अथवा राज्याध्यक्ष से मौखिक वार्ता करता है तो लौटने पर उसे तुरन्त ही वे सब बातें लिपिबद्ध कर लेनी चाहिये जो उनके साथ की गई हैं। तत्पश्चात् सम्बन्धित अधिकारी अथवा विदेश मन्त्री को दिखाकर, उनकी स्वीकृति प्राप्त करके ही प्रतिवेदन अपने देश को भेजना चाहिये। यदि मामला केवल मौखिक संवाद वहन पर छोड़ दिया जाये तो गलतफहमियां निश्चित ही पैदा होंगी। पेरिस स्थित ब्रिटिश राजदूत लार्ड नॉमब्लबी ने 1848 में फ्रांसीसी विदेश मन्त्री, प्रधानमन्त्री गूजों के साथ हुई वार्ता का प्रतिवेदन उसे दिखाये बगैर अपने देश भेज दिया था। मूजों ने इस वार्ता में दिये गये मौखिक वायदों को बाद में नकार दिया था। मूजों का मत था कि मौखिक वाता उस समय तक बन्धनकारी नहीं होती जब तक उन्हें लिपिबद्ध करके दूसरे पक्ष से स्वीकृति प्राप्त नहीं कर ली जाती। यदि लार्ड नॉर्मनबी यह गलती नहीं करता तो उसे लज्जित होने की आवश्यकता नहीं होती। टेलरां ने भी कहा था कि "यदि धुन को कागज पर नहीं लिखा गया तो उसका कोई मूल्य नहीं है।" राजनय में मौखिक शब्दों और वाक्यों को मानकर नहीं चला जा सकता है।

## अपने राज्य के प्रति स्वामिभक्ति

राजनयिक को अपने राज्य के प्रति अटूट स्वामिभक्ति होनी चाहिये। अविश्वसनीय राजदूत, राजदूत नहीं रहता है। राजदूत को इस बात का विश्वास होना चाहिये कि उसके देश की विदेश नीति सही और न्यायिक है। उसे अपनी सरकार द्वारा भेजी गई आज्ञाओं के अनुसार कार्य करना चाहिये, भले ही वे उसके व्यक्तिगत विचारों से कितनी ही भिन्न क्यों न हों। राजदूत को अपने व्यक्तिगत सरकार विरोधी विचार कभी भी प्रदर्शित नहीं करने चाहिये। अमेरिकी राजदूत विलियम सेक्ससबी द्वारा भारत पहुंचने पर यह घोषणा करना कि वह अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को शस्त्र देने का विरोधी है, ठीक नहीं था। राजनय में व्यक्तिगत विचारों का कोई महत्व नहीं है। एक राजनयिक का प्रथम कर्तव्य अपने देश की सरकार का सही प्रतिनिधित्व करना है, भले ही उसके व्यक्तिगत विचार कैसे ही क्यों न हों। कैलियर्स भी इस मत का समर्थक था परन्तु उसने इस परामर्श में एक छूट दी थी कि यदि आज्ञायें ईश्वर तथा न्याय के विरुद्ध हों तो निर्देशों की अवज्ञा की जा सकती है। यदि राजदूत अपनी सरकार द्वारा भेजे गये निर्देशों से सहमत नहीं हो तो उसे सरकार से अपना स्थानान्तरण मांग लेना चाहिये। जैसे 1958 में इंडोनेशिया में अमेरिकी राजदूत ने किया था, फिर भी एक बार अपने विरोध की अस्वीकृत पर अपने देश की आज्ञाओं को शिरोधार्य मान कार्य करना चाहिये अथवा त्यागपत्र दे देना चाहिये, जैसे कि 1956 में स्वेज कांड के कारण ब्रिटेन के अधीनस्थ राजदूतों ने त्यागपत्र दे दिया था जबकि वरिष्ठ राजदूत चुपचाप अपने कार्य पर बने रहे थे। 1938 में फ्रांस में जापानी राजदूती सुगीमूरा (Sugimura) जापान की जर्मनी के साथ संधि की नीति से सहमत नहीं था अतः वह सरकार से प्रार्थना करने के उपरांत छुट्टी लेकर चला गया था। इजरायल स्थित अमेरिकी राजदूत मेल्काम टून को विदेश विभाग ने इसलिये प्रताड़ित किया था कि उसने मिस्त्र के राष्ट्रपति सादत की जो अमेरिका के दौरे पर था की आलोचना



की थी। विदेश विभाग का मत था कि टून ऐसा कहते हुए अमेरीकी विदेशनीति के विपरीत कार्य कर रहा था। संयुक्त राज्य अमेरिका के विख्यात राजदूत ह्यू विलसन का मत है कि राजदूत एक वकील की भांति है, जिसे अपनी सरकार को एक निश्चित कार्यक्रम प्रवर्तित करने की प्रार्थना करनी चाहिये। यदि वह इसमें असफल रहता है या उसकी सरकार की नीति उसकी दृष्टि में ठीक नहीं है तो उसे त्यागपत्र दे देना चाहिये। पोलैंड में अमेरीकी राजदूत आर्थर लेन ने 1947 में इसी कारण त्यागपत्र दे दिया कि अमेरिका ने रूस द्वारा पोलैंड को अमेरिका ने अपने प्रभाव में लाने पर कड़ा विरोध प्रकट नहीं किया था। इसी संदर्भ में लंदन स्थित अमेरीकी राजदूत वाल्टर हाईन्स पेज का व्यवहार अनोखा था। पेज ने अपने देश से आये निर्देशों का खुलकर विरोध किया था। ब्रिटेन द्वारा की नाकेबन्दी के विरुद्ध अमेरिका ने एक बड़ा विरोध पत्र भेजा। पेज ने अपने देश की इंग्लैण्ड विरोधी नीति का इस हद तक विरोध किया कि उसने इंग्लैण्ड के विदेशमंत्री ग्रे के साथ मिलकर उस विरोध पत्र का उत्तर तक तैयार करवाया। किसी भी राजदूत का ऐसा कार्य देशद्रोह है। के०एम० पणिककर के शब्दों में "राजदूत को उस नीति को क्रियान्वित करना होता है जो उसकी सरकार निर्धारित करती है। ये उसकी स्वयं के परामर्शों से भिन्न हो सकती है क्योंकि किसी भी देश की सरकार ही पूरी स्थिति से परिचित होती है जबकि राजदूत केवल अपने विशिष्ट लक्ष्यों को ही जानता है। इसलिये जब उसे अनुदेशों को क्रियान्वित करना पड़ता है जो आधारभूत रूप से उसके विचारों के विरुद्ध हो तो उसे भावना, पक्षपात अथवा मैत्रीभाव से प्रभावित नहीं करना चाहिये और किसी भी स्थिति में उसे सम्बन्धित सरकार को अपने नेत्र टिमटिमाने के द्वारा भी यह प्रकट नहीं करना चाहिये कि उसके स्वयं के विचार उससे भिन्न नहीं हैं।" आदर्श राजदूत को किसी भी परिस्थिति में अपने देश से आये कड़े निर्देशों को मद्दु बनाकर अपनी सरकार के व्यवहार का गलत अनुमान नहीं देना चाहिये, भले ही उसके देश की विदेश नीति स्वीकारी राज्य को पसन्द न हो। साथ ही राजदूत को स्वीकारी राज्य की प्रेषित राज्य के प्रति क्या भावनायें हैं, उनका भी अपने देश को सही चित्र भेजना चाहिये। अमेरिका के राजदूत मोयानिहान द्वारा विदेश सचिव डा० किसिंजर को एक गुप्त केबल में भारत में अमेरिका के प्रति भावना का चित्र दिया तथा साथ ही अमेरीकी सरकार से प्रार्थना की कि वह भारत के प्रति अपना रवैया बदले।

### धैर्य, आत्मसंयम और मधुर भाषा

एक डच राजदूत ने अपने सम्मान में दिये गये एक विदाई समारोह में कहा था कि मेरा व्यवहार एक खूबसूरत हंस की भांति था जो ऊपर से दिखने में शांत था परन्तु पानी में वह निरन्तर पैर चला रहा था। इस प्रकार एक आदर्श राजदूत को शांत रहना चाहिये भले ही वह अन्दर कितना ही परेशान क्यों न हो। उसके मुख के भावों से उसके अन्दर का संघर्ष व्यक्त नहीं होना चाहिये। एक शांत मस्तिष्क व नियन्त्रित स्वभाव सफल राजनय का जनक है। धैर्य और आत्मसंयम सफल राजदूत का अनिवार्य तथा आवश्यक गुण है। निकलसन के अनुसार किसी भी अनुभवी राजदूत का एक महत्वपूर्ण गुण धैर्य है। उसे प्रत्येक परिस्थिति में धैर्यवान होना चाहिये। उत्तेजना और राजनय एक दूसरे के विपरीत हैं। टेलरां ने एक नये राजदूत को परामर्श दिया था कि "और सबसे ऊपर तुम अपने कार्य में अपने को उत्तेजित नहीं होने दो।" क्रोध और उत्तेजना से राजनयिक को सामान्य नागरिक की भांति हानि उठानी पड़ती है, जबकि मद्दु स्वभाव मैत्री सम्बन्धों को बढ़ाने वाला होता है। शिष्ट और सम्मानीय व्यवहार सभी को प्रभावित करता है। हैनरी अष्टम को परिषद के सदस्य विनवेस्टर के बिशप ने एक गुस्सा करने वाले राजदूत को अप्रत्यक्ष रूप से कहा था कि वह खराब रसोइया है जो अच्छे खाने को खराब चटनी से खराब कर देता है। 1813 में नेपोलियन तथा 1906 में काउन्ट टेटनबॉक को क्रोध के कारण ही असफलता का सामना करना पड़ा था। क्रोध से अधिक और कोई मूर्खता नहीं है। विरोधी पक्ष भले ही कितना उत्तेजित, क्रोधित अथवा मूर्खतापूर्ण बातें क्यों न करें, एक आदर्श राजदूत को विपरीत परिस्थितियों में भी धैर्य नहीं खोना चाहिये। जूलेस कॅम्बां ने जो बर्लिन में फ्रांस का राजदूत था, अपनी पुस्तक "डिप्लोमेटिस्ट" में धैर्य को राजदूत की सर्वोच्च योग्यता बताई है। जूलेस के अनुसार, "तुम्हें सहनशील तथा धैर्यवान होना चाहिये, यदि तुम राजनयिक के रूप में सफल होना चाहते हो।" उन्होंने कहा था कि "जब कभी धैर्यवान राजनयिक को विपरीत वायु का सामना करना पड़े तो वह अपना कार्यभार रूपी जलयान धैर्यरूपी लंगर के सहारे बंदरगाह में ही पड़ा रहने दें।" जूलेस का भाई पॉल कॅम्बो भी धैर्य का प्रतीक था। फ्रांसीसी राजदूत के रूप में जब वह लंदन पहुंचा तो उस समय फ्रांस और इंग्लैण्ड के सम्बन्ध अति कटु थे। धैर्य के कारण ही उसके लंदन छोड़ते समय तक दोनों देशों के सम्बन्ध घनिष्ठ मित्रता में परिणत हो चुके थे। 1953 में कोरिया युद्ध की समाप्ति तथा 1955 की आस्ट्रिया के साथ शांति सन्धि की वार्तायें केवल धैर्य के कारण ही सफल हुई थीं। सत्रहवीं शताब्दी के स्पेनिश राजदूतों के लिये यह विख्यात था कि वे कभी भी जल्दबाजी नहीं करते थे न ही गुस्सा होते थे।

राजदूत को शीलयुक्त और विनम्र भी होना चाहिये। अहंकार सफल राजनय का शत्रु है, तो धैर्य और सहनशीलता उसके गुण। दंभी राजदूत में और भी कई दुर्गुण आ जाते हैं। वह भाववेशी, क्रोधी और झूठा हो जाता है। निकलसन के मत में "सभी राजनयिक अवगुणों में व्यक्तिगत आडम्बर निश्चित रूप से सबसे अधिक हानिकारक हैं।" राजनय में दंभ और आडम्बर का कोई स्थान नहीं है। यह दूसरे

पक्ष के जखमों पर नमक छिड़कने के बराबर है। 1962 में क्यूबा काण्ड के समय राष्ट्रपति कैंनेडी ने पत्रकारों से विशेष प्रार्थना की थी कि वे रूस द्वारा झुकने के बारे में पत्रों में टीका टिप्पणी नहीं करें। व्यवहार—कुशलता और राजनय पर्यायवाची हैं। आदर्श राजदूत को अपनी अभिरूचियों को छिपाना चाहिये। राजनयिक को अप्रिय बातों का उत्तर अप्रिय बातों से कभी नहीं देना चाहिये। विनम्र उत्तर झगड़े को दूर रखता है। यह ठीक ही कहा गया है कि “अप्रिय व गंभीर बातों को सुन्दर ढंग से कहना व करना ही राजनय है।” राजदूत को कभी भी “नहीं” तो कहना ही नहीं चाहिये। “नहीं” कहने वाला व्यक्ति वास्तव में राजदूत नहीं है। एक आदर्श राजदूत को अपने ऊपर इतना संयम रखना चाहिये कि उसकी सुख मुद्रा अथवा उसकी वाणी से उसके हृदय की बात प्रतिबिम्बित न हो।

### आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप

एक आदर्श राजदूत को स्वीकारी राज्य के आन्तरिक मामलों में कभी भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सेवा नियमों के अनुदेशों में राजदूतों को स्वीकारी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की सख्त मनाही है। 1796 के राष्ट्रपति चुनाव में फ्रांस के मंत्री एडट ने खुले आम फ्रांसीसी समर्थक जैफरसन के पक्ष में दबाव डाला तथा फ्रांसीसी विरोधी जॉन आदम का विरोध किया। अमेरिका ने एडट के इस कार्य को उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप माना जिसके परिणामस्वरूप अमेरिका में फ्रांस के विरुद्ध मत बना। 1959 में बोलिविया में स्थित अमेरिकी अधिकारी ने “टाईम” समाचार पत्र के एक लेख में बोलिविया की बिगड़ती आर्थिक स्थिति के कारण मत व्यक्त किया था कि इसे पड़ौसी राज्यों में बांट देना चाहिये। बोलिवियावासियों ने इससे उत्तेजित होकर दूतावास के विरुद्ध प्रदर्शन व पथराव किया था। आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप तथा मिश्र विरोधी पक्षों के बांटने के आरोप में 26 जून 1976 को मिश्र सरकार ने लिबिया के राजदूत, मलोद एल० सदीक रसादान गिरफ्तार कर तुरन्त देश से बाहर निकल जाने की आज्ञा दे दी। आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप के साथ-साथ राजदूत से यह भी अपेक्षित है कि उसे अपने दूतावास को स्वीकारी राज्य के विरुद्ध प्रचार अथवा विरोध का केन्द्र नहीं बनने देना चाहिये।

### अपने देश के साथ सम्पर्क

एक आदर्श राजदूत का अपने देश के जनमत के प्रति सदा जागरूक रहना चाहिये तथा अपने देश में प्रवाहित राजनीतिक तरंगों का भी अध्ययन करते रहना चाहिये। उसे अपने देश के लिये विदेशी नहीं बन जाना चाहिये विशेषकर उस जनमत के प्रति जो गह राजनीति को प्रभावित करने वाला हो। लम्बी अवधि तक राज्य से बाहर रहने के कारण देश के साथ सम्पर्क टूट जाता है। अतः राजदूत को समय-समय पर अपने देश वापस लौटना चाहिये। टॉमस जैफरसन ने अपनी वापसी पर लिखा था कि “मैं जब छः-सात वर्ष की अवधि की अनुपस्थिति के पश्चात् फ्रांस से लौटा तो जो परिवर्तन हुए मैं उन्हें देखकर अचम्बित रह गया, मैंने अपने आपको उनके विचारों अथवा दृष्टिकोणों को समझने में पूर्ण अयोग्य पाया।” अपने एक साथी को लिखते हुए जैफरसन ने लिखा था कि “हम विदेशियों की भांति लौटते हैं तथा इनकी भांति यहां लम्बी अवधि का आवास ही हमें अमरीकी बना पाता है।” जनरल डगलस मैकार्थर चौदह वर्षों की लम्बी अवधि के पश्चात् 1951 में जब अमेरिका लौटा तो उसने स्वीकार किया कि उसने अपने देश को काफी परिवर्तित पाया। अधिक समय तक अपने देश से अनुपस्थिति के कारण न केवल राजदूत अपने देश में बह रही तरंगों से अनभिज्ञ रहता है वरन् राजनयिक का स्वीकारी राज्य के रंग में रंग जाने का भी भय रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के 1946 के एक अधिनियम द्वारा यह नियम बना दिया गया था कि विदेश सेवा विभाग के किसी भी अधिकारी को अपने प्रथम पन्द्रह वर्षों में से तीन वर्ष अपने देश में बिताने पड़ेंगे। इससे संतुष्ट नहीं होने के कारण ही, सीनेट की एक उपसमिति ने 1965 में एक और निर्णय लिया था कि हर राजदूत को वर्ष में दो या तीन बार, देश के साथ सम्पर्क बना रहेगा तथा देश में बह रही राजनीति तरंगों के रंग में वह रंगा रहेगा। हैनरी एम० जैक्सन ने अपनी पुस्तक विदेश सचिव और राजदूत (The Secretary of State and the Ambassador) में परामर्श दिया है कि राजदूतों को वर्ष में दो या तीन बार अपने देश अवश्य जाना चाहिये।” स्वीडन के अधिकांश राजदूत देश से बाहर ही रहते हैं अतः वहां के एक नियमानुसार, राजदूतों को हर दो वर्षों में आवश्यक रूप से छुट्टी लेकर यह छुट्टी स्वीडन में ही बितानी पड़ी है, जिससे कि उनका स्वीडन के साथ सम्पर्क बना रहे।

समस्त देशों में राजदूत की उपयोगिता समय के साथ विकसित होती है, परन्तु उपभोक्त अतिरिक्त लाभ (Consumer Surplus) के नियम की भांति एक स्तर पर वह गिरने लगता है, क्योंकि राजदूत कुछ समय के पश्चात् अपने को स्थानीय सा मानने लगता है। वह स्थानीय व्यक्तियों, अधिकारियों आदि से इतना प्रभावित हो जाता है कि वह अपना मानसिक संतुलन खो बैठता है। कभी-कभी राजदूत की उदासीनता घणा में भी बदल जाती है। एक राजदूत जिसने एक अरब राज्य में पांच वर्ष गुजारे उसने स्वीकार किया कि वह अरबों से घणा करता था, तथा उसने प्रथम तीन वर्षों के पश्चात् अपने कार्य में कोई रुचि नहीं ली।

## स्थानीय सद्भाव

सामान्य जनता के सद्भाव को प्राप्त करने के लिये जहां तक सम्भव हो राजदूत को वहां की स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार सहयोग व सहानुभूति प्रदर्शित करनी चाहिये। 1954 में इटली के शहर सालेखों में बाढ़ आने पर अमरीकी राजदूत श्रीमती क्लारे बूथ लूस ने दो दिन तक बाढ़ पीड़ितों की पानी और कीचड़ में घुस कर सेवा की थी। इस प्रकार की ठोस सहायता व सहानुभूति करोड़ों रुपये की विदेशी सहायता से भी कहीं अधिक प्रभावशाली होती है। भारत में नार्वे के राजदूत कंटु वोल्ले वीक ने 4 अप्रैल 1977 को मुजफ्फरनगर से 35 किलोमीटर दूर एक स्थान पर एक नये गांव का उद्घाटन किया जिसका नाम नार्वेनगर रखा गया। इस ग्राम का विकास नार्वे को ग्राम्य जीवन पद्धति के आधार पर किया जायेगा तथा नार्वे सरकार इसमें सहायता देगी। बीक के इस कार्य से भारत में नार्वे के प्रति सद्भावना बढ़ी। नई दिल्ली स्थित अमेरिकी राजदूत चेस्टर बाउल्स ने अपने बच्चों को भारतीय विद्यालयों में पढ़ने भेजा था। वह स्वयं साइकिल पर दिल्ली में घूमा करता था। भारतीयों के प्रति उसकी नीति "तुम उतने ही अच्छे हो जितने हम" ने उसे भारत में एक लोकप्रिय राजदूत बना रखा था। परन्तु राजदूत को यह ध्यान रखना चाहिये कि वह लोकप्रियता की प्रतिस्पर्धा में नहीं लगा रहे। उसे न तो अधिक लोकप्रिय और न बहुत अलोकप्रिय नहीं होना चाहिये। उसे सही माध्यमार्ग अपनाना चाहिये, और प्रशंसा की अपेक्षा सम्मान प्राप्ति की ओर अग्रसर होना चाहिये। यह ठीक ही है कि अधिक सद्भावना एवं सहिष्णुता तथा भक्ति भावना किसी भी राजदूत की कार्यक्षमता पर प्रभाव डालती है तथा उसके विवेक को भी समाप्त करती है। यह भी कटु सत्य है कि अत्यधिक लगाव अथवा कटु घणा राजनय में आवश्यक शांत स्वभाव को विकृत कर देती है।

एक योग्य राजदूत को पर-देश की विदेश नीति और गह समस्याओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। पर-राज्य को अधिक से अधिक जानकारी उसे तात्कालिक घटनाओं को समझने में सहायता देगी। आज हमें यूनानी विचारकों के उपदेश "अपने को जानो" के स्थान पर "अपने शत्रु को जानो" पर अधिक बल देना चाहिये। स्वीकारी राज्य की सामान्य जनता व अधिकारी वर्ग यह जानकार प्रसन्न होंगे कि राजदूत को उनके देश की जानकारी व ज्ञान है। यह ज्ञान सद्भावना बढ़ाने में सहायक होगा। स्वीकारी राज्य की भाषा से अनभिज्ञता एक बड़ी अयोग्यता है। सफलता और कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिये स्वीकारी देश की भाषा का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। इस संदर्भ में सेटो परामर्श देता है कि "वह मन्त्री जो उस देश की भाषा का अध्ययन करने के लिये समय निकाल सकता है, जहां वह भेजा गया है, उसकी उपलब्धि में लाभदायक सिद्ध होगा। किसी भी राष्ट्र के हृदय तक पहुंचने के लिये सबसे अधिकक निश्चित उपाय उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने तथा लोगों की भावनाओं को समझने की इच्छा का प्रमाण प्रस्तुत करना होता है।" यह प्रमाण वहां की भाषा के ज्ञान प्राप्ति की इच्छा है। फ्रांस में अमरीकी राजदूत होरेस पोर्टर की सफलता और उसकी जनता में लोकप्रियता का कारण उसकी फ्रेंच भाषा का ज्ञान था। रिजर्व बैंक के गवर्नर की हैसियत से पैरिस के एक सम्मेलन में भाग लेने गये डा० चिंतामणि देशमुख फ्रेंच भाषा में बोले गये कुछ वाक्यों के कारण वे फ्रांस में लोकप्रियता प्राप्त करने में सफल रहे थे। अर्थात् कांश व्यावसायिक राजनयिक उस देश की भाषा का ज्ञान रखते हैं जहां उनकी नियुक्ति होती है। प्रायः सभी देशों में विदेशी भाषा की शिक्षा का दिया जाना अनिवार्य है।

किसी भी राजदूत को स्वीकारी राज्य की राजधानी से ही बंध नहीं जाना चाहिये क्योंकि किसी देश की राजधानी पूरा देश नहीं होता। राजदूत को "जीप द्वारा राजनय" (Diplomacy by Jeep) में विश्वास करते हुए जहां तक हो स्वीकारी देश के अधिक से अधिक भाग का भ्रमण करके ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। हर देश की परिस्थितियां – राजनयिक, सामाजिक, आर्थिक आदि अलग-अलग होती हैं। देश की सम्पूर्ण स्थिति का ज्ञान नहीं होने पर राजदूत गलत निर्णय ले लेते हैं। चीन में भारत के राजदूत के०एम० पणिक्कर का चीन की तिब्बत सम्बन्धी नीति के बारे में चाऊ द्वारा यह स्पष्ट करन देने पर भी कि तिब्बत को स्वतंत्र कराना चीन का पवित्र कर्तव्य है, पणिक्कर द्वारा भारत को सचेत नहीं करना, उनकी चीन की स्थानीय राजनीति के अध्ययन की कमी बताता है। अक्टूबर 1917 को अमेरिकी राजदूत फ्रांसिस ने अपने देश तार भेजा कि मेरी रूस के प्रति गहरी सद्भावना है और मेरा दृढ़ विश्वास है कि उस पर आई विपत्ति का वह देश सामना कर लेगा तथा वह प्रजातंत्र के लिये सुरक्षित रहेगा। यदि हम और हमारे मित्र धैर्य रखें तथा सहयोग करते रहें, परन्तु महीने भर के अन्दर ही रूस में क्रान्ति हो गई और शीघ्र ही वहां साम्यवादी राज्य स्थापित हो गया। यह इस बात का प्रमाण है कि दूत रूसी परिस्थितियों से कितना अनभिज्ञ था। इसी कारण राजदूत को स्वीकारी राज्य के इतिहास, भौगोलिक स्थिति जैसे स्थानीय क्षेत्र, प्राकृतिक विभाजन, पैदावार, खनिज पदार्थ, उद्योग व कला आदि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। राजदूत को वहां के व्यक्तियों का रहन-सहन, खानपान आदि का ज्ञान भी अपने राजनयिक कार्य पूर्ति में सहायम होता है। केलियर्स के मत में राजदूत को पर्यटक की भांति नहीं राजनीतिज्ञ के रूप में स्वागतकर्ता देश का दूर-दूर तक भ्रमण करना चाहिये। उसका मत था कि जब तक राजदूत खूब भ्रमण नहीं करेगा तब तक वह स्वीकारी राज्य को सम्पूर्ण स्थिति का सही मूल्यांकन नहीं कर सकेगा। जेलेस केम्बान का भी यही मत था। यदि संभव हो और स्थानीय परिस्थितियां अनुमति दें तो राजदूत को विभिन्न दलीय

नेताओं आदि से मिलकर उनके व उनके दलों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। 1712 में लंदन जाते समय ड्यूक डी ऑर्मॉण्ट को निर्देश था कि "इंग्लैण्ड का संविधान ऐसा है कि अंग्रेजी सरकार इस बात का बुरा नहीं मानेगी यदि राजदूत विरोधी पक्ष के साथ सम्बन्ध रखे। अतः ड्यूक व्हिग्स दल के संसर्ग को नहीं टुकरायें।" आज तो शायद ही कोई विरोधी पक्ष की जानकारी की उपेक्षा कर सकता है। एक बार एक राजदूत को उस समय बड़ा अचम्भा लगा जब प्रधानमंत्री उसे एक कोने में ले गया और कहा कि विरोधी पक्ष के नेता से भी मिलना चाहिये, जो कि एक अच्छा आदमी है। प्रधानमंत्री ने दूत से यह भी कहा कि भविष्य में शायद दूत का उससे ही काम पड़े। इस संदर्भ में राजदूत की योग्यता इसी में है कि वह विरोधी पक्ष के साथ अत्यधिक लगाव नहीं रखे। यह उसके व उसके देश के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकता है। कैलियर्स कार्डिनल ऑसेट को इसलिए एक सफल राजदूत मानता था क्योंकि उसे सभी व्यक्तियों और परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान था। उसके संदर्भ में यह कहा गया है कि उसकी पैनी दृष्टि से कुछ नहीं छूटता था।

आदर्श राजदूतों को स्थानीय परम्पराओं को स्वीकार कर लेना चाहिये। उसे चाहिये कि उसके सामने स्वीकारी राज्य के रहन-सहन अथवा खानपान आदि की आलोचना नहीं होने पाये। माक्सबरी ने एक बार राजदूत को परामर्श दिया था कि उसे राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों को अपने ही देश में छोड़ कर आना चाहिये। उसे स्वागतकर्ता राज्य की आलोचना तथा अपने देश की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। 1947 में चर्चिल जब प्रधानमंत्री नहीं था, तब उसने एक बार कहा था कि "जब मैं विदेश में होता हूँ तो मैंने एक नियम बना रखा है कि मैं अपने देश पर आक्रमण अथवा उसकी आलोचना नहीं करता हूँ। इस कमी की पूर्ति मैं देश पहुँचने पर कर लेता हूँ। एक राजदूत को अपनी सभ्यता, संस्कृति और नैतिकता की उच्चता कभी भी प्रदर्शित नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह उसके राजनयिक कार्यों में बाधा पहुँचाने में सहायक होती है। किसी राजनयिक का नैतिक प्रभाव उसकी सबसे अधिक आवश्यक योग्यता है। जैफरसन का मत था कि राजनयिक को स्वीकारी राज्य के निवासियों के साथ मित्रता तो अवश्य करनी चाहिये परन्तु उनके साथ अधिक प्रेम नहीं बंधना चाहिये। 1966 में होनोलूलू में होने वाले एक सम्मेलन में राष्ट्रपति जॉनसन ने दक्षिण वियतनाम के अलोकप्रिय तथा अर्ध-तानाशाह प्रधानमंत्री थ्यू के गले में हाथ डाल मित्रता प्रदर्शित की थी। वियतनाम की जनता से नाराज होकर राष्ट्रपति जॉनसन का "यांकी वापस जाओ" नारे से अपना गुस्सा व विरोध प्रदर्शित किया। एक राजनयिक को किसी भी समस्या पर कड़ा रुख नहीं अपनाना चाहिये। इसके विपरीत उसे छोटे मोटे प्रश्नों पर अन्य पक्ष की बात मान अपना सम्माननीय स्थान बना लेना चाहिये जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर महत्वपूर्ण प्रश्नों पर वह अन्य पक्ष से अपना दृष्टिकोण मनवाने में सफल हो सके। आदर्श राजदूत वही है जो स्वीकारी राज्य के राज्याध्यक्ष, सरकारी अधिकारी व सामान्य नागरिकों का विश्वासप्राप्त कर सके। टेलरां का मत था कि राजदूत को हठी तभी होना चाहिये जब अति आवश्यक हो। एक बार हठी होने पर उसे अपनी बात से डिगना नहीं चाहिये। इस संदर्भ में मैटिरनिक का मत था कि "मामले को वैसा ही छोड़ दो वे अपने आप ही सुलझ जायेंगे।"

### सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति

योग्य राजदूत का अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह समय-समय पर भोज देकर अथवा भोजों में सम्मिलित होकर तथा स्थानीय सांस्कृतिक उत्सवों, शिकार, प्रदर्शन, खेल, सिनेमा आदि में भाग लेकर करना चाहिये। उसे हर प्रकार के खाना खाने व शराब पीने की आदत होनी चाहिये। उसे अत्यधिक सुरापान करने के पश्चात् भी अपना संतुलन नहीं खोना चाहिये। इसी संदर्भ में यह कहा गया था कि राजदूत के एक ही पेट है, वह कहां तक सभी जगह सभी प्रकार का खाना खाए। हर समय भोजों तथा समारोहों में खड़े-खड़े भाग लेकर प्रायः राजदूत थक जाता है। 1930 में लंदन स्थित अमेरिकी राजदूत चार्ल्स डॉस ने कहा था कि "राजनय मस्तिष्क के लिये कठिन नहीं है परन्तु पैरों के लिये तो यह नरक है।" (Diplomacy is not too hard on the brain, but it is hell on the feet). नेपोलियन महान् ने अपने राजदूत आर्चबिशप मैलाइन्स को 1802 में लन्दन नियुक्ति पर जाते समय परामर्श दिया था कि अच्छे भोज देना मत भूलो। राजदूत पेज का मत था कि इस प्रकार के भोजों आदि में राजदूत विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, और अपने साथी राजदूतों से उसके सम्बन्ध घनिष्ट बनते हैं। सामान्य वार्तालापों में वह कभी काम की बातें भी सुन सकता है। लक्समबर्ग में अमेरिका की राजदूत श्रीमती पर्ल मेस्टा भोज देने के लिये विख्यात थी। उसके लिये कहा जाता था "Perl Mesta, the hostess with the mortess"।

### विभिन्न विषयों का ज्ञान

राजदूत के सभी कार्य राजनीति के सांचे में ढलते हैं अतः राजदूत के लिये राजनीति का ज्ञान आवश्यक है। यदि वह स्वयं राजनीति में भाग लेता रहा है तो यह और भी उत्तम है क्योंकि इस परिस्थिति में वह इस बात को समझेगा कि राजनीति मानव स्वभाव का वह अंग है जिसका और कोई विकल्प नहीं है। अतः राजदूत को राजनीति का ज्ञान सफल आदर्श राजदूत बनाने में सहायक रहेगा। ब्रिटिश विदेश विभाग के उप सचिव लांग हैन्डरसन के मतानुसार तीक्ष्ण राजनीतिक समझ वाला राजदूत अधिक योग्य होता है। उनसे यह पूछे जाने पर कि राजनय के एक नये नवनि्युक्त में कौन सी योग्यता सबसे अधिक अपेक्षित है, उनका उत्तर था "राजनीतिक संवेदनशीलता—इसके बिना एक पी०एच०डी० बेकार है और इससे युक्त एक हाई स्कूल का विद्यार्थी मूल्यवान है।"

ग्रेट ब्रिटेन से विदेशमन्त्री व तत्पश्चात् वहां के प्रधानमन्त्री हैराल्ड मैकमिलन ने एक भाषण में कहा था कि दो हजार वर्ष पूर्व बाइबल में लिखित शब्द आज भी प्रासंगिक है "मानव की मूलभूत प्रतिक्रियाएं आज भी वहीं हैं जो पूर्व ऐतिहासिक काल में थीं, अतः एक राजदूत जितना अधिक इतिहास का ज्ञाता होगा उतनी ही अधिक सफलता से वह वर्तमान समस्याओं का हल निकाल सकेगा। इतिहास के ज्ञान के साथ-साथ राजदूत को महापुरुषों की जीवनियां व संस्मरणों का भी गूढ़ अध्ययन करना चाहिये। इनसे वह बहुत कुछ सीख सकता है। यह ठीक ही है कि उन लोगों को, जो दूतावासों में नियुक्ति होना चाहते हैं, इतिहास का विशेष ज्ञान होना चाहिये। एक आदर्श राजदूत के लिये अर्थशास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक है। "सहायता राजनय" के इस युग में व्यापार, ऋण, कर, सीमाशुल्क, स्वर्णमान आदि उतनी ही अधिक जटिल आर्थिक व्यवस्थाएँ हैं जितनी कि राजनीति। यही कारण है कि ब्रिटिश विदेश सेवा के सुधार के लिये पारित एक प्रस्ताव में कहा गया था कि "अर्थशास्त्र तथा वित्तीय व्यवस्था अभिन्न रूप से राजनीति में धुल मिल गये हैं" अतः इसके गूढ़ ज्ञान व अध्ययन के बिना कोई भी राजदूत सफल राजनयिक नहीं बन सकता। आदर्श राजदूत का मनोविज्ञान का एक योग्य विद्यार्थी भी होना चाहिये। प्रथम श्रेणी का मनोवैज्ञानिक होने के कारण ही वह विरोधी पक्ष के विचारों को मुख पर आये भावों से ही जान लेगा। स्मरणीय है कि राजनय वास्तव में मनोभावों के अध्ययन, बौद्धिक विन्यास एवं व्यावहारिक प्रयोग की क्षमताओं का सम्मिश्रण है।

### अच्छा वक्ता

अति प्राचीन काल से ही राजदूत की सर्वोच्च योग्यता उसकी वक्तव्य शक्ति रही है। बदलती हुई आधुनिक परिस्थितियों में तो उसे विशेषकर अच्छा वक्ता होना चाहिये क्योंकि उसे विभिन्न परिस्थितियों में भाषण देने पड़ते हैं। सैंकड़ों वर्ष पूर्व डेमोस्थनीज ने ठीक ही कहा था कि "राजदूत के पास युद्धपोत अथवा भारी पैदल सेना अथवा किले नहीं होते हैं, किन्तु उनके शस्त्र शब्द तथा अवसर होते हैं।" राजनय के आरम्भिक काल की भांति आज भी राजदूत से अच्छा वक्ता होने की अपेक्षा की जाती है। रेडियो, टेलीविजन, पत्रकार सम्मेलनों, उप-शिखर सम्मेलनों आदि के इस युग में भाषण देने की योग्यता एक आदर्श राजदूत का आवश्यक गुण बनता जा रहा है। इस संदर्भ में राजनयिक को अपने देश के इतिहास, संस्कृति, सभ्यता आदि का विपुल ज्ञान होना चाहिये क्योंकि अपने देश का व्याख्याता होने के कारण इन विषयों पर बोलने के उसके पास कई अवसर होते हैं।

### भाषाविद्

राजदूत को भाषाविद् भी होना चाहिये। किसी भी व्यक्ति को यदि वह बहुभाषी नहीं है तो राजनय के क्षेत्र में आना ही नहीं चाहिये। प्राचीन काल में जब फ्रांसीसी लोकभाषा थी, उस समय भी राजदूत से जर्मन, इतालवी और स्पेनिश भाषा के ज्ञान की भी अपेक्षा की जाती थी। आज राजदूत को अपने देश की भाषा के साथ-साथ अंग्रेजी तथा स्वीकारारी राज्य की भाषा का ज्ञान भी होना चाहिये। सेटो का मत है कि स्वीकारारी राज्य की भाषा का ज्ञान राजदूत को लोकप्रिय बना देता है।

### योग्य प्रशासक

राजदूत को एक योग्य प्रशासक भी होना चाहिये। राजनय के निरन्तर बढ़ते हुए क्षेत्र तथा जटिल समस्याओं के समाधान के लिये आज दूतावास अधिकारियों, सैनिक, नाविक, हवाई, व्यापारिक, वित्तीय, सांस्कृतिक, कृषि, उद्योग व तकनीकी सहचारियों तथा विशेषज्ञों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। यह स्वाभाविक है कि एक योग्य प्रशासक ही उनसे ठीक प्रकार से काम निकाल सकता है। उसको व्यावहारिक बुद्धिवाला तथा कार्यपरख व्यक्ति होना चाहिये। किसी भी कुशल एवं योग्य राजदूत के लिये प्रोटोकॉल का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है क्योंकि "इसके प्रचलित प्रयोगों का उचित पालन अधिक अच्छी समझदारी तथा अनुशासन का प्रवर्तन करता है।"

### अन्य योग्यतायें

आदर्श राजदूत से और भी कई योग्यताओं की अपेक्षा की जाती है। राजदूत की नैतिक शक्ति उसका एक महत्वपूर्ण गुण है। प्रायः राजदूतों द्वारा वही लिखा जाता है जो उनकी गह सरकार के अनुकूल हो। संयुक्त राज्य अमेरिका में मेकारथी युग में राजदूत ऐसा ही करते थे। ऐसा समय में ही नैतिक शक्ति की आवश्यकता होती है, जब कोई राजदूत निडर होकर वही बात लिखे जो सही हो, चाहे वह कितनी ही कटु व अप्रिय क्यों न हों। राजनय के प्रारम्भिक काल में भी नैतिकता, आदर्श राजदूत की सर्वोच्च योग्यता मानी जाती थी। केम्ब्रिज तथा सर विक्टर वैलेसली जैसे सुविख्यात राजदूत भी इसी विचार के थे। आदर्श राजदूत में केवल नैतिक-साहस ही नहीं वरन् शारीरिक साहस भी होना चाहिये, विशेषकर आज के युग में जबकि आये दिन राजदूतों का अपहरण किया जाता है और जो क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। प्रेषित व स्वीकारारी राज्यों के प्रति उसकी भक्ति इतनी होनी चाहिये कि उसके शब्दों को वैसे ही स्वीकार किया लिया जाये। राजदूत को अपने से सम्बन्धित उच्चाधिकारियों के अलावा और किसी से निर्देश नहीं लेना चाहिये। इस नियम का उल्लंघन उसके लिये घातक होगा। लन्दन स्थित अमरीकी राजदूत जॉन मॉटले, प्रायः सीनेट की विदेश सिमिति के

चेयरमैन चार्ल्स सुमनेर की नीतिनुसार चलता था न कि विदेश सचिव हैमिलटन फिश के आदेशानुसार। राष्ट्रपति ग्रांट ने उसे इस बात पर पदमुक्त कर दिया था। एक कुशल और योग्य राजदूत को समय व परिस्थिति का तुरन्त लाभ उठाना चाहिये क्योंकि "राजनय अवसर का पूर्ण लाभ उठाने की कला है।" आदर्श राजदूत को ऊपरी तौर से दिखने वाले व्यक्तित्व तथा व्यवहार से कभी भी प्रभावित नहीं होना चाहिये। पणिकर, नेहरू तथा कृष्णमेनन इस बात को परख नहीं सके कि चाऊ और माऊ केसे व्यक्ति हैं। वे उन्हें "उदार" और "भला" ही मानते थे। राजनय में संवेदनशीलता और सौजन्य का कोई स्थान नहीं है। राजदूत को अपने निम्न अधिकारियों से परिवार के सदस्यों की भांति व्यवहार करना चाहिये। उनके सुख-दुःख का ख्याल रखना चाहिये। कभी-कभी यह उत्तरदायित्व राजदूत की पत्नियों भी निभाती हैं। समय-समय पर अपने यहाँ भोज आदि पर निम्न अधिकारियों को भी निमन्त्रित करते रहना चाहिये, जिससे राजदूत का व्यक्तिगत सम्पर्क बना रहता है। उसे अपने देश के नागरिकों, विद्यार्थियों, पर्यटकों तथा व्यापारियों के हितों की रक्षा करनी चाहिये। उसे नैतिक चरित्र व आकर्षक, व्यक्तित्व वाला, ठोस निर्णय लेने वाला और अच्छी स्मरण शक्ति वाला होना चाहिये।

संक्षेप में राजदूत को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिये। स्वामिभक्ति, बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता, सूझबूझ, सत्यनिष्ठा, चातुर्य, कार्यकुशल, लगन, परिश्रमशीलता, शांति, धैर्य, विनम्रशीलता, सत्कारशीलता, सौम्यता आदि की योग्यताएं उसमें होनी चाहिये। वास्तविकता यह है कि योग्य, कुशल और आदर्श राजदूत में सभी गुण होने चाहिये क्योंकि वह अपनी सरकार की आँख, नाक, कान और मस्तिष्क होता है।

### कतिपय विद्वानों के मत तैं आदर्श राजदूत के गुण

शूमां आदर्श राजदूत को परामर्श देता है कि उसे सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि "मित्रों के साथ ऐसा व्यवहार करें जैसे कि वे किसी दिन शत्रु हो जायेंगे तथा शत्रु के प्रति ऐसा व्यवहार करें जैसे कि वे कभी मित्र बन जायेंगे।" जार्ज एफ० केनन जो कि स्वयं एक सफल राजदूत रह चुका है आदर्श राजदूत में चरित्र, विवेक, सूक्ष्म दृष्टि, सांसारिक ज्ञान, सत्यनिष्ठा तथा मानवीय सहानुभूति एवं समझदारी की अपेक्षा करता है। विख्यात राजदूत सर डेविड केली के मत में "एक अच्छे राजदूत के लिये आवश्यक योग्यतायें हैं—सहज बुद्धि, अच्छा व्यवहार, विदेशी मनोवृत्ति की समझदारी और भाषा की सुस्पष्टता।" माइल्स कूपलैंड के अनुसार "आदर्श राजदूत वह है जो सभी पराजय व नैराश्य तथा बाधा-अपने उच्च अधिकारियों के गलत फैसलों समेत-को वैसे ही लें जैसे एक डाक्टर मानव रोगों को, बुराइयों के विरुद्ध निन्दा करके नहीं, वरन् समस्याओं के एक भाग के रूप में जिन्हें ठण्डे दिमाग से उसे सुलझाना है।" ए०एल० कैनेडी के आदर्श राजदूत की निम्नलिखित योग्यतायें बताई हैं—

1. वह मैत्रीपूर्ण तथा दृढ़ होता है,
2. वह उन कठिनाईयों को जिन्हें तुरन्त काबू में नहीं लाया जा सके, इसलिये टाल देता है ताकि उन्हें अधिक अनुकूल दशा में निपटाया जा सके,
3. वह विनम्र होता है, वह जल्दबाज भी नहीं होता,
4. वह सरलतापूर्वक कपटभाव का पता लगा लेता है, जिसका उन लोगों को आभास नहीं होता जो स्वयं निष्कपट होते हैं,
5. आदर की तीव्र भावना से जुड़ी हुई उसकी बुद्धि पैनी तथा मस्तिष्क सूक्ष्मदर्शी होता है,
6. इसमें योग्यता तथा ग्रहणशीलता की सहज बोधनीय भावना होती है।
7. वह हर समाज से परिचित होता है और समान रूप से पुरातन राजनय की चांसरियाँ तथा नवीन राजनय के मंच पर प्रभावोत्पादक होता है।

निकलसन आदर्श राजदूत में सात गुणों की अपेक्षा करता है जिससे सत्यनिष्ठा को वह सर्वोच्च स्थान देता है। यह "न केवल बौद्धिक परिशुद्धता वरन् नैतिक परिशुद्धता के रूप में होनी चाहिये।" आदर्श राजदूत में बुद्धि, ज्ञान, विवेक व सावधानी के साथ-साथ आतिथ्य सत्कार, यौम्यता, परिश्रम, सत्यनिष्ठा, सुस्पष्टता, मधुर-स्वभाव, सहनशक्ति, विनयशीलता तथा स्वामिभक्ति को वह महत्त्व देता है। लिविंग्स्टन मरचेन्ट के अनुसार स्नेही, आकर्षक, बुद्धिमान और विवेकी पत्नी, प्रशासकीय योग्यता और अच्छा स्वास्थ्य आदर्श राजदूत के गुण हैं।

किसी भी राजनयज्ञ को आदर्श राजदूत होने के लिये अपने व्यक्तित्व में सभी गुणों का समावेश करना असंभव है। यदि हम राजदूत से उपर्युक्त सभी योग्यताओं की अपेक्षा करते हैं, जो असंभव है, तो क्या वह अपना सारा जीवन इन्हें प्राप्त करने में लगा देगा ? वास्तविक जगत में ऐसा कुछ नहीं है। अपना कार्य करते हुए वह बहुत कुछ सीख सकता है। ठीक आयु में कार्य आरम्भ करके वह अपने कार्यकाल की लम्बी अवधि में एक कुशल, योग्य और आदर्श राजदूत बन सकता है। रिस्टन के अनुसार "राजनय में निपुणता प्राप्ति एक लम्बा और कठिन कार्य है, यह "उपहार" नहीं है" यह तो केवल कुशाग्र बुद्धि, अर्न्तदृष्टि तथा कार्यानुभव से ही प्राप्त होती

है। अच्छे संगीतज्ञों की भांति अच्छे राजदूत बनाये नहीं जाते हैं वे पैदा ही अच्छे दूत के रूप में होते हैं, भले ही बाद में वे कुछ भी सीख लें। यदि व्यक्ति में चरित्र, स्वभाव और व्यक्तित्व के गुण नहीं हैं तो किसी भी प्रकार का प्रशिक्षण उन्हें सफल नहीं बना सकता है।

### आदर्श राजदूत के मार्ग की बाधायें

राजदूत से जहाँ अनेकों गुणों की अपेक्षा की जाती है, वहीं उस पर कुछ नियन्त्रण भी आवश्यक हैं, जो उसके गुणों को बढ़ाने में सहायक होते हैं। एक आदर्श राजदूत को स्त्रियों से परे रहना चाहिये। स्त्री, पुरुष की सबसे बड़ी कमजोरी है। लार्ड माम्सबरी का मत था कि राजदूत उनके साथ छेड़छाड़ कर सकता है, आवश्यकता पड़ने पर यह दिखावटी प्रेम का नाटक भी कर सकता है परन्तु उसे उन्हें दिल नहीं देना चाहिये। कैलियर्स का भी यही मत था कि वह उनके प्रति आकर्षित तो हो सकता है परन्तु उसे अपना दिल नहीं खोना चाहिये। स्वयं माम्सबरी ने भी केंथरीन महान् के साथ दिखावटी प्रेम का नाटक ही किया था। नेपोलियन ने अपने दूत को स्त्रियों की तरफ ध्यान देने पर बल दिया था। पणिक्कर जो स्वयं एक सफल राजदूत था, स्त्रियों के सानिध्य व सम्पर्क को राजनय का सहायक मानता है। 1926 में फ्रांसीसी राजदूत जूलेस केस्बान ने एक लेखन में लिखा था कि सम्माननीय स्त्रियों का संसर्ग राजदूत के लिये लाभदायक होगा। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान चाणक्य राजदूतों के स्त्रियों का प्रयोग राष्ट्रीय हित वृद्धि के लिये अति प्राचीन काल से किया जाता रहा है। भारतीय इतिहास के अति प्राचीन काल की विष कन्याओं का ऐसा ही प्रयोग था। प्रथम महायुद्ध के काल में माताहारी, विख्यात स्त्री जासूस थी। द्वितीय महायुद्ध के काल में एक अमरीकी संकेत लिपिक (cyphe clerk) ने एक रूसी प्रवासी लड़की के प्रेम में फँसकर रूजवेल्ट और चर्चिल के मध्य आदान-प्रदान हुए कई गुप्त पत्र दिखा दिये थे। वह लड़की वास्तव में जर्मन जासूस थी। इस क्लर्क को इस अपराध के कारण सात वर्ष की सजा मिली थी। राजनयिक को भविष्यवाणी नहीं करनी चाहिये। भविष्य के गर्भ में क्या है कोई नहीं जानता है, अतः राजदूत को केवल वस्तु-स्थिति को सूचित कर देना चाहिये। आदर्श राजदूत को जुआरी भी नहीं होना चाहिये। हारा हुआ जुआरी राजदूत धनपूर्ति के लिये या तो पैसे की चोरी करेगा अथवा देश की गुप्त बातें बेचेगा। स्केन्डिनेविया देशों के एक राजदूत को इसलिये सजा हुई क्योंकि उसने पौलैण्ड को अपने देश की गुप्त बातें बेचकर जुए में हारे हुए धन की पूर्ति की थी। इसी प्रकार राजदूत को अपनी सीमा से अधिक रहन-सहन का स्तर नहीं रखना चाहिये। ऐसा करने पर उस पर उधार बढ़ जायेगा तथा धनाभाव की पूर्ति वह गलत तरीकों से पूरी करेगा। लन्दन में भारतीय उच्चायुक्त के अधिकारी राजमल जैन ने धनिकों की भांति अपना जीवन स्तर बना लिया था। धनाभाव की पूर्ति के लिये उसने एक बड़ी दुकान को पत्र लिखा कि यदि उसे अमुक स्थान पर 20.000 पौंड नहीं दिये तो गये तो उसके परिणाम भयंकर होंगे। वह शीघ्र ही पकड़ लिया गया, राजनयिक विशेषाधिकार नहीं होते हुए भी भारतीय उच्चायुक्त ने उसे छोड़ा लिया तथा उसे भारत भेज दिया।

राजदूत को कभी भी विनोदपूर्ण नहीं होना चाहिये। यद्यपि मनोविनोदी होना राजदूत का एक गुण है, किन्तु बेवक्त का विनोद हानिकारक सिद्ध हो सकता है। जॉन मुटगुमरी जिसने डेरी उद्योग से खूब धन कमाया था, उसके मन्त्रीकाल में कार्य करते हुए मुटगुमरी के लिये एक अफसर ने विनोद में कहा था कि मुटगुमरी को चाहिये कि वह यह कहे कि "वह जो कुछ भी है गाय के थनों के कारण है।" मुटगुमरी ने जब यह सुना तो उसने उस अफसर को पदावनत कर दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण कर दिया। इसी प्रकार एक राजदूत ने विदेश सचिव डलेस के नाम के साथ विनोद में "Dull, Duller, Dullest" कहा था। डलेस ने इस राजदूत को दण्ड स्वरूप दूर एशिया के एक छोटे से देश में भेज दिया। कैलियर्स का भी मत था कि राजदूत को अधिक विनोदी नहीं होना चाहिये। राजदूत को भाव शून्य भी नहीं होना चाहिये क्योंकि इस बात की संभावना है कि उसकी निर्लिप्तता को उसकी अरुचि, आलस्य अथवा घमण्ड समझा जायेगा। राजदूत को कभी भी देरी से नहीं जाना चाहिये। राजदूत को ऊपरी दिखावे से कभी भी प्रभावित नहीं होना चाहिये। राजदूत को स्वीकारी राज्य की परिस्थितियों के अनुसार ही कार्य करना चाहिये।

एक आदर्श राजदूत को अपने विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। स्वीकारी राज्य के साथ पत्राचार को, उस राज्य की पूर्व स्वीकृति बिना कभी भी प्रकाशित नहीं करना चाहिये। दूतावास को स्वीकारी राज्य विरोधी प्रचार का केन्द्र नहीं बनने देना चाहिये। पनामा कन्वेंशन ने भी इसी प्रकार की कुछ निषेधाज्ञाएं दी हैं। टेलरां के अनुसार किसी भी राजनयिक अभिकर्ता का प्रत्युत्साही होना भी हानिकारक है। एक अमेरिकी राजदूत विलियम ज़ेपर ने अपनी जीवनी में लिखा था कि "मैंने यह बाद में जाना कि राजदूत में उत्साह एक वांछनीय योग्यता नहीं है।" नयी परिस्थितियों, नये आयाम तथा नये अवसर राजदूत के जोश को बढ़ाते हैं। अपने नाम और यश के चक्कर में प्रतिभाशाली राजदूत जोश ही जोश में गलती कर बैठते हैं। टेलरां ने एक आदर्श राजदूत को इस गलती से अचने के लिए आगाह किया है। आदर्श राजदूत को अपनी सफलता पर गर्व तथा असफलता पर निराश नहीं होना चाहिये। थेयसं ने इस सन्दर्भ में ठीक ही कहा था कि एक राजदूत को अत्यधिक सफलता का कभी भी प्रयास नहीं करना चाहिये।

## अध्याय-4

### राजनयिक सम्पर्क की भाषा एवं अभिलेखों का रूप

### (Language of Diplomatic Intercourse and Forms of Documents)

सभी राजनयिक सम्पर्कों में प्रयोग में लाये जाने वाले शब्दों एवं वाक्यांशों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। सम्य और शिष्ट भाषा के कम से कम शब्दों में सही अर्थ को अभिव्यक्त करना और अपने ध्येय के अनुकूल भाषा की रचना करना एक कुशल राजनयज्ञ की विशेषता समझी जाती है। इस प्रकार भाषा का राजनय में उल्लेखनीय स्थान है। राजनय की भाषा का एक विशेष रूप होता है। हेरल्ड निकल्सन (Harold Nicolson) के मतानुसार राजनयिक भाषा के तीन अर्थ होते हैं—(क) वह भाषा जिनका प्रयोग राजनयज्ञ अपने वार्तालाप या पत्र-व्यवहार में करते हैं। यह भाषा लेटिन, फ्रेंच अथवा अंग्रेजी में से कोई भी हो सकती है। (ख) वे शब्द अथवा वाक्यांश जो प्राचीन काल से विशेष अर्थों में प्रयुक्त होते आ रहे हैं तथा जिनका एक विशेष अर्थ होता है और अब राजनयिक शब्दावली के अभिन्न अंग बन गये हैं। (ग) संक्षिप्त या न्यून कथन अर्थात् विचारों का संक्षिप्तीकरण। इनके माध्यम से राजनयज्ञ आपस में बहुत कुछ कह सुन लेते हैं फिर भी क्रोध स्पष्ट विरोध एवं अनुचित शब्दों का प्रदर्शन नहीं हो पाता। उनके द्वारा ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो जन-साधारण को बहुत कोमल और शिष्ट दिखाई देते हैं किन्तु जिनका राजनयिक परम्परा की दृष्टि से अत्यन्त कटु अर्थ निकलता है।

राजनयिक व्यवहार की भाषा का इतना महत्व है कि कुछ विचारकों ने राजनय की परिभाषा भी इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुये की है। सर अर्नेस्ट सेटो के मतानुसार “राजनय स्वतन्त्र राज्यों के बीच अधिकारी सम्बन्धों के आचरण में बुद्ध और चातुर्य का प्रयोग है।” यहां राजनय को बुद्धि एवं चातुर्य का मिश्रण माना गया है। चातुर्य की दृष्टि से ही ऐसी व्यवहारिक भाषा का प्रयोग किया जाता है कि कड़े शब्दों का प्रयोग किये बिना ही कठोर तथा उत्तेजनात्मक विचारों को प्रदर्शित किया जा सके। साधारण बोलचाल में राजनयिक भाषा (Diplomatic Language) का अर्थ छत्तपूत्र भाषा का असत्य भाषण अथवा रहस्यपूर्ण भाषा से लिया जाता है किन्तु वास्तव में यह अर्थ कूटनीतिक भाषा को इंगित करते हैं, राजनयिक भाषा की नहीं।

### राजनयिक भाषा-अंग्रेजी, लेटिन, फ्रेंच (Diplomatic Language-English, Latin, French)

प्रत्येक जाति की राजनीतिक सत्ता, संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसकी भाषा का भी तदनु रूप विस्तार होता है। एक देश की भाषा उसको अन्तःशक्ति का प्रतीक है। एशिया में संस्कृत भाषा का प्रभाव है और यूरोप में यूनानी तथा लेटिन भाषाओं का प्रभाव इसके उदाहरण हैं।

**लेटिन भाषा** :- यूरोपीय राजनीय के प्रारम्भ से ही समस्त राजनयिक क्रियाओं में लेटिन भाषा का प्रयोग मुख्यतः किया जाता था। यह न केवल मौखिक विचार-विमर्श के लिए वरन् लिखित सम्पर्क के लिये भी प्रयोग में लायी जाती थी। वार्तालाप और लिखित सम्पर्कों में प्रथम स्थान लेटिन भाषा का और द्वितीय स्थान फ्रेंच भाषा का था। 17 वीं शताब्दी तक सभी समझौते, संधियों और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क मुख्यतः लेटिन भाषा के माध्यम से होते थे। उदाहरण के लिये तीस वर्ष के युद्ध की समाप्ति पर सम्पन्न की गई वेस्टफेलिया की सन्धि (1648) का प्रारूप और हस्ताक्षर लेटिन भाषा में ही हुए। इसी प्रकार सन् 1674 की आंग्ल-डच सन्धि एवं सन् 1670 की आंग्ल-डेनिस सन्धि भी लेटिन भाषा में की गई थी। राजनयिक सम्पर्क में लेटिन भाषा का एकाधिकार 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक चलता रहा।

**फ्रेंच भाषा** - उल्लेखनीय है कि 17वीं और 18वीं शताब्दियों में ही फ्रेंच भाषा क्रमशः लेटिन की बराबरी में आती जा रही थी। उदाहरण के लिये सन् 1677-78 की सन्धि फ्रेंच भाषा में की गई। रूस के पीटर महान् ने सभी राजनयिक सम्पर्कों के माध्यम के रूप में फ्रेंच भाषा को अपनाया। 18वीं शताब्दी के मध्य तक फ्रेंच भाषा को राजनयिक सम्पर्क में प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। इसके दो कारण थे—(1) फ्रेंच भाषा का शब्दकोश प्रचुर सम्पन्न था और (ii) यह भाषा सभी यूरोपीय देशों में पढ़ने और लिखने में एक लोकप्रिय भाषा थी। एक्सलाशेपेल की कांग्रेस में फ्रेंच भाषा को मान्यता प्राप्त हुई। इस समय तक फ्रेंच भाषा इतनी लोकप्रिय हो गई थी कि प्रत्येक यूरोपीय राज्य के नागरिक अपनी मातृ-भाषा के साथ-साथ फ्रेंच भाषा के दो चार शब्दों का टूटा-फूटा प्रयोग करना प्रशंसनीय समझते थे। सम्भ्रान्त और कुलीन व्यक्तियों के लिये फ्रेंच भाषा का ज्ञान अनिवार्य समझा जाता था।

**अंग्रेजी भाषा** - ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार एवं ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव तथा व्यापार में वृद्धि होने पर अंग्रेजी भाषा का भी



भाग्योदय होने लगा। एशिया के एक बड़े भाग पर अंग्रेजी का प्रभुत्व हो गया। ग्रेट-ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बढ़ाने के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का प्रभाव भी बढ़ाया। इस कार्य में वह पर्याप्त सफल भी हुआ। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा का राजनयिक सम्पर्क के माध्यम के रूप में प्रभाव 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। प्रारम्भ में अंग्रेजी मुख्यतः आंग्ल, स्काटलैण्ड सम्बन्धों में प्रयुक्त होती थी। उल्लेखनीय है कि 1800 में लार्ड ग्रीन बिले ने अंग्रेजी भाषा को विदेशी दूतों से मिलने तथा पत्र-व्यवहार करने के लिये फ्रेंच भाषा के स्थान पर अपनाया। उस समय के बाद से अंग्रेजी को राजनय में क्रमशः महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता गया। लार्ड कास्टलरी एवं लार्ड कैनिना राजनयिक उद्देश्यों के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर जोर देते थे। अंग्रेज राजनीतिज्ञों द्वारा विदेशी सम्प्रभुओं को लिखे गये पत्र एवं दूसरे कागजात मूलतः अंग्रेजी भाषा में होते थे तथा उनके साथ-साथ अन्य भाषा का महत्व बढ़ गया। सन् 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में अंग्रेजी को फ्रेंच भाषा की बराबरी का अधिकार मिला। वुडरो विल्सन ने सन्धि के समय अपने सभी भाषण और फ्रेंच भाषाओं में तैयार किये गये। ज्यों-ज्यों एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में ब्रिटेन तथा फ्रांस का प्रभाव बढ़ता गया त्यों-त्यों राजनयिक सम्पर्क के लिए अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा अनिर्वा बनती गई। साम्राज्यवादी काल में राजनीतिक सम्पर्क के लिये अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा के साथ-साथ जर्मन, इटालियन, स्पेनिश आदि भाषायें भी जहां-तहां प्रयोग में लाई जाती थी।

**बहु भाषाएं** – विश्व राजनीति में राष्ट्रवाद की भावना का प्रभाव बढ़ने पर प्रत्येक राज्य अपनी ही भाषा को राजनीतिक भाषा बनाने का प्रयास करता है। सोवियत रूस, साम्यवादी चीन, भारत आदि राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बढ़ता हुआ प्रभाव उन राज्यों की भाषाओं को भी प्रमुखता प्रदान करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ में पांच भाषाओं को समान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर देकर कार्यालय के कार्यों के लिये स्वीकार किया है इसमें अंग्रेजी, फ्रेंच के साथ रूसी, स्पेनिश और चीनी भाषाओं को भी मान्यता दी गई है। फलतः संघ के सभी प्रस्ताव एवं कार्यवाहियां पांचों भाषाओं में तैयार तथा स्वीकार की जाती हैं। संघ की महासभा एवं दूसरे भागों में इनमें से किसी भी भाषा का प्रयोग राजनयज्ञ कर सकते हैं। उसका अन्य भाषाओं में रूपान्तरण तकनीकी साधनों के माध्यम से साथ की साथ होता जाता है। परन्परानुसार जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किसी विवाद पर विचार करता है तो उससे सम्बन्धित देश की भाषा को भी मान्यता दी जाती है। उदाहरण के लिये 1954 के कोरिया सम्बन्धी जिनेवा सम्मेलन में कोरिया की भाषा को भी अपनाया गया था।

आजकल यह एक फैशन बन गया है कि प्रत्येक राजनयज्ञ अपने भाषण एवं पत्र-व्यवहार में स्वयं को राष्ट्र-भाषा का प्रयोग करता है। यह उसके राष्ट्रीय सम्मान का प्रतीक है। एक दृष्टि से यह उचित भी है किन्तु इससे व्यावहारिक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। जब एक राजनयज्ञ जापान के जनसमुदाय को सम्बोधित करता है तो वह रूसी भाषा का प्रयोग करता है। इसी प्रकार जब एक फ्रांसीसी राजनयज्ञ भारत में जन-समुदाय को सम्बोधित करता है तो वह अपनी भाषा का प्रयोग करता है। ऐसी स्थिति में अनुवाद के कारण उत्पन्न कठिनाई में अस्पष्टता और गलतफहमी पैदा होती है। जब कभी एक राजनयज्ञ श्रोताओं से उनके लिये अपरिचित भाषा में बात करता है तो वह वांछनीय है कि उसके साथ एक मान्य अनुवाद अवश्य लगा दिया जाये। अनेक राज्य इसकी परवाह नहीं करते; फलतः जो अनुवाद किया जाता है वह अनेक गलतफहमियों का कारण बन जाता है।

### संक्षिप्त कथन (Understatement)

राजनयिक क्षेत्र में ऐसे कथनों का प्रयोग किया जाता है जिनके फलस्वरूप कटु वातावरण में सरसता आ सके और उत्तेजनात्मक बात भी नम्रता का रूप धारण कर सके। इस प्रकार के संक्षिप्त कथनों की सूची पर्याप्त लम्बी है। केवल उदाहरण के लिए कूछ का उल्लेख किया जा सकता है।

- (1) जब कोई राजनयज्ञ अथवा राजनीतिक दूसरे राज्य की सरकार को यह सूचित करता है कि उसकी सरकार अमुक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद में 'उदासीन नहीं रह सकती (Cannot remain indifferent) तो उससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि उसकी सरकार अवश्य हस्तक्षेप करेगी।
- (2) जब कोई राजनयज्ञ यह कहता है कि 'अमुक बात मेरी सरकार की दृष्टि में अत्यधिक चिन्ता का विषय है' (His Majesty's Government view with concern or view with grave concern) तो इसका अर्थ यह होता है कि उस विवाद में उसकी सरकार कड़ी नीति का अवलम्बन करेगी। ये एक प्रकार से चेतावनी पूर्ण शब्द कहे जा सकते हैं। जब इन शब्दों से काम नहीं चलता तो अधिक महत्वपूर्ण शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया जाता है।
- (3) यदि राजनयज्ञ यह कहता है कि 'इस प्रकार की परिस्थितियों में शासन को अपनी वर्तमान स्थिति पर पुनर्विचार के लिए बाध्य होना पड़ेगा' (In such event His Majesty's Government would feel bound carefully to reconsider their position) तब इसका आशय यह होता है कि मित्रता शत्रुता में परिवर्तित हो जायेगी।

- (4) यदि कोई राजनयज्ञ यह कहता है कि उसके देश को अमुक विषय में 'स्वतन्त्र कार्यवाही करने का अधिकार है' (To claim a free hand) तब उसका अर्थ यह होता है कि राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिये जायेंगे। अथवा दूसरे पक्ष की नीति को असफल करने के लिए समुचित कदम उठाया जायेगा।
- (5) यदि राजनयज्ञ यह कहता है कि परिणामों का उत्तरदायित्व हम नहीं लेते तो इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि ऐसी घटना उभाड़ी नहीं जा सकती है जिसका परिणाम युद्ध के रूप में प्रतिफलित हो।
- (6) जब कभी कोई देश नम्रतापूर्व निवेदन करके यह स्पष्ट करता है कि अमुक परिपत्र का उत्तर एक निश्चित दिन तथा समय तक मिल जाना चाहिये तो इस कथन का अर्थ देसरा देश अल्टीमेटम के रूप में लेता है। इसके टुकराये जाने का परिणाम बहुधा युद्ध की घोषणा होती है।
- (7) जब सरकार द्वारा यह कहा जाये कि दूसरे राज्य के कार्य को वह अमैत्रीपूर्ण समझती है तो इसका अर्थ यह है कि इस कार्य का परिणाम युद्ध भी हो सकता है।

#### संक्षिप्त कथनों के लाभ (Advantages of understatements)

संक्षिप्त कथन राजकीय आचरण की दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। ये कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी शिष्टतापूर्ण एवं सौम्य वातावरण बनाते हैं तथा जन-साधारण में अनावश्यक उत्तेजना व्याप्त नहीं होने देते। शिष्ट शब्दों में शान्तिपूर्वक एक राजनयज्ञ अपनी सरकार के अमैत्रीपूर्ण विचारों का प्रदर्शन कर देता है। ये संक्षिप्त कथन वातावरण को उत्तेजनापूर्ण होने से रोकते हैं। यदि इन शब्दों पर शिष्टता का शहद न लगाया जाये तो ये इतने कटु हो जायेंगे कि अन्य राज्य इनको निगल भी न सके और शीघ्र युद्ध की घोषणा कर दें। प्रो० निकल्सन के मतानुसार इस परम्परागत संचार व्यवस्था का लाभ यह है कि इसके द्वारा जो नरम वातावरण तैयार होता है उसमें एक राज्य बिना उत्तेजना के भी गम्भीर चेतावनी दे देता है।

#### संक्षिप्त कथनों के दोष (Disadvantages of understatements)

संक्षिप्त कथनों की हानि यह है कि वास्तव से संकटपूर्ण स्थितियों में भी इस प्रकार की उक्तियां सर्वसाधारण को प्रवचना में डाल देती हैं। जनता यह समझने लगती है कि देश के सामने कोई गम्भीर संकट नहीं है तथा दूसरे राज्यों के उनके राज्य के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण और मैत्रीपूर्ण है। जनतन्त्र में जनता की यह असावधानी खतरनाक बन जाती है। जिस प्रकार किसी बात का अनुचित प्रयोग संकट उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार किसी बड़े संकट के समय कथन की नम्रता जनता को आवश्यकता से अधिक नम्र और निश्चित बना देती है। जनता यह नहीं जान पाती कि उसके राज्य के सम्बन्ध में किस देश के साथ कब बिगड़ रहे हैं और कब सुधर रहे हैं। शब्दों को तोड़-मरोड़ कर कहने से उनके अर्थ के बारे में भी दुविधा उत्पन्न हो जाती है। कहा कुछ जाता है और वास्तव में उसका अर्थ कुछ और समझ लिया जाता है। असावधानी के कारण अनेक अर्थों का अनर्थ हो जाता है। प्रो० निकल्सन ने इस सम्बन्ध में एक रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया है। इंग्लैण्ड के एक महावाणिज्य दूत ने पर राष्ट्र विभाग को यह सूचना भेजी कि 'कुझे बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि मेरे अधीनस्थ एक उप-वाणिज्य दूत अपने स्वास्थ्य की उतनी चिन्ता नहीं करता जितनी करने के लिये डाक्टर उसे सलाह देते हैं। वास्तव में सम्बन्धित उप-वाणिज्य दूत सन्निपात अवस्था की अन्तिम सीमा पर था।

राजनयज्ञों की भाषा में संक्षिप्त कथनों का आधिक्य होने के कारण ही इसे छल और धोखे का कार्य माना जाने लगा। जिसे हम आम व्यवहार में असत्य भाषण कहते हैं। उसे राजनयिक व्यवहार में शिष्टता और सौजन्यता कहा जाता है। लोकप्रिय कहावत के अनुसार एक राजनयज्ञ सम्भावित कार्य के लिए कहता है अवश्य हो जायेगा और असम्भव के कार्य के लिये कहता है हो जायेगा; किन्तु वह कभी नहीं होगा, शब्दों का प्रयोग नहीं करता, यदि करता है तो वह राजनयज्ञ नहीं है। यह शिष्टता और संक्षिप्त व्यवहार आजकल अपना महत्व खोते जा रहे हैं। जनता द्वारा विदेश नीति के संचालन में अधिकाधिक रुचि लेने के कारण यह आवश्यक हो गया है कि राजनयज्ञों के शब्दों और कार्यों में सम्बन्ध रहे। जन साधारण को यह विश्वास होना चाहिये कि उनके विदेश मन्त्री या राजनयज्ञ जो कुछ वास्तव में कह रहे हैं वही उनका अर्थ है तथा वही वे वास्तव में करेंगे। आजकल शीत युद्ध की स्थिति में प्रचार कार्यों का महत्व बढ़ने के कारण, प्रत्येक राज्य विदेशी सरकार के प्रति आम रूप से अशिष्ट भाषा का प्रयोग करता है। छोटी सी बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है। बार-बार एक देश के कार्यों को अमैत्रीपूर्ण घोषित करते हुए भी युद्ध की घोषणा नहीं की जाती। सोवियत संघ ने नाटो, सिएटो और सैटों आदि के विरुद्ध यह यबात कही थी कि इनकी सदस्यता को वह अमैत्रीपूर्ण कायै मानेगा। इतने पर भी उसने किसी राज्य के प्रति युद्ध की घोषणा नहीं की वरन् इसके विपरीत पाकिस्तान आदि राज्यों को हथियार भी भेजे। स्पष्ट है कि आजकल संक्षिप्त कथन की प्रथा को छोड़ा जा रहा है और अतिशयोक्ति पूर्ण कथनों की प्रकृति बढ़ती जा रही है। इस परिवर्तन के औचित्य के सम्बन्ध में विचारक एक मत नहीं हैं। संक्षिप्त कथनों की परम्परा के पक्षपातियों का कहना है कि अशिष्ट,

कटु एवं उत्तेजनापूर्ण भाषा का प्रयोग यथासम्भव रोका जाना चाहिये तथा इसके स्थान पर समाचार पत्रों एवं अन्य संचार के साधनों द्वारा जनता को संक्षिप्त कथनों के अर्थ से परिचित कराया जाये ताकि इसकी बुराईयों को दूर किया जा सके।

### राजनयिक शब्दावलि (Diplomatic Phrases)

राजनयिक आचरण में व्यवहार के कारण अनेक मुहावरों तथा विशेष शब्दों का विकास हो गया है। ये अपने प्रयोग के संदर्भ में एक विशेष अर्थ रखते हैं। प्राचीन काल में इन शब्दों का प्रभाव अधिक होता था। आजकल यद्यपि इनका महत्त्व इतना नहीं रहा है किन्तु फिर भी कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग आज भी होता है। इनमें से कुछ उल्लेखनीय शब्द निम्नलिखित हैं—

1. **Accession (सहमिलन)** – अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों में एक सहमिलन की धारा भी जोड़ दी जाती है ताकि सन्धि वार्ता में शामिल होने वाला राज्य भी आद में उसमें शामिल हो सके। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्याय क्षेत्र विषयक प्रावधान को संघ के सभी सदस्यों ने स्वीकार नहीं किया है किन्तु जो राज्य ठीक समझता है वह अपनी सुविधानुसार उसे कभी भी अंगीकार कर सकता है।
2. **Accord (मतैक्य)** – कम महत्त्व के अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर सन्धि न करके उन्हें मतैक्य द्वारा सुलझा लिया जाता है उदाहरण के लिये जनस्वास्थ्य पर मतैक्य (Accord on public health) आदि।
3. **Acte Final (चरमाधि नियम)** – किसी सम्मेलन या कांग्रेस के अन्त में प्रायः उसकी सम्पूर्ण कार्यवाही का सारांश दिया जाता है। इसमें संक्षिप्त लेख, सम्मेलन की सम्मलित, हस्ताक्षर युक्त संधियां आदि शामिल होती हैं।
4. **Ad Referendum (अग्रे-विचार्य)** – जब किसी सन्धि वार्ता में राजनयिक प्रतिनिधि प्रस्तावों को स्वीकार कर लेता है किन्तु उन पर अन्तिम स्वीकृति न देकर अपनी सरकार की स्वीकृति के लिये रख लेता है किन्तु उन पर अन्तिम स्वीकृति न देकर अपनी सरकार की स्वीकृति के लिये रख लेता है तो उसे अग्रे-विचार्य कहा जाता है। इस प्रकार सन्धि की अन्तिम स्वीकृति का अधिकार सरकार के हाथ में आ जाता है।
5. **Agreement (समनुमोदन)** – जब एक राज्य द्वारा विदेशों में अपना राजदूत नियुक्त किया जाता है तो उसके सम्बन्ध में सम्बन्धित राज्य की राय अनधिकृत रूप से जान ली जाती है। यदि विदेशी शासन को कोई आपत्ति नहीं होती तो सम्बन्धित व्यक्ति को समनुमोदन प्राप्त समझा जाता है।
6. **Asylum (राज प्रश्रय)** – जब एक देश में राजनीतिक अपराधी अपने देश से भाग कर अन्य देश अथवा वहां के दूतावास में शरण ग्रहण कर लेते हैं तो उसे राज्य प्रश्रय कहा जाता है।
7. **Attache (सहचारी)** – राजदूत के काम में हाथ बंटाने के लिये और सुविधा की दृष्टि से विशेष विषयों पर सलाह एवं सहायता देने के लिये विशेषज्ञ नियुक्त किये जाते हैं। उदाहरण के लिये व्यावसायिक सहचारी (Commercial Attache) जो व्यापारिक कार्यों में सहायता देता है प्रेस सहचारी (Press Attache) जो समाचार पत्रों में प्रकाशित प्रांतों का अध्ययन करने एवं सूचना एकत्रित करने का कार्य करता है। प्रत्येक सहचारी को उसके कार्य के अनुसार नाम से सम्बोधित किया जाता है।
8. **Bag (दूतावास प्रेष)** – राजदूत द्वारा अपने देश के लिये लिखित प्रतिवेदन तथा अन्य सन्देश भेजे जाते हैं। इनको विशेष सन्देशवाहक द्वारा विशेष डाक के थैले में ले जाया जाता है। इस डाक थैले को कोई खोल नहीं सकता। जिस दिन यह थैला लाया अथवा ले जाया जाता है उसे प्रणाध्यावास में डाक दिवस (Bag Day) कहा जाता है।
9. **Belligerent Rights (युद्धमान अधिकार)** – युद्ध में संलग्न राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तहत कुछ विशेष अधिकार और कर्तव्य सौंपे जाते हैं। इन अधिकारों की एक लम्बी सूची है। उदाहरणार्थ युद्धमान राज्य को यह अधिकार होता है कि वह अपने शत्रु के तटों एवं बंदरगाहों पर घेरा डाल सके। इस प्रकार वह नाकेबन्दी करके शत्रु राज्य के व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त कर देता है।
10. **Capitulations (समर्पण सन्धि)** – ये वे सन्धियां हैं जिनके अन्तर्गत समर्पण की शर्तें रहती हैं। प्राचीन काल में अनेक ईसाई धर्मावलम्बी गैर ईसाई राज्यों में जाकर बस गये थे। उनके हितों की रक्षा के लिये शक्ति सम्पन्न ईसाई राज्यों ने गैर ईसाई राज्यों से सन्धियां की। तदनुसार बलपूर्वक ईसाईयों के लिए अधिकार एवं उन्मुक्तियां प्राप्त कर लिये। उदाहरण के लिये ईसाइयों को स्थानीय न्यायालयों की परम्परा से छुटकारा दिलाया गया। उन्हें करों एवं कारागार से मुक्ति दिलाई गई। इस प्रकार की सन्धियों को Capitulation Treaty कहा गया, तदनुसारी शक्तियों का उपभोग करने वालों को Capitulatory Powers का गया तथा इस सम्पूर्ण प्रणाली को Capitulatory system कहा गया।
11. **Casus Belli (युद्ध-कारण)** – जब कोई राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध उत्तेजनात्मक कार्यवाही करे और उसके आधार पर दूसरे राज्यों को युद्ध की घोषणा करने का न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाए तो वह युद्ध-कारण कहलाता है। पामर्सटन ने परिभाषित करते हुए इसको ऐसा मामला कहा है जिसके आधार पर युद्ध करना उचित हो। उदाहरण के लिए पाकिस्तान की सेनाओं द्वारा

बंगलादेश से खदेड़े गये शरणार्थियों की बाढ़ से भारत की अर्थव्यवस्था पर जो व्याघात आया उसे युद्ध का उचित कारण कहा जा सकता है।

**12. Chancelleries and Chancery (महामन्त्रालय)** – प्रारम्भ में चांसलर या महामन्त्र के सचिवालय को चांसलरी कहा जाता था। आजकल इसका अर्थ वे मन्त्री तथा कर्मचारी हैं जो विदेश नीति को नियन्त्रित करते हैं अथवा उस सम्बन्ध में सलाह देते हैं। चांसरी किसी राजनयिक प्रतिनिधि के कार्यालय को कहा जाता है जिसमें प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्तर के सचिव तथा अन्य सहायक लिपिक रहते हैं।

**13. Conference and Congress (सम्मेलन और कांग्रेस)** – अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन दोनों ही शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का प्रयोग अभेद रूप से किया जाता है। कांग्रेस शब्द का सम्मेलन की अपेक्षा अधिक व्यापकता का प्रतीक है अन्यथा दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का आयोजन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श एवं निर्णय के लिये किया जाता है।

**14. Charge de Affairs (कार्यदूत)** – कार्यदूत एक देश के विदेश विभाग द्वारा प्रेषित किया जाता है और दूसरे देश के विदेश विभाग द्वारा परिग्रहित किया जाता है। कार्यदूतों को राजदूतों के समान सम्मान प्राप्त नहीं होता। अन्तःकालीन कार्यभार संभालने के लिये अन्तरिक कालीन कार्यदूत नियुक्त किये जाते हैं। इनके लिये परिग्रहणकर्ता राज्य का समनुमोदन प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। जब एक राज्य दूसरे राज्य से अपना असन्तोष या रोष प्रकट करता है तो वह लम्बे समय तक अन्तरिम कालीन कार्यदूत को ही नियुक्त रहने देता है।

**15. Compromis D' Arbitrage or Compromis (विवाच-संवित्)** – जब दो राज्य अपने किसी विवाद को राजीनामों के लिये सौंप देते हैं तो इस राजीनामों की प्रक्रिया का जो नियम पत्र तैयार किया जाता है उसे विवाचन-संवित् कहते हैं।

**16. Concordat (अविप्रतिपत्ति सन्धि)** – जब पोप द्वारा किसी राज्य के सम्प्रभु से सन्धि की जाती है तो उसे अविप्रतिपत्ति सन्धि कहा जाता है।

**17. Convention (अभिसमय)** – यह एक कम महत्व की सन्धि है जिसे राज्यों के सम्प्रभुओं के बीच सम्पन्न नहीं किया जाता वरन् शासनों द्वारा किया जाता है।

**18. Corps Diplomatic (राजनयिक निकाय)** – किसी राज्य की राजधानी में रहने वाले विभिन्न देशों के राजदूतावासों के राजनयिक कर्मचारियों के समस्त समूह को राजनयिक निकाय कहते हैं। इसका मुखिया वरिष्ठतम राजदूत होता है और उसे दूत वरिष्ठ (Doyen) की संज्ञा दी जाती है।

**19. En Clair (शब्दों में अथवा स्पष्ट भाषा में)** – यदि कोई राजनयिक तार सांकेतिक भाषा में न भेजकर साधारण भाषा में भेजा जाता है तो इसे स्पष्ट भाषा में भेजा गया तार मानते हैं।

**20. Exequatur (कार्यानुमति)** – जब एक देश द्वारा नियुक्त वाणिज्य दूत को वहां के सम्बन्धित अधिकारी द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाती है तो उसे कार्यानुमति कहते हैं।

**21. Extradition (प्रत्यर्पण)** – यह एक देसी सन्धि होती है जिसके अन्तर्गत कई राज्य आपस में यह समझौता करते हैं कि यदि एक राज्य का अपराधी दूसरे राज्य में चला जायेगा तो दूसरा राज्य उसे पहले राज्य को लौटा देगा। यह सन्धियां राजनीतिक अपराधियों पर लागू नहीं होती।

**22. Full powers (पूर्ण शक्ति या पूर्णाधिकार)** – जब कोई राजनयिक प्रतिनिधि या अन्य अभिकर्ता किसी सम्मेलन या कांग्रेस में प्रतिनिधित्व करने के लिये भेजा जाता है तो उसकी सरकार उसे पूर्ण शक्ति प्रदान करती है जिसके तहत वह किसी सन्धि या अभिसमय विशेष पर अपनी सरकार की ओर से हस्ताक्षर करने का अधिकारी बन जाता है। इस पूर्ण शक्ति का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है।

**23. Good offices (सुसम्बन्ध-प्रयोग)** – दो विरोधी राज्यों के मध्य समझौता कराने के लिए जब तीसरा राज्य दोनों पक्षों के साथ अपने अच्छे साधनों से लाभ उठाकर दोनों के बीच संदेशवाहक का कार्य करता है तो उसके इस कार्य को सुसम्बन्ध-प्रयोग कहा जाता है। इसमें और मध्यस्थता में यह अन्तर है कि मध्यस्थता में मध्यस्थ व्यक्ति या शासन को स्वयं सन्धिवाता में भाग लेना पड़ता है किन्तु सुसम्बन्ध प्रयोग में ऐसा नहीं किया जाता।

**24. Laissez Passer (निर्वाध गमन)** – जब एक राज्य के कर्मचारी राजकीय कार्य से दूसरे देश जाते हैं तो उक्त देश के राजदूतावास से उनकी सुविधा हेतु अपने देश के चुंगी अधिकारियों के नाम एक सिफारिशी पत्र लिखा जाता है ताकि सीमा प्रवेश के समय उसकी तलाशी नहीं ली जाये। इस पत्र को निर्वाधगमन पत्र कहा जाता है।

**25. Notes (टिप्पण)** – राजनयिक दूत द्वारा किसी शासन को लिखे गए औपचारिक संदेश को टिप्पण कहा जाता है। ये टिप्पण तीन प्रकार के होते हैं। – (क) सामूहिक टिप्पण (Collective Note) जब किसी विषय पर अनेक राज्यों के राजनयिक प्रतिनिधि संयुक्त रूप से हस्ताक्षर करते हैं तो सामूहिक टिप्पण कहलाता है। प्रत्येक प्रतिनिधि पथक प्रतिलिपि पर अपने हस्ताक्षर करता है। इन सभी प्रतिलिपियों को मिलाकर सम्बन्धित शासन के समक्ष प्रस्तुत कर दिया जाता है। (ख) एकसम टिप्पण (Identical Note) – ऐसे टिप्पणों को सभी प्रतिलिपियों का एक सा होना आवश्यक नहीं है किन्तु उनका सारांश एक जैसा होता है। इन्हें पथक पथक समय पर भी प्रस्तुत किया जा सकता है। (ग) मौखिक टिप्पण (Note Verble) इस टिप्पण पर हस्ताक्षर नहीं किये जाते किन्तु इसके अन्त में सौजन्य व्यक्त किया जाता है।

**26. Protocol (विदेशाधिकरण)** – प्रारम्भ में किसी समझौते के रिकार्ड को विदेशाधिकरण कहा जाता था। यह सन्धि अथवा अभिसमय से कम औपचारिक था। आजकल अनेक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाएं इसी रूप में तैयार की जाती हैं।

**27. Rapporteur (प्रतिवेदक)** – जब किसी सम्मेलन की समितियां अथवा उपसमितियां किसी प्रतिनिधि को मूल सम्मेलन में उनका प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए चुनती हैं तो उसे प्रतिवेदन कहा जाता है। यह अपने नाम के अनुसार मूल सम्मेलन में समिति का प्रतिनिधित्व करता है।

**28. Safe Conduct (क्षेम गमन)** – एक व्यक्ति को उसके देश के शत्रु राज्य में होकर बिना किसी रोक-टोक के निकलने की सुविधा को क्षेम-गमन कहा जाता है।

**29. Unfriendly Act (अमैत्रीपूर्ण कार्य)** – जब एक राज्य दूसरे राज्य के कार्य को युद्ध का कारण मानता है तो उस राज्य से अपना विरोध प्रकट करते हुए स्पष्ट कर देता है कि अमुक कार्य अमैत्रीपूर्ण है।

**30. Unilateral Declaration (एकपक्षीय घोषणा)** – कभी-कभी कुछ राज्य एक सैद्धान्तिक घोषणा द्वारा अपने अधिकारों या नीति की स्थापना करते हैं। इसकी सूचना बाद में अन्य राज्यों को भेजी जाती है। ऐसी घोषणा एक पक्षीय घोषणा कही जाती है।

**31. Vocux (अभिलाषायें)** – जब किसी सम्मेलन द्वारा अपनी सन्धि के साथ भावी सुपथ प्रदर्शन के लिए कुछ सिफारिशें जोड़ी जाती हैं तो उन्हें ऐसी अभिलाषा कहा जाता है। सन् 1899 में हेग शान्ति सम्मेलन ने ऐसी 6 अभिलाषाएं प्रकट की थीं। सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य इनसे बाध्य नहीं होते क्योंकि आखिर ये अभिलाषाएं ही होती हैं।

**32. Diplomatic Illness (राजनयिक अस्वस्थता)** – जब कोई राजदूत अथवा सन्धिवार्ता करने वाला किसी सभा अथवा उत्सव में जाना भी नहीं चाहता तो वह बीमार होने का बहाना बना लेता है।

**33. Memorandum (स्मरण-पत्र)** – यह टिप्पण जैसा ही तथ्यों और उन पर आधारित तर्कों का योग होता है। यह टिप्पण से विशेष भिन्न नहीं है। दोनों में अन्तर यह है कि इसके प्रारम्भ और अन्त में सौजन्यता पूर्ण शब्दों की आवश्यकता नहीं होती और न ही इस पर हस्ताक्षरों की आवश्यकता होती है।

### सम्प्रभुओं एवं राज्याध्यक्षों के बीच पत्र-व्यवहार (Correspondance between Soverigns and Heads of States)

जब राज्यों के सम्प्रभु एक दूसरे को अधिकारी रूप से सम्बोधित करते हैं तो वे पुरुष के लिये Sir, My Brother लिखकर सम्बन्धित व्यक्ति के साथ स्थित अपने रक्त सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं। किसी महारानी या साम्राज्ञी के लिए Madam, My Sister का सम्बोधन का प्रयोग किया जाता है। पत्र के मूल भाग में सम्प्रभु अपने आपको एक वचन के रूप में प्रकट करता है और अपने बराबर वालों का Majesty, Altesse Royale इत्यादि पदवियों से सम्बोधित करता है। पत्र का अन्त करते समय मैत्रीपूर्ण अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है। कुछ देशों में ऐसे पत्रों पर सम्प्रभुओं के हस्ताक्षरों के साथ-साथ किसी मन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं। इस तरह के प्रायः राजदूतों के प्रत्यय-पत्र या राजदूतों को बुलाने के पत्र अथवा अन्य सम्प्रभुओं को भेजी गई बधाइयों अथवा शोक संदेशों के रूप में होते हैं। जब सम्प्रभुओं द्वारा किसी गणराज्य के अध्यक्ष का पत्र लिखा जाता है तो यह अधिक औपचारिकता एवं सजावट के साथ लिखा जाता है। इसका प्रारम्भ सम्प्रभु के नाम और पद से होता है। सम्प्रभु इस प्रकार के पत्रों का लेखन साधारणतः राजदूतों या मन्त्रियों के प्रत्यय-पत्र, उन्हें वापस बुलाने, अभूतपूर्व सम्प्रभु की मृत्यु की घोषणा करने, निर्वाचन पर बधाई देने, आदि के लिए करते हैं। ऐसे पत्रों के अन्त में दोनों राज्यों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने के महत्त्व पर जोर दिया जाता है। इन पर प्रायः किसी मन्त्री द्वारा प्रतिहस्ताक्षर किये जाते हैं।

### राजनयिक पत्र-व्यवहार की अमान्यता (Rejection of Diplomatic Communications)

राजनयिक सम्पर्क की भाषा के विवरण में एक उल्लेखनीय बात यह है कि एक राज्य कुछ अवसरों पर विशेष कारणों से दूसरे राज्य द्वारा भेजे गये पत्रों को अस्वीकार कर देता है। वह पत्र में दी गई बातों को बिना कारण बताये ठुकरा देता है। इस स्थिति की साहित्यिक व्याख्या करते हुए इसे पत्र प्रेषक को पत्र लौटाना कहा जा सकता है। ऐसे अवसर प्रायः कम आते हैं जब किसी राज्य द्वारा दूसरे राज्य की डाक को अमान्य किया जाये। कभी-कभी प्रेषित पत्र में आपत्तिजनक भाषा का प्रयोग किया जाता है तो प्राप्तिकर्ता राज्य उसे स्वीकार करने की अपेक्षा लौटा देने का निर्णय लेता है। इस निर्णय की दूसरी स्थिति वह है जब किसी पत्र द्वारा प्रेषक राज्य ने प्राप्तिकर्ता राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का प्रयास किया हो। राजनयिक इतिहास में पत्र अस्वीकार करने के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। सन् 1943 में स्टालिन ने चर्चिल को एक टेलीग्राम भेजा था जिसके रूप और विषय वस्तु के आपत्तिजनक होने के कारण चर्चिल ने उसे स्वीकार करने से मना कर दिया और लन्दन स्थित सोवियत राजदूत को एक लिफाफे में रख का लौटा दिया। सोवियत राजदूत मौनसीर गोसेव (Monsieur Gousev) ने इसे पहचानते हुए कहा कि मुझे यह आपको सौंपने के लिए दिया गया है। तब प्रधानमन्त्री ने उत्तर दिया कि "मैं मित्रतापूर्वक इसे अस्वीकार करता हूँ।"

## विदेश मन्त्रालय (Ministry of External Affairs)

नीति का अर्थ है तर्क पर आधारित कार्य, जो वर्तमान और भविष्य को प्रभावित करे तथा इसका उद्देश्य अपनी स्थिति को उत्तरोत्तर उन्नत बनाना होता है। इस कार्य की सफलतापूर्वक पूर्ति विदेश नीति पर ही निर्भर है। किसी देश की विदेश नीति को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व उस देश के विदेश विभाग पर होता है। यह सरकार के महत्वपूर्ण विभागों में से एक विभाग होता है। इसी की योग्यता पर यह निर्भर करता है कि यह किस प्रकार देश के राष्ट्रीय हितों, सम्मान और प्रतिष्ठा को बनाये रखेगा। इसी के कार्य एक देश को शान्ति अथवा युद्ध के कार्य के मार्ग पर ले जाते हैं। इन्हीं के प्रयासों से देश की आवाज अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सुनी जा सकती है। इसका एक गलत कदम देश को अन्धकार के गर्त में ले जा सकता है। विदेश नीति का प्रभाव विश्वव्यापी होता है। वास्तविकता तो यह है कि आज से पूर्व इतिहास में अन्यत्र इसका उतना निर्माण तथा इसके क्रियान्वयन में रुचि लेती है।

### भारतीय विदेश मन्त्रालय और उसका संगठन

स्वतन्त्रता पूर्व ब्रिटिश भारतीय सरकार का एक विदेश विभाग था। इसका सर्वप्रथम निर्माण वारन हेस्टिंग्स के काल में 1784 में किया गया था। 1842 तक यह गुप्त और राजनीतिक विभाग (Secret and Political Department) के नाम से जाना जाता था, बाद में इसे विदेश विभाग (Foreign Department) कहा जाने लगा। इसके तीन उप विभाग थे—विदेश, राजनीतिक और गृह। 1914 के पश्चात् यह विदेश और राजनीतिक विभाग (Foreign and Political) कहलाने लगा। 1935 के अधिनियम के परिणामस्वरूप बड़े हुये कार्यों के कारण विदेश और राजनीतिक विभागों को अलग स्वतन्त्र विभागों में कर दिया गया। 1945 में इस विभाग को नवीन नाम दिया गया “विदेश विभाग और राष्ट्र मण्डलीय सम्बन्ध विभाग”। 1946 को अन्तरिम सरकार का कार्यभार संभालने पर नेहरू ने इस विभाग (Department of External Affairs and Commonwealth Relations) का निर्देशन अपने हाथों में लिया। मार्च 1949 में मन्त्रालय के इन दो विभागों को एक कर दिया गया तथा इसे विदेश मन्त्रालय (Ministry of External Affairs) का नाम दिया गया, जिस नाम से यह आज भी जाना जाता है।

विदेश विभाग के मूल रूप से पांच कार्य माने गये हैं—

- (1) अपने देश के विदेशों के साथ सम्बन्ध,
- (2) अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का क्रियान्वयन,
- (3) अपने देश के नागरिकों की सुरक्षा तथा विदेशों में राष्ट्रीय हितों की रक्षा,
- (4) अपने देश व पर देश के नागरिकों के आने जाने पर नियन्त्रण और,
- (5) व्यापार व वाणिज्य हितों की रक्षा। इन कार्यों की पूर्ति के लिये विदेश विभाग सूचनायें एकत्रित करता है, उनका अध्ययन कर विदेश मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल को परामर्श देता है। विदेश विभाग आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न देशों के साथ सम्बन्ध, देश की सुरक्षा के लिये खतरों से बचाव का परामर्श तथा सांस्कृतिक और प्रचार कार्य में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

### विदेश मन्त्री

किसी भी देश की नीति का निर्माण कौन करता है, यह निश्चित रूप से कहना अति कठिन है। तानाशाही देशों से भले ही यह सम्भव हो, परन्तु संसदात्मक शासन में यह कहना सहज रूप से सम्भव नहीं है। संसदीय शासन व्यवस्था में सिद्धान्तः मन्त्रीमण्डल यह कार्य करता है। इस व्यवस्था में यदि प्रधानमन्त्री प्रभावशाली व्यक्तित्व का हो, जैसे नेहरू अथवा चर्चिल थे, तो सभी नीति निर्माण कार्य वही करता है। यदि साथ ही वह विदेश नीति के निर्माण का कार्य विदेश मन्त्रालय करता है, जिसका अध्यक्ष विदेश मन्त्री होता है। संसदीय प्रजातांत्रिक व्यवस्था के आधार पर इसकी नियुक्ति प्रधानमन्त्री द्वारा बहुसंख्यक सत्तारूढ़ के किसी एक सदस्य में से होती है, जो मन्त्रिमण्डल तथा प्रधानमन्त्री के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रधानमन्त्री के पश्चात् यह सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है। इस पद की महत्ता के कारण ही प्रायः भारत में प्रधानमन्त्री विदेश विभाग के कार्य को औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से अपने पास ही रखने का प्रयास करता है।

संसदीय व्यवस्था के अनुरूप विदेश नीति निर्माण का कार्य मूलतः मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व है। विदेश मन्त्री, मन्त्रिमण्डल के विचारार्थ समस्या रखता है और जब मन्त्रिमण्डल उन पर निर्णय लेता है तो ये निर्णय संसद के विचारार्थ रखे जाते हैं। यहाँ इन

पर खुला विचार—विमर्श होता है। संसद की स्वीकृति के पश्चात् ही विदेश विभाग इन्हें क्रियान्वित करता है, निर्देशन विदेश मन्त्री का ही रहता है। विदेशों के समक्ष वही अपने देश का कार्यकारी प्रतिनिधि होता है। उसी की योग्यता, कुशलता, व्यक्तिगत गुणों तथा विचारों के आधार पर देश का गौरव, सम्मान व प्रतिष्ठा बढ़ती है। इसी कारण उसकी नियुक्ति अथवा पद मुक्ति एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना मानी जाती है। विदेश नीति के निर्माण, निर्णय प्रक्रिया तथा इसके क्रियान्वयन में उसका प्रमुख हाथ होता है। वास्तव में नीति क्रियान्वयन का यह केन्द्र—बिन्दु होता है। किस देश के साथ कैसे सम्बन्ध हों, किसके साथ कौनसी सन्धि करनी है—व्यापारिक अथवा सांस्कृतिक, सैनिक अथवा राजनीतिक—आदि निर्णय वही लेता है। उसे निर्ण लेने से पूर्व कई बातों का ध्यान करना पड़ता है। उसके नीति सम्बन्धी निर्णय आर्थिक, सैनिक, भौगोलिक, राजनीति, गृह व अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों से आबद्ध रहते हैं। वह न तो पूर्णरूपेण आदर्शवादी और न ही अवसरवादी होता है। वह समय व परिस्थिति के अनुसार निर्णय लेकर अधिकाधिक राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करता है। समय—समय पर आयोजित शिखर सम्मेलनों, संयुक्त राष्ट्र व राष्ट्र मण्डल के अधिवेशनों आदि में वही भाग लेता रहता है और अपने देश के प्रतिनिधि मण्डल को नेतृत्व प्रदान करता है। अपने विभाग का मार्गदर्शन तथा प्रशासनिक नियन्त्रण उसी के हाथों में होता है। विदेशों से आये प्रतिनिधि एवं शिष्ट मण्डलों अथवा अन्य अधिकारियों के साथ वार्तायें आदि भी वही करता है। कभी—कभी प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व का प्रधानमन्त्री अथवा राष्ट्रपति अपने विदेश मन्त्री को पीछे छोड़ देता है, जैसे राष्ट्रपति विल्सन अथवा रूजवेल्ट ने अपने विदेश मन्त्री लैसिंग अथवा कॉरलेड हल को पीछे छोड़ दिया था।

## उप अथवा संयुक्त मन्त्री

विदेश मन्त्री के कार्यभार को हल्का करने के लिये तथा उसकी सहायताार्थ एक राज्य मन्त्री उप अथवा संयुक्त विदेश मन्त्री भी होता है। ये विदेश मन्त्रालय के कुछ भाग का कार्यभार संभालते हैं तथा विदेश मन्त्री को निर्णय लेने में परामर्श अथवा किसी विशेष विषय पर नोट तैयार कर नीति—निर्णय लेने में सहायता देते हैं।

## विदेश सचिव

विदेश विभाग के राजनीतिक अध्यक्ष विदेश मन्त्री के अतिरिक्त इस विभाग का एक और विभागीय अध्यक्ष होता है, यह विभाग का सचिव होता है। रोजमर्रा के प्रशासकीय कार्य की हस्ताक्षर, मन्त्रालय के खर्च का सही उपयोग इसी का उत्तरदायित्व होता है। सामान्यतः विदेश मन्त्री मोटे तौर पर नीति निर्णय आदेश देकर विस्तृत पूर्ति का कार्य विदेश सचिव पर ही छोड़ देते हैं। इसकी सहायताार्थ अनेक संयुक्त सचिव व उप—सचिव होते हैं जो विभिन्न उप—विभागों के अध्यक्ष होते हैं।

## प्रोटोकॉल विभाग

नयाचार (प्रोटोकॉल) का कार्य उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं राजनय। विदेश राष्ट्राध्यक्षों, प्रधानमन्त्रियों, राजदूतों आदि के साथ व्यवहार के नियमों को प्रोटोकॉल के नियम कहते हैं। ये निश्चित नियम होते हैं। इस विभाग का अध्यक्ष (Chief of Protocol) जो संयुक्त आवागमन, स्वागत आदि के शिष्टाचार के नियमों का विधिवत पालन हो। स्वागत पार्टी हो अथवा भोज, रेलवे स्टेशन पर आगमन हो अथवा हवाई अड्डे पर, भोज में बैठने की व्यवस्था हो अथवा स्वेदशी अधिकारियों का परिचय, इन सभी परिस्थितियों में प्रोटोकॉल के नियमों का पालन विभागाध्यक्ष की सूझबूझ, कुशलता और योग्यता पर निर्भर करता है।

## महासचिव

चूँकि नेहरू प्रधानमन्त्री होने के साथ—साथ विदेश मन्त्री भी थे, अतः कार्याधिक्य होने के कारण यह सोचा गया कि विदेश विभाग के कार्य को देखने के लिये एक योग्य व्यक्ति को नियुक्त किया जाये जो उन्हें सही परामर्श दे सके। 1947 से 1964 तक (एक वर्ष 1952 को छोड़) विदेश विभाग का कार्य भार एक महासचिव (Secretary General) सर गिरिजा शंकर वाजपेयी पर था। नेहरू का इन पर अटूट विश्वास था और वे इनसे निरन्तर परामर्श लेते रहते थे। 1964 में प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री द्वारा सरदार स्वर्णसिंह के विदेशमन्त्री नियुक्त कर देने पर यह सोचा गया कि अब महासचिव की आवश्यकता नहीं है, अतः यह पद समाप्त कर दिया गया। विदेश सचिव ही विभाग का सर्वोच्च अधिकारी माना जाता है।

विदेश सचिव की सहायताार्थ दो सचिव विदेशी मामलात I (Secretary External Affairs I) and तथा सचिव विदेश मामलात—II (Secretary External Affairs II) हुआ करते थे, बाद में इन्हें सचिव (पूर्व) (Secretary East and एवं सचिव (पश्चिम) (Secretary West) कहा जाने लगा। विदेश विभाग 20 उप विभागों (Division) में बँटा है, जिनके अध्यक्ष अतिरिक्त सचिव, संयुक्त सचिव अथवा डायरेक्टर होते हैं। ये विभाग प्रशासनिक (Administrative), प्रादेशिक (Territorial) और कार्य सम्बन्धी (Functional) होते हैं। इनकी सहायता तथा परामर्श के लिये एक प्रशासन तंत्र (Bureaucracy) परसोपातिक (hierarchical) आधार पर संगठित होता है जिसमें

कार्य करने की आज्ञा ऊपर से दी जाती है, प्रशासनिक विभाग केवल प्रशासन से ही सम्बन्धित है, अतः यह नीति निर्माण प्रक्रिया में कोई योगदान नहीं देता। अन्य दो विभागों—प्रादेशिक व कार्य सम्बन्ध—द्वारा सूचनाओं को एकत्रित कर विदेश मन्त्री को परामर्श दिया जाता है। सूचनाएँ, विश्वभर में फैले भारतीय दूतावासों तथा वाणिज्य दूतावासों से प्राप्त होती हैं। भारतीय विदेश मन्त्रालय के निम्नलिखित विभाग हैं :—

(i-ix) **प्रादेशिक अथवा भौगोलिक आधार पर 9 विभाग हैं** — अमेरिका, यूरोप, पश्चिमी और उत्तरी अफ्रीका, पाकिस्तान (2 उप विभाग), उत्तरी पूर्वी एशिया और दक्षिणी एशिया। हर डिविजन भौगोलिक आधार पर कई देशों को मिलाकर बनाया जाता है।

(xiii) **कानूनी और संधि विभाग (Legal and Treaties Division)** — अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई कानूनी समस्याओं, अधिकरणों (Tribunals), संधि, अनुसमर्थन आदि प्रश्न जिनसे भारत प्रत्यक्ष सम्बन्धित हो, इसी विभाग की देखरेख में सुलझाये जाते हैं।

(xiv) **वैदेशिक प्रचार विभाग (External Publicity Division)** — विदेशों में भारतीय दृष्टिकोण को रखने तथा उसका प्रचार करने का मूल कार्य इस विभाग का है। हालांकि इस विभाग का कार्य सांस्कृतिक आदान-प्रदान में भी सहायक है। यह अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों (fairs and festivals) सद्भावना शिष्ट मण्डलों नाच-गान, खिलाड़ियों आदि के विनिमय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह विभाग एक संयुक्त सचिव (विदेश प्रचार) के नेतृत्व में कार्य करता है, उसकी सहायतार्थ दो निदेशक (Director) एक उप-निदेशक, कई सूचना अधिकारी तथा उप-सूचना अधिकारी होते हैं।

स्वतन्त्रता पूर्व ब्रिटिश भारत का एक विदेश प्रचार संगठन (External Publicity Organisation) था जिसे 1943 में प्रचार व प्रसारण विभाग (Department of Information and Broadcasting) ने अपने अन्तर्गत ले लिया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त पश्चात मार्च 1948 में नेहरू ने विदेश नीति के क्षेत्र में प्रचार के महत्व पर बल दिया। विदेश प्रचार विभाग को विदेश विभाग के नियन्त्रण में रखा गया। 1958 में यह निर्णय लिया गया कि विदेश प्रचार विभाग ही विदेश प्रचार के लिये मूलतः उत्तरदायी रहेगा। यह विभाग तीन प्रकार के प्रचार कार्य करता है—प्रेस को सूचना देना, विदेशों में प्रचार संस्थानों पर नियन्त्रण और विदेशों में प्रचार करना। 1963 में स्थापित विदेश प्रचार विभाग की एक नई शाखा—प्रोडक्शन यूनिट (Production Unit) प्रचार साहित्य का निर्माण करती है। भारत प्रचार पर काफी व्यय करता है। प्रचार पर इतना व्यय करने के बाद भी भारतीय प्रचार असफलता और आलोचना का विषय रहा है। पिल्लै समिति ने भी प्रचार कार्य पर टीका टिप्पणी की थी।

(xv) **ऐतिहासिक विभाग (Historical Division)** — यह विभाग विदेश मन्त्रालय की सहायतार्थ विशेष विषयों पर शोध पत्र तैयार कराता है। इसका अपना एक अलग पुस्तकालय है।

(xvi) **प्रशासनिक विभाग (Administrative Division)** — यह विभाग कार्यकर्ता वर्ग (Personnel) सेवा वर्ग आदि के प्रशासन का कार्य करता है। यह विदेशों में भारतीय दूतावासों व वाणिज्य दूतावासों की प्रशासनिक व्यवस्था की भी देखभाल करता है।

(xvii) **आर्थिक विभाग (Economic Division)** — आर्थिक व तकनीकी आधार पर विदेशों के साथ भारतीय हितों के आधार पर सहयोग का कार्य इस विभाग के अधीन है।

(xviii) **नीति नियोजन व समीक्षा विभाग (Policy Planning and Review Division)** — विदेश नीतियों का समीक्षात्मक अध्ययन कर बदलती हुई परिस्थितियों अनुसार भारत की भविष्य में क्या नीति होनी चाहिये, इस सम्बन्ध में यह विभाग को परामर्श देता है।

(xix) **सुरक्षा, संचार, नागरिक सुरक्षा आदि विभाग (Security, Communications and Civil Defence Division)** — यह विभाग संचार सुरक्षा आदि समस्याओं पर विचार करके विदेश विभाग तथा विदेशों में भारतीय दूतावासों को परामर्श देता रहता है।

(xx) **गुप्त वार्ता विभाग (Intelligence Division)** — विदेशों में स्थित दूतावासों का कर्तव्य है वे सभी साधनों का उपयोग करके सूचनाएँ एकत्रित करें तथा अपनी सरकार को ये सूचनाएँ निरन्तर भेजते रहें सभी देशों में गुप्त विभाग यह कार्य करते हैं।

भारत में गुप्त विभाग (Intelligence Bureau) गृह मन्त्रालय के नियन्त्रण में कार्य करता था। प्रति रक्षा मन्त्रालय की सहायतार्थ 1956 में एक संयुक्त गुप्त संगठन (Joint Intelligence Organisation) की स्थापना की गई थी। इसके दो भाग चीन व पाकिस्तान सम्बन्धी सूचनाएँ एकत्रित करते हैं। विदेश नीति की आदर्शवादिता के कारण गुप्त विभाग अधिक योग्यता और निपुणता से कार्य नहीं कर पाया था। 1962 के चीनी आक्रमण से प्राप्त झटके ने हमें चेताया है, परन्तु फिर भी हमारे गुप्त विभाग का कार्य उतना निपुण नहीं है जितने कि विदेशों के गुप्त विभागों का। 1967 में विदेश गुप्त संगठन (External Intelligence Organisation) की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य पड़ोसी राज्यों से सैनिक सूचनाओं की प्राप्ति था। विदेशी दूतावासों में सैनिक अताशे भी गुप्त सैनिक सूचनाएँ एकत्रित करके मन्त्रालय को भेजते हैं। गृह तथा प्रति-रक्षा मन्त्रालय भी विदेश मन्त्रालय की भाँति गुप्त सूचनाएँ एकत्रित करते हैं। इन विभागों



के मध्य समन्वय बैठाने वाली संस्था गुप्तचर समिति (Joint Intelligence Committee) के होते हुए भी इसका कार्य अति असंतोषजनक रहा है। 1962 व 1985 में पूर्व सूचना के नहीं होने के कारण हमें काफी हानि उठानी पड़ी थी। 1965 में इस समिति का पुनर्गठन किया गया। अब इसकी सदस्यता विदेश, गृह तथा प्रति-रक्षा मन्त्रालयों के तीन संयुक्त सचिवों, तीन सैनिक गुप्त विभागों के अध्यक्षों तथा गृह-विभाग के एक सदस्य से पूरी होती है। इसके अलावा एक निरीक्षक विभाग (Inspectorate) भी है जो एक विशेष अतिरिक्त सचिव (Additional Secretary) के नेतृत्व में कार्य करता है। इसका मूल कार्य विदेशों में स्थित भारतीय दूतावासों के कार्य करने की रीति और क्षमता का अनुमान लगाना तथा समय-समय पर उनका दौरा करके राजनयिक अभिकर्ताओं के वेतन और भत्ते आदि पर विचार करते हुए उनके बढ़ाने का परामर्श देना होता है साथ ही ये दूतावास अधिकारियों के प्रशासन, व्यय, तथा उनके कार्यों का निरीक्षण कर अपनी सरकार को प्रतिवेदन देते हैं जिनमें भारतीय विदेश दूतावासों व राजनयिक अभिकर्ताओं के कार्यों की उन्नति, नियमों का उचित पालन, व्यय पर नियन्त्रण आदि ये सिफारिशें करते हैं। गुप्त वाहक व्यवस्था (Carriers of Diplomatic Bag) के अधिकारी भी विदेश मन्त्रालय के संगठन के ही एक भाग हैं। इनका मूल कार्य अपने देश अथवा दूतावास द्वारा भेजे गये दूतावास प्रेष को सुरक्षापूर्ण लाना व ले जाना है।

### कल्याण विभाग विभाग (Welfare Unit)

मन्त्रालय का कल्याण एक मुख्यालय तथा विदेश स्थित मिशनों में काम करने वाले सभी अधिकारियों के कल्याण की देखभाल करता है। एक विशेष कोष (Self Benefit Fund) में से कर्मचारियों को आवश्यकता पड़ने पर धन से सहायता की जाती है।

### हिन्दी में कार्य

मन्त्रालय अपना कार्य अधिकाधिक रूप से हिन्दी में करता है। विदेशों से की गई संधियां, समझौते, संयुक्त वक्तव्यों को हिन्दी में ही लिखा व हस्ताक्षरित किया जाता है। विदेश सेवा के अधिकारियों के लिये हिन्दी में एक अल्पावधि प्रशिक्षण, मन्त्रालय के कार्यक्रम के विचाराधीन है। विदेशों में हिन्दी प्रचार का कार्य "विदेशों में हिन्दी प्रचार की योजना" (Scheme for the Propagation of Hindi Abroad) के अन्तर्गत किया जाता है। विदेश विभाग की उप-समिति केन्द्रीय हिन्दी समिति-विदेश विभाग की उप-समिति केन्द्रीय हिन्दी समिति विदेशी हिन्दी लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिये उन्हें विशेष सम्मानित करती है। इसके लिये एक विशेष समिति (Award Committee) किया गया है।

विदेशों में भारतीय मिशनों के माध्यम से हिन्दी को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से हिन्दी अधिकारी, प्राध्यापक और आशुलिपिक भेजे गये हैं तथा मिशनों के लिये और अधिक हिन्दी में टाईपराईटर, पुस्तकें, समाचार-पत्र और पत्रिकायें भेजी जाती हैं। विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने यह भी बताया कि भारतीय मिशनों को विदेशों में भारतीय बच्चों को हिन्दी में शिक्षा देने की भी व्यवस्था है। इन्दिरा सरकार ने अक्टूबर 1980 में एक संसदीय दल को विदेशों में स्थित भारतीय दूतावासों का दौरा कर वहाँ हिन्दी के प्रयोग पर प्रगति आँकने और अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने हेतु भेजा था।

विदेश मन्त्रालय के कार्य को चलाने के लिए एक विशेष सेवा वर्ग का निर्माण किया गया है जिसे भारतीय विदेश सेवा (Indian Foreign Service I.F.S.) कहते हैं। विदेश सेवा नियुक्तियों ने अब राजनय के क्षेत्र को सबके लिये खोल दिया है। सामान्य नागरिक अपनी योग्यता और शिक्षा के आधार पर इस सेवा का सदस्य बन सकता है। भारतीय राजनय अब संभ्रान्त परिवारों, राजा, रजवाड़ों, सैनिक अफसरों आदि तक ही सीमित न रहकर सभी के लिए खुल गया है। 1947-1948 की विशेष संकटकालीन भरती के अलावा विदेश सेवा के लिये चुनाव एक विशेष परीक्षा व साक्षात्कार द्वारा किया जाता है। चुनाव हो जाने के पश्चात् इन्हें एक विशेष प्रशिक्षण के लिये भेजा जाता है, जो कई भागों में पूरा होता है। इसमें शैक्षणिक विषयों का ज्ञान, विदेश भाषा की शिक्षा, एक माह के लिये विदेश दूतावास में व्यापार की शिक्षा और राष्ट्रमण्डल के विदेश सेवा अधिकारी प्रशिक्षण केन्द्र में डेढ़ माह का प्रशिक्षण दिया जाता है। तत्पश्चात् ही इनकी किसी विदेश दूतावास में नियुक्ति होती है। इस प्रकार प्रशिक्षित व्यावसायिक राजदूतों के अलावा सरकार समय-समय पर गैर-व्यावसायिक राजनीतिज्ञों सैनिकों, खिलाड़ियों आदि को भी राजदूत नियुक्त करती है। दूतावास में अताशों की भी नियुक्ति की जाती है। प्रधानमन्त्री कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में अपने व्यक्तिगत प्रतिनिधि विशेष दूत अथवा घूमने वाले राजदूत (Roving Ambassador) को भी भेज सकता है। विदेश सेवा बोर्ड राजनयिक, व्यापारी एवं वाणिज्य ओर दूतावासों में अधिकारियों की नियुक्ति, उनका स्थानान्तरण और पदोन्नति के कार्य करता है। भारतीय विदेश मन्त्री समय-समय पर विशेष प्रकाशनों के माध्यम से सूचनाएँ देता है ये हैं—

- (1) वार्षिक प्रतिवेदन (Annual Register)
- (2) विदेशों में भारतीय प्रतिनिधि (List of India's Representative Abroad)

## (3) विदेश मामलों का रिकार्ड (Foreign Affairs Record)

इस प्रकार विदेश मन्त्री की सहायतार्थ राज्य मन्त्री, उप-मन्त्री, विदेश सचिव, विदेश सेवा विभाग के अधिकारी, राजदूत महावाणिज्य दूत आदि राजनयिक अभिकर्त होते हैं जो अपनी योग्यतानुसार विदेश नीति नियोजन, निर्माण और उसके क्रियान्वयन में सहयोग देते रहते हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रारम्भिक काल (1947-1964) में विदेश मामलों के क्षेत्र में जवाहरलाल नेहरू का व्यक्तित्व छाया रहा था। वे प्रधानमन्त्री होने के साथ-साथ विदेश मन्त्री भी थे। स्वतन्त्रता पूर्व काल में भी वे विदेश मामलों में पर्याप्त दिलचस्पी लेते रहे थे। सुभाषचन्द्र बोस, डॉ० राममनोहर लोहिया व जवाहरलाल नेहरू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विदेश मामलों से प्रत्यक्ष सम्बन्धित थे। नेहरू ने चीन का दौरा किया था, ब्रुसेल्स में होने वाले साम्राज्यवादी देशों के सम्मेलन तथा अक्टूबर क्रान्ति की दसवीं वर्षगांठ में मास्को में भाग लिया और स्पेन के गृह युद्ध का आँखों देख निरीक्षण किया था। इनका एशिया, अफ्रीका, आयरलैण्ड, व अमेरिका के प्रमुख व्यक्तियों, नेताओं और अधिकारियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क था। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के सन्दर्भ में वे बराबर अपनी प्रतिक्रिया व टिप्पणी देते रहते थे। चीन और स्पेन का गृह युद्ध, अबिसिनिया पर इटली का आक्रमण, हिटलर व मुसोलिनी की नीतियाँ, म्यूनिख समझौता, पोलैण्ड पर आक्रमण और द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ आदि। इस प्रकार स्वतन्त्रता पूर्व के काल से ही इनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व उभर चुका था। विदेश मामलों से सम्बन्धित कांग्रेस के प्रस्तावों पर वस्तुतः नेहरू की छाप थी। स्वतन्त्रता के पश्चात् विदेशनीति के निर्माण का उत्तरदायित्व इन्हीं पर पड़ा। नेहरू ही हमारी विदेश नीति के निर्माता थे। ब्रेचर के शब्दों में "अपने देश की बाहरी विश्व के प्रति नीति के वे दार्शनिक, निर्माता, इन्जीनियर और देश की आवाज बन गये थे।" स्मरणीय है कि इस काल में राष्ट्रपति, मन्त्रिमण्डल, संसद, विदेश मन्त्रालय आदि विदेश नीति के नियोजन में गौण थे। इसका कारण नेहरू का व्यक्तित्व, स्वतन्त्रता पूर्व काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर उनका विपुल ज्ञान, विदेशमन्त्री व प्रधानमन्त्री दोनों पदों का अपने पास रखना, जनता में लोकप्रियता दलीय नेतृत्व तथा कांग्रेस संगठन पर उनका प्रभाव था। इन सबके मेल-जोल ने नेहरू को अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर देश का एकमात्र प्रतिनिधि वक्ता बना दिया। संगठित विरोधी दल के अभाव ने इनके कार्य को और भी सरल बना दिया था। स्मरणीय है कि 1967 के चुनाव काल तक विरोधी दलों के चुनाव घोषणा पत्रों में विदेश मामलों का कोई वर्णन नहीं होता था। इस सबके ऊपर सभी विदेश नीति के मौलिक सिद्धान्तों से सहमत थे। वंधोपाध्याय ने अपनी पुस्तक "भारतीय विदेश नीति का निर्माण" (The Making of India's Foreign Policy) में नेहरू की इस अभूतपूर्व स्थिति के तीन कारण बताये हैं। प्रथम-स्वतन्त्रता आन्दोलन के काल में नेहरू का व्यक्तित्व तथा स्थान अद्वितीय रहा था। इस काल में भारत के विदेश नीति सम्बन्धी विचार उन्हें के द्वारा दिये जाते थे। स्वतन्त्रता पश्चात् सम्पूर्ण विदेश मन्त्रालय, संसद, भारतीय सेवा वर्ग आदि नेहरू के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से प्रभावित थे। द्वितीय-विदेश मन्त्रालय, दूतावास के अधिकारी, नेहरू के राजनीतिक साथी, कोई भी व्यक्ति शिक्षा-दीक्षा में नेहरू को परामर्श देने की योग्यता नहीं रखता था। तृतीय-इस समय भारतीय विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से प्रभावित थी, राष्ट्रीय हित गौण पड़ गये थे। इस सबके बाद भी इस बात से नकारा नहीं जा सकता कि कुछ बहुत ही उच्च अधिकारी जैसे गिरिजा शंकर वाजपेयी, एन०आरव पिल्ले, के०पी०एस० मेनन, एस०दत्त, पणिककर, कृष्णा मेनन आदि से नेहरू परामर्श लेते रहते थे तथा इनके परामर्श को वे महत्व भी देते थे, परन्तु इस दिशा में अन्तिम निर्णय स्वयं उन्हीं के होते थे। नेहरू के बाद के काल में स्थिति बदली। विदेश मन्त्री स्वर्णसिंह, छागला और दिनेशसिंह आदि के काल में विदेश विभाग का योगदान बढ़ा, दिनेशसिंह अपने मन्त्रालय पर पूर्णरूपेण निर्भर थे। विदेश मन्त्री यशवन्तराव बलवतन्त्राव चह्वाण भी अपने विदेश मन्त्रालय से परामर्श लेते रहते थे। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि कोई विदेश मन्त्री मन्त्रालय के कार्य सुचारु रूप से चलाना चाहता है तो आवश्यक है कि उसे अपने विदेश मन्त्रालय के उच्च अधिकारियों के परामर्श पर निर्भर रहना होगा। साथ ही यह भी मानना होगा कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसे स्वयं ही अपने ऊपर निर्भर रहना चाहिये तथा अन्तिम निर्णय स्वयं उसके होने चाहिये।

# ईकाई-III

## अध्याय-1

### राजनय के रूप (Types of Diplomacy)

राजनय अपने लक्ष्य, प्रकृति, प्रक्रिया एवं परिणाम के आधार पर कई रूपों में बँटा हुआ है। कुछ प्रमुख रूप – प्रजातंत्रात्मक राजनय, शटल राजनय, सांस्कृतिक राजनय, व्यक्तिगत राजनय, सहायता का राजनय, शिखर राजनय तथा सम्मेलनीय राजनय है। इन विभिन्न रूपों में आपस में कोई सम्बन्ध न हो, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि इनमें से कुछ तो एक-दूसरे की विरोधी प्रकृति के हैं, फिर भी यह सम्भव है कि देश के राजनय में इनमें से कुछ रूप एक साथ प्राप्त हो सकें। राजनय के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन इस प्रकार है :-

#### प्रजातंत्रात्मक राजनय (Democratic Diplomacy)

##### अर्थ एवं विकास (Meaning and Evaluation)

प्रजातंत्रात्मक भावना का विकास जब देशों में हुआ तो उसके अनुसार राजनीतिक परिवर्तन भी हुये। राजसत्ता का बास जब जनता में माना जाने लगा तब शासन का पूरा रूप ही बदल गया। देश-देश में उत्तरदायी शासन की स्थापना प्रारम्भ हुई। प्रजातंत्रों की स्थापना से उनके राजनय की प्रक्रिया भी प्रजातंत्रात्मक होने लगी। विदेशों में भेजा जाने वाला राजदूत अब राजा या राज्याध्यक्ष का व्यक्तिगत प्रतिनिधि न रहा। वह उस देश की जनता का प्रतिनिधि माना जाने लगा। निरंकुश राजतंत्र में राजदूत केवल राजा के प्रति वफादार रहता था, उसकी इच्छा पर उसकी नियुक्ति या पदच्युति होती थी। लेकिन प्रजातंत्रात्मक शासन में जनता के प्रतिनिधि ही उसे चुनते हैं या पदच्युत करते हैं। वह जनता की भावना का आदर करता है। अप्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रजातंत्रात्मक देशों के राजदूत अन्य राज्यों में अपने मन्त्रिमण्डल का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन पर प्रत्यक्षतः विदेश मंत्री का नियंत्रण रहता है। विदेश मंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होता है और संसद जनता की प्रतिनिधि होने के कारण जनता की इच्छा के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रो० निकलसन प्रजातंत्रात्मक राजनय में उत्तरदायित्व के इस क्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "राजनयज्ञ चूँकि एक नागरिक सेवक होता है, वह विदेश मंत्री के प्रति उत्तरदायी होता है, विदेश मंत्री चूँकि मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता है अतः वह संसद के बहुमत दल के प्रति उत्तरदायी होता है और चूँकि संसद जनप्रतिनिधियों की एक सभा होती है अतः वह जनता जो प्रभुत्ता प्राप्त होती है, उसकी इच्छा के प्रति उत्तरदायी होती है।" (The diplomatist being a civil servant, is subject to the foreign secretary, being a member of the cabinet is subject to the majority in the Parliament, being a representative assembly is subject to the will of the sovereign people).

राजनयिक सेवा नागरिक सेवा का एक अंग होती है। अतः उसे राजनीति से दूर रखा जाता है। राजनयिक प्रतिनिधि को सरकार के आदेशों के अनुसार चलना पड़ता है। सरकार किस दल की है उसे इस बात की परवाह नहीं करनी पड़ती है। अतः वह दलबन्दी से सम्बन्ध नहीं रखता है। सरकारें बदलती रहती हैं और उसकी नीति भी दलों के अनुसार बदलती हैं। लेकिन राजनयिक प्रतिनिधि वर्तमान सरकार की आज्ञाओं का अक्षरतः पालन करता रहता है। उसका कर्तव्य है कि वह अपनी योग्यता एवं अनुभव से वर्तमान सरकार को परामर्श देता रहे। इस परामर्श को यदि सरकार न माने तो उसे अपमान का अनुभव न होना चाहिए। वह विदेश मन्त्री के आदेशों का बिना विरोध पालन करे।

प्रजातंत्रात्मक राजनय का सही विकास तो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही हुआ है, फिर भी इसके पूर्व कुछ देश प्रजातंत्रात्मक राजनय का प्रयोग करने लगे थे। इंग्लैण्ड में 1688 की शानदार क्रान्ति के बाद प्रजातंत्र का निर्माण हुआ। 18 वीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में प्रजातन्त्रीय राज्य स्थापित हुआ। इन दो राज्यों के अतिरिक्त अन्य राज्य निरंकुश राजतंत्र थे। अतः अधिकांश राजनयिक प्रतिनिधि अपने शासकों के ही प्रतिनिधि माने जाते थे। वे गुप्त संधियाँ करते थे और उनका रहस्य उनकी जनता तक नहीं पहुँच पाता था। राजाओं की व्यक्तिगत मित्रता या शत्रुता का परिणाम उनकी जनता को भोगना पड़ता था। यह गुप्त सन्धियाँ 1914 तक चलती रही हैं।

यद्यपि उस समय संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और इंग्लैण्ड पूर्ण प्रजातंत्रात्मक राज्य थे पर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका पथकतावादी नीति अपनाये था। वह यूरोप की राजनीति में कोई भाग न लेता था। रहा इंग्लैण्ड वह भी क्रीमिया युद्ध के बाद यूरोपीय राजनीति से अलग-थलग होकर अपने व्यापार को बढ़ाने में लगा था। यूरोप के राजतन्त्र गुप्त संधियाँ कर रहे थे। ये सन्धियाँ युद्ध सम्बन्धी थीं। जर्मनी ने आस्ट्रिया तथा इटली से मिलकर एक त्रिपक्षी सन्धि (Triple Alliance) कर ली थी। फ्रांस जर्मनी की सैनिक तैयारी देखकर

डरा और उसने रूस से द्वि-पक्षीय (Duel Alliance) कर ली थी। चूँकि रूस और इंग्लैण्ड में शत्रुता थी अतः इंग्लैण्ड द्वि-पक्षीय सन्धी में प्रवेश न पाना चाहता था। यद्यपि फ्रांस इसके लिए बड़ा प्रयत्नशील था। यूरोप में बड़ा तनाव था, अतः इंग्लैण्ड भी चौकन्ना बना और अपनी पथकतावादी नीती त्यागकर 1902 में जापान से गुप्त सन्धि कर अपने सुदूर पूर्व के क्षेत्रों को सुरक्षित कर यूरोप के मसले पर ध्यान देने लगा। पहले तो वह जर्मनी से गुप्त सन्धि करना चाहता था, परन्तु कैसर विलियम द्वितीय के अनाप-शनाप भाषणों से इंग्लैण्ड की जनता नाखुश थी। 1907 में उसे भी फ्रांस और रूस से मिलकर त्रिपक्षीय मैत्री (Triple Intenty) स्थापित करनी पड़ी। प्रजातांत्रिक देश होते हुए भी इंग्लैण्ड सरकार गुप्त सन्धि में फँस गयी। इन गुप्त सन्धियों का पता तब चला जब प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया।

युद्ध में मानव संहार ने विद्वानों को यह मानने को विवश किया कि गुप्त सन्धियाँ विनाशकारी होने के कारण त्याज्य हैं। अतः यह आवश्यक दिखाई दिया कि ऐसी तरकीबें प्रयोग में लायी जायें जिससे युद्ध की घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो। उसके लिए गुप्त सन्धि वार्ता एवं सन्धियों का अन्त होना आवश्यक हो गया। जनता का राजनय पर अधिकार होना चाहिये। पर जनता उस समय नीति और सन्धि वार्ता का भेद न समझ पाती थी। निकलसन का कहना था कि "जनता समस्या की सच्ची प्रकृति को समझ न पाती थी। जनता जिसे लापरवाही से राजनय समझती थी और वह उस पर अधिकार द्वारा प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण स्थापित करना चाहती थी, वह नीति और सन्धि वार्ता में भेद न समझने के कारण उस कानूनी अधिकार से वंचित थी जो उसका था।"

खुली सन्धि वार्ता तथा खुली सन्धि का महत्त्व सर्वप्रथम अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन को अनुभव हुआ। उन्होंने जब अपने 14 सूत्र प्रकाशित किये तो प्रथम सूत्र में यह घोषणा की गई कि सन्धि-वार्ता के लिए खुले अधिवेशन हों और खुले रूप में सन्धि (Open conversants of peace openly arrived at) हो।

राष्ट्रपति विलसन के सूत्रों का प्रत्येक देश ने स्वागत किया। पर दुःख है कि स्वयं विलसन भी जनता के समान ही "नीति और सन्धि-वार्ता" में भेद न समझ पाये। उन्हें भी अपने सूत्र को क्रियान्वित करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। यद्यपि वार्साय की संधि खुले रूप में शान्ति सम्मेलन में की गई पर वह खुले रूप में प्राप्त न हो सकी। इसका कारण था कि सन्धि-वार्ता 5 महाराष्ट्रों के राजनयज्ञों के मध्य हुई। जर्मनी और इटली की चिन्ता न कर उनका परामर्श नहीं लिया गया। इटली और जापान शीघ्र तटस्थ हो गये। रह गये तीन राजनयज्ञ-लायर्ड जार्ज (ब्रिटेन), क्लीमेंटू (फ्रांस) तथा वुडरो विलसन (अमेरिका)। इन तीनों के मध्य सन्धि वार्ता चलती रही और वह गुप्त रूप से विलसन के कमरे से चलती रही। अन्त में विलसन ने अपनी गलती स्वीकार करते हुए कहा कि "खुली सन्धि" और "खुले रूप से प्राप्त सन्धि" में काफी अन्तर है।

### विशेषतायें (Characteristics) :-

प्रजातान्त्रिक राजनय की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं :-

1. प्रजातन्त्रात्मक राजनय में राजनयज्ञों को न केवल अपने देश के शासकों की रुचि का ही ध्यान रखना पड़ता है वरन् उन्हें जनता की रुचि एवं जनहित का भी ध्यान रखना होता है।
2. राजनयिक स्तर पर होने वाले समझौते एवं सन्धियाँ सामान्य जनता की जानकारी के लिए प्रकाशित किये जाने आवश्यक हैं और जनता जो समय-समय पर अपनी राय दे, उसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।
3. अनेक समुदायों एवं संगठनों द्वारा विदेशों से की गई संधियों एवं समझौतों के विरोध या समर्थन में भाषण, प्रचार, आन्दोलन एवं जलसे-जलूस आयोजित किये जाते हैं।
4. प्रजातन्त्रात्मक राजनय पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है जैसे स्वतन्त्र प्रेस, भाषण की स्वतन्त्रता, जनमत का प्रभाव, विभिन्न सस्थाओं एवं संगठनों द्वारा प्रकट किया गया मत आदि।
5. यह सम्पूर्ण देश के सामान्य हित की उपलब्धि का प्रयास करता है।
6. प्रजातन्त्रात्मक राजनय में गुप्त सन्धियों का बहिष्कार और खुली सन्धियों का समर्थन किया जाता है।

अमेरिकी राष्ट्रपति विलसन के अनुसार शान्ति सम्बन्धी समझौते खुले रूप में हों तथा उनकी प्रक्रिया भी खुली होनी चाहिए। (Open conversants of peace openly arrived at)। इस सूत्र के आधार पर सभी गुप्त एवं शान्ति विरोधी राजनयिक कार्यों पर रोक लगाने की मांग की गई। राष्ट्रपति विलसन का यह योगदान एक स्थायी मूल्य रखता है। 2 जनवरी 1918 को अमेरिकी कांग्रेस के सम्मुख इन्होंने खुले राजनय का अर्थ स्पष्ट किया। खुले राजनय का अर्थ यह नहीं होता कि गम्भीर विषयों पर निजी विचार-विमर्श किया ही न जाये। इसका अर्थ केवल यह है कि कोई गुप्त समझौता नहीं किया जाना चाहिये।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दुनिया के विभिन्न राज्यों में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का उदय होने पर प्रजातन्त्रात्मक राजनय का उद्भव हुआ। इसके अन्तर्गत विदेश नीति पर संसद की स्वीकृति ली जाती है। द्रुतगामी संचार के साधनों का विकास होने के कारण जनता अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में काफी रुचि लेने लगी है। वह इस सम्बन्ध में सरकार से प्रश्न करती है। राजनयिक सम्बन्धों

में अब गोपनीय कार्यवाहियों की कम सम्भावना रह गई है। प्रत्येक सन्धि पर स्वीकृति देने से पूर्व संसद पर्याप्त बहस करती है। कभी-कभी वह स्वीकृति देने से मना भी कर देती है। देश को उसे मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति विलसन ने बार्साय सन्धि पत्र जिसमें राष्ट्रसंघ का संगठन भी था, हस्ताक्षर कर दिये थे। लेकिन जब वह कांग्रेस में रखी गई तो सीनेट (ऊपरी सदन) ने उसे अस्वीकार कर दिया। अमेरिका इसीलिये राष्ट्रसंघ का निर्माता होते हुए भी उसका सदस्य न बना।

### राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ का योगदान (The Contribution of League of Nations and U.N.O.)

1919 में की गई बार्साय की सन्धि ने राष्ट्रसंघ की स्थापना की। इसके द्वारा गुप्त सन्धियों को समाप्त करने के लिए तथा विदेश नीति पर जनता का नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कुछ कदम उठाये गये। राष्ट्रसंघ की धारा 18 के अन्तर्गत यह प्रावधान था कि भविष्य में राष्ट्रसंघ के सदस्यों द्वारा जो भी सन्धि की जायेगी उसे शीघ्रातिशीघ्र संघ के सचिवालय में लिपिबद्ध कराया जायेगा। यह भी प्रयत्न किया जायेगा कि वह शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित हो। इस प्रक्रिया के बिना प्रत्येक समझौते पर सन्धि अमान्य रहेगी। व्यवहार में राष्ट्रसंघ की यह धारा अधिक सार्थक सिद्ध नहीं हो सकी क्योंकि अनेक राज्य पहले ही संघ से बाहर थे और कुछ बाद में अलग हो गये। अतः गुप्त सन्धियों का कार्यक्रम चलता रहा।

गुप्त सन्धियों को प्रकाश में लाने का दूसरा कदम यह था कि विदेशों में गए राजदूतों द्वारा की गई सन्धियाँ अनुसमर्थन के लिए संप्रभुसत्ता के पास भेजी जानी चाहिये। जब तक अनुसमर्थन न हो तब तक संधि लागू नहीं हो सकती थी। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व प्रभुसत्ता द्वारा अनुमोदन एक औपचारिक व्यवस्था थी। जो राजदूत पूर्णाधिकार प्राप्त होता था, उसके द्वारा की गई संधि संप्रभु अवश्य स्वीकार कर लेता था, क्योंकि उसे ठुकराना वचन भंग के समान माना जाता था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद संप्रभु से उत्तर का अनुसमर्थन जन प्रतिनिधि सभा के हाथ में आ गया। इंग्लैण्ड की संसद, अमेरिका की सीनेट तथा सोवियत रूस की सर्वोच्च सोवियत या प्रेसिडियम चाहे तो राजदूत द्वारा की गई संधियों को रद्द कर दे।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में भी सन्धियों के पंजीकरण की व्यवस्था की गई है। धारा 102 के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रत्येक सदस्य द्वारा की गई सन्धि को पंजीकृत किया जाना चाहिये। जिस संधि को पंजीकृत किया जाता है, केवल उसी के उल्लंघन या कार्यान्विति सम्बन्धी विषय को संघ के किसी अंग के सामने लाया जा सकता है। सन्धि का संघ में पंजीकरण न होने का अर्थ यह नहीं कि उसे अवैध माना जायेगा। संघ का सचिवालय समय-समय पर संधियों को प्रकाशित करता रहता है और संधिकर्ता राष्ट्र उससे लाभ उठाते हैं।

### प्रजातांत्रिक राजनय के गुण (Merits of Democratic Diplomacy)

प्रजातांत्रिक राजनय के गुणों की विवेचना मुख्यतः उसके लक्ष्यों की दृष्टि में की जाती है। इन लक्ष्यों का निर्धारण अधिकांशतः जनता द्वारा होता है। इस व्यवस्था के पक्ष में कहा जाता है कि जनता अपने हित को अच्छी प्रकार जानती है और उसको अच्छी प्रकार अभिव्यक्त कर सकती है तथा उसकी रक्षा कर सकती है। अनियन्त्रित नेतागण जनता के हितों को भली प्रकार नहीं जान पाते हैं। प्रजातन्त्र में प्रेस एवं भाषण की स्वतन्त्रता रहती है। इसलिए राज्याधिकारी आवश्यक सूचनायें प्रकाशित करने पर बाध्य होते हैं। सन्धियों के अनुसमर्थन की प्रक्रिया तथा धन के विनियोग की व्यवस्था के कारण जनता अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों से परिचित हो जाती है।

संक्षेप में प्रजातांत्रिक राजनय के गुण निम्नलिखित हैं :-

1. **सन्धियों का खुले रूप में होना :-** अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ गुप्त रूप से न होने के कारण विश्व शान्ति के लिए खतरा कम हो जाता है। प्रजातंत्र के विकास से पूर्व विभिन्न शासक आपस में ऐसी गुप्त सन्धियाँ कर लेते थे जो उनकी जनता एवं पड़ोसी राज्यों के लिए संकटपूर्ण बन जाती थी। विश्व राजनीति के इतिहास में महाशक्तियों ने इसी प्रकार गुप्त सन्धियाँ करके छोटे राज्यों को पददलित किया है। प्रजातांत्रिक राजनय में ऐसी सन्धियों की सम्भावना नहीं रहती।
2. **जनता को विदेश नीति का ज्ञान होना :-** प्रजातांत्रिक राजनय में जनता को विदेश नीति का पूरा ज्ञान रहता है। परिणामस्वरूप सन्धियों पर कार्यान्विति सही रूप में हो पाती है। सन्धियों पर जब संसद की स्वीकृति प्राप्त की जाती है तो संसद उनमें आवश्यकतानुसार सुधार एवं संशोधन का सुझाव देते हैं। जनमत द्वारा समर्थित होने के कारण सन्धि की क्रियान्विति अधिक सफल रूप में हो पाती है।

### प्रजातांत्रिक राजनय के दोष (Demerits of Democratic Diplomacy)

प्रजातान्त्रिक राजनय के सम्बन्ध में सभी विचारकों का दृष्टिकोण प्रशंसापूर्ण नहीं है। कुछ विचारकों का मानना है कि परम्परावादी राजनय की कुछ विशेषताओं को अपनाये बिना विश्व शान्ति की आशाएं धूमिल पड़ जायेंगी। लिपमैन (Lippmann) जैसे विचारक तो प्रजातंत्र के भविष्य के सम्बन्ध में भी अधिक आशावादी नहीं हैं। हडलेस्टन (Hiddleston) के अनुसार प्रथम विश्व युद्ध के बाद

का राजनय असल में राजनय ही नहीं था। उनका परामर्श है कि हमको अधिक स्पष्ट एवं सूक्ष्म व्यावसायिक राजनय की ओर ही लौट जाना चाहिये। हैरोल्ड निकलसन (Harold Nicolson) तथा अन्य विचारकों द्वारा वर्णित प्रजातन्त्रात्मक राजनय के कुछ दोष निम्नलिखित हैं :-

**1. जन-संप्रभु में उत्तरदायित्व का अभाव (Irresponsibility of the Sovereign People) :-** प्रजातांत्रिक राजनय का अनुभव निराशाजनक रहा है। इसमें विदेश नीति को नियंत्रित करने की शक्ति अन्तिम रूप से जनता को सौंपी जाती है। लेकिन जनता इस शक्ति के उत्तरदायित्वों से अनभिज्ञ रहती है। प्राचीन काल में शासक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का पालन करना अपना व्यक्तिगत दायित्व मानते थे तथा उसे अपने सम्मान का प्रश्न बना लेते थे। वे अपनी साख गिरने देना पसन्द नहीं करते थे। उन्हें अपने वचनों का ध्यान रहता था और वे अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को पूरी तरह निभाने का प्रयत्न करते थे। राजा के बाद सत्ता कुलीन वर्ग के हाथों में आयी। वे भी यह अनुभव करते थे कि उनके द्वारा की गई सन्धियों में सम्पूर्ण शासक-वर्ग का सम्मान निहित है। लेकिन आज स्थिति भिन्न है। इसमें विदेश नीति का नियंत्रण ऐसे बहुसंख्यक अनामधारी एवं अचेतन जनसमूह को सौंपा जाता है जिसमें व्यक्तिगत अथवा सहकारी उत्तरदायित्व का अभाव रहता है। प्रो० निकलसन ने संप्रभु जनता के अनुत्तरदायित्व को प्रजातन्त्रात्मक राजनय को सर्वाधिक सक्षम स्वतंत्र माना है। सामान्य जनता अपनी सम्प्रभुता के सम्बन्ध में अचेत रहती है। संसद के बहुमत द्वारा स्वीकार की गई सन्धि को भी सामान्य जनता अपने ही प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकृत न मान कर आलोचना करती है। ऐसी हालत में सरकार की स्थिति सोचनीय बन जाती है। वह इन सन्धियों तथा समझौतों को सही रूप में लागू नहीं कर पातीं

**2.. जनता की अज्ञानता (Ignorance of the People) :-** प्रजातन्त्र में जनता को विदेश नीति की पूरी जानकारी नहीं रहती। इसके अतिरिक्त जनता स्वभाव से भुलक्कड़ होती है। वह पुरानी सन्धियों को भूल जाती है। जनता यह भी भूल जाती है कि उसके प्रतिनिधियों ने यह सन्धि की है और उसकी आलोचना समचार-पत्र में प्रकाशित हो चुकी है। वह तो तब चेतती है जब सन्धि के क्रियान्वयन करने का समय आता है और आलोचना करने लगती है। इससे सन्धि के क्रियान्वित करने में अड़चन उत्पन्न हो जाती है।

जनता में जो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के प्रति अज्ञानता रहती है उसके चार कारण होते हैं : (i) आलस्य (ii) विस्मृति (iii) विदेशी मामलों को घरेलू मामलों के समान समझने की गलतफहमी तथा (iv) शासकों एवं विशेषज्ञों द्वारा मतदाताओं को वैदेशिक मामलों में पूर्ण जानकारी न प्रदान करना। ये कमियाँ केवल नये प्रजातन्त्रीय देशों की जनता में ही नहीं पायी जाती बल्कि ब्रिटेन जैसे सबसे प्राचीन प्रजातन्त्र की जनता में भी पायी जाती है। निकलसन के अनुसार, "ग्रेट ब्रिटेन में भी साधारण स्त्री-पुरुष अभी तक यह अनुभव नहीं कर पाये हैं कि वैदेशिक मामले वैदेशिक ही हैं अर्थात् वे सिर्फ अपने राष्ट्रीय स्वार्थों से ही नहीं बल्कि अन्य देशों के हितों से भी सम्बन्ध रखते हैं।" प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का यह एक दुःखद तथ्य है कि जो व्यक्ति विश्व के राज्यों का नाम तक भली प्रकार नहीं जानता वह भी विदेश नीति के प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न पर निर्णय लेने का दावा करता है।"

**3. निर्णय में विलम्ब (Delay in Decision) :-** विदेश नीति के अनेक प्रश्नों पर शीघ्र निर्णय लेना आवश्यक होता है, किन्तु प्रजातन्त्र में यह सम्भव नहीं हो पाता। यहां प्रत्येक निर्णय पर संसद की स्वीकृति आवश्यक होती है। संसद अपनी स्वीकृति प्रदान करने से पहले उस सम्बन्ध में जनता की राय जानने का प्रयास करती है। इस प्रक्रिया में पर्याप्त समय लग जाता है जिसका परिणाम समूचे देश को भुगतना पड़ता है। प्रो० निकलसन के अनुसार, "एक शक्तिशाली राजा या तानाशाह को किसी नीति के बनाने और क्रियान्वित करने में केवल कुछ घंटे लगेंगे। किन्तु एक प्रजातांत्रिक सरकार को उस समय तक प्रक्रिया करने होती है। जब तक कि उसका जनमत अपने निष्कर्षों को पचा नहीं ले।" यद्यपि यह प्रक्रिया अनसोचे निर्णयों के खतरों से तो रक्षा करती है किन्तु इससे प्रभावशाली राजनय को हानि पहुंचती है। देश के नेता समय पर निर्णय नहीं ले पाते। प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों के नेता प्रायः ऐसी विदेश नीति नहीं अपनाते जिस पर जनता का समर्थन प्राप्त न हो सके चाहे नीति जन कल्याणकारी एवं सुरक्षा की दृष्टि से कितनी ही महत्वपूर्ण हो। जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रचार और प्रसार के साधनों का सहारा लिया जाता है। जनता को सही तथ्य बताने की अपेक्षा वे बातें बताई जाती हैं जो नेतागण उपयुक्त समझें।

**4. अनिश्चितता (Imprecision) :-** प्रजातांत्रिक राजनय में स्पष्टता एवं परिवर्तनशीलता रहती है। एक तो प्रजातन्त्र में सरकारें टिकाऊ नहीं होती, बार-बार चुनाव होता रहता है, जनमत में परिवर्तन होता रहता है और सरकारें एक दल से दूसरे दल के हाथ में पहुँचती रहती हैं। प्रजातन्त्र में राजनयज्ञ भी ऐसी नीति अपनाते हैं जो अत्यन्त अस्पष्ट होती हैं और उसके कई अर्थ लगाये जाते हैं। प्रजातांत्रिक सरकारों को जनमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए कुछ और कहना पड़ता है, राष्ट्रीय हित की रक्षा के लिए उन्हें अलग बात कहनी होती है तथा अन्य राज्यों की मैत्री प्राप्त करने के लिए पूर्णतः भिन्न बात कहनी होती है। इन सब विभिन्नताओं को मिटाने के लिए समय-समय पर नीति की विरोधी व्याख्याएं प्रस्तुत करती रहती हैं। इसके फलस्वरूप राज्यों के बीच अविश्वास की भावना पनपती है। राजनयज्ञों की भाषा अनिश्चित, अस्पष्ट, निरर्थक और विश्वसनीय बन जाती है। उनके द्वारा ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बातें की जाती हैं किन्तु व्यवहार में उनका कोई महत्त्व नहीं होता।

**5. प्रकाशन का दुरुपयोग (Misuse of Publicity) :-** प्रजातांत्रिक सरकारें प्रचार पर बहुत जोर देती हैं। यद्यपि प्रचार का जितना दुरुपयोग तानाशाही सरकार में होता है उतना प्रजातंत्रीय सरकारों में नहीं होता, फिर भी प्रजातंत्रीय सरकारें प्रचार का दुरुपयोग नहीं करती। अन्तर यह रहता है कि तानाशाही सरकार का प्रचार के सभी साधनों पर एकाधिकार होता है और उनका एक पक्षीय ही प्रचार होता है, लेकिन प्रजातन्त्र में प्रेस की स्वतन्त्रता रहती है। प्रेस के दो भाग हो जाते हैं (1) सरकारी पक्ष और (2) गैर-सरकारी पक्ष। दोनों ही इतना शोर मचाते हैं कि आम जनता कुछ समझ नहीं पाती कि कौन प्रेस सही कहता है और कौन गलत। अनेक पत्र सरकार की चापलूसी में लगे रहते हैं। कुछ पत्रों का काम आलोचना ही करना होता है। सरकार सही करे या गलत करे उन्हें तो वकीलों के समान सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा सिद्ध करना होता है। कुछ ही पत्र निष्पक्ष होते हैं।

सरकार के प्रचार के साधन पर्याप्त और शक्तिशाली होते हैं। विरोधियों को प्रचार के लिए धन खर्च करना पड़ता है, पर सत्तारूढ़ दल सरकार के साधनों का मुफ्त में प्रयोग करता है। सरकार प्रकाशन और प्रचार से केवल जनता को समझाती या सूचित ही नहीं करती बल्कि उनका मानसिक शुद्धिकरण भी करती है। वह दो प्रकार से प्रकाशन कार्य पर नियन्त्रण रखती है :- (i) विज्ञापन तथा प्रमुख समाचार देकर अनेक समाचार-पत्रों को खरीद लेती है, तथा (ii) विदेश मन्त्रालय का समग्र प्रशासन द्वारा सूचना एवं प्रसारण के लिए अलग विभाग स्थापित करती है और सरकारी प्रेस रखकर उसके द्वारा अपनी नीति को प्रकाशन कर समर्थन कराती है। कभी-कभी समाचार-पत्र अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हुए सरकारी नीति की ऐसी आलोचना करते हैं जिनका जनता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

**6. विदेश यात्राएं (Foreign Tours) :-** प्रजातंत्र में विदेश मंत्री, प्रधान मंत्री या अन्य राजनीतिज्ञ सन्धि वार्ताओं के लिए विदेश यात्राएं करते रहते हैं। उनकी ये यात्राएं अधिकांश मामलों में अनुपयुक्त एवं अनावश्यक होती हैं। विदेशों में अपने स्वागत की धूम-धाम तथा आदर-सत्कार के कारण उनकी भावनाएं बुद्धि पर छा जाती हैं और वे व्यक्तिगत प्रभाव से जो निर्णय लेते हैं, वह कभी कभी राष्ट्रीय हित से भिन्न होते हैं।

राजनीतिज्ञों की विदेश यात्राओं से एक देश के नागरिकों की महत्त्वकांक्षाएं और अशाएं बढ़ जाती हैं। वे यह सोचते हैं कि इन यात्राओं से देश का बड़ा हित साधन होगा। जब ऐसा नहीं हो पाता तो निराशा होती है। राजनीतिज्ञ विदेशों में अपने सम्मान का ख्याल करते हुए अनेक कटु सत्यों को कहने और स्वीकार करने से भी संकोच करते हैं। उनके दिल में कुछ होता है तथा वे कहते कुछ हैं। उनका सम्पूर्ण भाषण केवल औपचारिक और बनावटी रह जाता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध दूषित होते हैं। अतः प्रो० निकलसन ने सुझाया है कि, "साधारण स्थिति में विदेश मन्त्री, प्रधानमन्त्री या विदेश सचिव से मिलने का कार्य व्यवसायिक राजनयिकों पर छोड़ देना चाहिये। इससे सभी दोषों का निराकरण हो जायेगा जो राजनीतिज्ञों की विदेश यात्राओं से उपजते हैं। वास्तव में सन्धि-वार्ता का कार्य मन्त्रियों या प्रधानमन्त्रियों का नहीं, यह कार्य तो राजनयज्ञों का है। निकलसन ने कहा है कि राजनय बातचीत करने की कला नहीं है वरन् एक निश्चित एवं स्वीकृत रूप से वार्तालाप द्वारा समझौता करने की कला है।

### शटल राजनय (Shuttle Diplomacy)

शटल राजनय का आशुनिक समय में प्रयोग सामान्य सा होता जा रहा है। शब्द राजनय का अर्थ है किसी एक विशेष व्यक्ति को बार-बार विभिन्न देशों में समस्या के समाधान अथवा किसी विश्वसनीय सूचना के आदान-प्रदान हेतु भेजना। कभी-कभी राज्याध्यक्ष अपने व्यक्तिगत प्रभाव को बढ़ाने स्वयं को विश्व में घटित होने वाली घटनाओं से पूर्ण अवगत रखने या किसी विशेष समस्या के समाधान के लिए अपने विशेष प्रतिनिधि भेजते हैं। आज ऐसी नियुक्तियों का प्रयोग सामान्य सा होता जा रहा है। राज्याध्यक्ष द्वारा अपने निकट मित्रों, रिश्तेदारों या कृपा पात्रों को अपने विशेष प्रतिनिधि के रूप में भेजा जाता है। ये विशेष प्रतिनिधि राज्याध्यक्षों की कृपा से अथवा प्रभावित व्यक्तित्व के कारण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए बार-बार प्रतिनिधि बन कर जाते हैं। संक्षेप में, राज्याध्यक्षों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान हेतु विशेष व्यक्ति को बार-बार भेजना शटल राजनय है।

हैनरी रिस्टन ने लिखा है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ऐसी नियुक्तियाँ एक लम्बी अवधि से की जाती रही हैं। राष्ट्रवति रुजवेल्ट ने शटल राजनय को करीब-करीब संस्थागत रूप दे दिया था। रुजवेल्ट ने हॉपकिन्स, हैरीमैन, लुई जानसन आदि का पूरा उपयोग किया। शटर राजनय में हैनरी किसिंगर का नाम काफी आता है। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विदेश सचिव बनने से पूर्व विशेष प्रतिनिधि के रूप में काफी नाम कमाया था। 1947 में वियतनाम युद्ध के समाप्त होने पर डॉ० किसिंगर का शटल राजनय सर्वोच्च शिखर पर था। अतः उन्हें 'शान्ति' नोबल पुरस्कार मिला।

भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने बंगला देश समस्या के समय न केवल स्वयं विश्व के कई भागों का दौरा किया बल्कि अपने विशेष प्रतिनिधि व विदेशमन्त्री स्वर्णसिंह को भी विश्व दौरे पर भेजा। शटल राजनय को घूमने वाला राजनयज्ञ (Travelling

Ambassador) भी कहा जाता है। इन्दिरा गांधी ने दुर्गा प्रसाद धर को अपने विशेष प्रतिनिधि के रूप में रूस और फिर पाकिस्तान विशेष वार्ता के लिये भेजा था। इनके प्रयासों के फलस्वरूप भारत-रूस मैत्री सन्धि तथा शिमला समझौता सम्भव हो पाया था। शटल राजनय में राज्याध्यक्ष के प्रतिनिधि के रूप में एक ही देश में कार्य करने के स्थान पर कई राज्यों में आता जाता है। इसका कार्य कई राज्यों में ची रही गतिविधियों में सामंजस्य बैठाना है। चूँकि विशेष प्रतिनिधि राज्याध्यक्ष का विश्वासपात्र होता है, इसलिए इस अधिकार के कारण समस्या के समाधान में सफलता के अवसर बने रहते हैं। लेकिन इस राजनय में सामान्य दूत का अवमूल्यन होता है।

### सांस्कृतिक राजनय (Cultural Diplomacy)

अति प्राचीन काल से ही विश्व के सभी देश सांस्कृतिक राजनय का सहारा लेते रहे हैं। सांस्कृतिक राजनय एक उच्चकोटि की कला है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राज्यों को प्रभावित करने और उनकी मित्रता प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयास जारी रहते हैं। इसकी के साथ सभी राज्यों का यह भी प्रयास रहता है कि वे अपने राजनीतिक व आर्थिक प्रभाव के साथ-साथ अपने देश की संस्कृति का भी अन्य देशों पर प्रभाव डाले। सभी राज्यों की विदेश नीति में "सांस्कृतिक सम्बन्धों का विकास" महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारतीय सांस्कृतिक परिषद्, जो विदेश मंत्रालय के प्रशासनिक नियन्त्रण के अधीन काम करती है, अन्य देशों के साथ भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध विकसित करने के लिए एक प्रमुख एजेन्सी के रूप में कार्य करती है।

अणु युग के राजनीतिक व सैनिक जटिलताओं के काल में सांस्कृतिक राजनय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नये आयाम को जन्म देता है जो अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध व सहयोग को बढ़ाने में सहायक है। सशक्त और कमजोर तथा अमीर और गरीब सभी राष्ट्रों की अपनी सांस्कृतिक व सभ्यता होती है। कुछ कमजोर और गरीब राष्ट्रों की संस्कृति शक्तिशाली और अमीर राज्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। भारत जैसे राष्ट्र, सांस्कृतिक राजनय के क्षेत्र में अन्य राज्यों को बहुत कुछ सिखा सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के साथ अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमरीका के नये विकासशील राज्यों को प्रभावित कर उनकी मित्रता प्राप्ति के प्रयत्न सभी राज्यों द्वारा चल रहे हैं। इन प्रयत्नों का उद्देश्य अन्य लोगों के समक्ष अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाना तथा विरोधी की प्रतिष्ठा को गिराना है। इस प्रभाव को बढ़ाने के लिए पुस्तक-पुस्तिका का निःशुल्क अथवा कम मूल्य पर वितरण, रेडियो, टेलीविजन द्वारा अपनी संस्कृति की बातों का प्रसारण, पर्यटकों, विद्यार्थियों अथवा राज्यों के भिष्ट मण्डलों की अदला-बदली आदि कार्य किये जाते हैं। विद्वानों, वैज्ञानिकों, खिलाड़ियों, चिकित्सकों, नर्तकों, संगीतज्ञों आदि का आदान-प्रदान अपनी संस्कृति के प्रभाव को बढ़ाने के लिए आज सामान्यतः किया जाता है। इन सबके परिणामस्वरूप स्थापित सम्पर्क अन्य देशों के नागरिकों के मन में सम्मान व स्थान बनाने में सफल रहते हैं। रूस व चीन अपनी संस्कृति के माध्यम से ही एशिया और अफ्रीका में सम्माननीय स्थान अर्जित किए हुए हैं।

रेडियो मास्को, रेडियो पीकिंग, बी०बी०सी०, वायस ऑफ अमेरिका आदि के माध्यम से राज्य अपने-अपने देश की संस्कृति का खूब खुलकर प्रचार करते हैं। वार्षिक फिल्म समारोह, संगीत व नृत्य मंडलियों का भेजा जाना, सांस्कृतिक राजनय का ही एक भाग है। श्रीमती सुबालक्ष्मी, बिसमिल्ला खाँ, रविशंकर, गोपीकृष्ण, महेश योगी, रामकृष्ण मिशन आदि के कारण भारत का अमेरिका, ब्रिटेन आदि में सांस्कृतिक प्रभाव बढ़ा है। साधारण पर्यटन, व्यापारी व विद्यार्थी भी अपने देश की एक विशेष प्रतिभा स्थापित करने में सहायक रहे हैं। ये "नवीन दूत" का कार्य करते हैं। फ्रांस व अमेरिका के मध्य बढ़ते हुए कटु सम्बन्धों को कम करने के लिए ही डी गॉल ने सांस्कृतिक राजनय का सहारा लिया था। 1963 में राष्ट्रपति कैंनेडी व उसके परिवार की इच्छा पर 'मोनालिसा' के चित्र को अमेरिका भेजा था। इससे प्रेरित होकर जेम्स केस्टन ने न्यूयार्क टाइम्स में नवीन राजनय के साधनों पर एक लेख में लिखा था कि "ललित कला आज नवीन राजनय का एक शस्त्र बन गया है।" इस प्रकार सांस्कृतिक राजनय आज सभी देशों की विदेश नीति का अभिन्न अंग है।

### व्यक्तिगत राजनय (Personal Diplomacy)

वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान करने में व्यक्तिगत राजनय का महत्व भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। व्यक्तिगत राजनय उसे कहते हैं जब राजनयिक सन्धि-वार्ताओं में एक राज्य के विदेशमन्त्री, प्रधानमन्त्री तथा राज्याध्यक्ष प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं। राजनय का यह रूप बहुत समय से प्रचलित है, किन्तु आजकल इसका प्रचलन बढ़ गया है। अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर देश के उत्तरदायी नेताओं द्वारा निर्णय लिये जाते हैं। जेनेवा सम्मेलन वाण्डुंग सम्मेलन, अलजीयर्स सम्मेलन तथा अन्य अनेक शिखर सम्मेलन व्यक्तिगत राजनय के उदाहरण हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तथा उसके पश्चात् विभिन्न देशों के विदेशमन्त्री अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार-विमर्श के लिए मिलते रहते हैं।

व्यक्तिगत राजनय में आवश्यकतानुसार दूसरे प्रतिनिधियों का भी समर्थन लिया जा सकता है। ऐसा करने पर प्रधानमन्त्री और विदेशमन्त्री का काम आसान हो जाता है और समय की बचत होती है। व्यक्तिगत राजनय के समर्थकों का विचार है कि इसके द्वारा



ऐसी समस्याओं का समाधान किया जाता है जो राजनयज्ञों द्वारा सामान्य साधनों से नहीं सुलझायी जा सकती हैं। यह कहा जाता है कि संसदात्मक प्रजातंत्र के युग में मध्यस्थों पर निर्भर रहना उचित नहीं है। विश्व से शीतयुद्ध की समाप्ति में अमेरिकी राष्ट्रपति रोलाल्ड रीगन और जार्ज बुश तथा सोवियत नेता निखाइल गोर्बाच्योव के बीच के व्यक्तिगत राजनय का प्रमुख हाथ रहा।

आलोचकों ने व्यक्तिगत राजनय को बुरा बताया है। इनका कहना है कि प्रधानमंत्री और विदेश मंत्री आदि उच्च स्तरीय नेताओं का कार्य नीति बनाना है। समझौता करना नहीं, यह कार्य राजनयज्ञ विशेषज्ञों द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिये। उच्च नेता प्रायः स्थिति को विषयगत होकर देखते हैं, इसलिए उनके द्वारा की गई सन्धियाँ राष्ट्रहित को पूरा नहीं कर पाती। प्रो० निकलसन ने व्यक्तिगत राजनय का विरोध किया है।

### सहायता का राजनय (Diplomacy of Aid)

जब एक राज्य अपने मित्र बनाने के लिए अथवा शत्रुओं के प्रसार को रोकने के लिए दूसरे राज्यों को धन, अन्न, मशीन, शस्त्र आदि की सहायता देता है तो इसे सहायता का राजनय संशोधित किया जाता है। सरकारी लोकोपकारी कार्यों का प्रारम्भ प्रायः अपने ही देश में होता है, परन्तु बाह्य देशों में परोपकार, राजनय का एक स्वरूप है। इसका प्रारम्भ द्वितीय महायुद्ध के बाद शीतयुद्ध के काल में डॉलर की सहायता से हुआ। हमें सरकार ने मार्शल योजना (Marshall Plan) व चार बिन्दु कार्यक्रम (Four Point Programme) के माध्यम से यूरोपीय देशों को सहायता देना प्रारम्भ किया। प्रतिक्रिया स्वरूप रूस में साम्यवादी देशों को अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए आर्थिक सहायता प्रारम्भ की, जो शीघ्र ही गैर-साम्यवादी सरकारों को भी दी जाने लगी। सहायता के इस प्रारम्भिक काल में अमेरिका का उद्देश्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद के काल में यदि कई राज्य साम्यवादी नहीं बने तो इसका श्रेय अमेरिकी सदस्यता को था। विदेश सचिव डलेस ने एक बार कहा था कि यदि हम यह सदस्यता नहीं देते तो निश्चित ही हम चारों ओर से साम्यवादियों से घिर जाते और हमें जीवित रहने के लिए भी प्रयास करने पड़ते।

यह सत्य है कि राजनीतिक व आर्थिक उद्देश्यों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। आज का राजनय-राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, क्षेत्रीय अथवा विश्वव्यापी- राजनीतिक अधिक है। परन्तु इस बात को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि आर्थिक साधन राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हैं। राज्यों को आर्थिक सहायता, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आधार बन गया है। आज राज्यों के गैर-राजनीतिक उद्देश्य मूलतः आर्थिक व व्यापारिक हैं। इनके अन्तर्गत राज्य नये बाजारों की प्राप्ति, अपने आर्थिक हितों की रक्षा, आर्थिक सूचनाओं की प्राप्ति आदि कार्य करते हैं। पिछले तीस वर्षों में व्यापारिक राजनय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अभिन्न अंग बन गया है। अपने राज्य के व्यापारिक और आर्थिक हितों की प्राप्ति के लिए आधुनिक राजनय ने एक विशेष मशीन की स्थापना की है जो वाणिज्य दूतावासों से भिन्न है - यह है सहायता का राजनय।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् अविकसित राज्यों को आर्थिक व तकनीकी सहायता देना राजनय का एक विशिष्ट आयाम है। शीत युद्ध के परिणामस्वरूप दोनों पक्षों द्वारा मानव मस्तिष्क व पेट को प्रभावित करने के लिए सहायता राजनय का सहारा लिया गया। उल्लेखनीय है कि सहायता का उद्देश्य दान नहीं होता है। वास्तव में सहायता का उद्देश्य स्वार्थ और राष्ट्रहित अथवा 'स्वहित' होता है। सहायता प्राप्त करने वाले राज्य का भले ही कितना लाभ क्यों न हो, परन्तु सहायता देने वाले राज्य का लाभ निश्चित ही अधिक होता है। राष्ट्रपति केनेडी ने 'विकास के लिए संधि (Alliance for Progress) की नीति अपनाई थी। कांग्रेस को सम्बोधित करते हुए केनेडी ने कहा था कि सहायता देने का कार्यक्रम 'हमारे राष्ट्रीय हित' में है। उनके अनुसार, "हमारे सहायता प्रोग्राम हमारी राष्ट्रीय परम्पराओं और राष्ट्रीय हितों की सेवा करते हैं - यह किसी भी सन्देह से परे है।" शक्तिहीन राज्य जब सहायता प्राप्त करते हैं तो वे किसी सीमा तक सहायता देने वाले राज्य के कृतज्ञ होते हैं। यहाँ तक कि कुछ तो उनके हाथों में कठपुतली भी बन जाते हैं। निश्चित है कि सहायता देने वाले राज्य का उद्देश्य प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में दूसरे पक्ष से कुछ पाना रहता है। यदि रूस सहायता देता है तो उसका उद्देश्य सहायता प्राप्त राज्य में रूसी हितों की वृद्धि की अपेक्षा करना है। जब अमेरिका सहायता देता है तो उसका उद्देश्य सहायता प्राप्त राज्य से साम्यवाद के प्रसार को रोकना होता है।

राज्यों द्वारा दी गई सहायता स्वतन्त्र अथवा बँधी (Free or Tied) हो सकती है, अर्थात् सहायता प्राप्त राज्य सहायता में दिये गये धन का चाहे जैसे उपयोग कर सकता है, अथवा जो धन सहायता के लिये दिया जाता है उसे सहायता प्राप्त देश केवल धन देने वाले देश में ही व्यय कर सकता है अथवा उसके देश की बनी चीजें ही खरीद सकता है। यूरोपीय सांझा बाजार के नौ सदस्य तथा केनेडा ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर दोषारोपण किया था कि वह सहायता के साथ शर्तें (Aid with Strings) लगाता है। यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी भी देश द्वारा दी गई किसी भी प्रकार की सहायता की कीमत राज्य को चुकानी ही पड़ती है। शाइलॉक की भाँति वह राज्य अपनी कीमत मांगता ही है। विदेशी सहायता वैसे अच्छी लगती है, परन्तु इसके भीतर खतरा ही छिपा रहता

है। कोई भी स्वाभिमानी राज्य विदेशी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करता। किसी भी राज्य की विदेशी सहायता पर जितनी कम निर्भरता होगी उतनी ही अधिक उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता होगी। यही कारण है कि सहायता प्राप्त देशों में प्रतिक्रिया स्वरूप यह मांग उठ रही है कि विदेशों द्वारा सहायता संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से ही दी जानी चाहिये।

सहायता राजनय के उद्देश्य, रूप तथा इसके साथ जुड़ी समस्याओं का विवेचन हम यहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रसंग में करेंगे।

### उद्देश्य (Objectives)

एक राज्य द्वारा विदेशी सहायता के राजनय का अनुशीलन कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के सन्दर्भ में ये लक्ष्य निम्नलिखित हैं :-

1. **राष्ट्रीय हित की पूर्ति :-** संयुक्त राज्य द्वारा अन्य राज्यों को इसलिए सहायता दी जाती है ताकि वहाँ संयुक्त राज्य के आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य हित सुरक्षित रहें। जिस राज्य में करोड़ों डालर व्यय किये जाते हैं उससे यह आशा करना स्वाभाविक है कि विश्व राजनीति में वह सहयोगपूर्ण नीति अपनायेगा। 1948 में जब इटली में निर्वाचित हुये तो अमेरिकी विदेश विभाग ने यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया कि यदि वहाँ साम्यवादियों की विजय हो गई तो इटली को दी जाने वाली सारी अमेरिकी सहायता पर रोक लगा देगा। इस दबाव के कारण अथवा अन्यथा इटली में साम्यवादियों की पराजय हो गई। संयुक्त राज्य यह चाहता है कि उसकी सहायता प्राप्त करने वाला राज्य उसके शत्रु साम्यवादी पक्ष को किसी प्रकार प्रोत्साहन न दे।
2. **साम्यवादी प्रसार को रोकना :-** साम्यवादी प्रसार के लिए गरीबी, अशिक्षा, असंतोष तथा पिछड़ापन अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। जिस देश में ये बातें पाई जाती हैं वहाँ की जनता साम्यवादी की ओर झुक जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका उसदेश पर उन देशों को साम्यवाद के चंगुल में फँसने से रोकने के लिए सहायता देता है ताकि वे अपने पैरों पर स्वयं खड़ा हो सके। इससे एक ओर तो साम्यवादी प्रसार को रुकता ही है साथ-साथ वह अमेरिका के विदेश कृपाप्राप्त देश बनकर उसके गुट में फँस जाते हैं। यदि ऐसी सहायता अमेरिका देश बन्द कर दे तो साम्यवाद का प्रचार और प्रसार जोरों से हो और अमेरिका का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाये।
3. **अर्थव्यवस्था के संतुलन के लिए :-** संयुक्त राज्य अमेरिका में औद्योगिक प्रगति द्वारा अपना उत्पादन काफी बढ़ा लिया है। इस सारे उत्पादन की खपत देश में नहीं पाती है। इसलिए विदेशी बाजारों की खोज की जाती है। वह जरूरतमन्द देशों को इसी शर्त पर सहायता देता है कि वे उसके माल को भी खरीदने का वादा करें। इस प्रकार उसकी अर्थव्यवस्था संतुलित बनी रहे।
4. **अन्य राज्यों की मित्रता प्राप्त करने के लिये :-** अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी तथा अपने गुट की प्रभुता बनाये रखने के लिए अधिक से अधिक मित्रों की आवश्यकता होती है। अतः अन्य राज्यों से सहयोग, मैत्री और सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाये रखना बहुत आवश्यक है। मित्रों की सहायता करना उनकी कठिन समस्याओं को सौहार्दपूर्ण निपटाना तथा उनके आर्थिक एवं सैनिक स्तर को उठाना आवश्यक है। अतः विदेश सहायता देकर संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व में अपने पक्ष को सबल करने में प्रयत्नशील है।
5. **देश रक्षा के लिए अनिवार्य :-** विदेश सहायता का राजनय संयुक्त राज्य अमेरिका के अस्तित्व एवं सुरक्षा की दृष्टि से भी उपयोगी है। उसका विरोधी पक्ष सशक्त एवं संगठित है। उससे लड़ने अथवा बचाव के लिये एक कुशल राजनीति की आवश्यकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका को अपने बचाव के लिये किलेबन्दियाँ करनी पड़ती हैं। विदेशी सहायता प्रदान करके एक राज्य की मित्रता जीत लेना, संयुक्त राज्य अमेरिका की आत्मरक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी है।
6. **व्यय अधिक नहीं :-** विदेशी सहायता के राजनय पर होने वाला व्यय इसकी उपयोगिता को देखते हुए अधिक नहीं है। 1963 में विदेशी सहायता के लिये अतिरिक्त 500 मिलियन डालर की मांग करते हुए राष्ट्रपति कैंनेडी ने कांग्रेस में कहा कि 'विश्व के विकासशील देशों को शक्तिशाली और स्वतंत्र बनाने के लिए यह मात्रा उतनी भी नहीं है जितना कि यह देश लिपस्टिक, क्रीम आदि चीजों पर प्रतिवर्ष व्यय करता है।' विदेशी सहायता पर लगाए गए धन को अपव्यय नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका प्रतिफल प्राप्त हो जाता है। कॉमन बैले के अनुसार, "छोटे राष्ट्रों को साम्यवादी बनने से रोकने के लिए कुछ लाख मिलियन डालर के लिए मना करना एक अल्पदर्शी नीति है।" राष्ट्रपति कैंनेडी के समय कांग्रेस द्वारा प्रतिरक्षा के लिए लगभग 50 बिलियन डॉलर प्रतिवर्ष स्वीकार किये जाते थे। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध साम्यवाद की रोकथाम से व्याकुल भाग का केवल दसवां हिस्सा ही जरूरतमन्द राज्यों की सहायता के लिए खर्च किया जाता था। स्पष्ट है कि विदेश सहायता पर किया गया व्यय बुद्धिमानी और दूरदर्शिता का परिणाम है। यह कार्यक्रम मानवता के अनुकूल है। इससे पड़ोसी राज्य शक्तिशाली बनते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्पादों को खरीद कर तथा अन्य प्रकार से उसकी अर्थव्यवस्था को लाभ पहुँचाते हैं। इस प्रकार विदेश सहायता या कार्यक्रम सक सजग स्वार्थ का परिणाम है।

## विदेश सहायता का रूप (Form of Foreign Aid)

संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा विदेशों को दी जाने वाली सहायता का रूप सम्बन्धित देश की आवश्यकता पर निर्भर करता है। विदेश सहायता निम्नलिखित रूपों से दी जाती है :-

1. किसी देश को ऋण के रूप में नकद मुद्रा दी जाती है जिससे वह अपनी आवश्यकता की सामग्री अमेरिका से खरीद सके।
2. उस राज्य की जनता के भरण-पोषण के लिए खाद्यान्न की सहायता दी जाती है।
3. साम्यवाद से अपने देश की रक्षा करने के लिए उस देश या देशों को सैनिक सामग्री दी जाती है।
4. किसी देश को स्वतन्त्र एवं समर्थ बनाये रखने के लिए वहां के औद्योगिक विकास में सहायता एवं सहयोग देना तथा इस हेतु आवश्यक तकनीकी ज्ञान व मशीनें उपलब्ध कराना।
5. यदि किसी राज्य में घरेलु उत्पादन की व्यवस्था न हो सके तो वहाँ निर्मित माल भेजा जाता है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा, संस्कृति एवं मनोरंजन आदि क्षेत्रों में भी सहायता दी जाती है।

## विदेश सहायता की समस्याएं (The Problems of Foreign Aid)

अमेरिकन विदेश सहायता की आलोचना की जाती है। इससे अनेक समस्यायें भी उत्पन्न हो जाती हैं। ये आलोचनायें निम्नलिखित हैं :-

1. आलोचक कहते हैं कि अमेरिका जो सहायता देता है उसका रूप ही गलत है। सहायता का एक तिहाई भाग सैनिक सामग्री होता है। उसका उद्देश्य यह होता है कि वे देश साम्यवाद के विरुद्ध लड़ने में समर्थ हो सकें। पर कभी-कभी यह सामग्री साम्यवादियों के हाथ पड़ जाती है। अतः उसका उद्देश्य गलत हो जाता है। कभी-कभी ये हथियार सीधे तानाशाहों को भेजे जाते हैं जो इनका प्रयोग अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए करते हैं। पाकिस्तान के सैनिक शासन की भाँति इन हथियारों का प्रयोग गरीब निहत्थी जनता के खून की नदियाँ बहाने तथा आतंक जमाने के लिए भी किया जाता है।
2. आलोचकों के अनुसार विदेश सहायता के रूप में दी जाने वाली राशि बहुत अधिक है। राबर्ट मर्फी के अनुसार अमेरिका जब एक बार नीति निर्धारित कर लेता है तो फिर उस पर आने वाली लागत की ओर नहीं देखता। 1948 में जब यूगोस्लाविया तथा स्टालिन के बीच मतभेद बन गए तो संयुक्त राज्य अमेरिका ने यूगोस्लाविया को सहायता देने की नीति अपनाई। उसने इतनी सहायता दी कि उसके उद्देश्यों तथा नीयत को भी संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा।
3. विदेश सहायता गलत देशों को दी जाती है। पोलैण्ड तथा यूगोस्लाविया को पर्याप्त सहायता दी गई है जो कि पहले से ही साम्यवादी शासक के अधीन थे। जिन राज्यों में पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट करने की शपथ ले रखी हो उन शत्रुओं के हाथ में बन्दूक सौंपने की सार्थकता पर सन्देह किया जाता है।
4. विदेश सहायता के राजनय के विरुद्ध यह कहा जाता है कि विदेशों की मित्रता खरीदी नहीं जा सकती। 1945 के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने फ्रांस को काफी सहायता दी किन्तु जनरल दगाँल के नेतृत्व के उभरने के बाद फ्रांस ने संयुक्त राज्य अमेरिका को जानबूझ कर ठोकर लगाई। मिस्र के राष्ट्रपति नाजिर तथा इन्डोनेशिया के सकर्णी ने भारी मात्रा में अमेरिकी सहायता ग्रहण की किन्तु अमेरिका विरोधी नीतियां अपनाई और खुलकर विरोधी प्रचार किया।
5. अमेरिकी सहायता प्राप्त करने के बाद भी कोई राज्य उसका अहसानमन्द नहीं होता। इसकी उदारता के प्रति धन्यवाद तक अर्पित नहीं किया जाता। कोलम्बिया के एक पत्रकार ने तो 1945 में बड़े स्पष्ट शब्दों में यह कहा था कि अमेरिका से हम हितनी अधिक सहायता प्राप्त करते हैं उतना ही कम वहां के लोगों को हम चाहते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के अत्यन्त उदार शर्तों पर ऋण प्राप्त किया, किन्तु इसकी वापसी के समय ग्रेट ब्रिटेन में भारी विरोध हुआ तथा इन शर्तों को कठोर समझा गया।

अमेरिकी विदेश सहायता से लाभान्वित होने वाले प्रायः सभी देश धन्यवाद देने की अपेक्षा भय तथा ईर्ष्या से घिर जाते हैं। जिन्हें सहायता मिल जाती है वे कृतघ्न बन जाते हैं और जिनको नहीं मिलती है वे दुश्मन हो जाते हैं। वे यह प्रचार करते हैं कि अमेरिका इसलिए सहायता देता है क्योंकि उसकी अर्थव्यवस्था बनी रहे। यह तो अमेरिका से स्वार्थ और मजबूरी का परिणाम है।

6. विदेश सहायता के रूप में दिये जाने वाले हथियारों के प्रयोग पर संयुक्त राज्य अमेरिका नियंत्रण नहीं रख सकता। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उसने सोवियत आक्रमण से रक्षा के लिए फ्रांस को भारी मात्रा में हथियार दिये। इन हथियारों का प्रयोग फ्रांसीसी सेनाओं ने उत्तरी अफ्रीका में अल्जीरियाई विद्रोहियों को दबाने के लिए किया। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका

ने पाकिस्तान को हथियार दिये ताकि वह लालचीन के सम्भावित आक्रमण का विरोध कर सके, किन्तु उसने इन हथियारों का प्रयोग भारत पर आक्रमण करने (1963) सीमा पर तनाव बनाए रखने, बंगला देश में आतंक फैलाने (मार्च 1971) तथा पुनः भारत पर आक्रमण करने की धमकी देने में किया है। थामस बेले (Thomas A. Bailey) का यह कथन सत्य है कि हथियार देने वाला देश अपनी इच्छानुसार प्रतिबन्ध लगा सकता है। संकट के समय में ये शर्तें तोड़ दी जाती हैं तथा हथियारों का प्रयोग प्राप्तकर्ता द्वारा मनमाने रूप में किया जाता है।

7. संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा खाद्यान्न के रूप में दी गई सहायता की एक मुख्य प्रकार की समस्या यह है कि इसे प्राप्त करने वाला राज्य निश्चिन्त हो जाता है और कृषि सुधार के लिए स्थानीय कार्यक्रमों को महत्व नहीं देता। खाद्यान्न प्राप्त करने वाला देश प्रायः अमेरिका पर यह दोष लगाता है कि इस अतिरिक्त उत्पादन को गोदामों में भरने पर खर्चा अधिक आता है, इसलिए यहाँ भेज दिया जाता है। जब अमेरिका खाद्यान्न को बेचता नहीं है तो उसे अमानवीय कहा जाता है और जब बेचता है तो उसे स्वार्थी कहा जाता है।

### संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से सहायता (Foreign Aid Through U.N.O.)

कुछ आलोचकों द्वारा यह सुझाया जाता है कि समस्त विदेशी सहायता संयुक्त राष्ट्र संघ अथवा अन्य किसी अव्यक्तिगत संस्था द्वारा वितरित की जानी चाहिये। इससे कृतघ्नताका क्षोभ नहीं रहेगा और सहायता देने के कार्य में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा भी नहीं रहेगी। इस सुझाव को मानने में दो आपत्तियाँ हैं :- (अ) अनेक अमेरिकन यह सोचते हैं कि अहसानमन्दी को खरीदा जा सकता है। वे विदेशों में अपनी उदारता का पूरा लाभ उठाना चाहते हैं। वे विदेशी सन्दूकों और थैलें पर संयुक्त राज्य अमेरिका का नाम लिखा हुआ देखना चाहते हैं। उसके मतानुसार इस प्रकार प्राप्त सद्भावना साम्यवाद के विरुद्ध लड़ने में सहायक होगी। (ब) विदेश सहायता का अराष्ट्रीयकरण करने में एक अन्य आपत्ति यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दी गई सहायता से संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रीय हितों की रक्षा किस प्रकार की जा सकेगी। ऐसी सहायता साम्यवादी अथवा उसके समर्थक राज्यों को भी पहुंच सकती है। इस प्रकार यह सांप को दूध पिलाने के समान होगा।

### शिखर राजनय (Summit Diplomacy)

जब राजनय में एक देश का राज्याध्यक्ष स्वयं भाग लेता है तो उसे शिखर राजनय की संज्ञा दी जाती है। एल्मर प्लिस्के (Elmer Plischke) के अनुसार, "शिखर राजनय की व्याख्या व्यापक रूप में राज्य के प्रमुख अथवा सरकारी स्तर के अध्यक्ष द्वारा विदेश नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण एवं प्रकाशन के रूप में की जाती है।" ("Summit diplomacy may be broadly interpreted as meaning the determination and publicising of foreign policy and the management of international affairs at the chief of state or head of government level.") स्पष्ट है कि शिखर शब्द का अर्थ राज्य के अध्यक्ष या सरकारी अध्यक्ष से है।

शिखर राजनय उतना ही प्राचीन है, जितनी पश्चिमी राज्य व्यवस्था। इतिहास इस मत का साक्षी है कि अति प्राचीन काल से ही सम्राट, राजा, राजकुमार आदि राज्याभिषेक, विवाह, मृत्यु, सन्धि हस्ताक्षरों आदि के समय एकत्रित होते रहे हैं। मिस्र के राजा रमसेस द्वितीय (Rameses II) और हिट्टिस के राजा खेतासर (Khetasar, the King of Hittites) ने शिखर राजनय के आधार पर ही एक संधि की थी। सिकन्दर महान्, जुलियस सीजर, शालेमेन, हैनरी अष्टम, फ्रांसीस प्रथम, चार्ल्स पंचम, फ्रड्रिक महान्, नेपोलियन, ह्यूमैन, कैनेडी, नेहरू, राम्जी, इन्दिरा गांधी आदि ने शिखर राजनय के माध्यम से ही विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान निकाला था। आधुनिक युग में राष्ट्रपति विलसन ने पैरिस सम्मेलन में भाग लेने आने से जो पूर्वोदाहरण स्थापित हुआ, तो वह ऐसा चला कि इसके बाद आये दिन राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, विदेश मन्त्रियों के शिखर सम्मेलन होते ही रहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व शिखर राजनय के सहारे हुई ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चैम्बरलेन, फ्रांस के दलादिवर जर्मनी के तानाशाह हिटलर ने म्युनिक समझौते से एक बार तो युद्ध को टाल ही दिया था। द्वितीय महायुद्ध के दौरान एक और हिटलर व मुसोलिनी के शिखर सम्मेलन हुए तो दूसरी ओर रोजवेल्ट, स्टालिन व चर्चिल के। कैसेब्लाम्बा, काहिरा, तेहरान, माल्बा आदि इनके शिखर सम्मेलन ही थे। द्वितीय युद्ध के दौरान इन सम्मेलनों ने ही वास्तव में शिखर सम्मेलन द्वारा राजनय को प्रोत्साहित किया। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् शीतयुद्ध शीतयुद्ध की समस्याओं को हल करने किब लिए, मित्र राज्यों के भी समय-समय पर शिखर सम्मेलन होते रहे। जटिलतम समस्याये जो वर्षों साधारण राजनीतिक अथवा राजनयिक तरीकों से नहीं सुलझ पाती हैं उनको राष्ट्राध्यक्षों के मध्य उच्चतर माध्यम से सुलझाने का प्रयास किया जाता है। रूजवेल्ट, चर्चिल व स्टालिन के मध्य शिखर वार्ताओं द्वारा एक-दूसरे के साथ उच्च सहयोग से युद्ध एवं शान्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने में अद्वितीय सफलता मिली, जो शायद किसी भी निम्न स्तर के सम्मेलन अथवा प्रयास से सम्भव नहीं हो पाती। द्वितीय महायुद्ध के मध्य प्रारम्भ शिखर राजनय का यह क्रम अत्यधिक लोकप्रिय बन गया है। यह अनुभव किया गया है कि

व्यक्तिगत सम्पर्क के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को अधिक आसानी से सुलझाया जा सकता है। शिखर राजनय का उपयोग उस समय भी किया जाता है जबकि निम्न स्तर के अधिकारियों द्वारा किसी समस्या का समाधान नहीं निकल पड़ रहा हो अथवा वार्ता निम्न स्तर पर मन्दगति से चल रही हो और उसे शीघ्र सम्पादित करना हो। इस प्रकार शिखर सम्मेलनों का मूल उद्देश्य उच्च स्तरीय राज्याध्यक्षों का एक-दूसरे के समीप लाना, वार्ताओं को शीघ्र सम्पादित करना तथा समझौता-सन्धि करना है।

शिखर राजनय के अत्याधिक प्रचलन के कई कारण हैं :-

1. संचार व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन एक अभूतपूर्व विकास, विशेषकर हवाई यात्रा की उपलब्धि।
2. युद्ध के विनाशकारी प्रभावों से मानवता को बचाना।
3. संयुक्त राज्य अमेरिका व पूर्व सोवियत रूस का विश्व शान्ति के रूप में महत्व और
4. संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मेलनों के माध्यम से व्यक्तिगत सम्पर्क में अभिवृद्धि।

मित्र तथा विरोधी अथवा प्रतियोगी राज्यों के मध्य शिखर सम्मेलनों में भेद हैं। यदि एकत्रित राज्य मित्र देश के हैं तो मधुर व सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में बहुत कुछ सम्पादित किया जा सकता है। इस प्रकार के सम्मेलनों से राज्यों द्वारा अपने मतभेदों को कम से कम करने तथा समायोजित करने के पूर्ण प्रयास किये जाते हैं। द्वितीय महायुद्ध के दौरान रूजवेल्ट और चर्चिल के मध्य सम्मेलनों के परिणामस्वरूप इन राज्यों के मध्य उच्चस्तरीय सहयोग था। इसी प्रकार शीतयुद्ध के काल में मित्र देशों के मध्य सहयोग ऐसे ही शिखर सम्मेलनों का परिणाम था। विरोधी अथवा प्रतियोगी राज्यों के साथ शिखर सम्मेलनों में प्रतियोगिता और विरोध की भावना आ जाती है, परिणामतः वातावरण कटु और विरोधी हो जाता है। ऐसी वार्ताओं का कोई ठोस व रचनात्मक परिणाम नहीं निकलता है। इस समय हर पक्ष का उद्देश्य राजनीतिक राजनयिक और मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्ति रहता है। शिखर राजनय तभी लाभदायक हो सकता है जब इसमें भाग लेने वाला व्यक्ति यह नहीं भूले कि उसके ऊपर महत्वपूर्ण निर्णय लेने का भार है। अतः उसे किसी भी स्थिति में बाहरी बातों से प्रभावित नहीं होना है। चर्चिल व रूजवेल्ट के मध्य शिखर सम्मेलन सहयोग की वास्तविक इच्छा के कारण सफल रहे थे, परन्तु स्टालिन ने इनमें शामिल होते ही ये असफल होने लगे, क्योंकि तब इनमें विद्यमान आपसी विश्वास समाप्त हो गया था। युद्ध व संकटकालीन परिस्थिति के कारण भले ही शिखर सम्मेलन सफल रहे हों। परन्तु शान्तिकाल में इनकी सफलता कठिन है। 1750 व 1960 के जेनेवा व पैरिस सम्मेलनों की असफलता इसके प्रभाव हैं।

### शिखर राजनय के पहलू (Aspects of Summit diplomacy)

शिखर राजनय के सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय बातें निम्नलिखित हैं :-

1. इसमें राज्य या सरकार के प्रमुख द्वारा नीति बनाई और व्यक्त की जाती है। विदेश नीति सम्बन्धी मुख्य निर्णय नहीं लेता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के महत्वपूर्ण निर्णय किसी न किसी राष्ट्रपति के नाम के साथ जुड़े हुये हैं। इस प्रकार अनेक नीति सम्बन्धी वक्तव्यों के साथ एक राष्ट्रपति का नाम जुड़ जाता है, जैसे मुनरो सिद्धान्त, रूजवेल्ट की अच्छे पड़ोसी की नीति आदि का नाम लिया जा सकता है।
2. मुख्य कार्यपालिका द्वारा राजनयज्ञों से व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार किए जाते हैं। यहाँ हमारा सम्बन्ध बधाई तार, शुभकामना एवं संदेश जैसे औपचारिक पत्र-व्यवहारों से नहीं है। ये तो हैं ही किन्तु इनके अतिरिक्त भी मुख्य कार्यपालिका व्यक्तिगत रुचि लेकर पत्र व्यवहार करती है तथा राजनय को प्रभावित करती है। दो राज्यों में संघर्ष होने की स्थिति में तीसरे राज्य की मुख्य कार्यपालिका द्वारा मध्यस्थता का कार्य किया जाता है। उदाहरण के लिए 1905 के रूस-जापान संघर्ष एवं मोरक्को संघर्ष के समय अमेरिकी राष्ट्रपति लियोडोर रूजवेल्ट ने व्यक्तिगत हस्तक्षेप किया। अन्य अवसरों पर भी इसी प्रकार व्यक्तिगत रुचि लेकर राष्ट्रपतियों ने दूसरी सरकारों से पत्र व्यवहार किए। द्वितीय विश्व युद्ध के समय रूजवेल्ट तथा चर्चिल के बीच 1750 समाचारों का और रूजवेल्ट तथा स्टालिन के बीच लगभग तीन सौ पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। आज के युग में पत्र-व्यवहारों की संख्या अधिक होने के कारण ही पत्राचार राजनय (Correspondence Diplomacy) शब्द का प्रयोग किया जाता है। शिखर स्तर पर ये राजनयिक पत्राचार निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं।
3. **व्यक्तिगत राजनयिक गतिविधि :-** कभी-कभी मुख्य कार्यपालिका अथवा राज्याध्यक्ष अपने व्यक्तिगत प्रभाव को बढ़ाने स्वयं को विश्व घटनाओं से पूर्ण अवगत रखने अथवा किसी विशेष समस्या के समाधान के लिए विश्वसनीय सूचना के आदान-प्रणाली हेतु अपने विशेष व्यक्तिगत प्रतिनिधि भेजते हैं आज ऐसी नियुक्तियों का प्रयोग सामान्य सा होता जा रहा है। राज्याध्यक्षों द्वारा

अपने निकट मित्रों, रिश्तेदारों अथवा कृपा-पात्रों को अपने व्यक्तिगत प्रतिनिधि के रूप में भेजा जाता है। जो राष्ट्रपति विदेश सम्बन्धों में सक्रिय नेतृत्व धारण कर लेता है वह विशेष उद्देश्यों के लिए विशेष अवसरों पर ऐसी नियुक्तियां करने में अधिक रुचि लेते हैं। इस प्रकार के शिखर राजनय की एक महत्वपूर्ण कमजोरी यह है कि इससे विदेश मन्त्रालय, विदेश सेवा तथा नियमित राजनयिक सेवा का महत्व कम होता है। जब मुख्य कार्यपालिका इन अधिकारियों की अवहेलना करके अपने विशेष दूत नियुक्त कर देती है। तो विदेशों में इनका सम्मान कम हो जाता है। कुछ विचारक इन विशेष प्रतिनिधियों की नियुक्ति का कारण ही नियमित राजनयिक सेवा के दोषों को मानते हैं।

4. **अन्तर्राष्ट्रीय यात्राएं :-** शिखर राजनय के अन्तर्गत राज्य की मुख्य कार्यपालिका विदेशों की अनौपचारिकता यात्रा एवं अन्य विशेष यात्राएं भी करती है। आज के राजनय का आवश्यक अंग बन गई हैं। इनके माध्यम से राज्यों के सम्बन्धों को मधुर बनाया जा सकता है। व्यक्तिगत सम्पर्क के माध्यम से विदेशों के जनमत को प्रभावित किया जा सकता है, तथा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सम्बन्धों को सुदृढ़ किया जा सकता है। राजनेता राजनय के इस पक्ष को आज बहुत महत्व देते हैं।

राजकीय यात्राओं के दो उद्देश्य होते हैं – वार्ता तथा जन सम्पर्क। वार्ताएं तो होते ही हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त जब राज्याध्यक्ष शाही मार्गों पर मोटर तथा नावों में ले जाया जाता है तो उससे उसका जनता के साथ सम्पर्क स्थापित होता है। भारतीय प्रधानमन्त्री नेहरू द्वारा छोटे बच्चों के साथ खेलना, उन्हें प्यार करना, नाच में शामिल होना आदि से जनसम्पर्क व परदेश के साथ सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध बनाने में सहायता मिली थी। खुश्चेव की अमेरिका यात्रा के मध्य खुश्चेव का सामान्य नागरिक से हाथ मिलाना, श्रमिकों से कारखानों में व्यक्तिगत आधार पर मिलना आदि के कारण अमेरिका में अत्याधिक लोकप्रिय हो गया था। इस प्रकार की यात्राएं निश्चित ही राज्यों के पारम्परिक सम्बन्धों को मधुर बनाती है। एक दूसरे को समझने और समझाने में सहायता मिलती है। यह सब कुछ विदेश सम्बन्धों को प्रभावित करता है जो शायद निम्न स्तर पर कभी भी सम्भव नहीं होता। कैंनेडी काल में नेहरू की अमेरिका यात्रा तथा आइजन्हावर की भारत यात्रा से दोनों देशों के सम्बन्ध मधुर बने थे। इस प्रकार राष्ट्रीय सम्बन्धों और राजनीति के क्षेत्र में 'सद्भाव यात्राओं' ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

### शिखर राजनय के लाभ (Merits of Summit Diplomacy)

शिखर राजनय अनेक बार एक आवश्यक तथा उपयोगी विदेश सम्बन्धों की तकनीक साबित होता है। इसके मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं :-

1. राज्यों के नेताओं के व्यक्तिगत सम्बन्ध घनिष्ठ तथा मित्रतापूर्ण बनते हैं। इससे उनके सहकारी सम्बन्धों में मधुरता आती है।
2. सम्मेलन में तुरन्त निर्णय लिया जा सकता है, क्योंकि चोटों के नेता उपस्थित रहते हैं जिनके हाथ में निर्णायक शक्ति होती है।
3. शिखर राजनय द्वारा सिद्धान्त रूप में समझौता कर लिया जाता है तथा विचार सम्बन्धी निश्चित समझौते का कार्य नीचे राजनतिक स्तर पर छोड़ दिया जाता है।
4. यदि परम्परागत राजनयिक तरीकों का मार्ग अवरुद्ध हो गया है तो शिखर राजनय द्वारा उसे शीघ्रातिशीघ्र सुलझाया जा सकता है।
5. शिखर राजनय की ओर सारे विश्व का ध्यान आकर्षित रहता है तथा उसकी गतिविधियों एवं उपलब्धियों का विश्व राजनीति पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है।

### शिखर राजनय के दोष (Disadvantages of Summit Diplomacy)

1. यदि राष्ट्रपति स्वयं ही विदेश मंत्री का राजनयिक प्रतिनिधियों का कार्य सम्पन्न करने लगे तो इससे नियमित विदेश सेवाओं का मनोबल गिर जायेगा।
2. इसमें निर्णय अत्यधिक जल्दबाजी में लिये जा सकते हैं।
3. सन्धि वार्ता करने वाले के रूप में मुख्य कार्यपालिका व्यक्तिगत रूप से बंध जाती हैं तथा अन्तिम निर्णय उसे मानना ही पड़ता है।
4. इस राजनय में यह जोखिम है कि यदि मुख्य कार्यपालिका अयोग्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ता के क्षेत्र में अनभिज्ञ है तो गम्भीर राष्ट्रीय अहित हो सकता है।
5. जल्द निर्णय लेने के कारण यह सम्भव है कि मुख्य कार्यपालिका को विचाराधीन विषय पर पूरी सूचना प्राप्त न हो सके।
6. शिखर राजनय पूरी तरह से खुला, नाटकीय तथा समाचार प्रसारण पर आधारित होता है, इसलिए मुख्य कार्यपालिका के व्यक्तिगत पर कीचड़ उछलने की सम्भावना रहती है। इसके विपरीत यदि इसमें गोपनीयता बरती जाये तो मुख्य कार्यपालिका की नीति, स्थिति एवं रियायतों के प्रति सन्देह से देखा जाता है।

7. शिखर राजनय में मुख्य कार्यपालिका को स्टार एवं सम्मान की समस्या भी उठती है। इसके अन्तर्गत बड़े राज्य के अध्यक्ष को एक साधारण राज्य के ऐसे पदाधिकारी से मिलना पड़ता है जो मुख्य कार्यपालिका होते हुए भी अपने देश की राजनीतिक व्यवस्था में सम्मान एवं प्रतिष्ठा नहीं रखता।
8. शिखर राजनय का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह उत्पन्न आशाओं एवं आकांक्षाओं को उमाड़ता है। जब देश की मुख्य कार्यपालिका राजनय में सक्रिय बनती है तो महत्वपूर्ण तथा निर्णायक परिणामों की आशा की जाती है। ऐसा न होने पर जनता की आशाओं और महत्वाकांक्षाओं को गंभीर आघात पहुंचता है। विरोधी दल इसका राजनीतिक लाभ उठाते हैं तथा वाजिब समझौतों के मार्ग में भी बाधक बन जाते हैं।

इस प्रकार शिखर सम्मेलन के लाभ तथा हानियां दोनों हैं। वर्तमान माल में इसका प्रचलन अधिकारिक होता जा रहा है।

### सम्मेलनीय राजनय (Conference Diplomacy)

प्राचीन काल में राज्य मन्दिर, मस्जिद व गिरिजाघर बनाते थे, परन्तु आज सम्मेलनों के बड़े-बड़े भवनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के सचिवालयों का निर्माण होता है। लन्दन, पैरिस, न्यूयार्क, जेनेवा आदि शहरों में कोई न कोई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का मुख्यालय है। आये दिन नये कार्यालयों की स्थापना होती ही रहती है। इन संगठनों व सम्मेलनों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई है कि कुछ राज्यों को इनमें नियुक्त करने के लिए प्रशिक्षित राजदूत कभी नहीं मिलते हैं। यही कारण है कि गैर-व्यावसायिक व्यक्तियों – व्यापारियों, बैंक के अधिकारी, वकील, सैनिक, खिलाड़ी, लेखक आदि को सम्मेलनों में प्रतिनिधि नियुक्त किया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय अधिसभाओं और सम्मेलनों के माध्यम से राजनय के प्रयोग का एक नया स्वरूप सम्मेलनीय राजनय हमारे समक्ष प्रकट हुआ। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ इतनी जटिल हैं कि इनका समाधान सामान्य राजनयिक व्यवस्था से सम्भव नहीं, अतः सम्मेलन के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का प्रयास किया जाता है। सम्मेलनीय राजनय के इस स्वरूप का प्रचलन प्रथम महायुद्ध की समाप्ति काल की देन है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलताओं और उनके तकनीकी स्वरूप के कारण इसका विकास द्रुतगति से हुआ है। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का बड़ा भाग इन सम्मेलनों के माध्यम से ही पूरा होता है। द्वितीय महायुद्ध तथा इसके बाद के काल ने तो इसके विकास में चार चाँद लगा दिये हैं। जितना विस्तार इसका इस काल में हुआ है, उतना पहले कभी नहीं हुआ था। यही कारण है कि आधुनिक युग 'सम्मेलन द्वारा राजनय' का युग है। यह राजनय की मुख्य प्रक्रिया बन गया है। राबर्टो रेगोला (Roberto Regalo) के अनुसार, "सम्मेलनीय राजनय राजनयिक सन्धि-वार्ताओं की एक तकनीक है तथा राजनय के अन्य सभी पहलुओं की भांति प्रक्रिया के असंख्य, जटिल, नियमों से घिरी रहती है।" ("Diplomacy bey conference is a technique of diplomatic negotiations and like all aspects of diplomacy, is surrounded by numerous and conflicted rules of procerure").

राजनय का सामान्य मार्ग विदेश विभाग तथा उनके द्वारा नियुक्त राजदूत है। इस सरल, सामान्य और सीधे मार्ग को न अपना कर राज्य इन्हें पीछे छोड़ कर सम्मेलनों द्वारा राजनय का मार्ग अपनाते हैं। सामान्यतः राज्यों के मध्य सम्बन्ध नोट्स के आदान-प्रदान से चलते हैं, जिन्हें राजदूतों के माध्यम से भेजा जाता है। उस समय और उन परिस्थितियों में जब नोट्स के आदान-प्रदान में देरी हो, जब जटिल समस्याओं के निराकरण के लिए व्यक्तिगत वार्ता आवश्यक हो, जहां मोल-तोल व लेन-देन के आधार पर कई प्रश्नों पर विचार-विमर्श आवश्यक हो, वहां नोट्स के स्थान पर सम्मेलनों की सहायता ली जाती है। 'सम्मेलनीय राजनय' शब्द का प्रथम प्रयोग 1920 में ल्याड जार्ज के मंत्रिमण्डल के एक सदस्य लार्ड हैन्की (Lord Hanky) द्वारा एक भाषण में किया जाता था, जिसका शीर्षक है 'सम्मेलन द्वारा राजनय' था। सम्मेलनीय राजनय वर्तमान काल के लिए एक नवीन राजनयिक प्रविधि है जो परिवर्तित जटिल स्थितियों का सामना करने के लिए निकाली गई है। इसने राजनय के परम्परागत स्वरूप – द्विपक्षीय राजनय – को अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण बना दिया है। सम्मेलनीय राजनय को बहुपक्षीय राजनय (Multilateral Diplomacy) व सपुता राजनय (Coalition Diplomacy) भी कहा जाता है।

राज्यों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या तथा उससे जनित अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं ने सम्मेलन द्वारा राजनय को जन्म देकर राजनय को एक नवीन क्रान्तिकारी तथा विश्वव्यापी संस्थात्मक स्वरूप प्रदान किया है। इसने राजनय को बहुपक्षीय बना दिया है। विभिन्न प्रकार की समस्याएँ विभिन्न राज्यों द्वारा विचार-विमर्श एवं निराकरण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के समक्ष रखी जाती हैं। सम्मेलन द्वारा राजनय कोई अधिक नवीन व्यवस्था नहीं है। इसका प्रारम्भ आधुनिक राज्य व्यवस्था के साथ ही हुआ है। आरम्भ में ये सम्मेलन शान्ति स्थापना अथवा शान्ति सन्धि के लिए ही बुलाये जाते थे, परन्तु धीरे-धीरे इनका उपयोग सभी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिये किया जाने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने के लिए व्यापक प्रणाली के रूप में इसका प्रयोग सर्वप्रथम राष्ट्र संघ द्वारा हुआ। इसकी स्थापना ने एक स्थायी सुव्यवस्थित और संगठित सम्मेलनीय व्यवस्था प्रदान की है जिसमें

संस्थागत निरन्तरता है तथा जहाँ सामान्य राजनयिक तरीकों को अंगीकार किया जाता है। वार्साय की संधि ने लोगों में यह भावना जागत कर दी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का निराकरण गोलमेज सम्मेलनों के माध्यम से ही सम्भव है। सम्मेलनीय राजनय अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द बढ़ाने में सहायक होता है। राज्याध्यक्षों के मध्य पारस्परिक व्यक्तिगत सम्पर्क अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को मधुर बनाता है। वह दिन पर दिन अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। इसमें कोई दो मत नहीं हैं कि सम्मेलन द्वारा राजनय वार्ता द्वारा राजनय का सम्पूरक है, तथा यह आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में स्थायी बन गया है। सम्मेलनीय राजनय के समर्थक व विरोधी दोनों ही हैं। हैन्की के अनुसार, "सम्मेलन द्वारा राजनय के विवेकपूर्ण विकास से युद्ध की रोकथाम की सर्वोत्तम आशा की जा सकती है।" इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सचिव डीन एचीसन का मत था कि युद्धोत्तर काल में, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बहुत हद तक टकराव को समाप्त करने के साधन के रूप में नहीं रहकर उसे चालू रखने के साधन के रूप में रह गये हैं।"

### ऐतिहासिक विकास

हालांकि प्राचीन काल से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सम्मेलनों की सहायता से मधुर बनाने के लिए उपयोग किया जाता रहा है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के रूप में प्रथम महायुद्ध के बाद से ही इसका प्रयोग सामान्य हुआ है। इसके पूर्व राज्य चतुर, योग्य और कुशल मध्यस्थों के माध्यम से ही सम्बन्धों को बनाते थे। सर्वप्रथम बड़ा सम्मेलन तीस वर्षीय युद्ध का अन्त करने के लिए हुआ था, इसके परिमाणस्वरूप 1648 को वेस्टफैलिया की संधि सम्पन्न हुई थी। यूट्रेचट (1712), वियाना (1815), पैरिस (1856), बर्लिन (1878), हेग शान्ति सम्मेलन (1899 व 1907), पैरिस शान्ति सम्मेलन (1919), लोकानो (1925), सैन फ्रांसिस्को (1945), जैनेवा (1954), पैरिस (1960), ऐडिस अबाबा (1963), थैरेक्स (1974), हैलसिन्की (1975), कोलम्बो (1976), मैड्रिड (1991), शिखर सम्मेलन द्वारा मध्यपूर्वी एशिया में शांति प्रक्रिया को बल देने का निश्चय किया गया। इस सम्मेलन में अरब व अजरायल तथा फिलीस्तीनी नेता भी शामिल थे। यह सबसे महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय शिखर सम्मेलन था जिसके लिए फिलीस्तीनी मांग करते आ रहे थे, आदि समय-समय पर आयोजित सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने व सम्बन्धों को मधुर बनाने के उद्देश्य की पूर्ति हेतु होते रहे हैं। यूरोपीय युद्धों तथा दो विश्व युद्धों के बाद शांति व सुरक्षा की खोज निरन्तर जारी है। लार्ड हैन्की के अनुसार सम्मेलनीय राजनय का प्रथम प्रारम्भ पैरिस में 17 नवम्बर 1915 को किया गया था। युद्ध के मध्य मित्र देशों के बीच सहयोग व सद्भाव को निरन्तर बनाये रखने के लिये ही इसका प्रयोग किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के क्षेत्र में वार्ता का यह एक नया आयाम था। हालांकि मित्र देशों का यह "यूरोप का मंत्रिमण्डल" (Cabinet for the whole of Europe) वार्साय की संधि के साथ समाप्त हो गया, परन्तु सम्मेलनीय राजनय का जो प्रारम्भ हुआ उसने फिर पीछे मुड़कर आज तक नहीं देखा है। शांति सन्धि के पालन करने का कार्य राजदूतों पर छोड़ा गया जिनका सम्मेलन (Conference Ambassadors) पैरिस से होता रहता था। प्रधानमंत्रियों के सम्मेलन भी इसी प्रकार चलते रहे। राष्ट्र संघ के निर्माण ने स्थायी व संगठित सम्मेलन व्यवस्था को संस्थागत रूप प्रदान किया। इसके तत्वावधान में अनेक संगठनों व संस्थाओं के सम्मेलन होते रहे। 1919 व 1924 का मध्यकाल सम्मेलन द्वारा राजनय का काल था। यह काल हमें नैपोलियन युद्धों के पश्चात् कांग्रेस के काल की याद दिलाता है। द्वितीय महायुद्ध के दौरान आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए सम्मेलनों का प्रचलन और भी अधिक बढ़ गया। तीन बड़े राज्यों के अध्यक्षों, विदेशमंत्रियों तथा सेनानायकों के मध्य सम्मेलन निरन्तर चलते रहे। प्रथम महायुद्ध की भाँति द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर कोई शांति सम्मेलन नहीं हुआ परन्तु अलग अलग सम्मेलनों की सहायता से विभिन्न शांति संधियाँ अवश्य हुईं। राष्ट्र संघ द्वारा प्रारम्भ की गई सम्मेलनीय व्यवस्था को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ने और भी आगे बढ़ाया। संयुक्त राष्ट्र के इतने अधिक सम्मेलन होने लग गये कि इसके लिए सचिवालय में एक अलग ही विभाग खोल दिया गया है, जो सम्मेलनों के आयोजनों के बारे में देखता रहता है। सुरक्षा परिषद्, साधारण सभा, आर्थिक व सामाजिक परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ, मुद्राकोष, विकास संघ, विश्व बैंक, न्यास परिषद् आदि संस्थाओं व उनकी समितियों तथा विभिन्न क्षेत्रीय संगठनों आदि ने सम्मेलन द्वारा राजनय को और भी बढ़ाया है। आज विश्व में प्रतिवर्ष हजारों अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित होते हैं

### सम्मेलनों का संगठन

राज्यों के मध्य मतभेदों को दूर करने अथवा समस्याओं के समाधान के लिए कोई भी राज्य इस पर विचार हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुला सकता है। इससे पूर्व कि आयोजक राज्य निमन्त्रण भेजे, निमन्त्रित राज्य की प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से उक्त सम्मेलन के लिए सहमति लेना आवश्यक है। साथ ही सम्मेलन में विचार किये जाने वाले विषयों पर भी सहमति ले ली जाती है। निमन्त्रण पत्र, राष्ट्राध्यक्ष, विदेशमन्त्री आदि के नाम से भेजा जाता है। इसमें सम्मेलन के बुलाये जाने के कारण, उसके उद्देश्य तथा कार्यक्रम का विवरण होता है। कभी-कभी निमन्त्रण पत्र मेजबान राज्य के स्थान पर अन्य राज्य भी भेजते हैं। सैटो इसके उदाहरण-स्वरूप 1930 में लिए गए हैग सम्मेलन का उल्लेख करता है। इसका निमन्त्रण हैग में होने के कारण नीदरलैण्ड सरकार द्वारा दिया जाना चाहिये था, परन्तु यह निमन्त्रण राष्ट्र संघ की कौंसिल द्वारा दिया गया था। इसी प्रकार अलजीसिराम सम्मेलन स्पेन में हुआ था, परन्तु निमन्त्रण पत्र मोरोक्को के सुलतान के नाम से दिया गया था। विषय और उसके महत्व के आधार पर ही राज्य तय करते हैं कि वे सम्मेलन में भाग लें अथवा नहीं। राज्य निमन्त्रण को अस्वीकार कर सम्मेलन में भाग लेने से मना भी कर सकते हैं। सम्मेलन में



अनुपस्थित होने के बाद भी राज्य इसके निर्णयों की संस्तुति कर सकते हैं। सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों को अधिकार पत्र अथवा प्रत्यय पत्र सम्मेलन के अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत करने पड़ते हैं। इन्हें वो सभी राजनयिक अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जो राजदूतों को प्राप्त हैं। सम्मेलन की प्रथम सभा में एक सभापति तथा एक सचिव चुना जाता है। यह प्रायः आयोजक राज्य का ही होता है। यह केवल एक परम्परा है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विधिनुसार किसी भी प्रकार की अनिवार्यता नहीं है। अग्रत्व आदि की व्यवस्था प्रायः वर्णानुक्रमिक ही होता है। सम्मेलन की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में पहिले से ही तय कर लिया जाता है। यह एक मान्य नियम है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रत्येक राज्य का एक मत होता है, भले ही प्रतिनिधिमण्डल में कितने ही सदस्य क्यों न हों। उदाहरण के तौर पर संयुक्त राष्ट्र की आम सभा में प्रत्येक सदस्य राज्य के पाँच प्रतिनिधि तथा पाँच वैकल्पिक प्रतिनिधि होते हैं, किन्तु वह मत एक ही दे सकते हैं। सम्मेलन के स्थान का चयन तीन आधारों पर किया जाता है। प्रथम, समस्याग्रस्त स्थान के निकट जैसे मास्को संकट के निकारणार्थ 1906 का अलजिसीरास सम्मेलन। द्वितीय महाशक्ति के आधार पर जैसे 1908-1909 का सलन्दन नाविक सम्मेलन अथवा वाशिंगटन का 1921-1922 का सम्मेलन। तृतीय, एक तटस्थ स्थान पर जैसे जेनेवा में हुए कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन।

सम्मेलन के प्रारम्भिक काल में भाषा प्रायः फ्रेंच ही हुआ करती थी। बीसवीं शताब्दी की भाषा अंग्रेजी बन गई है। सम्मेलन के आयोजन के पूर्व ही यह तय कर लिया जाता है कि सम्मेलन में किस भाषा का प्रयोग होगा। संयुक्त राष्ट्र में पांच भाषाओं – अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, चीनी व स्पेनिश – को मान्यता दी गई है। किसी भी सदस्य को इन सम्मेलनों में स्वीकृत पांच भाषाओं में से किसी भी एक में भाषण देने व सुनने का अधिकार है। जटिल समस्याओं पर विचारार्थ सम्मेलनों के कार्य को सुविधापूर्वक चलाने के लिए तथा समस्याओं पर विचार हेतु व सम्मेलन का कार्य कई समितियों में विभाजित कर दिया जाता है, जो कार्य समाप्ति पर अपना प्रतिवेदन मूल सम्मेलन के सचिव के पास भेज देती हैं। इन्हीं के प्रतिवेदनों पर मूल सम्मेलन विचार करता है। सम्मेलन में पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात् विभिन्न प्रस्तावों को बहुमत के आधार पर स्वीकार करके कुछ निर्णय ले लिये जाते हैं। ये निर्णय सम्मेलन के अन्त में अन्तिम प्रपत्र (Acte finale) के रूप में प्रकाशित किये जाते हैं। सम्मेलन के पूर्व की पूरी तैयारी आयोजक राज्य के कनिष्ठ अधिकारियों द्वारा की जाती है। सम्मेलन की सफलता अथवा असफलता इस पूर्व तैयारी पर ही निर्भर करती है। विश्वात ब्रिटिश राजदूत विक्टर बेलेजली का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को बुलाने के पूर्व उसकी तैयारी अति आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राजदूत ह्यूग गिबसन (Hugh Gibson) ने एक बार कहा था कि “यह वांछनीय है कि अधिकाधिक तैयारी का कार्य सम्मेलन के बुलाने के पूर्व सीधी तथा निजी वार्ता द्वारा पूरा किया जाये ताकि उसका (सम्मेलन) कार्य सीमित न होकर छोटी-मोटी कठिनाइयों में तालमेल बैठाने तथा समझौते की शर्तों का मसौदा तय करने तक ही सीमित रह जाये। सम्मेलन के अन्त में एक विज्ञप्ति जारी की जाती है, जिस पर पहले से ही पूर्ण विचार कर निर्णय ले लिया जाता है तथा जिसमें सम्मेलन के विभिन्न पक्षों के दृष्टिकोणों का समावेश किया जाता है।

### **सम्मेलनीय राजनय के गुण (Merits of Conference Diplomacy) :-**

सम्मेलनय राजनय को युद्ध से रोकने का एक महत्वपूर्ण उपाय माना गया है। सम्मेलनीय राजनय में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं :-

1. सम्मेलनीय राजनय की प्रक्रिया में लचीलापन होता है।
2. इसमें भाग लेने वालों की संख्या कम होने के कारण अनौपचारिकता बरती जाती है।
3. सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्य प्रायः एक दूसरे से परिचित रहते हैं।
4. प्रमुख सदस्यों के बीच व्यक्तिगत मित्रता रहती है।
5. सम्मेलनों की कार्यवाही गोपनीय रहती है तथा इसके परिणामों को प्रकाशित किया जाता है।
6. सम्मेलन में भाग लेने वालों की पारस्परिक, घनिष्ठता एवं मित्रता के कारण विचार विमर्श खुले रूप में सम्भव होता है।
7. सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधि एक देश की नीति निर्धारक करने वाले प्रधानमंत्री या विदेश मन्त्री होते हैं, अतः निर्णय शीघ्र लिया जा सकता है।
8. सम्मेलनों में बार-बार मिलने से परस्पर स्थायी विश्वास और सहयोग की वृद्धि होती है।
9. सम्मेलनों में अनेक हितों के बीच सामंजस्य का प्रयास किया जाता है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।
10. सम्मेलन द्वारा अनेक ऐसे विवादों पर समझौता हो जाता है जो अन्यथा युद्ध के कारण बन सकते थे।

### **सम्मेलनीय राजनय के दोष (Demerits of Conference Diplomacy)**

आज के अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में यद्यपि सम्मेलनीय राजनय एक अपरिहार्य तथ्य बन गया है किन्तु यह निर्दोष नहीं है। विचारकों ने इसके अनेक दोषों का उल्लेख किया है :-

1. सम्मेलनीय राजनय में गोपनीयता का प्रभाव रहता है। इससे सदस्य राज्यों के मन में अविश्वास की भावना पनपती है तथा सन्धि वार्ता का मार्ग दुर्गम बन जाता है।
2. सम्मेलनीय राजनय में अनेक गुप्त बातें समय से पहले ही खुल जाती हैं। इससे सन्धियों एवं समझौतों की कार्यान्विति के मार्ग में बाधा आती है।
3. राजनीतिक समझौतों में शीघ्र निर्णय ले लिया जाता है। जिस समस्या को राजनयिक समझौता वार्ता के माध्यम से दस वर्ष तक भी नहीं सुलझाया जा सकता था, उसे राज्याध्यक्षों के मिलने पर एक ही दिन में सुलझा लिया जाता है, फलतः व्यावसायिक राजनयज्ञों का महत्व घट जाता है।
4. सम्मेलनों में बार-बार मिलने पर राजनयज्ञों में परस्पर ईर्ष्या और वैमन्यस्य बढ़ने की सम्भावना अधिक रहती है। छोटी-छोटी व्यक्तिगत नाराजगियां अनेक बार राष्ट्रीय हित के लिए घातक बन जाती हैं।
5. सम्मेलनों में जब विभिन्न प्रधानमन्त्रियों एवं विदेशमन्त्रियों के बीच मैत्री एवं सौहार्द की भावनाएं बढ़ जाती हैं तो वे आपस में ऐसे वायदे तथा सन्धियाँ कर लेते हैं जिनका वे व्यवहार में पूरा नहीं कर पाते फलतः सम्मेलनीय राजनय का महत्व कम हो जाता है।
6. सम्मेलनों में की गई सन्धियों की कार्यान्विति में अनिश्चय रहता है क्योंकि वे जनमत की सही परीक्षा किए बिना ही कर ली जाती हैं। यदि उनको जनता अस्वीकार कर दे तो वे निरर्थक बन जाती हैं। वार्सा की सन्धि को अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा स्वीकार किया गया था किन्तु वहां की सीनेट ने उसे अस्वीकार कर दिया।
7. सम्मेलनों में दो राज्यों का मनमुटाव या खिंचाव घटने की अपेक्षा अधिकाधिक बढ़ जाता है। वे इस अवसर का प्रयोग एक दूसरे पर कीचड़ उछालने में करते हैं। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्रपूर्ण वातावरण को ठेस लगती है।
8. सम्मेलनों में भाग लेने वाले प्रतिनिधि अपने व्यस्त कार्यक्रम में से थोड़ा ही समय विचार-विमर्श के लिए दे पाते हैं तथा सन्धियों की गहराई के बारे में संतुलित मन से नहीं सोच पाते। प्रो० निकलसन के अनुसार शान्तिकाल में विचार-विमर्श की शीघ्रता लाभप्रद की अपेक्षा हानिप्रद बन जाती है।
9. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटबन्दी होने के बाद सम्मेलनीय राजनय का कोई उपयोग नहीं रह गया है। विचारधारा, अर्थव्यवस्था एवं राष्ट्रीय हितों का विरोध और अनेक पूर्वाग्रह होने के कारण सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचारों का स्वस्थ आदान-प्रदान सम्भव नहीं हो पाता। प्रत्येक पक्ष सम्मेलन का दुरुपयोग अपने राजनीतिक प्रचार के लिए करने लगता है।

### सफलता की शर्तें (Conditions for Success)

सम्मेलनीय राजनय की उक्त आलोचनाओं में पर्याप्त सफलता होते हुए भी अब पुरानी व्यवस्था की ओर लौटना सम्भव नहीं है। आज एक व्यक्ति अपने देश की राजनीति में चाहे कितना ही उल्लेखनीय स्थान रखता हो, किन्तु वह राष्ट्रीय हित पर सौदेबाजी नहीं कर सकता। प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति हो यह जानने का अधिकार है कि उसकी सरकार अथवा मन्त्रीगण राज्य के हितों की रक्षा के लिए क्या कर रहे हैं। इस परिवर्तित सन्दर्भ में सम्मेलनीय राजनय अपरिहार्य है। इसके सफल संचालन के लिए विचारकों द्वारा निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये गए हैं :-

1. सम्मेलन की सफलता के लिए यह उपयुक्त है कि सभी प्रतिनिधि मूल बातों के सम्बन्ध में पहले से ही सहमत हो जायें तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को भली प्रकार समझ लें। इस स्वर्णिम नियम का ध्यान में रखकर किये गये सम्मेलन प्रायः सफल हो जाते हैं।
2. सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों के बीच परस्पर आदर एवं मित्रता की भावना का विकास होना चाहिये। मानवीय सम्बन्धी के पहलू हमेशा महत्वपूर्ण होते हैं।
3. सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिये। कम प्रतिनिधि भली प्रकार विचार-विमर्श कर पाते हैं तथा अनावश्यक विरोध पैदा होने की सम्भावना नहीं रहती।
4. सन्धिवार्ताओं में आवश्यक गोपनीयता का निर्वाह किया जाना चाहिये। समय से पूर्व तथा अनुचित रूप में किसी बात का प्रकाशन होने से वह हानिकारक बन जाती है।
5. सम्मेलन में भाग लेने वालों का स्वयं की भाषा में ही विचार प्रकट करने चाहिये ताकि स्पष्ट रूप से वे प्रत्येक बात को समझ सकें। अच्छे दूभाषियों की व्यवस्था रहनी चाहिये ताकि अन्य भाषा-भाषी लोग उसे सही अर्थ में समझ सकें।

सम्मेलनीय राजनय का प्रचलन और प्रभाव हमेशा एक सा नहीं रहता है वरन् परिस्थितियों के अनुसार घटता बढ़ता रहता है। एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सम्मेलनों का महत्व प्रायः उस समय बढ़ जाता है जब कुछ राष्ट्रों को एक सामान्य शत्रु के आक्रमण का भय रहता है। उस शत्रु का सामना करने के लिए ये राज्य समय-समय पर सम्मेलन करते रहते हैं। सामान्यतः शत्रु का भय हटते ही ये बिखर जाते हैं और व्यक्तिगत सम्पर्क एवं आपसी चर्चा का तरीका अपना लेते हैं।

### निष्कर्ष :-

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सम्मेलनीय राजनय के प्रयासों के परिणामस्वरूप विश्व में शांति बनी हुई है अन्यथा अब तक विश्व कभी का युद्ध की विभीषिका में झुलस गया होता। फिलिस्तीनी निःशस्त्रीकरण, शस्त्र नियंत्रण तथा मानव अधिकारों की रक्षा जैसी समस्याओं का निराकरण संयुक्त राष्ट्र की सफलता नहीं, वरन् सम्मेलनीय राजनय की सफलता है। वियतनाम युद्ध की समाप्ति इजराइल-फिलिस्तीनी समझौता (सितम्बर 1993) सफल सम्मेलनीय राजनय के परिणाम से ही सम्भव हो सकी।

# ईकाई-IV

## अध्याय-1

### महान राजनयज्ञ (Great Diplomates)

“राजनयज्ञ को सबसे पहले और सबसे प्रमुख रूप से व्याख्याकार होना चाहिये।”

—जोसेफ सी०सी० क्र्यू

राजनयज्ञ के दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए राजनयज्ञ में कुछ विशेष गुणों का होना वांछनीय है। इसके अभाव में अपने कर्तव्यों व दायित्वों का समुचित निर्वाह नहीं कर सकेगा। आज तकनीकी और वैज्ञानिक आविष्कारों ने राजनय के व्यवहार में परिवर्तन ला दिये हैं। बेतार के तार की सहायता से सन्धि-वार्ता में भाग लेने वाला प्रतिनिधि निरन्तर अपनी सरकार से सम्पर्क बनाए रख सकता है, किन्तु राष्ट्रीय चरित्र और मानव प्रकृति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है, अतः एक अच्छे सन्धि-वार्ताकार के लिए जो गुण अतीत काल में उपयोगी समझे जाते थे, वे ही आज भी उतना ही महत्व रखते हैं। अतीत की भांति आज भी एक सफल राजनयज्ञ उसे माना जाता है जो अपने राष्ट्रीय हितों और सम्बन्धित उद्देश्यों की पूर्ति इस प्रकार करे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उसके देश के प्रति कम से कम वैमनस्य और कटुता की भावना पैदा हो सके। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में एक सफल राजनयज्ञ ने गुणों का अत्यन्त सुन्दर रूप में उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति, शुक्रनीति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ग्रन्थों के श्लोक सुन्दर और आकर्षक तरीके से गुणों पर प्रकाश डालते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम कुछ महान् राजनयज्ञों के राजनय और उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डालेंगे और साथ ही राजनयज्ञों की बदलती हुई भूमिका को देखेंगे। हम इस बात पर भी विचार करेंगे कि वांछनीय गुणों की दृष्टि से राजनयज्ञों के लिए उपयुक्त परामर्श क्या है ?

#### कार्डिनल रिचलू (Cardinal Richelieu)

1585 में अरमान्ड डी रिचलू (Armand de Richelieu) का जन्म एक सामन्त वर्गीय परिवार में हुआ था। इसने धार्मिक शिक्षा ग्रहण की थी तथा इक्कीस वर्ष की अवस्था में इसकी नियुक्ति बिशप पद पर हुई। स्टेट जनरल ने इससे प्रभावित होकर मेरी डी मैडिसी के दरबार में इसे बुलाया था तथा इसे कार्डिनल के पद पर नियुक्त किया था। इस व्यक्ति में अद्भुत गुण थे जिसके सहारे यह दिन पर दिन उन्नति करता गया। पहले वह राजमाता मैडिसी का मुख्य सलाहकार बना, तत्पश्चात् यह लुई तेरहवें का मुख्य सलाहकार एवं पथ-प्रदर्शक बन गया तथा अपने आने वाले 18 वर्ष तक इसने वास्तविक रूप से फ्रांस पर शासन किया। 1624 में रिचलू ने लुई अठारहवें से वादा किया था —“मैं वादा करता हूँ कि आपकी खुशी के लिए मैं अपनी पूरी क्षमता एवं शक्ति ह्यूगनोट्स को तबाह करने में, बड़े सामन्तों का सम्मान समाप्त करने में, जनता में कर्तव्य-परायणता जाग्रत करने में लगा दूंगा।” अपने वायदे को पूरा करने के लिए रिचलू ने असीम भक्ति से राजा एवं फ्रांस की सेवा की। बाद में राजमाता मैडिसी ने रिचलू का विरोध आरम्भ किया एवं रिचलू ने राजमाता को राजसत्ता से हटाकर लगभग बनवास दिला दिया था। जहाँ तक वास्तविकता है लुई तेरहवां कभी भी रिचलू को दिल से नहीं चाहता था, किन्तु रिचलू का देश प्रेम एवं राजभक्ति दो ऐसे गुण थे जिनके समक्ष राजा भी उसका उसका पद से अलग नहीं कर पाया था। वास्तव में उसने फ्रांस का चहुंमुखी विकास किया था। लुई तेरहवां विलासप्रिय व्यक्ति था एवं वह शासन के प्रति अधिक श्रद्धा भाव से नहीं झुक पाया था। फ्रांस को इस समय जितना भी गौरव प्राप्त था उस सबका श्रेय इसी राजनीतिज्ञ को जाता है। प्रशासन के हर क्षेत्र में इसी व्यक्ति का एकाधिकार था एवं राज्य की समस्त नीतियों का निर्धारण इसी व्यक्ति द्वारा किया जाता था। उसकी क्षमता एवं कर्तव्यपरायणता से प्रभावित होकर लुई ने समस्त राजकीय सत्ता इसी व्यक्ति को सौंप दी थी। इसका अर्थ यह नहीं है कि राजा कमजोर था, यदि राजा कमजोर होता तो वह समस्त दरबार एवं राजपरिवार के विरोध में कार्डिनल का समर्थन नहीं कर पाता। न तो रिचलू ही प्रसिद्ध था और न ही राजा उसे पसन्द करता था फिर भी उसकी योग्यता के बल पर राजा उसकी समस्त नीतियों का अपेक्ष बन्द करके समर्थन करता था। अपने समस्त काल में रिचलू ने दो बातों पर अत्यधिक ध्यान दिया। प्रथम, समस्त देश पर राजा की सत्ता को पूर्णतया निरंकुश बनाया जाये। दूसरा, वैदेशिक क्षेत्र में फ्रांस का मान सम्मान एवं वैभव उच्चतम किया जाये। रिचलू का विचार था कि वैदेशिक क्षेत्र में देश को उच्चतता प्रदान करने के लिए जनता के हितों का बलिदान किया जा सकता है। फ्रांसीसी राजनय को अपने उच्चतम शिखर पर ले जाने वाले व्यक्तियों में से एक प्रमुख व्यक्ति कार्डिनल रिचलू (Cardinal Richelieu) था। समय और काल से प्रभावित वह अपने समय का सबसे बड़ा यथार्थवादी

राजनयिज्ञ था। वह पहला राजनीतिज्ञ था, जिसने राष्ट्रों के मध्य स्थाई वार्ताओं और सम्बन्धों के लिए राजनय का विधिवत् उपयोग किया। उसने अपने जीवनकाल में राजनय सम्बन्धी अनेक सुधार किये जिनका प्रभाव आज भी देखा जा सकता है। यही वह व्यक्ति था जिसने विश्व को शक्ति सन्तुलन (Balance of Power) का सिद्धान्त दिया, जिसकी सहायता से न केवल यूरोप में शान्ति बनी रही वरन् फ्रांस को यूरोपीय महाद्वीप में सर्वोच्च स्थान भी मिला।

रिचलू ने अपनी पुस्तक 'पोलिटीकल टेस्टामेंट' तथा लेख 'मेमोरिस' में स्थायी मूल्य के राजनयिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। (Cardinal Richelieu, in his 'Political Testament and Memorirs' put forward diplomatic principles of permanent value) रिचलू की निम्नलिखित उल्लेखनीय देन है :-

- (1) वह प्रथम व्यक्ति था जिसने वार्ता को स्थायी कला के रूप में माना। निकलसन के शब्दों में "इससे अपनी पुस्तक 'पोलिटीकल टेस्टामेंट' में एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि राजनय का उद्देश्य स्थायी और ठोस सम्बन्धों का निर्माण है न कि प्रासंगिक अथवा अवसरवादी व्यवस्था को।" क्षणिक लाभ से प्रेरित वार्ता स्थायी नहीं हो सकती। वार्ता के सम्बन्ध में तो उसका यहाँ तक विश्वास था कि यह असफलता की स्थिति में भी की जानी चाहिये क्योंकि इससे दूसरे पक्ष के दृष्टिकोणों से अवगत होने का सुअवसर प्राप्त होता है।
- (2) रिचलू की यह मान्यता थी कि नीतियों का निर्माण राष्ट्रीय हितों के दृष्टिकोण से करना चाहिये। मित्रों का चुनाव इसलिए नहीं करना चाहिये कि वे अच्छे लगते हैं, वरन् उनके स्थायित्व के आधार पर करना चाहिये। रिचलू राष्ट्रवादी विचारों का समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि राष्ट्रहित प्रधान तथा शाश्वत है जो व्यक्ति के निजी हितों के ऊपर है। थेयर (Thyer) के शब्दों में रिचलू का उपदेश था कि राष्ट्रीय नीतियाँ ठंडे दिमाग से सोचे गये राष्ट्रीय हितों पर आधारित होनी चाहिये न कि वंशीय अथवा भावुक आधारों पर।" इसी कारण उसका यह विश्वास था कि राष्ट्रहित के आधार पर घोर विरोधी अथवा शत्रु देश के साथ भी संधि की जा सकती है।
- (3) रिचलू का कहना था कि कोई नीति तभी सफल हो सकती है जबकि उसे राष्ट्रीय मत अथवा जनमत का समर्थन प्राप्त हो। जनमत निर्माण के लिये उसने प्रचार पर बल दिया था और अपनी नीतियों के समर्थन में जनमत जाग्रत करने के लिये छोटे पर्चे एवं पत्रिकाएँ छपाने की बात कही। वह स्वयं भी राष्ट्रीय जनमत के निर्माण हेतु इशितहार निकाला करता था, जिन्हें वह आत्मीयता ने 'मेरे छोटे पर्चे' (My Little Leaflet) कहा करता था।
- (4) रिचलू ने सन्धियों को पवित्र दस्तावेज मानकर उनके अनुशीलन का समर्थन किया। उसका कहना था कि सन्धि एक महत्वपूर्ण साधन है। अतः इसे करने से पूर्व पूरी सावधानी बरतनी चाहिये। एक बार सन्धि पर हस्ताक्षर एवं अनुसमर्थन हो जाए तो उसका पालन अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिये। राजदूतों अथवा सन्धिकर्त्ताओं को अपने निर्देशों से बाहर कुछ नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर वे सम्प्रभु का विश्वास खो देंगे। रिचलू चूँकि यथार्थवादी था अतः उसका मत था कि किसी राज्य के साथ संधि उसकी सत्यनिष्ठा, धर्म आदि पर नहीं वरन् उसके भौगोलिक अथवा सामरिक महत्व के आधार पर की जानी चाहिये। सन्धि की पवित्रता नैतिक आधार पर नहीं वरन् व्यवहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।
- (5) रिचलू का विचार था कि एक सही राजनय में निश्चितता रहनी चाहिये। यदि किसी सन्धिवार्ता के बाद समझौता न हो सके तो चिन्ता की बात नहीं है। किन्तु यदि समझौता अस्पष्ट तथा अनिश्चित भाषा में हुआ तो चिन्तनीय हो जायेगा। इससे समझौता भंग करने तथा उसे गलत समझने के अवसर बढ़ जाते हैं। निश्चिन्तता के प्रभाव में सन्धि के पक्षों के बीच आदान-प्रदान के सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकते तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन केवल मनोरंजन और प्रचार के साधन मात्र रह जायेंगे।
- (6) रिचलू का कहना था कि विदेश नीति का निर्देशन तथा राजदूत का नियंत्रण एक ही मंत्रालय में केन्द्रित रहना चाहिये। अन्यथा समझौता वार्तार्ये प्रभावहीन साबित होगी। यदि उत्तरदायित्व को बिखेर दिया गया तो राजदूत एवं उससे सन्धिवार्ता करने वाला दूसरा पक्ष भी भ्रम में पड़ जायेगा। वह आदेश की एकता" (Unity of Comkonal) में विश्वास करता था।

रिचलू ने राजनय में दयालु भाषणों की आवश्यकता को पहचाना उनके अनुसार जुबार से किए गए घावों की तुलना में तलवार के किए गए घाव अधिक आसानी से भर जाते हैं (Wounds inflicted by the swords are more easily healed than those inflicted by the tongue). रिचलू ने राज्य तथा राजनय के बारे में जो सिद्धान्त दिए वे आदर्श एक संक्षिप्त रूप में निम्नलिखित हैं :-

- (i) राज्य के मामलों में गुप्तता प्रथम अनिवार्य तत्त्व है। (Secrecy is the first essential in affairs of state.)
- (ii) राज्य के विरुद्ध अपराधों का निर्णय करते समय यह आवश्यक है कि दयाभाव को निकाल दें। ("In judging crimes against the state, it is essential to banish pity")

- (iii) सुन्दर शब्दों में गलत रूप से भी पेश किए गए मामले स्वेच्छा से सत्य के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। ("Matters falsely presented in fine words are very willingly accepted as true.")।
- (iv) जो राज्य के लिए कार्य करते हैं उन्हें सितारों का अनुसरण करना चाहिए। कुत्ते भौंकते रहते हैं तथापि वे चमकते रहते हैं तथा अपने रास्तों पर घूमते रहते हैं। ("Those who work for the state, should imitate the star. The dogs bark, but they shine none the less and revalue in their courses.")।

संक्षेप में, रिचलू एक योग्य राजनेता था जिसमें यूरोप के इतिहास पर अपनी अमिट छाप छोड़ी तथा इस कारण राजनय के क्षेत्र में उसका एक सम्माननीय स्थान है।

### तेलेरॉ (Tailaron)

फ्रांस में उत्पन्न अग्रणी चतुर व्यक्तियों में तेलेरॉ का स्थान प्रथम प्रक्ति में आता है। वह क्रान्तिकाल (1788-99) में बहुचर्चित प्रमुख व्यक्तित्व था। वह नेपोलियन के राज्य में तथा सम्राट के आसीन होने पर किसी न किसी पद पर काम करता ही रहा। वह सामन्त वर्ग का था और चर्च का सदस्य भी था। एबे सिकार ने जिस निष्पक्षता से 1789 के पदासीन 134 बिशपों का मूल्यांकन किया है उनमें से केवल 15 को उसने सदाचारी धर्माधिकारियों में गिनाया है और रोहन, ब्रीएन तथा तेलेरॉ जैसे बड़े-बड़े धर्माधिकारियों की उसने निन्दार की है। अनेक निष्पक्ष लेखकों ने एबे सिकार के मूल्यांकन से सहमति व्यक्त की।

तेलेरॉ बहुत चतुर और चालाक व्यक्ति था, राजनय का कुशल खिलाड़ी था और परिस्थितियों के अनुसार चालाकी से अपनी स्वामिभक्ति बदल लेता था। वह अवसरवादी राजनय में विश्वास करता था। क्रान्तिकाल में राष्ट्रीय सभा (नेशनल असेम्बली) के निर्माण के बाद जब 19 जून, 1789 को पादरियों ने तृतीय स्टेट के साथ मिल जाने का फैसला किया तो आर्क बिशप तेलेरॉ ने क्रान्ति को अपने पक्ष में मोड़ने का असफल प्रयास किया। प्रो० बालकृष्ण पंजाबी ने लिखा है – "19 जून को उग्र विचार-विमर्श के बाद पादरियों ने 137 के विरुद्ध 149 के बहुमत से, जिनमें छः बिशप एवं आर्क बिशप थे, जन-साधारण के साथ बैठने का फैसला किया। 19 जून क्रान्ति के इतिहास की निर्णायक विधि कही जा सकती है क्योंकि इसी दिन पादरियों ने क्रान्ति की ओर मुड़ने वाला ऐतिहासिक कदम उठाया। कुलीनों में अभी भी प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का प्रभाव अधिक था, लेकिन उनमें फैली अव्यवस्था और फूट स्पष्ट होने लगी थी। एक-दूसरे को चेतावनियाँ ओर धमकियाँ दी गईं और कुछ ने अपनी म्यानों से तलवारें तक निकाल लीं। इस तनावपूर्ण स्थिति में आर्क बिशप तेलेरॉ ने क्रान्ति को अपने पक्ष में मोड़ने का असफल प्रयास किया। क्रान्ति के इतिहास में तेलेरॉ जैसे भ्रष्ट एवं अवसरवादी कोई अन्य चरित्र नहीं ढूँढा जा सकता। दैनिक कोर्ट की ऐतिहासिक शपथ की पूर्व रात्रि (19 जून) को वह मारल (जहाँ इस समय राजपरिवार रह रहा था) आया तथा राजा से गुप्त मुलाकात की प्रार्थना की। चूँकि राजा उसे पसन्द नहं करता था अतएव उसने उसे अपने भाई की ओर भेज दिया। कौत दे आरतुआ ने बिस्तर में होने पर भी उससे मुलाकात की। तेलेरॉ ने 'सभा' के कार्यों को मूर्खतापूर्ण, खतरनाक, राजतन्त्र विरोधी तथा गैर-कानूनी बताया और उसने उसे सलाह दी कि सरकार को दढ़तजा कापरिचय देते हुए एता जैनेरी (स्टट्स जनरल) को भंग कर देना चाहिये। तेलेरॉ ने अपने समर्थकों के साथ मिलकर तथा शासन स्थापित करने का प्रथम भी दिया। परिवर्तित मताधिकार द्वारा नए निर्वाचन की योजना भी उसने बताई उसने इस बात पर रोष और खेद प्रकट किया कि निर्बल व्यवस्था ने राष्ट्र को सिये के हाथों में फँक दिया है। मोंत दे आदतुआ ने तुरन्त लुई 16 वें के कक्ष में जाकर सारी योजना उसके सामने रखी परन्तु राजा ने साफ इन्कार कर दिया। तेलेरॉ ने निराश होकर लौटते हुए इतना संकेत अवश्य कर दिया कि हर व्यक्ति को अपने हितों के अनुकूल परिवर्तित होने की स्वतन्त्रता है।"

तेलेरॉ गुप्त और नाटकीय राजनय में माहिर था। उसका व्यवहार बड़ा नाटकीय और कभी-कभी प्रभावशाली भी होता था। वह पक्का अवसरवादी था और धूर्ततापूर्ण चालाकी के कारण वह लगभग 50 वर्ष तक फ्रांस की राजनीति से सम्बन्धित रहा। क्रान्तिकाल में तेलेरॉ ने 'संधोधित चर्च' का पिता बनना स्वीकार कर लिया और 24 फरवरल, 1791 को उसका तथा अन्य सांविधानिक बिशपों का शुद्धि संस्कार बड़े ठाठ-बाट के साथ किया गया। एक राजनयज्ञ और एक आध्यात्मिक अधिकारी गुरु-दोनों ही रूपों में तेलेरॉ ने अपना राजनयिक कमाल दिखाया। जब 14 जुलाई, 1790 को 'बास्तील के पतन' की वर्षगांठ मनाई गई तो एक विशाल चल समारोह का आयोजन किया गया और तिरंगे लबादे तथा सफेद वस्त्र धारण किए सैंकड़ों पुजारियों ने 'नए चर्च के पिता' तेलेरॉ के साथ धार्मिक गीत गाए। 14 जुलाई 1797 को पुनर्गठित मन्त्रि-परिषद् में तेलेरॉ ने विदेश मन्त्री पद प्राप्त कर एक कुशल राजनयज्ञ के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया। फ्रांस के महान् राजनयज्ञ तेलेरॉ और फ्रांस के राजनय पर टिप्पणी रते हुए डॉ० एम०पी० राय ने लिखा है—"रिचलू और कैलियर्स ने जहाँ राजनय के सिद्धान्तों की स्थापना की वहाँ तेलेरॉ ने फ्रांस की क्रान्ति तथा नेपोलियन के काल में राजनय का वास्तविक प्रयोग किया। तेलेरॉ राज्य शिल्प का विशेषज्ञ था। यह इसकी राजनयिक योग्यता का ही परिणाम था कि उसने यूरोपीय राज्य व्यवस्था

का पुनर्निर्माण कर संयुक्त यूरोप की स्थापना की। तेलेरां ऐ कुशल एवं निष्ठावान वार्ताकार था। वह समस्या के समाधान के लिए अपनी सम्पूर्ण योग्यता व शक्ति लगा देता था। वह तेलेरां की राजनयिक योग्यता, कुशलता और निपुणता ही थी कि उसने ब्रिटेन और आस्ट्रिया को रूप तथा प्रशा का डर बैठाकर फ्रांस के हितों को आगे बढ़ाया। यूरोपियन समत्व को बनाये रखने के लिए उसने यूरोपीय व्यवस्था का जो नया चित्र खींचा वह 'राजनयिक इतिहास बहुत लाभकारी उपलब्धि है।' नेपोलियन महान् तेलेरां का प्रशंसक था। आज भी तेलेरां द्वारा लिखित सामग्री का अध्ययन किया जाता है। कुल लोग तो सफल राजनय और तेलेरां को समानार्थक मानते हैं। फ्रांसीसी राजनय में कभी-कभी बड़प्पन का भी मित्याभाव रहा है। 1972 में प्रशान्त महासागर में अणु प्रशिक्षण के विरुद्ध न्यूजीलैण्ड सरकार द्वारा विरोध जाने तथा फ्रांसीसी जहाजों का बहिष्कार किएजाने के निर्णय पर फ्रांस सरकार ने तुरन्त न्यूजीलैण्ड के विरुद्ध व्यापारिक प्रतिबन्ध की आज्ञा दे दी थी।

### मेटरनिख (Matternich)

मेटरनिख योरोप की सबसे प्रभावशाली राजनीतिज्ञ था। इसका जन्म मई 1773 में आस्ट्रिया के काबलेज नगर में हुआ था। वह कुलीन श्रेणी के खानदान का व्यक्ति था। अपने विश्वविद्यालय के शिक्षणकाल में उसने फ्रांस की क्रान्ति के फलस्वरूप भागे हुए कुलीनों की दुःख गाथा को सुना था तथा उसी समय से वह क्रान्तिकारी भावनाओं का घोर शत्रु बन गया था। उसका पिता पवित्र रोमन साम्राज्य का उच्चाधिकारी और जर्मनी का जागीरदार था। उसके पिता की सारी सम्पत्ति नेपोलियन ने हड़प ली थी। इसलिए नेपोलियन का कट्टर शत्रु बन गया।

शिक्षा समाप्त करने के बाद 1795 में उसका विवाह आस्ट्रिया के चांसलर प्रिंस कालिट्स की पौली के साथ हुआ। इस विवाह से उसकी राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। सन् 1801 से 1806 तक उसने विभिन्न देशों में राजदूत के पद पर कार्य किया और वह इन देशों के शासकों व राजनीतिज्ञों के सम्पर्क में आया। वह सन् 1809 में आस्ट्रिया का चांसलर (प्रधानमन्त्री) बन गया और 1848 तक उसी पद पर कार्य करता रहा। वह ओर भी समय तक आस्ट्रिया का प्रधानमन्त्री बना रहता यदि आस्ट्रिया में क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रसार न हुआ होता। मेटरनिख ने क्रान्तिकारी विचारों को आस्ट्रिया में पनपने न देने का दृढ़ संकल्प लिया हुआ था। इन्हीं क्रान्तिकारी भावनाओं के भड़कने पर वह पतन को प्राप्त हुआ। उसके विचार में क्रान्ति एक बीमारी थी जिसके भड़कने पर उसका कोई भी निदान नहीं रह जाता है। अतः इस बीमारी को उग्र रूप धारण करने से पहले ही जैसे ही इसके लक्षण दिखाई दे, दबा देना चाहिये। यह एक ज्वालामुखी होता है, अतः इसके फटने का धमाका होने से पूर्व ही इससे रक्षा कर लेनी चाहिए। राजा को वह ईश्वर का दूत मानता था और इस ईश्वर के प्रतिनिधि को जनता के भाग्य निपटारे का हर अधिकार प्राप्त होता है एवं वह जनता के प्रति कभी भी उत्तरदायी नहीं होता। इन सिद्धान्तों का वह मन से समर्थक था एवं अपने जीवनपर्यन्त इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाया। नेपोलियन की वाटरलू पराजय के बाद मेटरनिख यूरोप की राजनीति का सर्वेसर्वा बन गया। उसने यूरोपीय राजनीति में इतनी प्रमुख भूमिका निभाई कि 1815 से 1848 तक के यूरोपीय इतिहास का काल 'मेटरनिख युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

मेटरनिख एक महान राजनयज्ञ था। वह असाधारण प्रतिभा का धनी था। नेपोलियन सेनापति को पराजित करने में आस्ट्रिया (आस्ट्रिया या हंगरी) ने महत्वपूर्ण भाग लिया था, अतः यूरोप से पुनर्निर्माण के मामलों को तय करने के लिए 1815 में वियना में यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ था और आष्ट्रीयन चांसलर मेटरनिख ने अपनी विलक्षण राजनयिक प्रतिभा से सबसे प्रभावित किया था। यह मेटरनिख ही था जिससे आस्ट्रिया को इतना शक्तिशाली बना दिया था कि यूरोप में पुनः उसका वर्चस्व स्थापित हो गया। आस्ट्रिया-हंगरी पर 1792 से 1835 तक फ्रांसिस प्रथम और 1835 से 1848 तक फर्डिनेण्ड प्रथम ने राज्य किया। सम्पूर्ण योरोप में आस्ट्रिया ही एक ऐसा राज्य था जिस पर 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। साम्राज्य भर में विशेषाधिकारयुक्त कुलीनी और पादरियों का शासन एकदम रिन्कुश रहा। किसी प्रकार के उदार विचारों का प्रचार नहीं हो सकता था।

जहाँ नेपोलियन का युग अस्त्र-शस्त्र का युग था वहाँ मेटरनिख का राज्य या मंत्री का युग था। मेटरनिख अपने युग का सबसे प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ था। नेपोलियन के पतन और यूरोपियन व्यवस्था के संगठन में उसका प्रमुख हाथ था। उस युग के लगभग सभी शासक मेटरनिख के प्रभाव में थे। मध्य और पूर्वी यूरोप राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधान मेटरनिख की नीति के अनुसार ही चलते थे। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली उसकी ही छत्रछाया में थे। वास्तव में जिस तरह नेपोलियन ने सम्पूर्ण यूरोप पर 15 वर्ष तक अपनी धाम जमाए रखी, उसी तरह मेटरनिख भी लगभग 40 साल तक यूरोप की राजनीतिक प्रगति पर अपना नियन्त्रण रखे रहा। वह बड़ा ही अहंकारी व्यक्ति था जिसकी धारणा थी कि संसार का क्रम उसी के सहारे चल रहा है। वह कहा करता था—“मेरी स्थिति में वह विलक्षण बात है कि जहां भी मैं होता हूँ सबकी आशाएं, सबकी आखें वहीं लगी रहती हैं। क्या कारण है कि असंख्य लोगों में केवल मैं ही विचार करता हूँ जबकि अन्य व्यक्ति कुछ नहीं सोचते; केवल मैं ही कार्य करता हूँ जबकि अन्य लोग कुछ भी नहीं करते; और मैं ही लिखता हूँ क्योंकि दूसरे इस योग्य नहीं हैं।” मेटरनिख का विश्वास था कि उसकी मृत्यु होने पर उसके रिक्त स्थान की पूर्ति कभी नहीं की जा सकेगी।

मेटरनिख क्रान्तिकारी भावनाओं का कट्टर शत्रु था। फ्रांस की क्रान्ति के दो महत्वपूर्ण सिद्धान्तों, राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र, को वह बहुत भयानक रोग समझता था। वह कहा करता था कि क्रान्ति के भयंकर रोग को शीघ्र ही रोकना चाहिए, अन्यथा वह अत्यन्त शीघ्रता से फैल कर भीषण रूप धारण कर लेगा जिससे सम्पूर्ण यूरोप नष्ट हो जायेगा।

मेटरनिख प्रायः कहा करता था—“क्रान्ति एक भयानक और विशाल दैत्य की भांति है जो समस्त यूरोप की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को निगल सकती है।” मेटरनिख की दृष्टि में, “क्रान्ति ऐ सड़े हुए दुर्गन्धयुक्त मांस के टुकड़े के समान थी जिसको भस्म करने के लिए एक अत्यन्त गरम और लाल लोहे की आवश्यकता होती है।” मेटरनिख को क्रान्ति से अत्यन्त चिढ़ थी। उसका राजनय इस दिशा में था कि सम्पूर्ण यूरोप में क्रान्ति से पूर्व की स्थिति पुनः उत्पन्न करके पुरातन राजनीतिक व्यवस्था की जायें

मेटरनिख आस्ट्रिया साम्राज्य की सुरक्षा करना अपना पवित्र कर्तव्य समझता था। यह तभी सम्भव था जब फ्रांसीसी क्रान्ति द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को कुचल दिया जाये। मेटरनिख जानता था कि आस्ट्रिया का साम्राज्य अनेक जातियों का जमघट है और ऐसे साम्राज्य का शासन राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं चलाया जा सकता। उसे यह कभी बर्दाश्त नहीं था कि सर्वसाधारण जनता राजनीतिक अधिकार प्राप्त करे और देशके शासन-संचालन में लाग ले, अतः आस्ट्रियन साम्राज्य की क्रान्ति की लहरों से बचाने के लिए मेटरनिख ने एक ऐसी पद्धति का सूत्रपात किया जिसे ‘मेटरनिख पद्धति (System of Metternich)’ कहा जाता है। मेटरनिख ने अपनी नीति को सफल बनाने के लिए शक्ति का नहीं वरन् राजनयिक और राजनीतिक दबाव का सहारा लिया उसकी यह प्रणाली तत्कालीन यूरोपीय व्यवस्था से भिन्न थी, इसलिए उसकी नीति को उसके नाम पर ‘मेटरनिख प्रणाली’ का नाम दिया गया। इस मेटरनिख प्रणाली के दो स्पष्ट रूप थे—

- (i) आस्ट्रिया में एक ऐसी व्यवस्था कायम की जाए जिसमें क्रान्ति के विचारों का प्रचार असम्भव हो जाये। चूंकि जर्मनी और इटली पर आस्ट्रिया का प्रभाव था, अतः वहां भी क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार रोका जायें
- (ii) यूरोप के किसी भाग में क्रान्ति के सिद्धान्तों का प्रचार न हो। प्रगतिशाली प्रवृत्तियां कहीं भी सिर उठाये तो उन्हें कुचल दिया जाये। इस उद्देश्य की लिए मेटरनिख ने वियना-कांग्रेस में यूरोपीय व्यवस्था की स्थापना कराई। वास्तव में यह व्यवस्था मेटरनिख पद्धति का एक अभिन्न अंग थी।

मेटरनिख ने अपने प्रधानमन्त्रितत्व-काल में प्रतिक्रिया और अनुदारीता का अनुकरण करने की नीति अपनाई और उसके प्रभाव के कारण आस्ट्रिया का साम्राज्य यूरोप में अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया। अपनी नीति की व्याख्या करते हुए उसने एक बार इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री पामस्टन को लिखा था कि “हम विरोधात्मक नीति इसलिए अपना रहे हैं कि हमें दमनकारी नीति अपनाने के लिए बेबस न होना पड़े। हमारी यही निश्चित धारणा है कि सुधार की मांगों को स्वीकार करना राज्य के लिए घातक होगा।”

मेटरनिख का विश्वास था कि गृह-नीति और विदेश-नीति को पथक्-पथक् नहीं देखा जा सकता। एकदेश की घटनाओं का दूसरे देशों पर प्रभाव पड़ता है। अतः किसी देश में घटित घटनाओं को कोई देश दर्शक की भांति नहीं देख सकता। उसको दबाने के लिए राज्यों को सम्मिलित रूप से हस्तक्षेप करना चाहिये।

सर्वप्रथम मेटरनिख ने अपनी व्यवस्था को अपने ही देश में लागू किया। 1815 से 1818 तक वह आस्ट्रिया का सर्वशक्तिशाली प्रधानमन्त्री रहा। इस अवधि में आस्ट्रिया में दो सम्राट हुए—प्रथम फ्रांसिस (1835 ई० तक) और फर्डिनेण्ड प्रथम (1835 ई० से 1848 तक)। दोनों सम्राटों को उसने एक ही नीति का पालन करने का परामर्श दिया, वह थी ‘यथास्थिति’ (Statusquo) बनाए रखने की नीति। इसके अतिरिक्त उसने आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य में उदार विचारों का दमन और कठोर नियन्त्रण की भी नीति अपनाई। मेटरनिख एक बहुत स्वार्थी राजनेता था। आस्ट्रिया में यह सम्भव था कि प्रतिक्रिया के शिकंजे को खूब मजबूत कर दिया जाये, लेकिन साम्राज्य के बाहर भी नवीन और उदार विचारों के प्रचार को रोकना अत्यन्त आवश्यक था। साथ ही यूरोप में आस्ट्रिया नेतृत्व करे, यह भी मेटरनिख की अभिलाषा थी।

मेटरनिख नेपोलियन की बढ़ती हुई शक्ति से परिचित था। उसने एक बार कहा था, “अगर फ्रांस को जुकान हो जाता है तो पूरा यूरोप छींकने लगता है।” साथ ही वह यह भी जानता था कि रूस का जार भी आस्ट्रिया का शत्रु है, अतः उसने ऐसी नीति अपनाई कि नेपोलियन और रूस परस्पर लड़कर नष्ट हो जायें ताकि आस्ट्रिया यूरोप का शक्तिशाली राज्य बना रहे। मेटरनिख ने नेपोलियन को हराने के लिए रूस को आगे किया और स्वयं गुप्त रूप से रूस के शासक के विरुद्ध योजनाएं बनाता रहा। नेपोलियन ने जब 1812 में रूस पर हमला किया तो मेटरनिख ने रूस के जार को विश्वास दिलाया था कि वह किसी भी ओर से युद्ध में सक्रिय भाग नहीं लेगा, पर दूसरी ओर उसने नेपोलियन की सहायता के लिए सेना तैयार रखी। वस्तुतः मेटरनिख उसी की सहायता के लिए तैयार था जिससे आस्ट्रिया को लाभ हो। इसलिए उसने आस्ट्रिया की सेना को सदैव इस दृष्टि से तैयार रखा था कि वह विजयी

दल का साथ दे सके। लियजिग के युद्ध में उसने मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया और नेपोलियन को पराजित करने के लिए मुख्य भाग लिया। अपनी दोहरी नीति और दूसरी ओर विजय का यश रूस को नहीं मिलने दिया। इसलिए वियना कांग्रेस में सब राष्ट्र मेटरनिख की मैत्री के आकांक्षी थे।

नेपोलियन प्रथम के बाद यूरोप में कोई भी राजनीतिज्ञ ऐसा नहीं था जो मेटरनिख की बराबर कर सकता। अतः वियना कांग्रेस में आस्ट्रिया के गौरव को बढ़ाया। आस्ट्रिया का यह चांसलर वियना कांग्रेस का सभापति बना। वियना कांग्रेस के निर्णयों पर मेटरनिख का सबसे अधिक प्रभाव रहा। नेपोलियन पराभव के बाद भी उसके सिद्धान्तों को भय बना हुआ था। मेटरनिख समझता था कि यदि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों का बोलबाला रहा तो आस्ट्रिया भी उनसे प्रभावित हो सकता है। अतः इसके सम्भावित प्रसार को रोकने के लिए उसने वियना कांग्रेस में सक्रिय भूमिका निभई। निरंकुशता और न्याय्यता (Legitimacy) के सिद्धान्त पर बल देते हुए भी उसने यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन पर ध्यान रखा तथा ऐस नीति अपनाई कि सभी बड़े राष्ट्रों के स्वार्थों की यथासम्भव पूर्ति हो सके। मेटरनिख समझता था कि बड़े राष्ट्रों में एकता बनाए रखने का यही मार्ग है। ये मेटरनिख की ही कूटनीति थी कि फ्रांस की शक्ति अच्छी तरह सीमित कर दी गई और आस्ट्रिया तथा फ्रांस के बीच ऐसी व्यवस्था की गई कि फ्रांस के क्रान्तिकारी विचार आस्ट्रिया में न घुस सकें। मेटरनिख की कूटनीति का ही यह जादू था कि आस्ट्रिया को लाम्बार्डी, वेनिस और बाबसिया मिल गए। यूरोप के अनेक राज्यों की सीमाएं पूर्ववत् रहीं। प्राचीन राजवंशों की पुनर्स्थापना की तथा क्षतिग्रस्त राज्यों की क्षतिपूर्ति की व्यवस्था कराई। रूस के जार और प्रशा के राजा पर उसका जादू छाया रहा। उसने जर्मन राज्य का संगठन किया, किन्तु सब का प्रधान आस्ट्रिया के राजा को बनाया गया। वास्तव में वियना कांग्रेस के उद्देश्य और निर्णय अधिकांशतः मेटरनिख की बुद्धि की उपज थे।

वियना कांग्रेस के निर्णयों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए मेटरनिख ने संयुक्त व्यवस्था की स्थापना की। चतुर्मुखी मैत्री को कार्यरूप में परिणत कर दिखाना मेटरनिख की ही अद्भुत क्षमता थी। संयुक्त व्यवस्था के रूप में उसने एक ऐसे 'फायर ब्रिगेड' का निर्माण करना चाहा था जो यूरोप में सर्वत्र क्रान्ति की ज्वालाओं को बुझा दे। इस व्यवस्था के माध्यम से मेटरनिख ने नेपोलियन के युद्धों से जर्जरित यूरोप को शान्ति प्रदान करने की चेष्टा की। यह दूसरी बात है कि उसकी नीति से जो परिवर्तन हुए वे स्थायी न रह सके क्योंकि उनमें उदार और राष्ट्रीय भावनाओं का अभाव था। फिर भी उसे यूरोप में 30 वर्ष तक शान्ति बनाए रखने में सफलता मिली।

नेपोलियन के युद्धों ने जर्मनी क्षत-विक्षत हो गया था; फिर भी वियना कांग्रेस में उसने अपने समर्थकों की सहायता में जर्मनी में 39 राज्यों का एक संघ स्थापित किया। आस्ट्रियन सम्राट इसका अध्यक्ष बना। इसके साथ ही राज्य-संघ में एक संसद (Diet) की स्थापना की गई जिसमें जर्मनी के सभी राजाओं द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि भाग ले सकते थे। यह व्यवस्था मेटरनिख ने इस व्यवस्था की सहायता से प्रजातन्त्र के समर्थकों को कठोर दण्ड दिलवाकर उनकी भावनाओं को कुचल दिया। उसने 1819 में संसद का अधिवेशन बुलाकर अपनी इच्छानुकूल दमनकारी कानमन पारित कराके उन्हें सम्पूर्ण जर्मनी में लागू करा दिया। इन कठोर निर्देशों के कारण 1818 से 1849 तक जर्मनी में राजनीतिक सन्नाटा छाया रहा। मेटरनिख के भय से जर्मनी के कुछ राज्यों के अतिरिक्त किसी भी राज्य में संविधानिक शासन स्थापित न हो सका। मेटरनिख की दमनकारी नीति और कूटनीतिक चालों से जर्मनी में उपद्रव व आन्दोलन तो शान्त हो गये, लेकिन जर्मन जनता आस्ट्रिया से घणा करने लगी।

मेटरनिख की दमनकारी नीति से जनता ऊपर से शान्त हो गई लेकिन भीतर-ही-भीतर क्रान्ति की आग सुलगती रही। प्रशा जर्मनी का एक शक्तिशाली राज्य था जो व्यापार और कला-कौशल के क्षेत्र में आगे बढ़ा हुआ था। वहाँ मेटरनिख की दमनकारी नीति का प्रयोग विशेष फलदायक नहीं हो सका।

नेपोलियन की पराजय के बाद 1815 की वियना कांग्रेस ने इटली को फिर छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया। अब वहाँ मेटरनिख की क्रूर, स्वेच्छाचारी भावनाओं को कठोरतापूर्वक कुचला जाने लगा। पिंडमौण्ट और नेपल्स में विद्रोह हुए, किन्तु मेटरनिख ने रूस और प्रशा को अपनी ओर मिला लिया और ट्रौपो-सम्मेलन से अनुमति प्राप्त करके विद्रोहों को क्रूरतापूर्वक दबा दिया। क्रान्तिकारियों का दमन करके उसने पुनः निरंकुश शासन स्थापित किया; लेकिन क्रान्तिकारियों की कारबोनरी नामक गुप्त समिति अपना कार्य गुप्त रूप से करती रही। अवसर मिलने पर मोडना टस्कनी, बोल्गाना आदि से भयंकर विद्रोह हुए। इटली के अन्य भागों में मेटरनिख के प्रभाव के कारण शान्ति बनी रही। शनैः शनैः दमन-नीति के कारण आस्ट्रिया का शासन इटलीवासियों के लिए असह्य हो गया, अतः आस्ट्रियन फौजों की वहाँ से निकलने के लिए आन्दोलन हुआ जिसे अन्ततः मेटरनिख दबा न सका।

स्पेन में भी मेटरनिख राजनय का खेल राष्ट्रवादी भावना को कुलचने का रही। यूनानियों के स्वातन्त्र आन्दोलन के विरुद्ध भी मेटरनिख का घोर प्रतिक्रियावादी रूख रहा। मेटरनिख के प्रभाव में आकार ही जार ने यूनानियों की सहायता नहीं की। यूरोप के दूसरे राज्यों ने भी यूनानी जनता को उनके स्वतन्त्रता-संग्राम में मदद नहीं दी। मेटरनिख ने "उपद्रव को चाजिये कि वह अपने को सभ्यता के दायरे से बाहर कर भस्म कर ले।" प्रारम्भ में रूस का जार एलेक्जेंडर उदार विचारों से प्रभावित था, किन्तु 1815 के बाद वह क्रमशः



मेटरनिख के प्रभाव में आता गया और ट्रीपो सम्मेलन के समय उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि वह मेटरनिख का अनुयायी है। नेपोलियन को हराने में बड़े राष्ट्रों का जो सहयोग रहा था, उसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड के कैसलरे और आस्ट्रिया के मेटरनिख वियना सम्मेलन में सहयोगी रहे; अतः यूरोप में 'यथास्थिति' बनाए रखने के लिए चतुर्मुखी मैत्री अस्तित्व में आई, किन्तु जहां मेटरनिख से संयुक्त व्यवस्था के सम्मेलनों में 'हस्तक्षेप के सिद्धान्त' की वकालत की वहाँ इंग्लैण्ड ने 'निर्हस्तक्षेप' के सिद्धान्त पर बल दिया।

मेटरनिख अपने सम्पूर्ण प्रधान-मन्त्रित्वकाल में घोर प्रतिक्रियावादी बना रहा। उसने स्वयं को राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र का कट्टर शत्रु सिद्ध किया। क्रान्तियों को कुलचने के लिए और प्रगतिशील प्रवृत्तियों के दमन के लिए उसने यूरोप के देशों के आन्तरिक मामलों में खुलकर भाग लिया। लगभग 33 वर्ष तक वह सम्पूर्ण यूरोप में पुलिसमैन (Policeman) का कार्य करता रहा। जहाँ कहीं क्रान्ति हुई वह तुरन्त डण्डा लेकर पहुंच गया और क्रान्ति एवं नव-चेतना को पूरी तरह दबा कर ही वहाँ से लौटा। रूस का जार एलेक्जेंडर प्रथम और प्रशा का सम्राट फ्रेड्रिक आरम्भ से उदार मनोवृत्ति के शासक थे, किन्तु मेटरनिख के प्रभाव में आकार ये शासक भी उसी की भाँति अनुदार हो गये।

1815 से 1848 तक मेटरनिख क्रान्ति के तत्वों का दमन करता रहा, परन्तु 1848 की क्रान्ति ने उसकी जड़ें हिला दीं। 1848 की क्रान्ति का समाचार सुनकर उसने कहा था—“मैं एक पुराना हकीम हूँ। मैं भली प्रकार जानता हूँ कि साध्य और असाध्य रोग में क्या अन्तर है? यह रोग प्राणरू-घातक है।” उसका कथन ठीक ही था। मार्च, 1848 में आस्ट्रिया की राजधानी वियना की सड़कें 'मेटरनिख का नाश हो' के नारों से गूँजने लगी। आस्ट्रिया के सम्राट ने घबराकर मेटरनिख को पदच्युत कर दिया। उसे जान बचाने के लिए इंग्लैण्ड भाग जाना पड़ा। इस प्रकार निरंकुश राजसत्ताधारी मेटरनिख युग की समाप्ति हो गई और मेटरनिख युग की समाप्ति के साथ ही यूरोपीय इतिहास का एक युग भी समाप्त हो गया।

मेटरनिख को चाहे अन्त में करुणाजनक पतन का शिकार होना पड़ा, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह तत्कालीन यूरोप का महानतम राजनीतिज्ञ था। उसके पतन के साथ ही यूरोपीय इतिहास का वह युग समाप्त हो गया जो वियना कांग्रेस के साथ ही प्रारम्भ हुआ था। यूरोपीय इतिहास का यह युग 'मेटरनिख युग' के नाम से जाना जाता है। इस सम्पूर्ण समय में मेटरनिख केवल आस्ट्रिया पर ही नहीं, वरन् समस्त यूरोप पर छाया रहा।

मेटरनिख ने सबसे पहले बड़ा काम यह किया कि उसने एक लम्बे अरसे तक यूरोप को शान्ति दी। नेपोलियन के युद्धों से लहलुहान यूरोप को आराम और शान्ति को बड़ी जरूरत थी। मेटरनिख ने अपने कार्यकाल में इस बात की भरसक कोशिश की कि यूरोप में शान्ति बनी रहे। सन् 1815 ई० के बाद 40 वर्षों तक यूरोप में जो शान्ति कायम रही, उसका श्रेय सही अर्थ में मेटरनिख को ही दिया जा सकता है, चाहे यह शान्ति बहुत महंगी पड़ी हो। मेटरनिख अपने समय का महान् कूटनीतिज्ञ था। वह अपने समय में यूरोपीय राजनीति का केन्द्र था। पर प्रतिक्रियावादी और प्रगतिवादी शक्तियों के संघर्ष में प्रगतिवादी शक्तियों का, विजयी होना स्वाभाविक और निश्चित था। इसीलिए मेटरनिख का पतन हुआ। फिर भी 1815 ई० से 1848 ई० तक वह प्रतिक्रियावादी शक्तियों का आधार-स्तम्भ रहा। उसके पतन के बाद ही प्रतिक्रियावाद का महल ढह सका। मेटरनिख ने एक बार विश्यात कवि हीसिअड की तरह अपनी अवस्था पर दुःख प्रकट करते हुए कहा था—“मैं इस संसार में या तो बहुत जल्दी या बहुत देर से आया हूँ क्योंकि जब मैं बूढ़ा होता जा रहा हूँ तो संसार का यौवन खिलता जा रहा है। यदि पहले से आया होता तो युग का आनन्द लेता और यदि देर से आया जोता तो उसके निर्माण में सहायक होता।”

मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति अन्त में न तो आस्ट्रिया के हित में ही रही और न यूरोप के अन्य निरंकुश शासकों के हित में ही। यद्यपि वह आस्ट्रिया में निरंकुश राजतन्त्र बनाये रखने में सफल हुआ, पर उसकी नीति से आस्ट्रिया को बड़ी हानि पहुंची। उसकी नीति के फलस्वरूप आस्ट्रिया यूरोप का एक पिछड़ा देश रह गया। सभ्यता के किसी भी क्षेत्र में वह प्रगति न कर सका। इसके विपरीत मध्य यूरोप में प्रशा प्रगति करता रहा। उन्नति, प्रगति और विकास की दौड़ में आस्ट्रिया इतनी बुरी तरह पिछड़ गया कि मेटरनिख के पतन के बाद यूरोप का नेतृत्व प्रशा के हाथ में आ गया। 1866 ई० में आस्ट्रिया को प्रशा के हाथों पराजित होना पड़ा और जर्मनी छोड़ देना पड़ा। यदि मेटरनिख थोड़ा भी उदारवादी होता तो सम्भवतः आस्ट्रिया को ऐसे दुर्दिन न देखने पड़ते।

फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि मेटरनिख आस्ट्रिया का चांसलर था, अतः यह आवश्यक था कि उसकी नीति आस्ट्रिया के हितों के अनुकूल हो। आस्ट्रियन साम्राज्य का कायम रखना उसका कर्तव्य था। आस्ट्रियन साम्राज्य विभिन्न जातियों का जमघट था और यदि मेटरनिख राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को अपनाता तो इसका अर्थ साम्राज्य के विनाश को निमन्त्रण देना होता। अतः नवीन भावनाओं को कुलचना स्वाभाविक था। यदि मेटरनिख की जगह कोई अन्य व्यक्ति होता तो वह भी सम्भवतः मेटरनिख के पद-चिन्हों पर ही चलता। मेटरनिख का मूल्यांकन करते हुए प्रो० फिशर ने लिखा है—“मेटरनिख प्रणाली से आस्ट्रियन शासकों को एक पीढ़ी का यश प्राप्त हुआ। इन लोगों को उन दिनों युद्ध की कठिनाईयों का ही ज्ञान था। मेटरनिख में एक महान् राजनीतिक नेता के अनेक गुण थे।

वह तीव्र और आकर्षक बुद्धि का धनी, शान्त-चित्त, गहरी सूझ-बूझ और देशभक्त था। अपने देश के मुक्तिदाता तथा नवीन यूरोप के निर्माता के रूप में उसका भारी सम्मान था। जर्मन भाषा-भाषी देशों को तो उसमें असीम विश्वास था। निरंकुश और स्वेच्छाचारी राजाओं के सम्मेलनों का वही संचालन करता था। अतः सन् 1815 से 1848 की अवधि को यदि 'मेटरनिख युग' कहा जाता है तो ठीक ही है। पर यह महान् योग्य सामन्त, जिसका चरित्र इतना हीन, जिसके सिद्धान्त अत्यन्त कठोर और जिसका प्रभाव इतना सुविस्तृत था, एक बहुत बड़ी मानसिक दुर्बलता का शिकार था। उसने 'क्रान्ति' और 'स्वेच्छाचारी शासन' इन दो प्रणालियों के बीच कोई मार्ग खोजने की कोशिश नहीं की। चूंकि क्रान्ति से उसे अत्यन्त घणा थी, अतः उसने इस भावना का, जिसे समाज में मानवतापूर्ण जीवन की आत्मा अथवा स्वतन्त्रता का प्राण माना जा सकता है, दमन करने का बीड़ा उठाया।"

### कैवूर (Cavour)

इटली के एकीकरण का प्रथम चरण 1861 में पूरा हुआ जिसका नेतृत्व कैवूर ने किया। कैवूर का जन्म 1810 में पिडमोंट की एक रियासत में हुआ था। 1850 में कैवूर कृषि, व्यापार तथा नौ-शक्ति का मंत्री बना। उसका विश्वास था कि इटली के एकीकरण के लिए आर्थिक उन्नति तथा सैनिक शक्ति आवश्यक थी। उसकी यह भी धारणा थी कि जब तक विदेशी सहायता प्राप्त न होगी, तब तक इटली स्वतन्त्र नहीं हो सकता। राजनीति और शक्ति, दोनों ही, आस्ट्रिया को इटली से निकालने के लिए अनिवार्य थे। कैवूर आदर्शवादी तथा स्वप्नदर्शी नहीं था। कैवूर यथार्थवाद तथा शक्ति सिद्धान्त में आस्था रखता था। 1848-49 के आंदोलन से जनता के सहयोग का युग प्रारम्भ हुआ। प्रजातंत्रात्मक आंदोलन आस्ट्रिया, रूस तथा प्रशा की निरंकुश शक्तियों के सम्मुख यूरोप में असफल रहा। इसी से सैनिक शक्ति के महत्व का पता लग चुका था।

1850 तक कैवूर ने पीडमोंट में अनेक सुधार किए। आर्थिक परिवर्तनों का स्वरूप दिखाई देने लगा। रेल लाइनों का प्रसार तीव्र गति से इटली में हो रहा था। इटली के एकीकरण के इतिहास में पीडमोंट तथा सेवायें बहुत अच्छी सैनिक स्थिति में थे। 1849 से 1861 तक इटली का सबसे महान् राजनीतिज्ञ कैवूर था। वह एक पक्का उदारवादी था जो संविधानिक स्वतंत्रता में विश्वास रखता था। उसे मालूम था कि इटली के एकीकरण का नेतृत्व पीडमोंट को ही करना पड़ेगा, और उस नेतृत्व के लिए पीडमोंट का शक्तिशाली होना दो कारणों से बहुत अनिवार्य था। एक तो पीडमोंट बिना आस्ट्रिया से युद्ध लड़े, इटली कभी स्वाधीन तथा संगठित नहीं होसकता था। दूसरे पीडमोंट के आर्थिक रूप से सम्पन्न होने पर ही वह प्रजातंत्र के विरुद्ध लड़ पाएगा तथा इटली के अन्य राज्यों के समक्ष उदाहरण बनकर यह प्रमाणित कर सकेगा कि निर्माण के लिए राजतंत्र उस समय भी सबसे उपयुक्त माध्यम था, जिसके द्वारा पीडमोंट के सांविधानिक सीमित राजतंत्र के अधीन इटली का एकीकरण हो सकेगा और वह स्वतन्त्र हो सकेगा।

कैवूर ने शिक्षा इंजीनियरी (Engineering) में ली थी। व्यवसाय पत्रकार का अपनाया था और जीवन दिशा राजनीति में विलीन हो गई। इसलिए, हर समस्या पर वह एक तकनीकी विशेषज्ञ की भांति विचार करता था। राजनीति में यह गुण बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। उसमें धैर्य भी बहुत था।

1850 से ही उसने पीडमोंट का आधुनिक आधार पर निर्माण प्रारंभ कर दिया। कृषि उद्योग तथा वित्तीय निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। कैवूर ने वैज्ञानिक तरीकों तथा यंत्रिकरण द्वारा 1850 से पहले ही कृषि का विकास किया। वह उसके महत्व को समझता था क्योंकि इटली मूल रूप से कृषक देश था। कैवूर ने फ्रांस, इंग्लैण्ड और स्विट्जरलैण्ड की यात्राओं के द्वारा यूरोपीय परिस्थितियों का बहुत निकट से अध्ययन किया था। यह संसदीय प्रशासन का पक्का समर्थक था। उसकी पक्की धारणा थी कि आर्थिक विकास की सीढ़ी रेलवे, फैक्ट्रियों, बैंक आयात-निर्यात, उद्योगीकरा इत्यादि ही थी। इसलिए मंत्री बनते ही कैवूर ने बेल्जियम, फ्रांस और इंग्लैण्ड के साथ अनेक व्यापारिक संधियां की। उसने पीडमोंट की अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए, आंतरिक तथा विदेशी ऋण लिया। 1852 में प्रधानमंत्री बनते ही उसने पीडमोंट में सड़कों, रेलों, बंदरगाहों तथा गोदियों का सुधार और प्रसार किया। पीडमोंट में उसके नेतृत्व में अनेक सामाजिक तथा आर्थिक कानून बनाये गये। सहकारी समितियों, बैंको, ऋण सम्बन्धी कानूनों, नागरिक, प्रशासन, व्यापारिक निगमों में तथा सेना में अनेक सुधार किए गए। पीडमोंट की तुलना में शेष इटली बहुत पिछड़ा हुआ था। क्रीमिया के युद्ध के पश्चात् तो कैवूर ने 1859 तक 3 वर्ष पीडमोंट के विकास पर लगाये क्योंकि युद्ध लड़ने से पहले वह पूर्ण रूप से केवल आत्मनिर्भर ही नहीं हो जाना चाहता था बल्कि यह चाहता था कि यदि असफलता ही हाथ लगे तो आर्थिक कारणों से कभी न हों पीडमोंट और फ्रांस को रेलों के द्वारा जोड़ दिया गया। जेनोआ को व्यापारिक बंदरगाह के रूप में विकसित किया गया।

इस प्रकार 1861 में इटली के एकीकरण का पहला चरण समाप्त हो गया जिसका निरंतर निर्माण कैवूर ने पीडमोंट की अर्थव्यवस्था की आधारशिला पर किया। इसलिए कैवूर को उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य का एक सबसे महान् निर्माता, कूटनीतिज्ञ और राजनीतिज्ञ समझा जाता था।

पीडमोंट की तुलना में, इटली का शेष भाग पिछड़ा हुआ था। ऑस्ट्रियाई इटली, पोप के राज्य, दक्षिणी नेपल्स राज्य आदि की

आर्थिक परिस्थितियों के कारण समाज पिछड़ा हुआ था। इसी पिछड़ेपन के कारण जब एक ओर एकता की भावना का उदय हो रहा था तो दूसरी ओर इटली में पथकतावाद, घटकवाद तथा प्रांतीयता का बोलबाला था। यह अंतर उत्तर और दक्षिण इटली में विशेषकर विद्यमान था। इटली मौलिक रूप से पोप के कारण तीन वर्गों में बंट गया था—उत्तरी, मध्य तथा दक्षिण इटली। मध्य इटली में पोप की शक्ति इस देश की राजनीतिक, भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक एकता में बाधा थी।

कैवूर को मालूम था कि वह ऐसे इटली का एकीकरण पीडमां के नेतृत्व में कर रहा था। वह जानता था कि यह भार बहुत अधिक होगा। वह एकीकरण के साथ, एकीकरण के पश्चात् की समस्याओं से कहीं अधिक चिंतित था। कैवूर भी बिस्मार्क की तरह यथार्थवाद की राजनीति में विश्वास रखता था। वह भी राजनीति व नैतिकता में कोई सम्बन्ध नहीं मानता था। राज्य की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही वह किसी भी माध्यम और नीति को अपना सकता था बशर्ते उससे राज्य का हित हो। वह राजनीति में हिंसा का प्रयोग एक अनिवार्य शस्त्र मानता था। इस प्रकार कैवूर की गहनीति उदारवाद पर और विदेश नीति युद्ध तथा सैन्यवाद पर आधारित थी। यही कारण है कि उसके समय में पीडमां का नागरिक, सैन्यवाद को उदारवाद का शत्रु नहीं मानता था, इसी कारण चार्ल्स एलबर्ट तथा मैजोनी में मेल न हो सका। 1848-49 की क्रान्ति के असफल होने के परिणामस्वरूप यही परिवर्तन आया था। 1848 के पश्चात् इटली का नागरिक तथा राजनीतिज्ञ यथार्थवाद के यनिकट था और अपनी आस्था 1848 के पहले के स्वच्छंदतावाद (Romanticism) आदर्शवाद में हो चुका था। आर्थिक परिवर्तन तथा औद्योगिक क्रान्ति भी इस दृष्टिकोण के तथा प्रजातंत्र—परिवर्तन के सबसे बड़े कारण थे। इसी कारण से उन्हें मैजोनी, पोप पायस नवम्, तथा जिमोवर्ती का नेतृत्व मान्य नहीं था। इस प्रकार के संघर्ष का अभी समाधान नहीं हुआ था। केवल कुछ काल के लिए एकीकरण के प्रश्न पर उदारवाद तथा सैन्यवाद में समझौता, राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर हो गया था।

1853 में कैवूर क्रीमिया के युद्ध का बड़ी रुचि से अध्ययन कर रहा था। 1855 में कैवूर ने अपनी सेनाएं इंग्लैण्ड तथा फ्रांस की सहायता के लिए भेजीं। कैवूर का विचार था कि क्रीमिया युद्ध के पश्चात्, विजेता राष्ट्र, इटली के प्रश्न पर विचार करेंगे। परन्तु इंग्लैण्ड तथा नेपोलियन तृतीय ने केवल इटलीवासियों की ओर सहानुभूति का ही दर्शन किया। इटली का नेपोलियन तृतीय से सहायता प्राप्त होने का स्वप्न टूट गया। नेपोलियन तृतीय को इटली की सहायता करने के लिए इससे अच्छा समय नहीं मिल सकता था क्योंकि—

- (1) ऑस्ट्रिया को रूस से सहायता कभी नहीं मिल सकती थी क्योंकि क्रीमिया में ऑस्ट्रिया ने विजेता राष्ट्रों का साथ दिया था।
- (2) विजेता राष्ट्र ऑस्ट्रिया से सहायता प्राप्त करने पर भी उससे प्रसन्न नहीं थे क्योंकि ऑस्ट्रिया सहायता देने के पहले दोनों पलडों की भावी सफलता को भाँप रहा था।
- (3) पोप के संरक्षक ऑस्ट्रिया तथा फ्रांस ही थे, जो अब संभवतः सहायता नहीं दे सकते थे।
- (4) इंग्लैण्ड भी नेपोलियन तृतीय की सहायता का विरोध नहीं करेगा।
- (5) विजेता राष्ट्र इटली की सैनिक सहायता के लिए कृतज्ञ थे और उसे सहायता देकर ही अपना आभार प्रकट कर सकते थे।

कैवूर ने बहुत चेष्टा की कि इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों में से कोई तो पीडमां का साथ दे। उसका तो विश्वास था कि क्रीमिया की कीचड़ में इटली का निर्माण होगा और इंग्लैण्ड से सहायता की अधिक आशा थी। परन्तु पामस्टन सहानुभूति से अधिक कुछ न दे सका। पर यह विचार ठीक नहीं है। नेपोलियन तृतीय ने 1859 में जब पीडमां की सहायता की तो इंग्लैण्ड ने विरोध भी नहीं किया। फ्रांस द्वारा सहायता इंग्लैण्ड की मूल नीति 'शक्ति संतुलन' के विरुद्ध थी और संयुक्त इटली के निर्माण से भूमध्यसागर में इंग्लैण्ड के लए भय और दायित्व बढ़ना था। यह क्रीमिया ही ही देन थी कि इंग्लैण्ड ने फिर भी फ्रांस द्वारा इटली की सहायता दिये जाने का विरोध नहीं किया। दूसरे, सैनिक विजय ने कस्टोजा तथा नोबारा के युद्धों के कलंक को धो दिया तथा इटली को अपनी सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए क्रीमिया प्रयोग—स्थल के रूप में मिला था। इटली की जनता और राजतंत्र, पीडमां की सफलता पर, साडीविंश पीडमां को अपना नेता मानने लगी। प्रजातंत्रवादी मैजोनी तथा पोप संघवादी नियोमता इत्यादि भी, कैवूर और पीडमां को, सच्चे देशभक्त की तरह, हर प्रकार की सहायता देने को तैयार हो गये। इस दृष्टि से इटली में पुनर्जागरण का कार्य चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया था। अब इटली का एकीकरण रुक नहीं सकता था, क्योंकि सिद्धान्त, नीति और नियम के स्थान पर बलिदान प्रमुख हो चुका था। तीसरे, पेरिस में विजेता प्रतिनिधि के साथ कैवूर ने भी पीडमां का प्रतिनिधित्व किया। इस प्रकार इटली को पीडमां के द्वारा यूरोपीय राजनीति में भाग लेने का अवसर मिला।

तत्कालीन फ्रांस से सहायता न मिलने पर भी, कैवूर पीडमां की शक्ति का निर्माण करता रहा, क्योंकि उसे ऑस्ट्रिया के विरुद्ध अवश्य लड़ना था। आर्सिनी नामक इटलीवासी द्वारा नेपोलियन तृतीय पर बम फेंकने के कारण, नेपोलियन ने अपनी भूल समझ ली। उसने अनुभव किया कि पीडमां को सहायता देकर एक ओर तो वह नेपोलियन बोनापार्ट की इटली के एकीकरण की आकांक्षा को दुबारा

पूर्ण करेगा तथा दूसरी ओर ऑस्ट्रिया को, रूस की हार के पश्चात् हराकर वह 1815 में फ्रांस पर लगे कलंक को धो सकेगा। 1858 की जुलाई में कैवूर तथा नेपोलियन तृतीय में प्लोवियर के स्थान पर गुप्त भेंट हुई। यहां दोनों में एक समझौता हुआ। इसकी तीन शर्तें थीं :-

- (1) विक्टर इमैनुअल द्वितीय की 15 वर्षीय पुत्री क्लोटिल्डे का विवाह नेपोलियन तृतीय के भाई जेरोम के साथ किया जायेगा।
- (2) फ्रांस और पीडमां दोनों ऑस्ट्रिया के विरुद्ध लड़ेंगे, पर फ्रांस सहायता उसी दशा में देगा जबकि ऑस्ट्रिया युद्ध घोषित करेगा।
- (3) युद्ध के परिणामस्वरूप लोम्बार्डी तथा वेनेशिया संयुक्त इटली के साथ मिला लिये जायेंगे। उत्तरी इटली के एकीकरण के लिए फ्रांस मान गया और यह भी मान गया कि टस्कनी, पारमा तथा मौडीना इत्यादि के राज्य और पोप का प्रदेश भी मताधिकार (Piebiscite) द्वारा संयुक्त इटली में शामिल होना चाहें तो फ्रांस विरोध नहीं करेगा। इन सभी सेवाओं के लिए पीडमां 'नीस तथा सेवाम्य' फ्रांस का उपहारस्वरूप देगा। इतिहासकार इसे उन्नीसवीं सदी का सबसे निंदनीय उपहारस्वरूप सौदा मानते हैं। यथार्थ में इस समझौते की शर्तें बहुत ही विलक्षण थीं।

प्रश्न यह उठता है कि कैवूर ने इसे स्वीकार ही क्यों किया? कैवूर 1848-49 की घटनाओं से तथा इटली की अपनी परिस्थितियों से शिक्षा ले चुका था कि 'मैजोरी का यह विचार कि इटली अकेला ही युद्ध जीत सकेगा, सार्थक नहीं है।' ऑस्ट्रिया ने 1856 के पैरिस के सम्मेलन में कैवूर को स्पष्ट कर दिया था कि ऑस्ट्रिया बिना युद्ध के इटली में अपना अधिकार कभी नहीं छोड़ेगा। कस्टीजा और नीवेरा की घटनाओं ने प्रमाणित कर दिया कि पीडमां का ऐसा प्रयास विफल होगा। इसलिए इटली के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करना अनिवार्य था और उस सहायता के लिए कोई भी कीमत ज्यादा नहीं थी। वैसे तो कैवूर इंग्लैण्ड की सहायता चाहता था परन्तु इंग्लैण्ड ऑस्ट्रिया की शक्ति तथा साम्राज्य का समर्थक था। क्योंकि इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस पर, अंकुश रखने के लिए ऑस्ट्रिया को शक्तिशाली बनाये रखना अनिवार्य मानता था। इंग्लैण्ड इटली के एकीकरण का परिणाम समझता था—विजयी नेपोलियन तृतीय, परास्त ऑस्ट्रिया तथा शक्तिहीन संयुक्त इटली। रूस क्रीमिया के युद्ध के परिणाम से वैसे नाराज था ऐस परिस्थितियों में यदि कैवूर इटली को तटस्थ भी बना देगा, तो वह उसकी कूटनीति उसके लिए एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। क्रीमिया में पीडमां की जो सहायता की गई उसके लिए कैवूर इंग्लैण्ड से तटस्थता के व्यवहार को उसकी कम-से-कम कीमत समझता था। इंग्लैण्ड को तटस्थ रखकर रखकर वह अपने उद्देश्य में सफल भी हुआ। कैवूर नेपोलियन तृतीय से विदेशी सहायता पाना चाहता था क्योंकि फ्रांस ही एक ऐसा देश था जो इटली की सहायता के लिए तैयार हो सकता था।

नेपोलियन तृतीय क्रीमिया की सफलता से प्रेरित होकर विजय चाहता था। नेपोलियन इस विजय को नीस तथा संवॉय के मिलने तथा विएना व्यवस्था को तोड़ने का सबसे अच्छा माध्यम समझता था। वह नेपोलियन बोनापार्ट का कार्य पूर्ण करने का स्वप्न देख रहा था। एक बार तो ऐसा लगता था कि पीडमां और फ्रांस के सम्बन्ध बिट्कुल बिगड़ जायेंगे। किन्तु आर्सिनी के हमने के पश्चात नेपोलियन ने इटली की सहायता करने का निश्चय किया।

1858 में राजकुमारी क्लोटिल्डे (Clotilde) और जे रोम एक दूसरे से मिले, और विवाह पक्का हो गया। यथार्थ में नेपोलियन तृतीय इस विवाह से फ्रांसीसी साम्राज्य विस्तार का स्वप्न देख रहा था। जनवरी 1859 में प्लोवियर की संधि की शर्तें पूरी हो गईं। नेपोलियन फिर भी युद्ध लड़ने से पहले रूस तथा इंग्लैण्ड के दृष्टिकोण को जान लेना चाहता था, इसके लिए उसने यह प्रयास किया कि 1856 की संधि संशोधन के रूप में उसने एक प्रस्ताव रूस समक्ष रखा।

कैवूर ने युद्ध की तैयारियां प्रारम्भ कर दीं तथा सैन्य संगठन प्रारम्भ कर दिया। कैवूर का दायित्व केवल इतना था कि वह यूरोप की राज्य-व्यवस्था के सामने इस युद्ध को स्वरक्षा का युद्ध प्रदर्शित कर सके। कैवूर ऐसे सैनिक कदम उठा चुका था कि वह पीछे नहीं हट सकता था। इस समय यदि ऑस्ट्रिया का नेतृत्व चतुर होता तो वह पीडमां को युद्ध घोषित करने पर विवश कर देता। नेपोलियन तृतीय पर भी यूरोप का राजनीतिक प्रभाव बहुत पड़ रहा था और ऐसा लगता था कि कहीं 'कंसर्ज ऑफ यूरोप' फिर से सजीव न हो जाए और यूरोपीय सम्मेलन बुला लिया जाये। कैवूर यूरोपीय शक्तियों के सम्मेलन को, इटली के हित का सबसे बड़ा शत्रु मानता था। कैवूर ने यूरोपीय शक्तियों का रु। देखते हुए तथा ऑस्ट्रिया के स्वाभिमान को ललकारते हुए सेनाएं हटाने की घोषणा कर दी। ऑस्ट्रिया ने इसे अपने लिए उपयुक्त अवसर समझा और युद्ध घोषित कर दिया। इस प्रकार ऑस्ट्रिया यूरोप के राज्यों की सहानुभूति खो बैठा। ऑस्ट्रिया के शासक सम्राट फ्रांसिस जोसफ ने युद्ध की अन्तिम चुनौती भेज दी। कैवूर का स्वप्न साकार हो उठा। राजनीतिक दृष्टि से, आक्रमणकारी ऑस्ट्रिया को उस पर यूरोपीय शांति भंग करने का दायित्व आया।

छह सप्ताह में ही कैवूर तथा फ्रांसीसी सेनाओं ने मेजन्टा (Megenta) तक सोलफेरिनो (Solferino) के युद्ध जीतकर लोम्बार्डी पर अधिकार कर लिया। इस समय नेपोलियन से सार्डीनिया-पीडमां की सहायता नहीं की और यहीं नेपोलियन तृतीय का पतन प्रारम्भ हो गया। इसके निम्नलिखित कारण थे :-

- (1) नेपोलियन फ्रांस में कैथोलिक जनता के विरोध के कारण घबरा उठा था। उन्हें प्रयत्न करने के लिए उसने युद्ध रोक दिया।
- (2) प्रशा ने सेनाओं को सीमाओं पर भेजना प्रारम्भ कर दिया था। इसीलिए नेपोलियन घबरा गया।
- (3) नेपोलियन संयुक्त इटली की संकल्पना से विचलित हो गया था और उसने इटली को पूर्ण सदस्यता दिए बिना ही ऑस्ट्रिया से संधि कर ली थी।

11 जुलाई 1857 को फ्रांस और ऑस्ट्रिया में विलोपोका की संधि हो गई। (1) इस संधि के अनुसार ऑस्ट्रिया ने फ्रांस के आश्वासन पर, पीडमां लोम्बार्डी को देना स्वीकार कर लिया। (2) पोप के अधीन इटली के एक संघ का निर्माण भी स्वीकार कर लिया। (3) पारमा, मौडीना तथा टस्कनी के राजतंत्र पुनः स्थापित किए जाएं, यह भी स्वीकार किया गया।

विलाफ्रैंको की संधि कैवूर तथा इटली की आकांक्षाओं पर वज्रपात थी। पहला, ऑस्ट्रिया की पूर्ण हार के बिना, वेनेशिया में ऑस्ट्रिया का अधिकार बना रहा। यदि इटली का संघ बना, तो वेनेशिया सदस्य बनेगा, तो इटली के लिए उतना ही अहितकर होगा, जितना वह जर्मनी के लिए सिद्ध हो रहा था। कैवूर इतना हताश हो गया कि उसने त्यागपत्र दे दिया। इटली में नेपोलियन का बहुत अपमान हुआ क्योंकि इटलीवासी उसे विश्वासघाती मान रहे थे।

इटली का राष्ट्रवाद चरमोत्कर्ष पर था। इसीलिए इटलीवासी, न तो अपने कार्य को पूर्ण किए बिना रह सकता था और न ही 1859 की सफलताओं को 1849 की प्रक्रिया मात्र समझ सकता था। विलाफ्रैंको ने इटलीवासी को उद्वेग बना दिया था।

1859 में, पारमा, मौडीना तथा रोमागना और टस्कनी के संसदीय सदनों की बैठकें हुईं और उन चारों ने एक संयुक्त सेना बनाकर स्वतंत्रता का प्रण लिया। उन्होंने विक्टर इमैनुअली द्वितीय को, एक प्रस्ताव पास करी, अपना शासक घोषित किया। दिसम्बर 1859 में, एक बार फिर नेपोलियन तृतीय विलाफ्रैंको की संधि से हट गया, और उसने पारमा, मौडीना आदि का पीडमां के साथ एकीकरण स्वीकार किया। 1860 में कैवूर का पुनः प्रधानमंत्री बनने के लिए विवश किया गया। कैवूर ने इस नई परिस्थिति और वातावरण से लाभ उठाकर, सभ्य इटली के एकीकरण के कार्य को पूर्ण कर देने का दृढ़-संकल्प किया। नेपोलियन तृतीय ने एक और राजनीतिक कलाबाजी लगाई। उसने टस्कनी के मिलाए जाने के फलस्वरूप नीस और सेवॉय की मांग की। कैवूर ने इसे स्वीकार कर लिया। इससे नेपोलियन तृतीय की शेष प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गई और वह यूरोप में संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। मार्च 1860 में मध्य इटली ने एकमत होकर, जनमत द्वारा, पीडमां के साथ संयुक्तीकरण घोषित कर दिया। इस प्रकार इटली के एकीकरण का प्रथम चरण पूरा हुआ।

कैवूर का मुख्य उद्देश्य एक महाशक्ति की मित्रता प्राप्त करना था। इस अत्यन्त कठिन व भ्रममयी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने एक राजनयज्ञ के रूप में प्रयास जारी रखा और बिना किसी सहायता के अन्त तक लड़ता रहा। यह एक बहुत ही लम्बी शानदार आकर्षक कहानी है जिसमें अद्भुत सामजस, ठोस निर्णय, व्यवहारिकता, गम्भीर, स्पष्ट, पैन्नी विचार शक्ति, सूक्ष्म जानकारी, कल्पना शक्ति, साहस सभी कुछ मिला हुआ था। यद्यपि कैवूर एक छोटी सी 5 मिलियन आबादी वाले रियासत का मन्त्री था, वह यूरोप का सबसे अधिक गत्यात्मक व्यक्तित्व था। उसका कहना था कि हम चाहे या न चाहें हमारा भाग्य फ्रांस पर निर्भर करता है। इसलिए उसने अपने आपको नेपोलियन के सम्पर्क में लाने की कोशिश की तथा क्रीमियम युद्ध ने यह मौका दे दिया।

### बिस्मार्क (Bismarck)

बिस्मार्क प्रशा के एक भूस्वामी थी। फ्रेंकफर्ट संसद (1848) के अधिवेशन में इन्होंने पहली बार राजनीति में भाग लिया। वहां उन्होंने प्रशा का प्रतिनिधित्व किया था। इस अधिवेशन में बिस्मार्क ने अपने आपको एक निर्मम (Ruthless) दृढ़प्रतिज्ञ कूटनीतिज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित किया। बिस्मार्क का जन्म 1 अप्रैल 1812 को ब्रैडनवर्ग में हुआ था। उनका चरित्र विचित्र था। अपने अध्ययन काल में भी यह एक उद्वेग विचारों वाला व्यक्ति था। पढ़ाई पर ध्यान न देकर शराब आदि कार्यों में रत रहता था।

बिस्मार्क ने फ्रांस के सम्राट लुई चौदहवें की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का समर्थन नहीं किया। परन्तु प्रशा के शासक फ्रेडरिक महान की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का समर्थन किया क्योंकि उनकी नीतियों से प्रशा से उत्कर्ष में वृद्धि होने का सूत्रपात हुआ था। बिस्मार्क की व्यक्तिगत विचारधारा उदारवाद की विरोधी नहीं थी। प्रशा के राजा, फ्रेडरिक तो उन्हें 'विरक्तवादी' कहते थे। वास्तव में बिस्मार्क जर्मनी की आवश्यकता को पूरी करने के लिए कोई भी नीति या मार्ग अपनाने में नहीं हिचकियाये। जब उन्होंने देखा कि सत्त्वहीन उदारवाद में जर्मनी का एकीकरण सफल नहीं हो सकता तब उन्होंने प्रशा के नेतृत्व में बलपूर्वक एकीकरण करना ही एकमात्र उपाय समझा। जर्मन राष्ट्रीयता की शक्ति का प्रयोग कर उन्होंने सफलता प्राप्त की। वे हमेशा जर्मनी की आवश्यकता व प्रतिष्ठा को व्यक्तिगत सम्मान और प्रतिष्ठा से ऊपर समझते थे।

यद्यपि बिस्मार्क की ऑस्ट्रिया के प्रमुख व्यक्तियों तथा आस्ट्रिया के रुढ़िवादियों से मित्रता थी, यद्यपि वे सुस्पष्ट रूप से प्रशा के स्वतन्त्र स्वरूप और नीति की प्रतिष्ठा करने में सफल रहे। उन्होंने यह भी समझ लिया था कि तत्कालीन जर्मन-संघ का गठन किस सीमा तक असन्तोषजनक था। इसलिए बिस्मार्क इस बात पर भी विचार कर रहे थे कि किस प्रकार से इस संघ की प्रतिकूल परिस्थिति को प्रशा के समर्थन में परिवर्तित किया जाये जिससे प्रशा जर्मनी के एकीकरण का नेतृत्व कर सके।

फ्रैंकफर्ट संसद में उनके सफल व्यक्तित्व से प्रभावित होकर प्रशा सरकार ने उनको सेंट पीटर्सबर्ग में राजदूत के पद पर (1859-1862) नियुक्त किया। वहाँ पर उसने रूसी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया तथा जार से मित्रता भी स्थापित की। इसके बाद बिस्मार्क को पेरिस में राजदूत के रूप में भेजा गया। यहाँ पर भी उसने राजनीति में काफी कुछ सीखा।

इन पदों पर कार्य करने के कारण बिस्मार्क राजनीति में निपुण हो गया एवं यूरोप की कूटनीति से भलीभांति परिचित हो गया। 1862 में विलियम प्रथम को बिस्मार्क में ऐसा व्यक्ति मिल गया जो उसकी योजना को उसके अनुसार ढाल सकता था। बिस्मार्क को प्रधानमंत्री बना दिया गया। यही वह समय था जब बिस्मार्क अपने पूर्व सोचे स्वप्नों को पूरा कर सकता था। जर्मन राजसंघ की सदस्यता के दौरान उसने जो जर्मनी के एकीकरण के विचार बनाये थे वे तभी पूरी हो सकते थे जब प्रशा, जिसे बिस्मार्क सर्वोच्च बनाना चाहता था और जो अन्य जर्मन राज्यों को छोड़कर बहुत शक्तिशाली थी उसे ओर भी अधिक शक्तिशाली बनाया जाये एवं प्रशा की सेनाओं को उच्चतम प्रशिक्षण दिया जाये। बिस्मार्क ने यह प्रयत्न किया कि वह राजा द्वारा प्रस्तावित प्रस्तावों को संसद से पास करा लें किन्तु जब वह अपने उद्देश्य में सफल न हुआ तो उसने स्वेच्छाचारिता का सहारा लिया।

बिस्मार्क इस बात से भलीभांति परिचित था कि प्रशा की सेना को शक्तिशाली बनाए बिना प्रशा जर्मन एकीकरण में सफल न हो सकेगा। अतः बिस्मार्क ने संसद की उपेक्षा कर स्वेच्छाचारिता की नीति को महत्व दिया। उसने प्रशावासियों को सैनिक प्रशिक्षण अनिवार्य घोषित कर दिया। प्रो० जे०एस० शेपीरो के अनुसार—“अब वह हथियार जिसके द्वारा जर्मन एकीकरण को रोका जा रहा था, बेकार हो गया। एक सेना तैयार हो चुकी थी जिसे यूरोप की युद्धभूमियों में अपने कौशल दिखाने थे।” जर्मनी एकीकरण के लिए तीन लड़ाइयाँ—(1) डेनमार्क के साथ, (2) आस्ट्रिया के साथ एवं (3) फ्रांस के साथ।

इस प्रकार बिस्मार्क के प्रयत्नों से जर्मनी का एकीकरण सम्भव हो सका। 18 जनवरी 1871 को प्रशा के राजा को वसारीय में पूरी जर्मनी का सम्राट घोषित किया गया।

बिस्मार्क सम्राट विलियम प्रथम के शासनकाल में जर्मन साम्राज्य का भाग्यविधाता बना रहा और यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कैसर विलियम द्वितीय (1888 से 1918 तक) के सत्तारूढ़ होने से पूर्व तक जर्मनी का शासन वास्तविक रूप से चांसलर बिस्मार्क ही रहा। गृह-नीति और विदेश-नीति दोनों ही क्षेत्रों में उसकी सत्ता और महत्ता असीमित रहीं।

1871 में बिस्मार्क के सम्पूर्ण राजनय का लक्ष्य नवनिर्मित जर्मन साम्राज्य को स्थायित्व और दृढ़ता प्रदान करना तथा यूरोप में जर्मनी के प्राधान्य को बनाए रखना था। जर्मनी का एकीकरण करके उसे एक संगठित और शक्तिशाली राज्य बनाने का वह स्वप्न पूरा कर चुका था और अब जर्मनी एक 'तप्त' (Satisfied) राष्ट्र था, अतः अब बिस्मार्क युद्ध की नीति को जर्मन साम्राज्य के लिए हितकर नहीं समझता था। इसलिए अपने शासनकाल में वह यूरोप में शान्ति बनाये रखने को प्रयत्नशील रहा। यद्यपि उसने जर्मनी का निर्माण सैनिक आधार पर किया, लेकिन वह इसके लिए साध्य नहीं बल्कि साधन था। बिस्मार्क चाहता था कि जर्मनी का एकीकरण स्थिर रहे और विकास के लिए पर्याप्त अवसर मिले। 1871 से 1890 के अपने प्रधानमन्त्रित्व काल में बिस्मार्क के राजनयिक सिद्धान्त मेटरनिख से मिलते-जुलते थे। मेटरनिख के समान ही बिस्मार्क का भी प्रयत्न यही रहा कि यूरोप में यथापूर्व स्थिति बनी रहे। बिस्मार्क यह भी जानता था कि यूरोप की शांति मुख्यतः दो कारणों से भंग हो सकती है—प्रथम, फ्रांस की प्रतिशोध की भावना से एवं द्वितीय, बल्कन क्षेत्र में आस्ट्रिया तथा रूस की अतिद्वन्द्विता से। अतः बिस्मार्क का यह प्रयत्न रहा कि एक ओर तो फ्रांस को मित्रहीन बनाए रखा जाए और दूसरी ओर रूस तथा आस्ट्रिया से मैत्री स्थापित की जाएं अधिक स्पष्ट रूप से, बिस्मार्क के राज के अथवा कूटनीति के मुख्य उद्देश्य या मूल सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

- (1) सीमा विस्तार की नीति का परित्याग करके यूरोप में शान्ति बनाए रखी जाए ताकि जर्मनी का विघटन न होने पाए और उसे विकास का अवसर मिले।
- (2) फ्रांस को यूरोप के अन्य राज्यों से बिल्कुल अलक किया जाये।
- (3) यूरोप में 'यथापूर्व स्थिति' (Status-quo) बनाए रखी जाएं
- (4) जर्मनी को एक महाद्वीपीय (Continental) देश के रूप में प्रस्तुत किया जाए, साम्राज्यवादी देश के रूप में नहीं।

- (5) इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, रूस और इटली—इन प्रमुख राज्यों से घनिष्ठता स्थापित की जाए, ताकि यूरोप में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखी जा सके।
- (6) फ्रांस को आन्तरिक रूप से भी निर्बल बनाए रखा जाए।
- (7) जर्मन विदेश नीति में पूर्वी समस्या को कोई महत्व न दिया जाये।
- (8) अल्लेस—लारेन से फ्रांस का ध्यान हटाने के लिए उत्तरी अफ्रीका में फ्रांस से औपनिवेशिक आकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया जाए।
- अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी को सुदृढ़ता प्रदान करने के उपरोक्त उद्देश्यों से प्रेरित होकर बिस्मार्क ने अनेक उल्लेखनीय राजनयिक कदम उठाए, जिनमें प्रमुख हैं—(1) तीन सम्राटों का संघ (Dreikaiserbund or Three Emperors' League), (2) द्वि-गुट निर्माण (Dual Alliance), (3) बर्लिन—सन्धि एवं तीन सम्राटों के संघ को पुनर्जीवन, (4) त्रि-गुट या त्रि-राष्ट्र सन्धि (Triple Alliance), (5) रूस के साथ मैत्री सम्बन्ध और पुनराश्वासन सन्धि (Re-insurance Treaty with Russia), (6) बिस्मार्क—इंग्लैण्ड सम्बन्ध के प्रयत्न, (7) आस्ट्रिया—रुमानिया में मैत्री सन्धि और (8) यूरोपीय महाद्वीप तक सीमित दृष्टिकोण। तीन सम्राटों के संघ (1873) के कारण फ्रांस, रूस और आस्ट्रिया का मित्र बनने में असमर्थ हो गया। यह बिस्मार्क की एक सफल कूटनीतिक चाल थी। प्रो० लैंगर के अनुसार तीन सम्राटों का यह संघ विस्तृत यूरोप में क्रान्तिकारी आन्दोलनों के विरुद्ध एक नवीन पवित्र मैत्री (Holy Alliance) थी जबकि एरिख आयम के मत में इसको नवीन पवित्र मैत्री मानना अतिशयोक्ति है। इस संघ का तात्कालिक स्वरूप जो भी रहा हो, वह बहुत दिनों तक वैसा नहीं रह सका जैसा कि आरम्भ में था। 7 अक्टूबर, 1879 को आस्ट्रिया और जर्मनी के बीच जो रक्षात्मक सन्धि हुई, उसे 'द्वि-गुट सन्धि' कहते हैं। सन्धि पूर्णतः गुप्त रखी गई। वास्तव में यह सन्धि मुख्यतया रूस के विरुद्ध और गौण रूप से फ्रांस के विरुद्ध रक्षात्मक सन्धि थी। बिस्मार्क की नीति से अन्तर्राष्ट्रीय गुट-निर्माण का वह सिलसिला शुरु हुआ जो प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक यूरोपीय कूटनीति के क्षेत्र में अपना विशेष प्रभाव जमाए रहा। 18 जून, 1881 को बिस्मार्क के प्रयत्नों से एक बार फिर 'तीन सम्राटों के संघ या त्रि-राज्य संघ' को पुनर्जीवन मिला। इस सन्धि के सम्पन्न होने पर 1881 तक यूरोप में बिस्मार्क की स्थिति सुदृढ़ हो गई। सन्धि के तीन तात्कालिक परिणाम स्पष्ट दिखाई दिये—(1) यूरोप के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के विरुद्ध तीन राजतन्त्रों में एकता स्थापित हो गई, (2) आस्ट्रिया एवं रूस के बीच शान्ति सुरक्षित हो गई तथा जर्मनी अपने दो पड़ोसियों में से एक का चुनाव करने की कठिन स्थिति से बच गया एवं (3) रूस तथा फ्रांस के बीच मित्रता की सम्भावना समाप्त हो गई। 1885-87 के 'बल्गेरियन संकट' के समय इस 'त्रि-सम्राट संघ' का अन्त हो गया। 20 मई, 1882 को आस्ट्रिया, जर्मनी और इटली के बीच एक सन्धि हुई। इन तीनों देशों के गुट को त्रिगुट (Triple Alliance) कहा गया है। यह बिस्मार्क के कूटनीतिक कमाल का सबसे बड़ा नमूना कहा जा सकता है। इसके द्वारा बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली जैसे परस्पर विरोधी राज्यों को आपस में मिलाए रखा और इस तरह फ्रांस को किसी भी राज्य के साथ मिलने का अवसर नहीं दिया। त्रि-गुट सन्धि के फलस्वरूप यूरोप में आस्ट्रिया, जर्मनी और इटली के तीन राज्यों का एक शक्तिशाली गुट बन गया लेकिन वस्तुतः यह गुट भीतर से इतना शक्तिशाली नहीं था, जितना ऊपर से दिखाई देता था। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि इटली के हित आस्ट्रिया तथा जर्मनी के हितों से भिन्न थे। बर्लिन कांग्रेस के बाद बिस्मार्क ने अपनी नीति में परिवर्तन करने का निर्णय कर लिया। रूस की तुलना में आस्ट्रिया को अधिक महत्व देकर बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति का एक बहुत ही महत्वपूर्ण निर्णय किया। आस्ट्रिया और जर्मनी के बीच हुई सन्धि पूर्णतः गोपनीय रखी गई थी और इसका प्रकाशन 1888 में ही किया गया, लेकिन सन्धि की बात रूस से छिपी न रह सकी। इसका तात्कालिक परिणाम तो सन्तोषजनक रहा क्योंकि रूस ने 'आग उगलना' बन्द कर दिया। आस्ट्रिया के साथ सन्धि करने के बाद भी बिस्मार्क ने खुले तौर पर रूस का साथ नहीं छोड़ा, अपने प्रयत्नों से एक बार फिर 'तीन सम्राटों के संघ' को पुनर्जीवन दिया और इस प्रकार जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया के बीच मैत्री बनाये रखने का सफल कूटनीतिक प्रयत्न किया। लेकिन यह एक अस्पष्ट मेल-मिलाप था जिनमें 1879 को सन्धि जैसी दृढ़ता नहीं थी। जहां राष्ट्रों के हित परस्पर टकराते हों, वहां उनका मेल-मिलाप चिरस्थायी हो भी नहीं सकता। बिस्मार्क ने प्रतिकूल वातावरण में भी, एक महान् कूटनीतिज्ञ के रूप में काम करते हुए, रूस से मैत्री के परित्याग की बात कभी नहीं कही। वह जर्मनी के शक्ति-विस्तार की बात करता रहा, लेकिन साथ ही रूस मैत्री के मूल्य को भी ध्यान में रखे रहा। तीन सम्राटों के संघ की इतिश्री के बाद बिस्मार्क ने चाहा कि रूस और जर्मनी के बीच एक द्वि-पक्षीय समझौता हो जाए ताकि जर्मनी की पूरी सीमा रूस के आक्रमण से सुरक्षित रहे। सौभाग्यवश अनुकूल परिस्थितियां भी उत्पन्न हो गईं। मई, 1887 में रूस-जर्मन वार्ता का दौर चला और अन्त में 18 जून, 1887 को रूस के साथ एक सुरक्षा सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इसी की यपुनराश्वासन सन्धि (Re-Insurance Treaty) भी कहा जाता है। 'पुनराश्वासन सन्धि' की अवधि तीन वर्ष रखी गई और जार की इच्छानुसार इसे गोपनीय भी रखा गया। बिस्मार्क ने आस्ट्रियन सम्राट को इस बारे में कुछ नहीं बतलाया। 'पुनराश्वासन सन्धि' बिस्मार्क की एक महान् कूटनीतिक सफलता थी जिसके द्वारा उसने 'अवरोध और सन्तुलन पर आधारित जटिल कूटनीतिक व्यवस्था' को पूरा किया। इस सन्धि के दो महत्वपूर्ण परिणाम

निकले—(1) इसने आस्ट्रिया और रूस के बीच युद्ध को बचा दिया एवं (2) रूस को फ्रांस के साथ मिलने से रोक दिया। बिस्मार्क सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि इंग्लैण्ड से जर्मनी का विरोध न हो जाये। फलस्वरूप, बिस्मार्क के पतनकाल तक इंग्लैण्ड और जर्मनी के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण बने रहे। बिस्मार्क उपनिवेशवादी नहीं था, वह महाद्वीपवादी (Contintental) था। वह जर्मनी के प्रभाव को केवल यूरोप तक ही सीमित रखना चाहता था। 1880 के बाद कतिपय अवसरों को छोड़कर बिस्मार्क जर्मनी की औपनिवेशवादी के चक्कर में फंस कर शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। ऐसा करने से इंग्लैण्ड भी उसका शत्रु बन सकता है और साथ ही जर्मनी के लिए दूसरी विकट समस्याएं खड़ी हो सकती हैं, अतः बिस्मार्क इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि जर्मनी की शक्ति को यथासमाव यूरोपीय महाद्वीप तक ही सीमित रखा जाये।

1871 से लेकर 1890 तक बिस्मार्क यूरोपीय राजनीति पर छाया रहा, लेकिन इस सम्पूर्ण समय में उसने यूरोप में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने का प्रयत्न किया। बिस्मार्क ने कहा था—“जर्मनी पूर्ण रूप से एक सन्तुष्ट राष्ट्र है। यद्यपि युद्ध द्वारा जर्मनी को राष्ट्रीय एकता और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रधानता मिली है, किन्तु यदि जर्मनी पुनः युद्ध का मार्ग ग्रहण करेगा तो उसकी सारी सफलताएं नष्ट हो जायेंगी। युद्ध होने से यूरोप की सारी शक्तियां सम्मिलित होकर जर्मनी के विरुद्ध खड़ी हो जायेगी और फलस्वरूप जर्मनी की आन्तरिक सुरक्षा भी, जो उसके राजनीतिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है, काफूर हो जायेगी।” इसलिए, जिस प्रकार कि आस्ट्रिया में 1815 के बाद मेटर्निख की नयी नीति थी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनी रहे, उसी प्रकार 1870 से 1890 तक बिस्मार्क की भी यही नीति रही कि जर्मनी के हित में अन्तर्राष्ट्रीय यथास्थिति (Status-quo) बनी रहे। बिस्मार्क ने वियना में संस्थापित शक्ति-संतुलन में कई बार गड़बड़ की थी वही बिस्मार्क अब उस शक्ति-संतुलन का संरक्षक था जो कानिग्रेज (Koniggratz) और सेडान (Sedan) में स्थापित किया गया था। बिस्मार्क को फ्रांस से डर था, अतः फ्रांस को कूटनीतिक दृष्टि से अकेला करने के लिए और जर्मनी को सुरक्षित बनाने के लिए बिस्मार्क ने कुछ देशों के साथ विस्तृत कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये और यह प्रयत्न किया कि जर्मनी के विरुद्ध किन्हीं देशों का गुट न बन सके। जर्मनी की शत्रुता फ्रांस से थी और बिस्मार्क की कूटनीतिक सफलता इसी में थी कि वह फ्रांस को कूटनीतिक दृष्टि से अकेला कर दे। इस दिशा में उसने आस्ट्रिया में प्रगाढ़ मैत्री स्थापित की और इटली को भी अपनी ओर मिला लिया तथा रूस से भी मैत्री कर ली। उधर उसने ब्रिटेन से भी अच्छे सम्बन्ध बनाए रखे। फलस्वरूप बिस्मार्क अपने पतनकाल तक अपने उन उद्देश्यों की रक्षा कर सका जो नवीन जर्मन साम्राज्य का चांसलर बनते समय उसने अपने सामने रखे थे।

बिस्मार्क ने जर्मनी के लिए एक गुत्थीयदार सुरक्षा की व्यवस्था की जिसमें शक्तियां और सन्धियों के विरोध में नई सन्धियां थीं। बिस्मार्क ने बड़ी बुद्धिमत्ता से इसका ताना-बाना बुना, फिर भी वह जानता था कि युद्ध को हमेशा के लिए नहीं रोका जा सकेगा, अतः उसने जर्मनी की सैनिक शक्ति को खूब बढ़ाया और उसे यूरोप में एक सबसे शक्तिशाली राज्य के रूप में परिणत कर दिया। बिस्मार्क ने अपने पतन के समय तक जर्मनी के प्रभुत्व की रक्षा की, अपनी सन्धि व्यवस्थाओं का संचालन किया, अपने देश के विरुद्ध किसी शक्तिशाली गुट को उभरने नहीं दिया और यूरोप को स्थायित्व देते हुए अपनी पीढ़ी में शान्ति बनाए रखी।

यह सब कुछ होने पर भी, बिस्मार्क की व्यवस्था में कुछ गम्भीर खामियाँ थी और इसलिए अन्ततोगत्वा जर्मनी को लाभ की तुलना में हानि अधिक हुई। ये गम्भीर खामियाँ थीं :-

- (1) जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के गुट में परस्पर विरोधी तत्व थे, अतः रूस जर्मनी से निरन्तर दूर होता गया और आस्ट्रिया तथा रूस में तो मित्रता बनी रहने की बात ही नहीं थी।
- (2) बिस्मार्क की व्यवस्था की आधारशिला कमजोर थी। बिस्मार्क ने इंग्लैण्ड को उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जितना देना चाहिये था। जर्मनी की सुरक्षा व्यवस्था में अथवा जर्मनी की मैत्री-सन्धियों में इंग्लैण्ड का कोई स्थान न होना जर्मनी के लिए दुर्भाग्यपूर्ण था।
- (3) बिस्मार्क ने कुछ समय के लिए फ्रांस का पथक्करण कर दिया, लेकिन उसने न तो फ्रांस के क्षोभ को दूर करने की कोशिश की और न उसका निःशस्त्रीकरण किया। फ्रांस के साथ व्यवहार करने में बिस्मार्क ने अदूरदर्शिता से काम किया। यदि उसने आस्ट्रिया की भांति फ्रांस के साथ भी उदारता का व्यवहार किया होता तो सम्भवतः फ्रांस मेडान की पराजय भूल जाता। बिस्मार्क ने फ्रांस के विरुद्ध सन्धियों का जाल खड़ा कर दिया, अतः फ्रांस को भी अपने लिए मित्रों की खोज करनी पड़ी जिससे अन्त में जर्मनी को नुकसान पहुंचा।
- (4) बिस्मार्क ने इटली को अपनी व्यवस्था में समुचित स्थान नहीं दिया।
- (5) बिस्मार्क की सन्धियां सुरक्षात्मक थीं, लेकिन एक विस्फोटक वातावरण में दोनों पक्षों की सुरक्षात्मक सन्धियों का आक्रामणात्मक सन्धियों में परिणत हो जाना स्वाभाविक था। सन्धियां और मैत्री यूरोप में पहले भी होती रहती थी, लेकिन विशेष कर युद्ध के समय। शान्ति के समय एक देश को दूसरे देश के विरुद्ध तैयार करना अथवा किसी देश को एकाकी और मित्रहीन बनाना, बिस्मार्क ने शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि विरोधियों ने बिस्मार्क की सन्धियों के विरुद्ध प्रतिसन्धियां बना ली और इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप दो सैनिक शिविरों में विभाजित हो गया।



(6) गुप्त कूटनीति (Secret Diplomacy) और गुप्त सन्धियां (Secret Alliances) द्वारा बिस्मार्क ने यूरोप के राजनीतिक वातावरण की आशंकाओं और सन्देशों से भर दिया।

जब तक बिस्मार्क जर्मनी का चांसलर रहा, सब कुछ ठीक से चलता रहा, लेकिन उसकी नीति को उसके उत्तराधिकारी सुचारू रूप से नहीं चला सके। फल यह हुआ कि बिस्मार्क के जाते ही उसकी व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न होने लगी। बिस्मार्क इस समस्या को नहीं सुलझा सका कि आस्ट्रिया और रूस दोनों के साथ मैत्री कैसे रखी जाए। यदि बिस्मार्क चांसलर बना रहता तो सम्भव था कि वह अपनी जादूगरी दिखा पाता, रूस से 'पुरराश्वासन सन्धि' को दोहरा पाता, लेकिन बिस्मार्क के उत्तराधिकारी उसके जैसे बाजीगर नहीं थे। परिणाम यह निकला कि रूस जर्मनी से विमुख हो गया और फ्रांस के पक्ष में झुक गया। यह बिस्मार्क की फ्रांस की एकाकी बनाए रखने और फ्रांस-रूस मिलन न होने देने के राजनय की दुःखदायी पराजय थी।

### विल्सन (Wilson)

वुडरो विल्सन ने स्वप्न में भी यह नहीं सोचा होगा कि एक दिन वह संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति बनेगा। बहुत कम ऐसे लोग हैं जो इस पद पर राजनीतिक अपरिपक्वतापूर्ण व्यक्तित्व से पहुंचें होंगे। लेकिन राष्ट्रपति बनने के पश्चात् किसी ने इतनी दढ़ता, सूझबूझ, राष्ट्र-निर्माण की दक्षता एवं कर्तव्य-परायणता से कार्य नहीं किया होगा, जितना शान्ति के मसीहा विल्सन ने। एक भविष्यदष्टता और आदर्शवादी होते हुए भी वह लिंकन के बाद सबसे अच्छा अधिक यथार्थवादी और निपुण राजनीतिक नेता था। परन्तु 1913 में कोई भी यह नहीं जानता था कि विल्सन महान् व्यक्ति बनेगा। कोई नहीं जानता था कि विल्सन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका को प्रथम महान् विश्व युद्ध में भाग न लेने के सभी प्रयत्नों के बावजूद भी उस राष्ट्र को युद्ध में निर्णायक भाग लेना होगा। कोई नहीं जानता था कि वह अटलाण्टिक के उस पार जाकर विश्व को स्थायी शान्ति देने का प्रयास करेगा और उसके प्रयत्न कुछ यूरोपलय राजनीतिज्ञों की स्वार्थपरायणता और घरेलू तुच्छ विरोधों की वेदी पर नष्ट होंगे। किसी अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपने ही आदर्शों एवं योजनाओं को अपने ही लोगों द्वारा निर्दयतापूर्वक निरस्त एवं पराजित होते हुए नहीं देखा होगा।

विल्सनव राजनीति शास्त्र का प्राध्यापक था। अतएव वह चिंतक था। उसने अमेरिकी प्रशासन पर विशद् ग्रन्थ लिखे थे। उसका विचार था कि कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में शक्ति के बंटवारे से शासन में सामंजस्य नहीं हो पाया। अतएव उसकी इच्छा थी कि अमेरिकी राष्ट्रपति को इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री की भांति शक्तिशाली होना चाहिये। जब वह राष्ट्रपति बना तो उसने निःसन्देह अपने विचारों को कार्यान्वित कर राष्ट्रपति की शासन का शक्तिशाली केन्द्र-बिन्दु बनाया। उसमें साहसिक निर्भीकता, निरुत्तर कर देने वाली निष्कपटता थी। उसका विश्वास था कि सात्विक कार्यों की सदैव विजय होगी और सत्य के प्रतिनिधियों को असत्य, अविवेक एवं आडम्बर से समझौता नहीं करना चाहिये। अपने शासनकाल के आरम्भिक वर्षों में ही उसने सम्पूर्ण जनता का ध्यान आकर्षित कर लिया। उसने सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन में समर्पण, त्याग एवं नैतिकता की भावना को प्रेरित किया। लेकिन स्वयं की सात्विकता एवं उद्देश्यों के प्रति उसमें इतना गर्व कर गया कि वह सोचने लगा कि जो उसका विरोध करते थे वे ईश्वर का विरोध कर रहे थे। उसमें लिंकन की विनम्रता का अभाव था। अपने चुनाव अभियान में उसने पूर्व के अनुदारवादी विचारों को त्यागकर प्रगतिवाद का नारा दिया था। राष्ट्रपति बनने के बाद उसने अपने व्यक्तित्व में समझौतावादी जीवन ग्रहण नहीं किया, हालांकि राष्ट्रपति पद के नामांकन के लिए उसने उस ब्रायन की भी बहुत प्रशंसा की थी जिसके सम्बन्ध में उसकी धारणा यह थी कि 'उसे कचरे में फेंक देना चाहिए।' वस्तुतः उसके व्यक्तित्व में अनेक गुणों का सम्मिश्रण था। वह खुशामद पसन्दगी की एवं विनम्र घूसखोरी की कला से परिचित था, लेकिन साथ ही वह गहरी नैतिकता, दया एवं संवेदनशील वृत्ति का भी था। वह अच्छे-बुरे की पहचान रखता था। उसमें 'पूर्व विमान' (Old Testament), प्लेटो के 'दार्शनिक राजा' एवं मैकियावली के 'राजकुमार' के तत्त्वों का समावेश था। लिंकन की भांति वह समय के साथ अपने उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध हुआ।

विल्सन शान्ति के राजनय में विश्वास करता था, मतलेदों को वार्ता के राजनय द्वारा सुलझाने का पक्षधर था। वह आदर्शवादी था। जब दूसरी बार वह राष्ट्रपति चुना गया तब उसे इस बात की गम्भीर चिन्ता थी कि विश्व की तनावपूर्ण स्थिति को देखते हुए अमेरिका को तटस्थता के पायदान पर नहीं रखा जा सकता था। विल्सन शान्ति का समर्थक था। वह अच्छी तरह जानता था कि विश्व युद्ध में अमेरिकी प्रदेश से अमरीकियों की विचारधारा, दर्शन एवं साहित्य पर युद्धप्रियता का भारी प्रभाव पड़ेगा। विल्सन ने अमेरिकी प्रस्तावों को शान्ति के लिए प्रस्तुत किया जिन्हें यूरोपीय शक्तियों ने अस्वीकार कर लिया। अमेरिका ने तटस्थता की घोषणा की। 4 सितम्बर, 1914 को कांग्रेस के नाम अपने राजनयिक सन्देश में विल्सन ने कहा कि—“यह स्थिति हमारे द्वारा निर्मित नहीं है लेकिन यह हमारे सामने है। यह हमें प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है मानो हम उन परिस्थितियों के भागीदार हैं जिन्होंने इसे जन्म दिया है। हम इसका भुगतान करेंगे यद्यपि हमने जानबूझकर इसे जन्म नहीं दिया है।” अमेरिका महायुद्ध से अछूता नहीं रह सकता था फिर भी 1914 में कोई अमेरिकी नहीं जनता था कि उन्हें युद्ध में संलग्न होना पड़ेगा। जब जर्मनी की यू-बोटों (U-Boats) ने

अनियन्त्रित युद्ध शुरु कर दिया तो जर्मनी के विरुद्ध अन्तिम शक्तिशाली तटस्थ देश अमेरिका भी युद्ध में प्रविष्ट हो गया। विल्सन ने 2 अप्रैल, 1917 को कांग्रेस को अपना प्रसिद्ध सन्देश भेजा, जिसमें उसने अपने देश को सलाह दी कि यह युद्ध में प्रवेश करे और विश्व को लोकतन्त्रीय शक्तियों की रक्षा करे। उक्त सन्देश में उसने कहा, “जिन सिद्धान्तों को हम हृदय से चाहते हैं, उनकी रक्षार्थ हम अवश्य लड़ेंगे। हम लोकतन्त्र की रक्षा करेंगे। हम उन लोगों के अधिकारों की रक्षा करेंगे जो किसी न्यायपूर्ण सत्ता का आदर करते हैं और इस प्रकार अनुशासन में रहकर अपने शासन में कुछ अधिकार चाहते हैं। हम सभी छोटे देशों और राष्ट्रों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की आवश्यक रक्षा करेंगे। हम अवश्य चाहेंगे कि सारे संसार में स्वतन्त्र लोगों को न्यायपूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त रहे जिससे सभी देशों में शान्ति और सुरक्षा बनी रहे और इस प्रकार सारा विश्व स्वतन्त्र रहे। आज अमेरिका के सौभाग्य से वह दिन आ गया है जबकि हमारे नागरिक अपना रक्त और अपनी शक्ति उन सिद्धान्तों की रक्षार्थ व्यय करेंगे जिनके आधार पर अमेरिका का जन्म हुआ था, जिनके आधार पर अमेरिका को सुख और समृद्धि प्राप्त हुई थी तथा वह अमूल्य शान्ति प्राप्त हुई जिसे वह अत्यन्त महत्व की दृष्टि से देखता आया है।”

शान्तिप्रिय विल्सन विवश था। अमेरिका के भविष्य के लिए यह अत्यन्त महत्व की बात थी कि उसे ऐसा व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में मिला था जिसने इस युद्ध के आधार को ‘मोक्ष और सुधार की संज्ञा’ में परिणत कर दिया। 17 जनवरी, 1917 के भाषण का एक अंश उसकी सम्पूर्ण मानवता के प्रति संवेदनशील विचारों को अभिव्यक्त करता है—“बिना किसी पक्ष की विजय के शान्ति, प्रत्येक जाति के लिए आत्म-निर्णय का सिद्धान्त, सामूहिक, स्वतन्त्रता, अस्त्र-शस्त्रों का परिसीमन, उलझाने वाली सन्धियों का उन्मूलन तथा आक्रमण की रोक के लिए सामूहिक संरक्षण की व्यवस्था।”

2 अप्रैल को विल्सन ने देश की सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था कांग्रेस के सामने उपस्थित होकर युद्ध की घोषणा करने की अनुमति मांगी। “इस महान् शान्तिपूर्ण जनता को युद्ध की ओर—जो सबसे अधिक भयानक और विध्वंसक युद्ध है..ले जाना भयानकी बात है। सभ्यता स्वयं भी संकट के पलड़े में झूल रही है किन्तु न्याय शान्ति की अपेक्षा मूल्यवान है और हम ऐसी वस्तुओं के लिए लड़ेंगे जो हमें अत्यधिक प्रिय रही हैं। लोकतन्त्र के लिए, ऐसे लोगों के अधिकारों के लिए जो शासन का इसीलिए मान करते हैं कि अपनी सरकार में उनकी सुनवाई हो, छोटे राष्ट्रों के अधिकारों और स्वतन्त्रता के लिए लोगों को ऐसे संगठनों द्वारा विश्व के न्याय शासन के लिए जो सभी राष्ट्रों को शान्ति और सुरक्षा दिलाए और अन्त में सर्व विश्व को स्वतन्त्र बन सकें। ऐसे ही लोक कार्य को अपना जीवन और अपना सर्वस्व समर्पित कर सकते हैं। इस अभियान के साथ कि वह दिन आ गया है, जब अमेरिका का अपरा रक्त और शक्ति, अपने सिद्धान्तों के लिए जिन्होंने उसे जन्म और सुख-शान्ति दी है, जिसे उसने सुरक्षित रखा है, खर्च करनी चाहिए यानि ईश्वर की कृपा रही तो वह इसके अतिरिक्त और कुछ कर भी नहीं सकता।”

युद्ध के पश्चात्, चाहे विल्सन को पराजय का सामना करना पड़ा हो और चाहे नाममात्र के वास्तविकतावादियों ने उसकी कटु आलोचना की हो, उसका भाषण अमेरिकी इतिहास एवं राजनीति को मोड़ देने वाला था। उनके हृदय से निकलने वाले शब्द इतने मार्मिक थे कि सारा राष्ट्र उसकी आवाज पर तानाशाही पर प्रजातन्त्र की बर्बरता पर सभ्यता की विजय के लिए युद्ध में कूद पड़ा। समुद्र पार के देशों में वह न केवल एक अद्वितीय महापुरुष के रूप में प्रकट हुआ, न केवल एक शक्तिशाली राष्ट्र के नेता के रूप में पहचाना जाने लगा, जो विश्व में शान्तिप्रिय, सुखद व व्यवस्थित जीवन की रक्षा के लिए अवतरित हुआ हो।

नेविन्स एवं कौमेजर के शब्दों में—“शक्ति अधिकाधिक शक्ति, शक्ति बिना किसी रुकावट या सीमा के यह वचन राष्ट्राध्यक्ष विल्सन ने दिया था और राष्ट्र हठवादिता को थोपने में सफलता प्राप्त की। इस वचन की पूर्ति के लिए अविलम्ब कार्यरत हो गया। इसके पूर्व की किसी सरकार ने युद्ध में इससे अधिक बुद्धिमानी और कार्यक्षमता नहीं दिखाई थी। इसके पूर्व अमेरिकावासियों ने भी ऐसी स्फूर्ति, साधन-सम्पन्नता और आविष्कार बुद्धि का प्रभावशाली प्रदर्शन नहीं किया था।” ‘बिना विजय की शान्ति’ युद्ध का नारा बन गया था।

युद्ध-विराम सन्धि के पश्चात् विल्सन जब अपने सचिव की सलाह न मानकर दिसम्बर, 1918 में पेरिस शान्ति सम्मेलन में पहुंचा तो उसका ‘शान्ति के मसीहा’ के रूप में स्वागत हुआ। यूरोप में उस समय यह भावना विद्यमान थी कि केवल विल्सन ही ऐसा व्यक्ति है जो विभिन्न राष्ट्रों के राग-द्वेष और उनकी ईर्ष्या-भावना से ऊपर उठा हुआ एवं मानवता का रक्षक है। अतः जब यह दार्शनिक राजा अपने सिद्धान्तों की पुस्तिका हाथ में लेकर सैनिक-शक्ति से लैस, सन्धि की शर्तें निर्धारित करने आया तो यूरोप की जनता ने उसके सम्मान में हृदय खोल दिया। सभी देशों में उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। जब वह पेरिस पहुंचा तो फ्रांसीसी उसे देखकर आनन्द-विभोर हो उठे। सड़कों पर अपार जन-समूह ने उसकी स्तुति की और अखबारों ने उसके गुणगान किए। वास्तव में सभी की आंखें उसकी ओर लगी थीं। विजयी न्याय की विजित दया की, और सामान्य जन-शक्ति की आशा करते थे।

विल्सन इस सम्मेलन में शान्ति का दीप बनकर आया था। वह नहीं चाहता था कि पेरिस सम्मेलन 1815 के वियना कांग्रेस जैसे निहित स्वार्थों का गढ़ बन जाये। परन्तु वह अन्दाज नहीं लगा पाया था कि विजेता राष्ट्रों में स्वार्थ की गन्ध रहती है और यदि वह अन्य

तथ्यों को ध्यान में रखता तो वह उस जाल या धोखे से बच जाता जिसमें वह स्वयं अपने आदर्शवाद के कारण बुरी तरह उलझ गया। उसके पवित्र उद्देश्य विजेता राष्ट्रों की सत्ता-पिपासा के आगे भस्मसात हो गये।

विल्सन ने अपने विचारों को प्रसिद्ध 14 सूत्रों (Fourteen Points) के रूप में प्रस्तुत किया जिनके आधार पर न्यायपूर्ण और उसके 14 सूत्रों में प्रथम सूत्र यही था कि—शान्ति के समझौते सार्वजनिक रूप से किये जायेंगे, कोई गुप्त समझौता नहीं होगा। इन सिद्धान्तों की मित्रराष्ट्रों के राजनीतिज्ञों ने भी सराहना की थी। उनके पास युद्धोत्तर समस्याओं का समाधान करने के लिए उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त और क्या था ? और पराजित राष्ट्रों ने भी इन सिद्धान्तों के प्रति अपनी सहमति प्रकट की परन्तु आदर्श एवं सिद्धान्तों की अन्ततः शक्ति-पूजक राष्ट्रों के सामने कुछ न चल सकी। इस सम्मेलन में भी राष्ट्रवादी विचारों, व्यक्तिगत स्वार्थों का बोलबाला रहा, जिनका वियना कांग्रेस (1815) में प्राधान्य रहा था। फ्रांस का क्लेमेंसी और इंग्लैण्ड का लॉयड दोनों ने ही विल्सन पर अपनी हठवादिता को थोपने में सफलता प्राप्त की। आर०बी० मोबात ने 'यूरोपियन डिप्लोमेसी' में लिखा है कि "क्लेमेंसी प्रातःकाल यह वाक्य दुहराया करता था—मैं राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना का समर्थन करूंगा।" किन्तु इटली के ओरलैण्डो से जब एक बार पूछा गया कि राष्ट्रसंघ के बारे में आपका क्या मत है तो उत्तर दिया था कि "हम निःसन्देह राष्ट्रसंघ की स्थापना का स्वागत करेंगे किन्तु फ्यूम (Fiume) का प्रश्न तय किया जाना चाहिये।" विल्सन सम्पूर्ण सम्मेलन में अकेला पड़ गया था। वियना कांग्रेस के पश्चात् यूरोप में इस प्रकार इतने विशाल पैमाने पर विश्व स्तर का कोई सम्मेलन नहीं हुआ था।

प्रिन्सटन में राजनीति-दर्शन का यह भूतपूर्व प्रोफेसर एक प्रतिभाशाली वक्ता तथा आदर्शवादी विचारक था। वह कठोर विश्वासों का व्यक्ति था जिसमें राजनीतिक दूरदर्शिता तो उच्च कोटि की थी, लेकिन इतनी कूटनीतिक योग्यता नहीं थी कि वह अन्य प्रतिनिधियों को पराजित राष्ट्रों के साथ उदार व्यवहार के लिए तैयार कर सके। स्टेनार्ड बेकर के शब्दों में "जिस किसी ने भी उसको (विल्सन को) काम करते देखा, उसकी कभी हिम्मत नहीं हुई कि वह विल्सन के समक्ष अथवा उसकी पीठ पीछे निन्दा करने का साहस करता।" विल्सन का यह विश्वास था कि राष्ट्रसंघ की स्थापना से ही मानव जाति की रक्षा हो सकती है, अतः वह इसे सब शान्ति-सन्धियों का अनिवार्य अंग बनाना चाहता था। किन्तु वह मानसिक दृष्टि से लॉयड जॉर्ज तथा क्लेमेंसी के समान कुशाग्र नहीं था और अपने पूर्व-निर्धारित विचारों पर विशेष रूप से भरोसा रखता था, अतः वह कूटनीतिक क्षेत्र में और राजनीतिक सौदेबाजी के नो-सिखिया के रूप में सिद्ध हुआ। उसके आदर्शवाद और राष्ट्रसंघ की स्थापना के अत्यधिक उत्साह का दूसरे देशों ने पूरा लाभ उठाया। अन्य देश राष्ट्रसंघ के निर्माण की बात मान लें, इसके लिए विल्सन सब कुछ त्यागने के लिए तैयार था, यहां तक कि राष्ट्रसंघ के लिए वह अपने 14 सूत्रों के अनेक सिद्धान्तों की अवहेलना करने के लिए भी तैयार हो गया। पाल बर्डसल (P. Birdsall) के कथनानुसार वह क्षतिपूर्ति की समस्या के अतिरिक्त अन्य सभी प्रश्नों पर ब्रिटेन, फ्रांस और जापान विल्सन से राष्ट्रसंघ के नाम पर प्रायः अपनी अधिकांश बातें मनवाने में सफल हुआ। चीनी जनता द्वारा बास हुआ शाण्टुङ्ग का प्रदेश विल्सन के आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर चीन को मिलना चाहिये था, किन्तु विल्सन ने राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए अन्य महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त करने की इच्छा से इसे जापान को देने का निर्णय किया। यह निर्णय स्वयंमेव विल्सन द्वारा अपने सिद्धान्तों पर कूटाराघात था। फिर भी, पेरिस-सम्मेलन में यदि पराजितों के साथ थोड़ी नरमी बरती गई तो वह विल्सन के कारण ही। इसमें कोई सन्देह नहीं था कि यदि विल्सन सम्मेलन में न होता तो लॉयड जॉर्ज और क्लेमेंसी न जाने क्या से क्या कर देते। विल्सन ही उनकी असीम आकांक्षाओं पर अंकुश लगाता रहा। यदि विल्सन न होता तो फ्रांस जर्मनी का नामोनिशान मिटाकर ही दम लेता।

विल्सन के दो उद्देश्य थे। प्रथम न्यायपूर्ण समझौता जिसके अनुसार आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर राष्ट्रों की सीमाओं का निर्धारण हो ताकि परस्पर शान्ति स्थापित हो सके। द्वितीय, राष्ट्रसंघ की स्थापना। पहले उद्देश्य में वह सफल नहीं हुआ क्योंकि जो शान्ति की गई वह थोपी हुई शान्ति थी न कि आत्म-निर्णय के आधार पर या समझौता-वार्ता की शान्ति। परन्तु उसे दूसरे उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई। राष्ट्रों के संघ का विचार मौलिक नहीं था और कई देशों में कई लोगों ने इस विचार को स्पष्ट करने में योगदान दिया था, किन्तु जिस राष्ट्रसंघ (League of Nations) की अन्तिम रूप से स्थापना की गई थी वह विल्सन की ही सृष्टि थी और उसके आदर्शों का मन्दिर था।

कुछ विद्वानों का विचार है कि विल्सन ने स्वयं पेरिस में आकर एक भारी भूल की। यदि वह वाशिंगटन में रह कर ही अमेरिकन प्रतिनिधियों को आदेश देता रहता तो बहुत सम्भव था कि उसका प्रभाव अधिक व्यापक होता, पर विल्सन को सर्वाधिक चिन्ता राष्ट्रसंघ की थी और उसकी अभिलाषा थी कि विश्व संस्था के विधान का निर्माण वह स्वयं करे। वास्तव में यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि जहाँ सम्मेलन में उसकी उपस्थिति स्वयं सम्मेलन के लिए हितकर न रही, वहां अपने देश से दूर होकर वह अमेरिकी जनता से भी सम्पर्क स्थापित न रख सका जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि उसके द्वारा पोषित राष्ट्रसंघ को उसके स्वयं के देश ने ही अस्वीकार कर दिया। अमेरिकन सीनेट ने विल्सन के राष्ट्रसंघ की सदस्यता के प्रस्ताव को नहीं माना। 1918 में कांग्रेस के चुनावों में विल्सन विरोधी रिपब्लिकन दल को कांग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त हो गया और सीनेट ने राष्ट्रसंघ के विधान एवं वर्साय की सन्धि को स्वीकार करने के मसविदे को रद्द कर दिया। यह मानवता के एक महान् पैगम्बर का दुःखमय पराभव था।

## पामस्टन (Palmerston)

1784 में पामस्टन का जन्म हुआ। 1804 में वह कामन सभा (House of Common) का सदस्य बना। वह 60 वर्ष तक कामन सभा का सदस्य बना रहा। उसने तीन राजाओं (जॉर्ज तृतीय, जॉर्ज चतुर्थ एवं विलियम चतुर्थ) और एक रानी (महारानी विक्टोरिया) के अधीन तथा दस प्रधानमन्त्रियों के अधीन काम किया। 1830 से 1865 तक अधिकांशतः उसने ही विदेश नीति का संचालन किया। पामस्टन आरम्भ में टोरी था तथा विभिन्न टोरी मन्त्रिमण्डलों में उसने युद्ध-मन्त्री का पद ग्रहण किया। 1828 में वह हिवग हो गया। 1830 में लार्ड ग्रे और मेनबोर्न के मन्त्रीमण्डल में वह विदेशमन्त्री बनाया गया। इस समय से तीन छोटे-छोटे मध्यान्तरों के अतिरिक्त 1856 तक वि विदेश विभाग का प्रधान बना रहा। 1841 से 1846 तक वह रजानीति से अलग रहा। 1846-1852 तक जॉन रसल का मन्त्रिमण्डल बना रहा। इस समय वह पुनः विदेश मन्त्री बनाया गया। एबर्डिन के मन्त्रिमण्डल (1853-1858) में वह गृहमन्त्री रहा, परन्तु वैदेशिक मामलों में उसी का प्रभाव था। 1855 से 1858 तक वह प्रधानमन्त्री था। 1858 में हत्या और षड्यन्त्र के बिल के प्रश्न पर उसने पदत्याग किया तथा लार्ड डर्बी प्रधानमन्त्री बना। पन्द्रह महीनों के बाद जब डर्बी ने पदत्याग किया तो वह पुनः प्रधानमन्त्री बनाया गया। इस तरह 1859 से 1865 तक वह प्रधानमन्त्री बना रहा। इस समय भी वैदेशिक मामलों में उसका बड़ा हाथ था। 1865 में उसका देहान्त हो गया। इस प्रकार वैदेशिक मामलों में पामस्टन की विशेष अभिरूचि थी।

जब 1830 में पामस्टन विदेश मन्त्री बने तब उसके काल में विदेश नीति अधिक महत्वपूर्ण रही। वह स्वयं को ब्रिटिश हितों का संरक्षक मानता था और कैनिंग के समान ही उसने इन हितों का प्रचार करके उसमें देशवासियों की रुचि जगाई। वह एक उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ था। उसने जनता के प्रत्येक वर्ग का-चाहे वह मध्य वर्ग हो या कारीगर वर्ग-सभी को प्रभावित किया। वह सांविधानिक सरकार का समर्थक था। इसलिए फ्रांस में सन् 1830 में लुई फिलिप (Louis Philip) के उदय का उसने स्वागत किया। बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड, इटली और आइबेरिया-प्रायद्वीप में भी उसने सांविधानिक शासन का समर्थन किया। वह यूरोप में उदारवादी आन्दोलन का समर्थक था बशर्ते कि ब्रिटिश हितों पर उसका कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। पामस्टन की नीति का मुख्य उद्देश्य था ब्रिटिश हितों की रक्षा करना। वह कहता था कि-“हमारे कोई स्थायी मित्र या कोई स्थायी शत्रु नहीं हैं। हमारे हित स्थायी हैं और इन हितों का ध्यान रखना हमारा कर्तव्य है।” वह कुशल, ओजस्वी, योग्य और मेहनती था। उसे विश्वास था कि वह अपने समर्थकों से अधिक जानकारी रखता है और विदेश नीति में कई बार तत्काल कदम उठाना आवश्यक होता है। उसके कोई कट्टर सिद्धान्त या निश्चित आदर्श नहीं थे। ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए वह कोई भी रास्ता अपनाने को तैयार रहता था।

सन् 1830 के बेल्जियम विद्रोह में पामस्टन ने यह कोशिश की कि किसी प्रकार युद्ध न हो और फ्रांस की महत्वाकांक्षा पर रोक लगे। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने कैसलरे की भांति राजनीतिक सम्मेलनों का प्रयोग किया। 1831 में ‘लंदन सम्मेलन’ (Conference of London) से एक नए स्वतन्त्र बेल्जियम राज्य की स्थापना की गई।

सुदूर-पूर्व में 1839-41 में ‘ओपियम वार’ (Opium War) द्वारा ब्रिटिश व्यापारियों के लिए चीन के बंदरगाह खुलवाए गए। सन् 1842 में नानकिंग (Nonking) की संधि द्वारा पांच बंदरगाह पश्चिमी व्यापार के लिए खोले गये, हांगकांग ब्रिटेन को दिया गया, साथ ही उसे कुछ हर्जाना भी दिया गया। यह किसी देश पर सीधे अधिकार की बजाय आर्थिक तकनीकों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उस पर अधिकार करना था। इस युग को ‘मुक्त व्यापार का साम्राज्यवाद’ (Imperiation of Free Trade) कहा गया है।

मध्य पूर्व में पामस्टन की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने मेहनत अली की शक्ति को समाप्त किया, टर्की को ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में रखा, कुस्तुनतुनिया में रूस के विशेषाधिकार को रोका गया और यूरोपीय संघ की स्थापना की।

अपनी विदेश नीति में पामस्टन कट्टर नहीं था और फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय राज्यों को इंग्लैण्ड से मिलाकर रखना चाहता था। 1846 में पामस्टन फिर विदेश सचिव बना, किन्तु 1846 तक फ्रांस के साथ मित्रता असफल हो गई थी और 1848 में फ्रांस, आस्ट्रिया, प्रशिया, हंगरी व इटली में क्रांतियां शुरु हो गई थी। पामस्टन ने इन क्रान्तियों को रोकना अपना कर्तव्य समझा ताकि वे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का रूप न धारण कर ले। साथ ही वह फ्रांस के साथ अच्छे सम्बन्ध तथा शक्ति सन्तुलन बनाए रखना चाहता था। 1849 तक ये क्रान्तियां दबा दी गई थी। फ्रांस में लूई नेपोलियन के उदय का पामस्टन ने स्वागत किया। इटली व जर्मनी में पामस्टन की नीति सीमित रही। 1849 की निकट पूर्व समस्या अल्पकालीन थी जहां पामस्टन फ्रांस के सहयोग से हस्तक्षेप करना चाहता था।

इसी बीच ‘क्रीमिया का युद्ध’ शुरु हो गया था। सन् 1850-78 में यूरोप में अनेक बड़े युद्ध लड़े गये थे। किन्तु केवल इसी युद्ध में इंग्लैण्ड ने प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया। यह युद्ध बहुत खर्चीला रहा और निर्णायक भी सिद्ध नहीं हुआ। सन् 1855 में एवरडीन के स्थान पर फिर पामस्टन को प्रधानमन्त्री बनाया गया। वह सत्तर वर्ष का था पर उसने अपनी शक्ति व जोश से युद्ध को शीघ्र ही समाप्त कर दिया। यूरोपीय युद्धों में इसे सबसे अधिक अनावश्यक युद्ध माना गया है। परन्तु इसका महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ

कि रूस की शक्ति को गहरा धक्का पहुंचा। इटली व जर्मनी के संगठन का रास्ता भी अब साफ हो गया। इन्हीं वर्षों में यूरोप से बाहर ब्रिटेन ने अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार किया था।

सन् 1861 में अमरीका में गहयुद्ध शुरू होने से ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के लिए फिर समस्या पैदा हुई। ब्रिटेन में लोगों ने मतभेद था। दक्षिणी राज्यों ने ब्रिटिश सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया पर पामस्टन ने इन्कार कर दिया। वह इस अमरीकी गहयुद्ध से बिल्कुल अलग रहना चाहता था परन्तु कुछ घटनाओं के कारण इंग्लैण्ड को हस्तक्षेप करना पड़ा। ट्रेन्ट (Trent) नामक ब्रिटिश जहाज से दो दक्षिणी प्रतिनिधियों को उत्तरी अमरीका के नाविकों ने पकड़ लिया। परन्तु ब्रिटिश सरकार के विरोध करने पर लिंकन ने उन्हें छोड़ दिया और युद्ध का भय कुछ एमय के लिए स्थगित हो गया। परन्तु अलाबामा से सम्बद्ध झगड़ा अधिक जटिल था। अलाबामा एक जहाज था जिसका निर्माण इंग्लैण्ड में हुआ था। इसने उत्तरी व्यापार को जो हानि पहुंचाई उसके लिए उत्तरी सरकार ने हरजाना मांगा। इस घटना से अमरीका के साथ सम्बन्ध बहुत बिगड़ गए।

संक्षेप में पामस्टन में आश्चर्यजनक मानसिक व शारीरिक स्फूर्ति थी। क्रीमिया के युद्ध और भारत में 1857 की क्रान्ति के समय उसने अपनी योग्यता का परिचय दिया था। एक प्रशासनिक व संगठनबर्ता के रूप में वह इन विपत्तियों का सामना करने में पूर्णतः सफल रहा था। अपने लम्बे अनुभव के बल पर उसने इंग्लैण्ड के प्रशासन को नया मोड़ दिया जिसमें सारी राजनीतिक रुचि विदेश नीति पर केन्द्रित की। इस क्षेत्र में पामस्टन चमका परन्तु इस चमक के लिए इंग्लैण्ड को खर्चीले युद्धों में हस्तक्षेप करना पड़ा। इंग्लैण्ड की आर्थिक प्रगति ने स्वाभाविक रूप से उसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। पामस्टन के व्यवहार की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी दृढ़ निर्णय-स्वतंत्रता थी। उसने राजनीति में भावुकता और आचार-व्यवहार की दूसरी शक्तियों को इंग्लैण्ड की सहायता व सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और ब्रिटेन को किसी का सहयोग प्राप्त करने की कोशिश करने की आवश्यकता नहीं है। अतः उसकी नीति में निरन्तरता नहीं थी। जहां ब्रिटिश प्रतिष्ठा की रक्षा का प्रश्न उठा, उसने छोटी और बड़ी शक्तियों का विरोध किया।

### कैसलरे (Castle-reigh)

कैसलरे, जो 1812 से 1822 तक इंग्लैण्ड का विदेश मन्त्री रहा, का जन्म 1739 ई० और देहावसान 1822 ई० में हुआ। इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड के मेल के समय वह इंग्लैण्ड की ओर से आयरलैण्ड के लिए सेक्रेटरी नियुक्त था। रिश्वत आदि देकर आयरलैण्ड के लोगों को आयरलैण्ड और इंग्लैण्ड के एकीकरण के लिए तैयार करवाने में उसका ही हाथ था। वह कैथोलिक लोगों को कुछ अंश तक धार्मिक स्वतंत्रता देने के हक में था। वह कुछ समय के लिए युद्ध मन्त्री और फिर बस्तियों का मन्त्री रहा। 1807 ई० में उसने सेना का पुनर्संगठन किया परन्तु उसके द्वारा सेना का पुनर्निर्माण पुरानी सेना के आधार पर ही किया गया था। 1809 ई० में उसने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और कैनिंग से मुकाबला किया। 1812 ई० में वह विदेश मन्त्री (Foreign Secretary) बन गया और 1822 ई० में आत्महत्या करने तक वह इसी पद पर रहा।

कैसलरे एक बहुत ही बुद्धिमान् मन्त्री था जिसे काल्पनिक विचार धोखा नहीं दे सकते थे और जो सीधे बात की तह तक पहुँच जाता था। केवल राजनीतिक दृष्टि से नहीं वरन् व्यक्तिगत रूप में भी वह बड़ा वीर और साहसी था। उसने ही नेपोलियन के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों को संगठित किया। मुख्यतः उसी के प्रयत्नों से 'राष्ट्रों का युद्ध' (Battle of Nations) आरम्भ हुआ। वाटरलू के मैदान में नेपोलियन को अन्तिम रूप में पराजित करने में ब्रिटिश सेना का निर्णायक हाथ रहा। पुनश्च, नेपोलियन द्वारा आत्म-समर्पण भी ब्रिटिश नौ-सेना के समक्ष ही किया गया। इन घटनाओं से ब्रिटेन की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ गई और 1814 ई० में यूरोप में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में उसे वही स्थान मिला जो 1819 में संयुक्त राज्य अमेरिका को प्राप्त हुआ था। डॉ० महाजन ने लिखा है—“उस समय केवल इंग्लैण्ड ही एक ऐसा देश था जिसके पास युद्ध करने की शक्ति और साधन थे और जिसे युद्ध करने की इच्छा भी थी। वह अपने समय के यूरोप में भाग्यविधाता था। इंग्लैण्ड को ऊँचे स्थान पर पहुंचाने का श्रेय लॉर्ड कैसलरे को है जिसके उच्च आदर्शों, ठोस व्यवहार, बुद्धि और राजनीतिक कार्यों को करने की ईश्वरदत्त प्रतिभा ने उसे ऐसा करने में समर्थ किया। वह केवल अंग्रेजी पार्लियामेंट और मन्त्रिमण्डल के कार्य करने वाले अपने सह-कर्मचारियों का ही विश्वासपात्र नहीं, अपितु यूरोप भर के राजनीतिज्ञों की इच्छा सम्मतियां और विश्वास प्राप्त करने में सफल हुआ।

कैसलरे का यूरोप जाने और मित्र-राष्ट्रों की राजधानियों की यात्रा करने का एकमात्र उद्देश्य इन चार बड़े-बड़े राष्ट्रों को संगठित करके नेपोलियन के मुकाबले में खड़ा करना था। साथ-ही-साथ वह एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना करना चाहता था जो यूरोप के राजनीतिज्ञों के सम्मुख उपस्थित समस्याओं को सुलझा सके। कैसलरे के विचार में राष्ट्रों की नीति में मतभेदों को दूर करने, युद्ध में विजय प्राप्त करने और इस प्रकार शान्ति स्थापित करने के लिए शत्रु के सामने सामूहिक रूप से उपस्थित होने का सर्वोत्तम

ढंग बड़े-बड़े राष्ट्रों के प्रधानमन्त्रियों में विचारों का विश्वस्त और खुला आदान-प्रदान था। बीसवीं सदी में तो अन्य राष्ट्रों से अपनी रक्षा करने के लिए कान्सेंसे बुलाकर योजनाएं बनाने का विचार कोई नया नहीं प्रतीत होता परन्तु कैसलरे के समय में ऐसा विचार क्रान्ति मचा देने वाले किसी विचार से कम नहीं समझा जाता था। अपने इसी एक कार्य में कैसलरे इतिहास के एक महान् शान्ति स्थापित करने वाले व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

कैसलरे चार बड़े-बड़े राष्ट्रों को एक दूसरे के निकट लाने के उद्देश्य से ही यूरोप गया था और दो मास के अन्दर-अन्दर की गई मार्च, 1814 ई० की शामोण्ट (Chaumont) की सन्धि उसकी अत्यन्त महत्वपूर्ण और एक बड़ी भारी सफलता थी। इस सन्धि के द्वारा चारों राष्ट्रों ने युद्ध को तब तक जारी रखने की प्रतिज्ञा की जब तक फ्रांस शान्ति का समझौता करने के लिए तैयार नहीं हो जाता। इन राष्ट्रों में से प्रत्येक राष्ट्रने युद्ध के लिए शस्त्र आदि देने स्वीकार किए। इंग्लैण्ड ने शस्त्रों के साथ-साथ प्रति वर्ष 50 लाख पौंड की राशि देनी भी स्वीकार की। यह समझौता बीस वर्षों के लिए किया गया और मित्र राष्ट्रों ने बीस वर्षों तक फ्रांस के द्वारा शान्ति के समझौतों की शतोड को तोड़ने का प्रयत्न करने पर सामूहिक रूप से यूरोप की ओर से फ्रांस के विरुद्ध लड़ने का वचन दिया। इस सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये जाने के कुछ समय पश्चात् नेपोलियन को फ्रांस के सिंहासन से उतार दिया गया और अब पैरिस में समझौते की बातचीत आरम्भ हो गई।”

वियना-कांग्रेस में इंग्लैण्ड ने आस्ट्रिया, रूस और प्रशा के साथ मैत्रीपूर्ण भूमिका अदा की। इंग्लैण्ड को इतने ऊँचे स्थान पर पहुंचाने का श्रेय बहुत कुछ लार्ड कैसलरे को ही था जिसको न केवल ब्रिटिश संसद और मन्त्रिमण्डल का विश्वास प्राप्त था बल्कि जिसे यूरोप के राजनीतिज्ञों को विश्वास प्राप्त करने में भी सफलता मिली। नवम्बर, 1815 में शान्ति-सन्धि को तैयार करने में कैसलरे बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। ड्यूक ऑफ वैलिंग्टन, मेटरनिख तथा जार से उसे इस कार्य में विशेष सहायता मिली। इस सन्धि की एक छोटी धारा पर वाद-विवाद के समय कैसलरे को अपनी योजना को क्रियात्मक रूप देने का अवसर मिल गया। इस प्रस्तावित राजनीतिज्ञों को समय-समय पर मिलना चाहिये, किन्तु कैसलरे ने इस धारा का स्वरूप ही बदल दिया और शब्दों तथा भावों की दृष्टि से उसे बहुत अधिक निखार दिया। अब धारा का नया रूप यह बन गया-“इस सन्धि को कार्यान्वित करने के कार्य को सरल बनाने और इसकी रक्षा करने के लिए तथा संसार के लिए हितकर चारों राष्ट्रों के मेल-मिलाप को बढ़ाने वाले सम्बन्धों को और भी अधिक दृढ़ करने के लिए इस सन्धि में भाग लेने वाले मुख्य देश यह स्वीकार करते हैं कि वे नियत समय के बाद सम्मेलन बुलाते रहेंगे। अपने सामान्य हितों के बारे में विचार-विमर्श करने के लिए और समयानुकूल आवश्यक तथा लाभदायक कदम उठाने के लिए तथा देशों को पुनः समद्ध बनाने एवं यूरोप में शान्ति कायम रखने के लिए सम्मेलनों में या तो इन राष्ट्रों के राजा अथवा उनके प्रतिनिधि भाग लेंगे।”

कैसलरे के प्रयत्नों से सन्धि में जो धारा रखी गई वह यूरोप में शान्ति स्थापित करने की दिशा में बड़ी देन थी। इसमें हमें राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ के धोषणा-पत्रों की झलक मिलती है। यूरोप की संयुक्त व्यवस्था की स्थापना भी इसी धारा के आधार पर हो सकी थी। दुर्भाग्यवश कैसलरे की यह आशा बुरी तरह फलीभूत नहीं हो सकी कि यूरोप के विवादों को इस सन्धि की धारा के अनुसार नियन्त्रित किये जाने वाले सम्मेलन सुलझा लिया करेंगे और इस प्रकार यूरोप में शान्ति बनी रह सकेगी। सम्मेलनों द्वारा समस्याओं और विवादों का फैसला करने के महत्व को जितना अधिक कैसलरे समझ पाया था, उतना अन्य कोई नहीं। संयुक्त व्यवस्था के सम्मेलनों में दूसरे राष्ट्रों से, विशेषकर आस्ट्रिया से, ब्रिटेन का मतभेद बढ़ता ही गया। जहाँ मेटरनिख की कूटनीति हर जगह इच्छानुसार हस्तक्षेप करने की होती थी वहाँ इंग्लैण्ड की नीति यथासम्भव निर्हस्तक्षेप की थी। कैसलरे यद्यपि चतुर्मुखी मैत्री से अलग नहीं होना चाहता था, किन्तु साथ ही वह इस बात पर भी तुला हुआ था कि वह दूसरे राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति को सफल नहीं होने देगा। अपनी मृत्यु के कुछ ही समय पहले वह बेरीना-सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार हो रहा था और निश्चय कर चुका था कि वह यूरोपीय राष्ट्रों को स्पेन में हस्तक्षेप करने से तथा फर्डिनेण्ड सप्तम को पुनः गद्दी पर बैठाने से रोकेगा। दुर्भाग्यवश सम्मेलन में भाग लेने से पूर्व ही उसने आत्महत्या कर ली किन्तु उसके उत्तराधिकारी लार्ड केनिंग ने उसके ही सिद्धान्तों पर आचरण किया।

डॉ० महाजन के अनुसार केवल आधुनिक युग में आकर ही कैसलरे की महत्ता को समझा जाने लगा है। यह सच है कि वह यूरोप के राष्ट्रों को शान्ति भंग करने वाले आपसी झगड़ों को परस्पर सहयोग से सुलझाने के लिए मनवाने के अपने आदर्श को क्रियात्मक रूप देने में सफल न हो सका परन्तु साथ ही इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसे ने सबसे पहले वे सुझाव पेश किए जो कि आगे चलकर लीग ऑफ नेशन्स के कोनवेनेण्ट और संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के आधार बने। कैसलरे की रचनाओं का बड़ी गम्भीरता से अध्ययन करने वाले इतिहास-वेत्ताओं के द्वारा ही उसकी योग्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। “कैसलरे की विदेश नीति” नाम की पुस्तक में वैब्टर ने कैसलरे को इंग्लैण्ड के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ विदेश मन्त्री माना है। सीटन-वाटसन

(Seton-Watson) ने कैसलरे को इंग्लैण्ड के इतिहास में हुए विदेश मन्त्रियों में से एक श्रेष्ठ और सम्बन्धों को बनाने वाला विदेशमन्त्री कहा है। कैसलरे के अपने शब्दों में "शान्ति स्थापित करने के लिए की गई सन्धि की सफलता के लिए उसका न्यायपूर्ण और परिमित होना आवश्यक है। आदर्श रूप में क्रियात्मक रूप में आन्तरिक सहयोग की भावना पैदा करने में प्रयत्न किया जाना चाहिये। ग्रेट ब्रिटेन को यूरोप के मामलों में अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिये।" वैबस्टर के विचार में कैसलरे यह समझ चुका था कि युद्ध से बचने के लिए तैयार होना आवश्यक है।

कैसलरे उदारवाद का बड़ा समर्थक था। उसकी विदेश-नीति के मूल तत्व शान्ति, उदारवाद एवं पथकता थे। किन्तु, उस समय यूरोप में प्रतिक्रियावादी मेटरनिक का बड़ा प्रभाव था। अतः उसके सामने कैसलरे की नीति सफल न हो सकी। निसंदेह, कैसलरे यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करने में सफल नहीं हुआ, तथापि उसके सुझाव ही राष्ट्रसंघ के संविदा और संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के आधार बने। 'कैसलरे की विदेश-नीति नाम की अपनी पुस्तक में वैबस्टर ने कैसलरे को इंग्लैण्ड के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ विदेश मन्त्री माना है। सीटन-वाटसन (Seton-Watson) ने कैसलरे को इंग्लैण्ड के इतिहास में हुए विदेश मन्त्रियों में से एक श्रेष्ठ और सम्बन्धों को बनाने वाला विदेशमन्त्री कहा है।

### कैनिंग (Canning)

1770 में कैनिंग का जन्म डबलिन में हुआ। एटन और क्राइस्ट चर्च में उसकी शिक्षा सम्पन्न हुई। 1793 में वह छोटे पिट का शिष्य बनकर लोकसभा में आया। 1796 में वह ग्रेनविल के अधीन विदेश विभाग का उपसचिव बना। 1799 में वह इंडियन कमिश्नर 1800 में सैनिकों का संयुक्त वेतन अधिकारी बना। 1812 में कैसलरे विदेश सचिव बनाया गया। वह इस पद पर अगले दस वर्ष तक रहा। इस बीच कैनिंग को कोई बड़ा पद नहीं मिला। लिवरपूल के प्रधानमन्त्रित्व में कैसलरे ने अपने विदेश सचिव पद को कैनिंग को देना पड़ा। कैनिंग ने इस 'किसी व्यक्ति को दिया गया सर्वोत्तम भेंट' बतलाया तथा इसे लेने से अस्वीकार कर दिया। 1816 में कैनिंग नियन्त्रण समिति का अध्यक्ष बनाया गया। किन्तु, रानी कैरोलिन के साथ मित्रता ने उसे इस पद पर अधिक दिनों तक नहीं रहने दिया। 1820 में उसने पद त्याग कर दिया। 1822 में वह भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। वह भारत-यात्रा की तैयारी ही कर रहा था कि इसी बीच उसे कैसलरे की आत्महत्या की खबर मिली। फलतः उसे ही विदेश सचिव बनाया गया।

विदेशमन्त्री बनते ही कैनिंग के सामने मुख्यतः स्पेन का घरेलू मामला, स्पेन और उसके दक्षिण अमरीकी उपनिवेश, यूनान-विद्रोह जिसमें रूस और तुर्की लड़ रहे थे तथा पोतुगाल और ब्राजील में बेंगाजा-परिवचार (House of Branganza) की स्थिति आदि जटिल प्रश्न आए।

1822 में वेरोना (Verona) में योरोपीय व्यवस्था का सम्मेलन बुलाया गया। इंग्लैण्ड के प्रतिनिधित्व के लिए वेलिंगटन को भेजा गया। सम्मेलन में स्पेन के विरुद्ध कार्रवाई करने का प्रस्ताव था। इस पर वेलिंगटन ने कैनिंग की नीति स्पष्ट करते हुए बतलाया—“इंग्लैण्ड क्रान्तिकारियों या जेकोबिनों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रखता है। किन्तु, इंग्लैण्ड इस नीति में विश्वास करता है कि प्रत्येक देश स्वेच्छापूर्वक अपने देश में शासन स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र है। वेलिंगटन ने बतलाया कि स्पेन के निरंकुशतावाद के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ, यूरोपीय व्यवस्था के सदस्य राष्ट्रों को उसके दमन का अधिकार नहीं है। किन्तु स्पेनी मामले में फ्रांस दखल देने के लिए तैयार हो गया। 6 अप्रैल, 1823 को फ्रांसीसी सेनापति एक लाख सेना लेकर स्पेन आ पहुंचा। कुछ ही महीनों में स्पेन के राजा फर्डिनेंड सातवें को पुनःस्थापित किया गया। 1827 तक राजा की सुरक्षा के लिए सेना तैनात रही।

कैनिंग की नीति पुराने स्पेन में असफल रही किन्तु नए स्पेन या स्पेनी दक्षिण अमरीकी उपनिवेश में सफल रही। इसी समय दक्षिण अमरीका के स्पेनी उपनिवेश में विद्रोह हो गया। कैनिंग इसी अवसर की तलाश में थां उसने कहा, “मैंने पुरानी दुनिया की क्षतिपूर्ति के लिए ही नई दुनिया का अस्तित्व कायम किया है।”

दक्षिण अमरीका में स्थिति अत्यन्त ही असहनीय हो गई थी। वहां ब्रिटिश जहाजों को सामुद्रिक डाकू बुरी तरह लूट लेते थे और कभी-कभी तहस-नहस भी कर डालते थे। उसकी क्षतिपूर्ति के लिए स्पेनी सरकार जिम्मेवार नहीं थी। स्पेन अपने उपनिवेशों की कार्यवाही रोकने में बिल्कुल असमर्थ था। अतएव कैनिंग ने इन उपनिवेशों के साथ प्रत्यक्ष रूप से बर्ताव करना आवश्यक समझा। उसने अंग्रेजी जहाज पकड़ने के लिए नियुक्त कुछ दस्युओं (Pirates) और निजी हाथियारबन्द जहाजों (Privateers) को पकड़ना शुरू कर दिया। उनमें से कुछ को दबा बदया गया। इसके बाद कैनिंग ने दक्षिण अमरीका के विद्रोही उपनिवेशों की स्वतन्त्रता मान ली। 1823 के बाद ब्रिटिश व्यापार के हित की रक्षा के लिए इन उपनिवेशों में व्यापारिक दूत भेजे गए। 1824 में इंग्लैण्ड ने वियोनआयर, कोलम्बिया एवं मैक्सिको तथा 1825 में बेलविया, चिली एवं पेरू को मान्यता प्रदान की।

स्पेन कैनिंग की कार्यवाही रोकने में असमर्थ था। किन्तु, फ्रांस हस्तक्षेप करना चाहता था। इसी बीच 1823 में फ्रांस को खबर दी गई कि यदि वह स्पेनी दक्षिण अमरीकी उपनिवेशों में किसी तरह की कार्यवाही करेगा तो ब्रिटेन उसका मुंहतोड़ जवाब देगा। ब्रिटेन

का पक्ष संयुक्त राज्य अमरीका ने भी ले लिया। 2 दिसम्बर 1823 को अमरीकी उपनिवेशों में यूरोपीय शक्तियों का हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं किया जायेगा। वे अब स्वतन्त्र हो चुके हैं और उनके मामलों में हस्तक्षेप करना अमरीकी शक्ति और सुरक्षा के लिए खतरनाक समझा जायेगा।" इस घोषणा ने ही प्रसिद्ध मुनरो सिद्धान्त (Munrau Decline) का प्रतिपादन किया। 1825 तक दक्षिण अमरीका में स्पेनी साम्राज्यवाद का अन्त हो गया। यूरोपीय व्यवस्था द्वारा यूरोप में शासन करना कठिन हो गया। कैनिंग की कारवाँ और मुनरो सिद्धान्त ने यूरोपीय व्यवस्था का अन्त कर दिया।

जब कैनिंग ने टिलसिट षडयन्त्र को असफल कर दिया तो नेपोलियन ने यह घोषणा की कि पोर्तुगाल पर बेगांजा-परिवार ने शासन करना छोड़ दिया, स्थिति गम्भीर हो गई। राजपरिवार भाग खड़ा हुआ और इसने ब्राजील में शरण ली। पोर्तुगाल सरकार वहीं कायम हो गई। 1815 के वियाना सम्मेलन में पुराने राजवंशों के पुनः स्थापन पर जोर दिया गया। लेकिन पोर्तुगाल में बेगांजा-राजवंश का पुनःस्थापन नहीं किया गया। पोर्तुगाली राजा जॉन छठे ने लिस्बन आना अस्वीकार कर दिया तथा राइडिजानेरा में ही रहना पसन्द किया। 1820 में स्पेन में क्रान्ति हुई। इसकी लहर पोर्तुगाल भी पहुंची। 1821 में जॉन अनिच्छापूर्वक अपनी सत्ता कायम करने पोर्तुगाल पहुंचा। 1822 में ब्राजील ने पोर्तुगाल से अपना सम्बन्ध तोड़ दिया और जॉन छठे के बड़े लड़के डोम पेद्रो (Dom Pedro) को ब्राजील का संवैधानिक सम्राट घोषित किया। इसी समय फ्रांस ने स्पेन के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप किया और विद्रोहियों का दमन का फार्डिनेंड सातवें का निरंकुश शासन स्थापित किया। पोर्तुगाल में निरंकुशवाद के समर्थक डॉम मिगुएल (Dom Miguel) की यह आशा थी कि फ्रांस पोर्तुगाल में भी हस्तक्षेप करेगा। अतः उसकी मदद करेगा। वह निरंकुश बनकर पोर्तुगाल में शासन करना चाहता था। किन्तु, पोर्तुगाल के संवैधानिक दलवालों ने अपनी रक्षा के लिए ब्रिटेन से सहायता मांगी। कैनिंग ने हस्तक्षेप करना अच्छा नहीं समझा। फिर भी उसने कुछ ब्रिटिश नौ-सेना टैगस (Tagus) भेजी। उसने यह स्पष्ट बतलाया कि यदि इंग्लैण्ड संवैधानिक दलवालों की मदद नहीं करता है तो फ्रांस भी निरंकुश सत्तावादियों की सहायता न करे। अप्रैल 1824 में डॉम मिगुएल ने सैनिक उथल-पुथल करके अपने पिता की सत्ता पर आख्तियार कर लिया। इसी समय जॉन छठा वापस लौट आया और उसने अपनी सत्ता पर हक पेश किया। डॉम मिगुएल निर्वासित किया गया। जॉन छठे के इन सभी कार्यों में ब्रिटिश नौ-सेना की सहायता प्राप्त की।

कैनिंग की एक बड़ी सफलता थी। 1825 में उसने पोर्तुगाल और ब्राजील के बीच युगों से चले आ रहे विवाद का एक समाधान खोज निकाला। लन्दन में एक सम्मेलन बुलाया गया। 29 अगस्त 1825 को एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किया गया जिसके अनुसार जॉन छठे ने ब्राजील की स्वतन्त्रता मान ली। उसका पुत्र डामें पेद्रो वहाँ का सम्राट बना।

छह महीने के बाद 10 मार्च 1825 को जॉन छठे का निधन हो गया। सम्राट पेद्रो पोर्तुगाल की गद्दी अपनी बेटी को देना चाहता था। सात वर्ष की बच्ची इन्फैंटा मेरिया (Infanta Maria) को लोगों की सहानुभूति प्राप्त हो सके, इसके लिए पेद्रो ने पोर्तुगाल के लोगों को संविधान देने का निश्चय किया। किन्तु, इन्फैंटा मेरिया के चाचा डॉम मिगुएल को यह बात पसन्द नहीं आई। वह निरंकुशतावाद का समर्थक था तथा पोर्तुगाल का राजा बनना चाहता था। उसके समर्थकों ने स्पेन से सहायता मांगी। कैनिंग उन्हें मदद के लिए तैयार हो गया। उसके इस शीघ्र निर्णय के फलस्वरूप न केवल पोर्तुगाल में एक संवैधानिक सरकार की स्थापना हुई, अपितु संभावित यूरोपीय युद्ध भी रोका गया। अप्रैल, 1828 तक अंग्रेजी सेना पोर्तुगाल में रही। डोम मिगुएल अपने भाई की मदद से फरवरी 1828 में संरक्षक के पद पर नियुक्त हुआ। उसने संविधान की मर्यादा निभाने की शपथ ग्रहण की थी। किन्तु कुछ दिनों बाद वह मनमानी करने लगा। इसी बीच जनवरी 1828 में इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री वेलिंगटन बना। उसे कैनिंग की हस्तक्षेप नीति पसन्द नहीं थी। उसने शीघ्र ही पोर्तुगाल से ब्रिटिश सेना बुला ली। अब डॉम मिगुएल के लिए रास्ता और भी साफ हो गया। पोर्तुगाल में पुनः एक बार प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। इसी समय सितम्बर 1828 में इन्फैंटा मेरिया ब्राजील से इंग्लैण्ड आई। वहाँ उसे पोर्तुगाल की रानी समझकर उसका स्वागत किया गया। इंग्लैण्ड में रहने वाले प्रमुख पोर्तुगाली संवैधानिकों तथा तीन चार हजार शरणार्थी सैनिकों ने रानी का साथ दिया। तटस्थता के पुजारी वेलिंगटन के लिए यह एक विचित्र प्रश्न बन गया। 1834 के पूर्व तक इस समस्या का कोई संतोषजनक हल नहीं निकल सका। अन्ततोगत्वा यूरोपीय राष्ट्रों के सम्मिलित विरोध ने डॉम मिगुएल को पोर्तुगाल की गद्दी डॉम मेरिया के पक्ष में छोड़ने के लिए बाध्य किया।

पूर्वी समस्या के बारे में कैनिंग ने कैसलरे की नीति का अनुसरण किया। 1821 से 1824 तक यूनानियों ने वीरतापूर्वक तुर्की का सामना किया। 1824 में सुलतान ने मिस्र के पाशा मेहमत अली से सहायता मांगी। मेहमत अली ने अपने पुत्र इब्राहिम पाशा के अधीन एक सेना भेज दी। 1824 में इब्राहिम ने क्रीट (Crete) पर अधिकार कर लिया। दूसरे वर्ष वह मोरिया आ पहुंचा जहां उसने बड़ा उत्पात मचाया। इंग्लैण्ड चुपचाप बैठा नहीं रह सकता था। इंग्लैण्ड और अन्य पश्चिमी देशों के अनेक स्वयंसेवक यूनान पहुंचे। इंग्लैण्ड, रूस एवं फ्रांस ने तुर्की के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा लेकर यूनानियों की स्वतन्त्रता निश्चित कर दी। नावारिनो (Navarino) युद्ध में मिस्र और तुर्की की सेना खदेड़ दी गई। 1827 में यूनान स्वतन्त्र हो गया।



इस प्रकार कैनिंग उदारवादी विचारों का बड़ा पोषक था। उसने यूनान के स्वतन्त्रता-संग्राम में बड़ा नाम कमाया। वह निरंकुशतावाद का बड़ा शत्रु था। यद्यपि वह अहस्तक्षेप नीति का बड़ा समर्थक था, किन्तु उदारवाद की रक्षा हेतु वह हस्तक्षेप करने से कभी नहीं हिचकता था। 1827 में लिवरपूल के देहान्त के बाद जार्ज चतुर्थ ने कैनिंग को प्रधानमंत्री बनाया। किन्तु पद-ग्रहण करने के चार महीने के बाद उसका देहान्त हो गया।

कैनिंग ने विक्टोरिया-कालीन प्रधानमन्त्रियों को बहुत प्रभावित किया। डिजरैली के शब्दों में, "मैंने कैनिंग को केवल एक बार देखा किन्तु मैं उस मधुर आवाज और उसके लोकोत्तर भौहों की फड़कन को नहीं भूल सकता।" ग्लैस्टन ने कहा, "कैनिंग की छत्रछाया में मेरा पालन-पोषण हुआ।" कैनिंग का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी मेटरनिक भी उसकी योग्यता से परिचित था। मेटरनिक के अनुसार—"कैनिंग स्वयं अपने आप में क्रान्ति था।" उसने स्वीकार किया कि इंग्लैण्ड और योरोप के इतिहास में कैनिंग का मन्त्रिमण्डल एक युग का प्रतिनिधित्व करता है। वास्तव में कैनिंग ने विदेशी मामलों में इंग्लैण्ड की प्रतिष्ठा को चार चाँद लगा दिये। लार्ड एक्टन के अनुसार कोई भी विदेश मन्त्री कैनिंग का मुकाबला नहीं कर सका है।

### के०एम० पन्निकर (K.M. Pannikar)

भारत के आधुनिक राजनयज्ञों में सरदार के०एम० पन्निकर के नाम का उल्लेख अवश्य किया जाता है। पन्निकर चीन में लम्बे समय तक भारत के राजदूत रहे। उनका मानना था कि राजनय का जन्म यूरोप में आधुनिक राज्यों के जन्म से सम्बन्धित है। राजनय की परिभाषा देते हुए पन्निकर ने कहा, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त राजनय अपने हितों को दूसरे देशों से अग्रिम रखने की एक कला है।" ("Diplomacy used in relation to international politics is the art of forwarding one's interest in relation to other countries.") राजनय एक कला है जिसे अपनाकर विश्व के राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों को बढ़ाते हुए अपने हित साधना करते हैं। पन्निकर के अनुसार राजनयज्ञ "एक देश का दूसरे देश में स्थित आँख और कान है।" कोई भी देश अपने राजनयज्ञों के माध्यम से दूसरे देश की घटनाओं, नीतियों और दृष्टिकोण के बारे में जानकारी प्राप्त कर अपनी विदेश नीति को आवश्यक मोड़ देता रहता है। बहुत से विचारकों न चातुर्य, कुशलता, कपट आदि को राजनयिक गुण माना है जबकि पन्निकर के अनुसार धूर्तता, कपट आदि से पूर्ण राजनय अपने देश के प्रति दूसरे देशों की शुभ कामना प्राप्त करने की दृष्टि से प्रेरित होता है और कपट आदि इस उद्देश्य के मार्ग में खतरनाक साधन है। दूसरे देश की शुभकामना, प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति चार प्रकार से अधिक अच्छी तरह हो सकती है—दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार से समझें और उसके प्रति सम्मान की भावना रखें, वह देश दूसरे देशों की जनता के न्यायोचित हितों को समझे एवं सर्वोपरि माने तथा वह ईमानदारी से व्यवहार करे। आप बहुत से लोगों को सदा के लिए धोखे में नहीं रख सकते। जब देश की नीति की असलियत जाहिर हो जायेगी तो विश्व-समाज में उस देश के स्तर को धक्का पहुंचेगा। पन्निकर का मत है कि व्यक्तिगत जीवन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है।

पन्निकर ने राज्य के प्रति स्वामीभक्ति को एक राजनयज्ञ का आवश्यक गुण माना है। उन्हीं के शब्दों में, "राजदूत को उस नीति को क्रियान्वित करना होता है, जो उसकी सरकार निर्धारित करती है। ये उसके स्वयं के परामर्शों से भिन्न हो सकती है क्योंकि किसी देश की सरकार ही पूरी स्थिति से परिचित होती है जबकि राजदूत केवल अपने विशिष्ट लक्ष्यों को ही जानता है। इसलिए जब उसे उन अनुदेशों को क्रियान्वित करना पड़ता है जो आधारभूत रूप से उसके विचारों के विरुद्ध हो तो उसे भावना, पक्षपात अथवा मैत्रीभाव से प्रभावित नहीं होना चाहिये और किसी भी स्थिति में उसे सम्बन्धित सरकार को अपने नेत्र टिमटिमाने के द्वारा भी यह प्रकट नहीं करना चाहिये कि उसके स्वयं के विचार भिन्न नहीं है। आदर्श राजदूत को किसी भी परिस्थिति में अपने देश से आए कड़े निर्देशों को मद्दु बनाकर अपनी सरकार के व्यवहार का गलत अनुमान नहीं देना चाहिये भले ही उसके देश की विदेश नीति स्वीकारी राज्य को पसन्द न हो।

पन्निकर जो स्वयं एक सफल राजनयज्ञ थे, स्त्रियों के सानिध्य व सम्पर्क को राजनय का सहायक मानते हैं। सन् 1926 में फ्रांसीसी राजदूत जुलेस केम्बान ने, एक लेख में लिखा था कि सम्माननीय स्त्रियों का संसर्ग राजदूत के लिए लाभदायक होगा। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान चाणक्य राजदूतों की स्त्रियों से सम्पर्क का विरोधी था। सभी देशों में स्त्रियों का प्रयोग राष्ट्रीय हित वृद्धि के लिए अति प्राचीनकाल से किया जाता है। भारतीय इतिहास के अति प्राचीनकाल की विष कन्याओं का ऐसा ही प्रयोग था। प्रथम विश्वयुद्ध के काल में माताहारी, विख्यात स्त्री जासूस थी। द्वितीय विश्व युद्ध काल में एक अमेरिकी संकेत लिपिक (Cypher Clerk) ने एक रूसी प्रवासी लड़की के प्रेम में फंसकर रूजवेल्ट और चर्चिल के मध्य आदान-प्रदान हुए कई पत्र दिखा दिये थे। वह लड़की वास्तव में जर्मन जासूस थी। इस क्लर्क को इस अपराध के कारण सात वर्ष की सजा मिली थी।

पन्निकर के अनुसार एक आदर्श राजदूत को अपनी सफलता पर गर्व और असफलता पर निराशा नहीं होना चाहिये। पन्निकर ने

राजदूत के दो मूल कार्यों से सहमति व्यक्ति की हैं—प्रथम, अपनी सरकार को स्थानीय परिस्थितियों तथा वहां की नीतियों से अवगत कराए रखना। दूसरा अपने देश की विदेश-नीति के क्रियान्वयन के लिए देश से आई आज्ञाओं का सफलतापूर्वक पालन करना। किसी भी राजदूत की सफलता अथवा असफलता का उत्तरदायित्व उस देश की अपनी विदेश नीति पर होनी चाहिये, न कि राजनयिक पर, क्योंकि राजदूत विदेश नीति का निर्माण नहीं करते, यह तो उसके विदेश विभाग का कार्य है। पन्निकर का विचार है कि वार्ताओं के पीछे दबाव का सबसे भयानक व अन्तिम तरीका युद्ध का है। जब समझौते की सम्भावना समाप्त प्रायः हो अथवा वार्ता के सफल परिणाम निकलने की आशा ही क्षीण प्रतीत हो तो युद्ध द्वारा समाधान निकाला जाता है।

### कृष्ण मेनन (K. Menon)

प्रधानमन्त्री नेहरू के समय भारत के विख्यात विदेश मन्त्री कृष्ण मेनन अपने समय के महान राजनयज्ञ थे जो आवश्यकतानुसार गुप्त और खुले राजनय का प्रयोग करते थे और जिनके भाषण की भूमि प्रायः वाद-विवाद प्रतियोगिता वाली होती थी। डॉ० पुष्पेश पन्त ने भारत और पाक राजनयिक शैलियों के टकराव का चित्र उपस्थित करते हुए मेनन और भुट्टो के राजनय को प्रकट किया है।

स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में भारतीय विदेश नीति के लिए सबसे बड़ी चुनौती पाकिस्तान रहा है। “दो देशों के आपसी (द्विपक्षीय) रिश्ते को लें, या विदेश-नीति के क्षेत्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष को ध्यान में रखें, तो यह बात स्पष्ट होती है कि भारतीय विदेश-नीति और राजनय की सबसे महत्वपूर्ण (और चली आ रही) समस्या पाकिस्तान चुनौती का मुकाबला रही है।” राजनयिक व्यवहार के विविध सम्मेलन, संकटकालीन राजनय या युद्धोपरान्त राजनय, सभी प्रकार के उदाहरण पिछले 35 वर्षों के इतिहास में ढूँढे जा सकते हैं। राजनय के शिल्प की दृष्टि से हर उदाहरण की यही विशेषता है, हर भिन्न अवसर की अलग सम्भावनाएं, सीमाएं रही हैं और इन सबका उल्लेख संक्षेप में कर पाना ही यहां सम्भव है अतः शैली सम्बन्धी पहलू पर प्रकाश डालने वाला उदाहरण ही प्रस्तुत किया जा रहा है। जो राजनयिक मंच चुना गया है, वह संयुक्त राष्ट्रसंघ है। डॉ० पुष्पेश पन्त ने भारतीय और पाकिस्तानी शैलियों का भेद स्पष्ट करने के लिए कृष्ण मेनन और जुल्फिकार अली भुट्टो को चुना है जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में कश्मीर-विषयक बहसों में ही अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की।

1975 में सुरक्षा परिषद में घण्टों बोलते-बोलते बेहोश हो जाने के बाद कृष्ण मेनन रातों-रात करोड़ों भारतीयों के लाड़ले बन गए थे। मेनन की विस्तृत वक्तता पर फिर भुट्टो को नाटकीय और तीखेपन पर कुछ विश्लेषणात्मक टिप्पणियां डॉ० पुष्पेश ने दी हैं जो इस प्रकार हैं—

- (1) मेनन ने मामले के कानूनी पक्ष पर जोर दिया। जैसा कृष्ण मेनन की जीवनी के लेखक ही डी०जे०एस० जॉर्ज ने लिखा है—“कुछ लोगों का मानना है कि मेनन कानूनी बाल की खाल निकालने लगे थे पर कश्मीर के साथ कानूनी पचड़े इस तरह जुड़े थे कि किसी ने उन्हें चुनौती नहीं दी।”
- (2) अपने भाषण के दौरान कृष्ण मेनन सभा के नियमानुसार आचरण करते रहे। जब परिषद के अध्यक्ष ने उनके भाषण को जारी रखने में अरुचि दिखाई तो मेनन ने चार्टर के अनुच्छेद 32 का हवाला देते हुए व्यंग्यात्मक नॉक-झोंक तो की ही पर अध्यक्ष की अनुमति के लिए रुके रहे।
- (3) मेनन की भाषा अंग्रेजी वाद-विवाद की आदर्श परम्परा के अनुसार सूक्ष्म व्यंग्योक्तियों से भरी थी। यह उदाहरण काफी है—“मैं यही सोच सकता हूँ कि मुझे सुनने की थकान के कारण वे लोग वह मुद्दा नहीं सुन पाए जो मैंने उठाया था ‘या’ मैं जो पीयरसन डिक्सन (ब्रिटिश प्रतिनिधि) से अनुरोध करूँगा कि वे राष्ट्रकुल के अन्य सदस्यों के साथ न्यायोचित व्यवहार करें—कम से कम सार्वजनिक मौकों पर।”
- (4) मेनन के भाषण की ध्वनि वाद-विवाद प्रतियोगिता वाली थी—“हमने युद्ध-विराम रेखा के पार लोगों के उत्पीड़न और पाकिस्तानी अधिकारियों के अत्याचारों के खिलाफ, वहां के लोगों की स्वतन्त्रता के लिए कोई आवाज क्यों नहीं सुनी? हमने यह क्यों नहीं सुना कि इन लोगों ने 10 वर्षों से मतदान-पत्र नहीं देते हैं? आदि।”
- (5) अपने विरोधी को कटुतम आलोचना करते हुए मेनन ने एक टेलीविजन साक्षात्कार में इतना भर कहा था, “आक्रमणकारियों को आक्रमण का फल नहीं भोगने दिया जा सकता।”

मेनन की राजनयिक शैली से बिल्कुल भिन्न शैली पाकिस्तान के जुल्फिकार अली भुट्टो की थी। इसे ‘औपनिवेशिक पश्चिमी’ नहीं ‘उग्र राष्ट्रवादी’ ही कहा जाना चाहिये। पश्चिमी राजनयिक परम्परा को इस शैली में समर्थ चुनौती दी थी, इसलिए इसे “क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी” कहने का लालच भी होता है। यह आपत्ति की जा सकती है कि भुट्टो को क्रान्तिकारी कैसे माना जा सकता है? यह

स्मरणीय है कि संसदीय लोकतन्त्र की असफलता के बाद अय्यूब ने सैनिक क्रान्ति द्वारा सत्ता ग्रहण की। 'मार्शल ला' की स्थापना को वह सामाजिक तथा आर्थिक क्रान्ति का सूत्रपात समझते थे। भुट्टो उनके चहेते थे, रक्षित थे। नई सरकार के प्रतिनिधि के रूप में विदेश मन्त्री की वक्तता में क्रान्तिकारी अनुगूँज सुनाई पड़ती थी तो क्या आश्चर्य ?

संयुक्त राष्ट्र संगठन में बोलते वक्त भुट्टो को वाद-विवाद प्रतियोगिता के नियमों का, परम्परा का ध्यान कभी नहीं रहता था। उनका ध्यान धमकियां देने की ओर लगा रहता था—“युद्ध विराम ही काफी नहीं है। हम सुरक्षा परिषद् को यह आखिरी मौका दे रहे हैं, यदि इसके बाद भी परिषद् अपनी पूरी सामर्थ्य से पूरे नैतिक बल से जम्मू-कश्मीर का सम्मानपूर्ण निबटारा नहीं कर पाती है तो पाकिस्तान को संयुक्तराष्ट्र संगठन छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।”

भुट्टो को सूक्ष्म व्यंग्योक्तियों के प्रति भी विशेष आकर्षण नहीं था। उनका विशेष अधिकार गाली-गलौज और अपमानपूर्ण भाषा पर दिखाई देता था। अक्टूबर, 1965 में सुरक्षा परिषद् में भुट्टो साहब भद्रता की सीमाएं लांघ गए। उन्होंने भारतीयों को 'कुत्ता' तक कह डाला। इसके अलावा भी जब एक बार भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण मलेशियायी प्रतिनिधि भाषण कर रहा था, भुट्टो सभा की ओर पीठ कर बैठे रहे और अपने दोस्तों से बतियाते रहे।

भुट्टो के भाषणों से विस्तृत उद्धरण देने की जरूरत नहीं। मेनन की भाषा, मुहावरे, नियम-विनियम, प्रेम किसी से भी भुट्टो के उदण्ड राजनय का मेल नहीं बैठता। मेनन की तरह भुट्टो कभी बोलते-बोलते बेहोश तो नहीं हुए पर जरूरत पड़ने पर हाथ के कागज-पत्र फाड़कर रोते हुए सुरक्षा परिषद् से निकलने का नाटक करने से नहीं कतराये।

मेनन राजनय में 'झूठ का सहारा' लेने के पक्ष में नहीं थे। उन्हें ब्रिटिश शासन मन्त्री ईडन के मिथ्यापरख राजनय से अरुचि भी। इस सम्बन्ध में मेनन ने उदाहरण देते हुए कहा है : “ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल द्वारा 1956 में कब मिस्र पर आक्रमण किया गया तो उसके कार्य के औचित्य के लिए प्रधानमन्त्री ईडन ने कई झूठ बोले। पहले तो उसने कहा कि आक्रमण का उद्देश्य मिस्र में ब्रिटिश सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा है, फिर कहा कि उसका उद्देश्य स्वेज नहर में जहाजों की रक्षा है, फिर कहा कि मिस्र पर आक्रमण नहीं बल्कि 'पुलिस कार्यवाही' है। जिससे कि लड़ते हुए मिस्रियों और इजरायलियों को अलग रखा जा सके। जब संयुक्त राष्ट्र ने ब्रिटेन और फ्रांस की कार्यवाही की भर्त्सना की तो ईडन का कहना था कि हमने जो कुछ भी किया है, उसका उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र को पूर्व में कार्य करने के लिए बाध्य करना था। ईडन द्वारा इस प्रकार झूठ का सहारा लेने पर गैट्सकल ने व्यंग्य में कहा था हर चोर अपने कार्य का औचित्य तथा उसे यह कह कर न्यायिक बता सकता है कि वह चोरी इसलिए करता है कि जिससे पुलिस वालों को चोरी रोकने की शिक्षा मिलती रहे।” राष्ट्रपति विल्सन दो परिस्थितियों में झूठ बाकलने की स्वीकृति देते थे। प्रथम, जब किसी स्त्री के सम्मान का प्रश्न हो, द्वितीय, जब सार्वजनिक हित निहित हो। कृष्ण मेनन का स्पष्ट मत था कि 'साख और विश्वास' झूठ और धोखे से कहीं अधिक उपयोगी है। सत्य वार्ताओं और सम्बन्धों में सुविधा उत्पन्न करता है जबकि झूठ उसे निष्क्रिय बनाता है। वास्तव में राजदूत का नैतिक प्रभाव ही उसकी सबसे प्रभावकारी योग्यता है।

मेनन का विश्वास था कि राजनयज्ञ की अपने राज्य के प्रति अटूट स्वामिभक्ति होनी चाहिए और राजदूत को इस बात का विश्वास होना चाहिये कि उसके देश की विदेश नीति सही और न्यायिक है। उसे अपनी सरकार द्वारा भेजी गई आज्ञाओं के अनुसार कार्य करना चाहिये, भले ही वे उसके व्यक्तिगत विचारों के कितने ही भिन्न क्यों न हों। राजनय में व्यक्तिगत विचारों का कोई महत्व नहीं है, एक राजनयज्ञ का प्रथम कर्तव्य अपने देश की सरकार का यही प्रतिनिधित्व करना है। भले ही उसके व्यक्तिगत विचार कैसे ही क्यों न हों।

# ईकाई-V

## अध्याय-1

### द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय राजनय, स्थायी मिशन : कार्य एवं भूमिका (Bilateral and Multilateral Diplomacy Permanent Missions : Role and Tasks)

---

राजनय वस्तुतः एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य अथवा राज्यों के साथ सम्बन्धों के निर्धारण की कला है। 18वीं शताब्दी में यूरोप में “सार्वभौम राष्ट्र राज्य” (Sovereign Nation-States) के उदय के साथ ही इन राष्ट्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण की समस्या उत्पन्न हुई। इन राज्यों ने एक दूसरे राज्य के यहां अपने प्रतिनिधि भेजने शुरू किये जो वहां एक ओर अपने राष्ट्रीय हितों की प्रति में संलग्न होते थे, वहीं दूसरी ओर वे इन राज्यों के साथ विभिन्न संधियों तथा समझौते करते थे। अधिकतर तो ये सन्धियां या समझौते दो राज्यों के बीच होते थे परन्तु कई बार किसी समस्या के अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण करने पर यह संधियों बहुपक्षीय भी हो जाती थी।

#### द्विपक्षीय राजनय (Bilateral Diplomacy)

राज्यों के मध्य राजनयिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। ये उतने ही प्राचीन हैं जितने की राज्य। प्राचीन काल में राज्यों के मध्य मतभेद होने पर दोनों देशों के प्रतिनिधियों द्वारा समस्या का हल ढूंढा जाता था और मतभेदों को समाप्त करने का प्रयास किया जाता था। आधुनिक युग में भी ऐसा ही किया जाता है और इसे द्विपक्षीय राजनय का नाम दिया गया है।

द्विपक्षीय राजनय का तात्पर्य है द्वि अर्थात् दो और पक्षीय अर्थात् पक्षों के मध्य अर्थात् दो पक्षों के मध्य सम्बन्ध। इस प्रकार द्विपक्षीय राजनय दो राज्यों के बीच राजनय को कहते हैं। राजनय के द्वारा दो राज्यों के बीच की समस्याओं को हल किया जाता है। यदि राष्ट्रीय समस्याएं जटिल हैं तो इनके समाधान के लिए दोनों राज्यों के बीच सम्मेलन द्वारा सुलझाया जा सकता है। राजनय का सामान्य, सरल तथा सीधे मार्ग यह है कि विदेश विभाग तथा इनके द्वारा नियुक्त राजदूत समस्याओं के समाधान आपस में बातचीत द्वारा कर लेते हैं। इस प्रकार राज्यों के सम्बन्ध सुचारु रूप से चलते रहते हैं। राज्यों के मध्य पारस्परिक व्यक्तिगत सम्पर्क दोनों के मध्य सम्बन्धों को मधुर बनाता है।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व राज्यों के बीच चतुर, योग्य तथा कुशल राजदूत ही सम्बन्धों को बनाते थे। राज्यों के मध्य मतभेदों अथवा समस्याओं को दूर करने के लिए कई बार दो राज्यों के राज्याध्यक्ष स्वयं बातचीत कर लेते थे। 1970 का “शिमला समझौता” इसका उदाहरण है। यह समझौता भारत और पाकिस्तान के मध्य हुआ था। भारत की ओर से प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और पाकिस्तान की ओर से राष्ट्रपति श्री भुट्टो ने यह समझौता किया था। इसी प्रकार शीत युद्ध की समाप्ति करने के लिए अमेरिका तथा रूस की द्विपक्षीय वार्ता द्वारा यह सम्भव हुआ।

द्विपक्षीय राजनय के समर्थन में सबसे बड़ा तर्क यह है कि राज्याध्यक्ष अथवा प्रधानमंत्री किसी भी स्थान पर पहुंच कर समस्या का हल निकाल सकते हैं। कई विद्वान इसके विषय में भी तर्क देते हैं कि द्विपक्षीय वार्ता से समस्या का हल नहीं हो पाता बल्कि समस्या और बढ़ती है। 15 वीं शताब्दी के विख्यात राजदूत फिलिप डी० कोमाइन्स (Phillippe de Comines) ने कहा था कि “दो राजा जो मधुर व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, उन्हें एक दूसरे से सीधा नहीं मिलना चाहिये। व्यक्तिगत प्रत्यक्ष वार्ता में इस बात का छर रहता है कि राज्याध्यक्ष कहीं एक दूसरे के विरोधी न हो जायें। हेनरी अष्टम और चार्ल्स पंचम द्विपक्षीय राजनय के कारण ही एक दूसरे से घणा करने लगे थे।

द्विपक्षीय राजनय का उपभोग कभी-कभी प्राचार के लिए भी किया जाता है। ऐसी स्थिति में यह एक महत्वाकांक्षी नेता के हाथों में विजय प्राप्त का साधन बन जाता है न कि न्यायोचित समझौते का आधार। प्रायः यह देखा गया है कि इस प्रकार की वार्ता में न तो निर्णय पूरे लिये जाते हैं और जो निर्णय लिये जाते हैं उन्हें समय की कमी के कारण उनको अधीनस्थ अधिकारियों पर छोड़ दिया जाता है। रूस और अमरीका के मधुर सम्बन्ध न बन सकने का यही एक कारण है।

### लाभ (Merits)

द्विपक्षीय राजनय द्वारा कभी-कभी व्यक्तिगत सम्पर्क से दो देशों के मध्य मैत्री सम्बन्ध दृढ़ हो जाते हैं। इस प्रकार के सम्मेलन द्वारा प्रत्यक्ष तथा शीघ्र निर्णय लिए जा सकते हैं जो उस समय की समस्या के समाधान के लिए उचित हो। यदि निर्णय नहीं भी लिये जाते तो राजनयिक प्रत्यनों से समझौते का रूप ले सकता है। द्विपक्षीय सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को भली-भांति समझने, अपने व अन्य के दृष्टिकोण को समझने का अच्छा साधन है। इसके माध्यम से लोकप्रियता भी प्राप्त की जा सकती है।

### दोष (Defects)

द्विपक्षीय राजनय का एक दोष यह है कि इसके द्वारा निर्णय जल्दी लिये जाते हैं जिनमें पूर्ण व परिपक्व विचारों का अभाव होता है। हर पक्ष अपनी सुविधानुसार इन निर्णयों का अलग-अलग मतलब लगाता है। इनके निर्णय को लागू करने में भी टालमटोल की जाती है। आज के किसी भी अति व्यस्त राज्याध्यक्ष के पास इतना समय नहीं होता कि वह जटिल समस्याओं को समझ सके। इसका परिणाम यह निकलता है कि इस तरह के सम्मेलन असफल रहते हैं। नेहरू-लियाकत पैक्ट एक ऐसा ही सम्मेलन था जिसके परिणामस्वरूप भारत-पाक के सम्बन्ध मधुर होने के बजाय बिगड़े। 1960 के पेरिस सम्मेलन में भी रूस और अमरीका के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण होने के स्थान पर खराब हुये।

द्वितीय महायुद्ध के बाद द्विपक्षीय राजनय का आज के युग में महत्व कम होता जा रहा है। अब इसका स्थान बहुपक्षीय राजनय ने ले लिया है।

### बहुपक्षीय राजनय (Multilateral Diplomacy)

19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय अधिसभाओं और सम्मेलनों के माध्यम से राजनय के प्रयोग का एक नया रूप "बहुपक्षीय राजनय" हमारे सामने आया है। आज के जटिल युग में अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें काफी जटिल हैं। अतः बहुपक्षीय सम्मेलनों के द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् बहुपक्षीय राजनय का विस्तार अत्यधिक हुआ है। यह राजनय की मुख्य प्रक्रिया बन गया है। बहुपक्षीय राजनय आधुनिक युग के लिये एक नई राजनयिक प्रविधि है जो परिवर्तित जटिल समस्याओं का सामना करने के लिये निकाली गई है। इसने राजनय के परम्परागत स्वरूप द्वितीय राजनय (Bilateral Diplomacy) के महत्व को कम महत्वपूर्ण बना दिया है। बहुपक्षीय राजनय को संयुक्त राजनय (Coalition Diplomacy) भी कहा जाता है।

आज की जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा राज्यों की बढ़ती हुई जनसंख्या से उत्पन्न समस्याओं ने बहुपक्षीय राजनय को जन्म देकर राजनय को एक नई क्रान्तिकारी तथा विश्वव्यापी संस्था बना दिया है। बहुपक्षीय राजनय का प्रारम्भ आधुनिक राज्य व्यवस्था के साथ हुआ है। आरम्भ में शान्ति स्थापना अथवा शान्ति सन्धि के लिए बुलाये जाते थे किन्तु बाद में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान हेतु इनका प्रयोग किया जाने लगा। राज्यों के मध्य मतभेदों को दूर करने अथवा समस्याओं के समाधान के लिये कोई भी राज्य बहुपक्षीय सम्मेलन बुला सकता है।

आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का बड़ा भाग बहुपक्षीय सम्मेलनों के माध्यम से ही पूरा होता है। बहुपक्षीय राजनय द्विपक्षीय राजनय के परम्परागत तरीकों से पूर्णतया भिन्न है। रेगेल के मतानुसार, "बहुपक्षीय राजनय राजनयिक संधि वार्ताओं की एक तकनीक है तथा राजनय के अन्य सभी पहलुओं की तरह प्रक्रिया में असंख्य जटिल नियमों से आबद्ध रहती है। (Multilateral Diplomacy is a technique of diplomatic negotiations and like all aspects of diplomacy is surrounded by numerous and complicated rules of procedure)"।

बहुपक्षीय राजनय के माध्यम से विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के निदान और शान्ति तथा सुरक्षा का लगातार प्रयास किया जा रहा है। भिन्न देशों के बीच सहयोग और सद्भाव को निरन्तर बनाये रखने के लिए शत्रु राज्यों के साथ शत्रुता कम करके अच्छे सम्बन्ध बनाने का प्रयास, आपसी मतभेदों को दूर करने तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थापना के लिये बहुपक्षीय राजनय का उपयोग किया जा रहा है। आज विश्व की अनेक जटिल समस्याओं के समाधान एवं विचार-विमर्श में लगभग सभी राज्य हिस्सा लेते हैं। नये उदीयमान छोटे राज्यों द्वारा बहुपक्षीय सम्मेलन में भाग लेने तथा बड़े राज्यों के समान अपना स्थान पाने की इच्छा उनके आर्थिक, तकनीकी, वैज्ञानिक विकास तथा राज्यों की एक दूसरे पर आत्मनिर्भरता ने बहुपक्षीय सम्मेलनों के महत्व को बढ़ा दिया है।

### लाभ (Merits)

राजनय के प्रारम्भिक काल में राजनयिक औपचारिकतायें अधिक बरतते थे। परन्तु बहुपक्षीय राजनय में व्यक्तिगत सम्पर्क मित्रता में बदल जाता है। यह मित्रता किसी समस्या के शीघ्र हल निकालने के लिए काफी लाभकारी सिद्ध होती है। जटिल समस्यायें जो

वर्षों से नहीं सुलझ पाती थीं, वे बहुपक्षीय सम्मेलन द्वारा सुलझ जाती हैं। बहुपक्षीय राजनय का एक महत्वपूर्ण योगदान राज्याध्यक्षों के मध्य व्यक्तिगत सम्पर्क व मित्रता की सम्भावना प्रस्तुत करना है। बहुपक्षीय राजनय युद्ध को रोकने का महत्वपूर्ण उपाय माना जाता है। बहुपक्षीय राज्य में अनेक हितों के बीच सामंजस्य का प्रयास किया जाता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा मिलता है। इस प्रकार के राजनय से समय की बचत होती है।

### दोष (Defects)

बहुपक्षीय राजनय के अनेक दोष भी हैं। बहुपक्षीय सम्मेलनों में बार-बार मिलने पर राजनयिज्ञों में ईर्ष्या, वैमनस्य की भावना बढ़ने की सम्भावना रहती है। इन सम्मेलनों में जो वायदे और संधियां की जाती हैं उनको व्यवहार में पूरा न कर पाने के कारण भी विभिन्न राज्यों में मतभेद बढ़ते हैं तथा बहुपक्षीय राजनय का महत्व घटता है। जहां बहुपक्षीय राजनय व्यक्तिगत मित्रता तथा विश्वास को बढ़ाता है वही व्यक्तिगत शत्रुता और अविश्वास को भी इससे जन्म मिलता है। निकलसन का मत है कि राजनय से समय और धन का अपव्यय होता है।

बहुपक्षीय राजनय का प्रचलन और प्रभाव सदा एक सा नहीं रहता है वरन् परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। आज राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विकास द्विपक्षीय राजनय के स्थान पर बहुपक्षीय राजनय का विकास है।

### स्थायी मिशन : कार्य एवं भूमिका

14 मार्च 1975 में वियाना कन्वेंशन, जो सार्वभौमिक स्वरूप के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में राज्यों के प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित थी (Vienna Convention on the Representation of State in their Relations with International Organisation of a Universal Character) ने स्थायी मिशन को प्रभावित किया। इस कन्वेंशन के अनुच्छेद 1 के अनुसार, स्थायी मिशन का अर्थ एक ऐसे मिशन से है जो स्थायी स्वरूप का होता है। ऐसे राज्य का प्रतिनिधित्व करने के लिये संगठन को भेजा जाता है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य राज्य है। (Permanent Mission means a mission of permanent character, representing the state, sent by a state member of an international organisation to the organisation)।

वियाना कन्वेंशन के अनुच्छेद 6 में स्थायी मिशन के कार्यों का वर्णन किया गया जो निम्नलिखित हैं :-

1. संगठन में भेजने वाले राज्य का प्रतिनिधित्व करना।
2. संगठन के साथ तथा संगठन के अन्दर वार्तालाप करना।
3. संगठन से गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करना और इसके बारे में भेजने वाले राज्य की सरकार को रिपोर्ट देना।
4. संगठन की गतिविधियों में भेजने वाले राज्य की सहभागिता निश्चित करना।
5. संगठन के सम्बन्ध में भेजने वाले राज्य के हितों की रक्षा करना।
6. संगठन के साथ तथा संगठन के अन्दर सहयोग करके संगठन के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों को प्राप्त करना।

# संयुक्त राष्ट्रसंघ : संरचना एवं कार्यप्रणाली (U.N.O. : Structure and Working)

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद युद्धों के निवारण एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिये राष्ट्रसंघ (League of Nations) अस्तित्व में आया जो अनेक कमजोरियों और तत्कालीन महाशक्तियों के असहयोग के कारण अपने लक्ष्य में असफल हुआ। सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ जो अपार जन-धन के विनाश के पश्चात् सन् 1945 में समाप्त हुआ।

द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होते ही मित्र राष्ट्र एक नया प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की योजना बनाने लगे। युद्ध-काल में ही नयी विश्व संस्था के उद्देश्यों को स्पष्ट करने के लिये अनेक कदम उठाये गये। 12 जून, 1941 को मित्र-राष्ट्रों — ब्रिटेन, कनाडा, फ्रांस, आस्ट्रेलिया आदि ने घोषित किया कि वे पथक शान्ति स्थापित नहीं करेंगे। उन्होंने कहा कि शान्ति स्थापित करने का एकमात्र आधार विश्व के सभी प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों का ऐच्छिक सहयोग है ताकि युद्ध एवं आक्रमण का भय समाप्त हो जाये। इसके पश्चात् विश्व संगठन की स्थापना के बारे में राजनेताओं में मुलाकातों तथा सम्मेलनों के दौर चले। 14 अगस्त, 1941 को अटलांटिक घोषणा में ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल एवं अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने विश्व शान्ति स्थापित करने के कुछ सिद्धान्तों की विवेचना की। दोनों राजनीतिज्ञों ने अपने राष्ट्रों की ओर से नीतियों व सिद्धान्तों की घोषणा करते हुए कहा कि "हम साम्राज्य विस्तार या किसी नवीन प्रदेश पर अधिकार नहीं चाहते। हम चाहते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का शासन लोकमत के आधार पर ही चले, सभी राष्ट्रों में पारस्परिक आर्थिक सहयोग ओ, युद्ध के पश्चात् पराजित राज्य पुनः प्रतिष्ठित हो तथा उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो एवं प्रत्येक राष्ट्र युद्ध सामग्री में कमी करे और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये प्रयास करे।" इस अटलांटिक घोषणा (Atlantic Charter) को संयुक्त राष्ट्रसंघ का जनक माना जाता है। इस घोषणा पर बाद में सोवियत संघ ने भी हस्ताक्षर कर दिये।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की दिशा में द्वितीय चरण के रूप में अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, चीन आदि 26 राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा पर हस्ताक्षर करते हुये अटलांटिक घोषणा को स्वीकार किया। मई-जून, 1943 में 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने एक खाद्य एवं कृषि सम्मेलन में लाखों शरणार्थियों की भोजन-समस्या पर विचार-विमर्श किया तथा इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय एवं कृषि संगठन की नींव डाली।

30 अक्टूबर, 1943 को मास्को में अमेरिकी, ब्रिटिश, चीनी एवं सोवियत विदेश मंत्रियों ने एक संयुक्त घोषणा की। इस घोषणा में कहा गया कि, "जितनी जल्दी संभव हो सके, एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करने की आवश्यकता वे महसूस करते हैं। यह संगठन सभी शान्तिप्रिय राष्ट्रों की सम्प्रभुता पर आधारित होगा। ऐसे सभी छोटे-बड़े राज्य इसके सदस्य बन सकेंगे। इसका उद्देश्य होगा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखना।"

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के सम्बन्ध में आगे विचार करने के लिये ईरान की राजधानी तेहरान में नवम्बर, 1943 में एक महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ। राष्ट्रपति रूजवेल्ट एवं मार्शल स्टालिन पहली बार परस्पर मिले। सभी राष्ट्रों के सहयोग से विश्व शान्ति स्थापित करने की भावना को दोहराया गया। उनका विश्वास था कि संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के बाद विश्व का प्रत्येक व्यक्ति सुखी एवं स्वतंत्र जीवन यापन कर सकेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ के बारे में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय सोवियत संघ के प्रान्त क्रीमिया के याल्टा नगर में लिये गये। 14 फरवरी, 1944 को वहां स्टालिन, चर्चिल एवं रूजवेल्ट का एक शिखर सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में ही सुरक्षा परिषद् में मतदान प्रणाली पर महत्वपूर्ण निर्णय संभव हो सका।

मित्र राष्ट्रों ने अपने उपरोक्त प्रयासों से यह स्पष्ट कर दिया कि वे ईमानदारी से एक विश्व संगठन की स्थापना करना चाहते हैं। अतः इस संगठन की संविधान-रचना के लिये 21 अगस्त, 1944 से 7 अक्टूबर, 1944 तक वाशिंगटन के एक भवन डम्बर्टन आक्स में अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत संघ एवं चीन के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ, जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंगों — महासभा, सुरक्षा परिषद्, सचिवालय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध में विचार किया गया। सम्मेलन में चार्टर का प्रथम प्रारूप तैयार किया गया। संघ के सचिवालय द्वारा कार्यों को अधिक दक्षतापूर्वक सम्पन्न कराने हेतु एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् बनाने के सुझाव दिये गये। सम्मेलन में पश्चिमी राष्ट्रों एवं सोवियत संघ में कुछ मतभेद दिखायी दिये। सोवियत संघ का कहना था कि विश्व-संस्था में पूंजीवादी राज्यों का बहुमत रहेगा, अतः उस पर निषेधाधिकार दिया जाना चाहिये। इसके विपरीत अमेरिका निषेधाधिकार को सीमित करना चाहता था। सम्मेलन में विश्व संगठन की स्थापनार्थ जो सुझाव रखे गये थे वे 9 अक्टूबर, 1944 को प्रकाशित किये

गये। इन सुझावों के 12 अध्याय थे, किन्तु कोई प्रस्तावना नहीं थी। डर्बर्टन ऑक्स प्रस्तावों में ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की कल्पना की गयी जिसमें पुराने राष्ट्रसंघ के अनेक तत्व पाये जाते थे, लेकिन साथ ही उसमें कुछ ऐसे विचारों का समावेश भी था जिसमें राष्ट्रसंघ की त्रुटियों से सबक लिया जा सके। यहां पर आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग को अधिक बढ़ावा दिया गया था। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख अंगों—महासभा, सुरक्षा परिषद्, सचिवालय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध में निर्णय लिया गया। डर्बर्टन ओक्स प्रस्तावों में महासभा एवं सुरक्षा परिषद् की कार्यप्रणाली पर तो सहमति हो गयी लेकिन सुरक्षा परिषद् में मतदान प्रणाली के सम्बन्ध में सोवियत संघ एवं पश्चिमी राष्ट्रों के बीच मतभेद बने ही रहे।

डर्बर्टन ओक्स के मतभेदों को फरवरी, 1945 में याल्टा सम्मेलन में दूर करने का प्रयास किया गया। सुरक्षा परिषद् में मतदान पद्धति के सम्बन्ध में यह निर्णय लिया गया कि परिषद् प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों (Procedural Matters) में 11 सदस्यों में से 7 के बहुमत से तथा अन्य आवश्यक विषयों (Substantive Matters) में 7 स्वीकारात्मक मतों से निर्णय लेगी। इसमें सुरक्षा-परिषद् के पांचों स्थायी सदस्यों—ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, चीन एवं सोवियत संघ में सहमति और मतैक्य आवश्यक होगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को अन्तिम रूप देने के लिये सान फ्रांसिस्को में सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन अप्रैल से जून 1945 को 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिये। पोलैण्ड का प्रतिनिधित्व सम्मेलन में नहीं हुआ था, उसने बाद में इस चार्टर पर हस्ताक्षर कर दिये। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के कुल 51 प्रारम्भिक सदस्य थे। आधिकारिक रूप से संयुक्त राष्ट्रसंघ, ब्रिटेन तथा बहुसंख्यक अन्य हस्ताक्षरकर्ताओं द्वारा की गयी थी। 24 अक्टूबर प्रतिवर्ष संयुक्त राष्ट्र दिवस के रूप में मनाया जाता है। संघ का प्रधान कार्यालय पहले लेक-सक्सेस (अमेरिका) में रखा गया और बाद में न्यूयार्क के एक विशाल भवन से स्थानांतरित कर दिया गया। जब संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तो राष्ट्रसंघ औचारिक रूप से अस्तित्व में था। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के कार्यालय जेनेवा एवं मांट्रियल में थे और संघ के सामाजिक व आर्थिक कार्यक्रम वाशिंगटन, लन्दन, जेनेवा एवं प्रिंसटन में चल रहे थे। एतदर्थ यह समस्या उत्पन्न हुई कि राष्ट्रसंघ को किस प्रकार भंग किया जाये और उसके भवनों व पुस्तकालयों की सम्पत्ति का क्या किया जाये। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अधिकांश सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों को अपने हाथों में ले लिया तथा राष्ट्रसंघ के भवनों व अन्य सम्पत्ति को अपने अधिकार में कर लिया। 18 अप्रैल, 1946 को राष्ट्रसंघ की सभा ने अपनी आखिरी बैठक में एक प्रस्ताव पारित करके स्वयं अपने का भंग करने की घोषणा कर दी।

### चार्टर की प्रस्तावना (Preamble of the Charter)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान को घोषणा-पत्र या चार्टर (Charter) कहते हैं। चार्टर की प्रस्तावना (Preamble) बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह प्रस्तावना इस प्रकार है—

“संयुक्त राष्ट्रों के हम लोगों ने यह पक्का निश्चय किया है कि हम आने वाली पीढ़ियों को उस युद्ध विभीषिका से बचायेंगे जिसने हमारे जीवन काल में ही दो बार मनुष्य मात्र पर अकथनीय दुःख ढाये हैं और कि हम मानवता के मूल अधिकारों में मानव की गरिमा और महत्व में और छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों के नर-नारियों के समान अधिकार में फिर आस्था पैदा करेंगे और हम ऐसी स्थिति पैदा करेंगे जिससे न्याय और उन दायित्वों का सम्मान कायम रहे जो सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दूसरे स्रोतों से हम पर पड़ते हैं और हम अधिक व्यापक स्वतन्त्रता द्वारा अपने जीवन का स्तर ऊँचा उठायेंगे और समाज को प्रगतिशील बनायेंगे। इन उद्देश्यों के लिये— हम सहनशील बनेंगे और अच्छे पड़ोसियों की तरह साथ मिलकर शांति से रहेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए अपनी शक्तियों का संगठन करेंगे और उन नियमों का पालन करेंगे और ऐसे साधनों से काम लेंगे जिनसे इस बात का विश्वास हो जाये कि अपने सामान्य हितों की रक्षा के अलावा हथियारबंद सेनाओं का प्रयोग नहीं किया जायेगा, और

सभी लोगों के सामाजिक और आर्थिक उत्थान को बढ़ावा देने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय साधनों का प्रयोग करेंगे। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिये हमने मिलकर प्रयत्न करने का निश्चय किया है।

इसलिए हमारी सरकारें अपने प्रतिनिधियों के रूप में सान-फ्रांसिस्को नगर में एकत्र हुई हैं। इन प्रतिनिधियों ने अपने अधिकार-पत्र दिखाये जिनको ठीक और उचित रूप में पाया गया है और उन्होंने संयुक्त राष्ट्रों के इस चार्टर को स्वीकार कर लिया है और इसके आधार पर वे अब एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना करते हैं जिसका नाम ‘संयुक्त राष्ट्रसंघ’ होगा।”

उपर्युक्त प्रस्तावना में इस महान संस्था के प्रयोजनों और सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। विश्व की इस महान संस्था पर विश्व शान्ति को सुरक्षित रखकर भावी पीढ़ियों के भविष्य को सुरक्षित रखने का महान उत्तरदायित्व है।



## प्रयोजन और सिद्धान्त (Purposes and Principles)

चार्टर के अनुच्छेद 1 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयोजनों (Purposed) और अनुच्छेद 2 में सिद्धान्तों (Principlex) का उल्लेख किया गया है।

(क) संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयोजन (Purposes) संक्षेप में निम्नानुसार हैं :-

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये सामूहिक तथा प्रभावशाली प्रयत्नों द्वारा शान्ति के सम्मुख आने वाली चुनौतियों को रोकना, दूर करना तथा आक्रमण और शांति भंग करने वाली चेष्टाओं को दबाना तथा न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के आधार पर उन अन्तर्राष्ट्रीय विवादों और स्थितियों का शांतिपूर्ण साधनों से सुलझाना जिससे शांति भंग होने की आशंका हो।
2. सब राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना।
3. आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं के समाधान के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना और बिना किसी भेदभाव के मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान को प्रोत्साहन देना।
4. संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक ऐसा केन्द्र बनाना जहां इन सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राष्ट्रों के अलग-अलग प्रयासों में सामंजस्य स्थापित किया जा सके।

(ख) उपर्युक्त प्रयोजनों को पूरा करने के लिए संघ और उसके सदस्य जो भी काम करें उनमें निम्नलिखित सिद्धान्तों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है-

1. संयुक्त राष्ट्रसंघ का आधार सब सदस्यों की सम्प्रभुता की समानता (Soverign Equality) का सिद्धान्त है अर्थात् संयुक्त राष्ट्रसंघ की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी महाशक्ति तथा मेनाडा अथवा तुवालू जैसा छोटा-सा राष्ट्र, दोनों समान महत्व रखते हैं।
2. सभी सदस्य अपने उन दायित्वों को ईमानदारी के साथ निभायेंगे जो उन्होंने चार्टर द्वारा अंगीकार किए हैं।
3. सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में किसी राज्य की अखण्डता तथा राजनीतिक स्वाधीनता के विरुद्ध न तो धमकी देंगे और न बल प्रयोग करेंगे। वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे जो संयुक्त राष्ट्र के प्रयोजन से मेल न खाता हो। इस तरह से संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर विवादों का समाधान करने में बल-प्रयोग का निषेध करता है।
4. सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण साधनों से इस प्रकार तय करेंगे कि विश्व की सुरक्षा, शान्ति और न्याय खतरे में पड़े।
5. सभी सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ को ऐसी हर कार्यवाही में सब तरह की सहायता देंगे जो चार्टर के अनुसार हो। वे ऐसे किसी भी राज्य की सहायता नहीं करेंगे जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ रोकथाकम की कोई कार्यवाही कर रहा हो।
6. संघ यह निश्चित व्यवस्था करेगा कि जो राज्य इसके सदस्य नहीं हैं वे भी अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिये इन्हीं सिद्धान्तों का पालन करेंगे।
7. चार्टर में जो कुछ कहा गया है उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ को किसी भी राज्य के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होगा।

### संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाषायें

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य करने की दो भाषायें हैं 1. अंग्रेजी, 2. फ्रेंच। चीनी, रूसी, अरबी तथा स्पेनिश वे अन्य भाषायें हैं जिन्हें संघ की मान्यता प्राप्त है। 1977 में तत्कालीन भारतय विदेशमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी ने संयुक्त राष्ट्र की महासभा को सम्बोधित करते हुए हिन्दी में भाषण दिया था। वे महासभा को हिन्दी में सम्बोधित करने वाले सबसे पहले भारतीय थे।

### संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्यालय

जॉन डी० राकफेलर ने 17 एकड़ भूमि इस विश्व-शान्ति संस्था के कार्यालय हेतु दान में दी थी। 17 एकड़ भूमि पर विशाल गगनचुम्बी 39 मंजिली इमारत मेनहेटन द्वीप पर अमेरिका के न्यूयार्क नगर में स्थित है। इसी में इसका सचिवालय है जिसमें लगभग 10.000 कर्मचारी काम करते हैं। यह कार्यालय 1952 में बनकर तैयार हुआ और इसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा की प्रथम बैठक अक्टूबर, 1952 में सम्पन्न हुई।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने के लिये निम्नलिखित शर्तों का पालन करना पड़ता है-

1. वह देश शान्तिप्रिय होना चाहिये एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों एवं नियमों को मानने को तैयार हो।
2. सुरक्षा परिषद् द्वारा उस देश की सदस्यता के लिए संस्तुति होनी चाहिये।

3. महासभा द्वारा सुरक्षा परिषद् की संस्तुति को 2/3 बहुमत द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिये।

संघ की सदस्यता दो प्रकार की है। कुछ देश प्रारम्भिक सदस्य हैं और कुछ को बाद में सदस्यता प्रदान की गई। प्रारम्भिक सदस्य (Original Members) वे 51 सदस्य राष्ट्र हैं जिन्होंने सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लिया था और चार्टर को स्वीकार किया था। दूसरे सदस्य वे हैं जिन्होंने संघ में उसके बाद प्रवेश किया। सदस्य बनाना तभी संभव है जब महासभा का दो-तिहाई बहुमत और सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति प्राप्त हो जाए। सुरक्षा परिषद् के वर्तमान पन्द्रह में से नौ सदस्यों का बहुमत तथा स्थायी सदस्यों का निर्णयात्मक मत इसके पक्ष में होना चाहिये। महासभा द्वारा निर्णय किये जाने से पूर्व सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति आवश्यक मानी जाती है।

सदस्यता की दृष्टि से संघ सार्वभौमिक है, किन्तु पांच बड़े राष्ट्रों (The Five Bigs) ने सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार का विशेष अधिकार ग्रहण कर रखा है ताकि वे परिस्थितियों अथवा वातावरण के प्रवाह को अपने पक्ष में नियमन कर सकें या स्थिति को अपने विपक्ष में जाने से रोक सकें। वास्तव में संघ में नये सदस्यों के प्रवेश के प्रश्न पर पूर्व में अमेरिकी और सोवियत गुट के बीच टकराहट होती रही थी। चार्टर में सदस्यता समाप्त करने की भी व्यवस्था है। ऐसे किसी भी सदस्य-राज्य को, जिस पर निरोधात्मक या दण्डात्मक कार्यवाही की गई हो, निलम्बित किया जा सकता है, लेकिन उपयुक्त समझे जाने पर उसे पुनः सदस्यता प्रदान की जा सकती है। इन दोनों ही स्थितियों के लिए सुरक्षा परिषद् की सिफारिश आवश्यक है। निलम्बन महासभा के निर्णय से होता है।

चार्टर में संघ की सदस्यता परित्याग करने की कोई व्यवस्था नहीं है, लेकिन सदस्य-राज्य सम्प्रभु होते हैं, अतः वे सदस्यता जब चाहें तब छोड़ सकते हैं। अपनी सार्वभौमिकता के इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति सुकर्णो के कार्यकाल में इण्डोनेशिया ने जनवरी, 1965 में संघ के पथक् होने के निर्णय किया। इण्डोनेशिया में जब जनरल सुहार्तो के नेतृत्व में नई सरकार का निर्माण हुआ, तो उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता पुनः प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की और 28 सितम्बर, 1966 को उसे फिर से संघ में शामिल कर लिया गया। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्रसंघ की बढ़ती सदस्य संख्या इस संगठन को एक सार्वभौम और विश्वव्यापी संगठन का स्वरूप प्रदान करती है।

### चार्टर में संशोधन की व्यवस्था (Arrangement of Amendment in the Charter)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में संशोधन की व्यवस्था अध्याय 18 में अनुच्छेद 108 और 109 के अन्तर्गत दी गई है। ये अनुच्छेद निम्नानुसार हैं :-

**अनुच्छेद 108** – वर्तमान चार्टर में जो संशोधन होंगे वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों पर तभी लागू हो सकेंगे जब उनको महासभा दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार कर ले और सुरक्षा परिषद् के सभी स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से उनकी पुष्टि कर दें

**अनुच्छेद 109** – इसमें तीन शर्तें मुख्य हैं—

1. जब कभी चार्टर के पुनरावलोकन की बात हो, तो उसके लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का एक सामान्य सम्मेलन किया जा सकता है, जिसकी तारीख, समय और स्थान महासभा दो-तिहाई बहुमत से और सुरक्षा परिषद् अपने किन्हीं सात सदस्यों के मत में तय करेगी। उस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हर सदस्य का एक वोट रहेगा।
2. यदि सम्मेलन में वर्तमान चार्टर का कोई परिवर्तन दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह तभी लागू हो सकेगा जब सुरक्षा परिषद् के सदस्य अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से उनकी पुष्टि कर दें।
3. चार्टर के क्रियान्वयन के बाद महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के एजेण्डा पर रखा जायेगा और अगर महासभा में बहुमत से और सुरक्षा परिषद् में किन्हीं सात सदस्यों के मत से यह स्वीकार कर लिया जाता है, तो ऐसा सम्मेलन बुलाया जा सकेगा।

### चार्टर की कुछ अन्य व्यवस्थाएं

संघ के चार्टर की कुछ अन्य उल्लेखनीय व्यवस्थाएं निम्नानुसार हैं—

**गुप्त संधियों और राजनयिक प्रणाली के विरुद्ध व्यवस्था** - इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 102 के अन्तर्गत व्यवस्था की गई है कि संघ के सदस्य हो सन्धियां या अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करेंगे (चार्टर के पास होने के बाद) उन्हें यथाशीघ्र संघ के सचिवालय में पंजीकृत कराया जाएगा और उसके बाद सचिवालय उन्हें यथाशीघ्र प्रकाशित करेगा। जिन सन्धियों और समझौतों को पंजीकृत नहीं किया गया उनकी शर्तों की दुहाई संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिी अंग के समक्ष नहीं दी जा सकेगी।

**चार्टर के दायित्वों को प्राथमिकता** – इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 103 में उल्लेख है कि—“यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य के वर्तमान चार्टर के दायित्व किसी दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के दायित्व के विरुद्ध पड़ते हों, तो उस स्थिति में वर्तमान चार्टर के दायित्वों को सर्वोपरि माना जायेगा।”

**सदस्यों के आवश्यक अधिकार, विशेषाधिकार आदि की व्यवस्था** – अनुच्छेद 104 और 105 के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं :-

- (क) संघ को अपने हर सदस्य देश में अपने कार्यों और प्रयोजन की पूर्ति के लिये आवश्यक कानूनी अधिकार प्राप्त होंगे।
- (ख) संघ को अपने हर सदस्य-देश में अपने प्रयोजनों की पूर्ति के लिये आवश्यक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां होंगी।
- (ग) उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के प्रतिनिधियों और अधिकारियों को संघ के कार्यों को स्वतन्त्र रूप से पूरा करने के लिए आवश्यक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां प्राप्त होंगी।

**आय** – संयुक्त राष्ट्रसंघ की आय सदस्य राज्यों के चन्दे पर आश्रित है। विभिन्न सदस्य एक निश्चित अनुदान सूची के अनुसार संघ के वार्षिक बजट में वार्षिक चन्दे के रूप में अपना अनुदान देते हैं। अनुदान की राशि राष्ट्र की देय शक्ति के अनुपात में निर्धारित की गई है। उदाहरणार्थ 1947 में निर्धारित राशि के अनुसार अमेरीका संघ के बजट का 39-9 प्रतिशत, ब्रिटेन 11.84 प्रतिशत, सोवियत संघ 7.40 प्रतिशत, फ्रांस 6 प्रतिशत, चीन 6 प्रतिशत, भारत 3.95 प्रतिशत अनुदान देते थे। सदस्य-राज्य अपने अनुदान में नियमित नहीं रहे हैं और उनकी टालमटोल की नीति के कारण कई अवसरों पर संघ को वित्तीय संकट का सामना करना पड़ा है। अनेक अवसरों पर तो संघ को अपने कर्मचारियों का वेतन चुकाने में भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। विगत वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इस संगठन को नियमित रूप से अपना अनुदान नहीं देने के कारण इसको विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है।

### संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग (Organs of the United Nations Organisation)

चार्टर के अनुच्छेद सात में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंगों (Organs) का उल्लेख है तदनुसार निम्नलिखित छः प्रमुख अंग हैं—

1. महासभा (General Assembly)
2. सुरक्षा परिषद् (Security Council)
3. आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council)
4. न्यास परिषद् (Trusteeship Council)
5. न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
6. सचिवालय (Secretariat)

चार्टर के अनुसार आवश्यकतानुसार अन्य सहायक अंग भी स्थापित किये जा सकते हैं। अनुच्छेद 8 में उल्लेख है कि “संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने प्रमुख या सहायक अंगों में समानता की दिशा में किसी भी हैसियत से काम करने के लिये किसी भी नर-नारी की पात्रता पर कोई पाबन्दी नहीं लगायेगा।”

### महासभा (The General Assembly)

महासभा या साधारण सभा संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण अंग है। सीनेटर वेण्डन वर्ग ने इसे संसार की ‘नागरिक सभा’ की संज्ञा दी है। इसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्थापिका सभा कहा जा सकता है। यद्यपि इसके प्रस्तावों को बाध्यकारी सत्ता प्राप्त नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य महासभा के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य को महासभा में 5 प्रतिनिधि तथा वैकल्पिक प्रतिनिधि (Alternative Delegates) भेजने का अधिकार है, किन्तु उसका मत एक ही होता है। महासभा का एक अध्यक्ष और 7 उपाध्यक्ष होते हैं। सदस्यों द्वारा प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुना जाता है।

महासभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्बर माह में आरम्भ होता है। वर्ष में एक अधिवेशन होना अनिवार्य है, परन्तु महामन्त्री, सुरक्षा परिषद् की अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर विशेष अधिवेशन भी आयोजित किया जा सकता है। महासभा के अब तक के इतिहास में अनेक बाद इसके विशेष अधिवेशन हो चुके हैं।

**महासभा में मतदान पद्धति** – महासभा में ‘एक राज्य एक वोट’ के सिद्धान्त को मान्यता देकर छोटे-बड़े राष्ट्रों का भेद समाप्त कर दिया गया है। महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय के लिए उपस्थित सदस्यों को दो-तिहाई बहुमत और साधारण प्रश्नों के निर्णय के लिये साधारण बहुमत आवश्यक माना जाता है।

**महासभा की समितियाँ** – महासभा का कार्य प्रमुखतः सात समितियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। प्रत्येक सदस्य इसमें अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है। ये सात समितियाँ हैं – (1) राजनीतिक और सुरक्षा समिति, (2) आर्थिक तथा वित्तीय समिति, (3) सामाजिक-मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति, (4) न्यास समिति, (5) प्रशासकीय एवं बजट समिति, (6) कानूनी समिति एवं (7) विशेष

राजनीतिक समिति। इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रक्रियात्मक (Procedural) समितियाँ भी होती हैं यथा सामान्य समिति जो उपर्युक्त समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करती हैं एवं प्रमाण-पत्र समिति (Credential Committee) जो प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों की जांच करती है।

### महासभा में संयोग एवं समूह

महासभा में सदस्य-राज्य निरन्तर एक-दूसरे से मिलते हैं। उनमें पर्दे के पीछे और खुले रूप में विभिन्न समस्याओं और प्रश्नों पर निरन्तर परामर्श होता रहता है। महासभा में राज्यों के समूह (Groups), संयोग अथवा गुटबन्धन (Coalitions), गुट (Blocks) आदि निरन्तर सक्रिय रहते हैं। आलोचकों के अनुसार इन संयोगों, समूहों और गुटों की गतिविधियों के फलस्वरूप महासभा द्वारा किसी निष्पक्ष निर्णय पर पहुंचने की संभावना कम हो जाती है। यह आरोप एक हद तक सही है तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि महासभा कोई दार्शनिकों या वैज्ञानिकों की सभा नहीं है। यह तो एक राजनीतिक निकाय (Political Body) है जो विभिन्न समस्याओं का सम्भावित समाधान खोजने का प्रयास करता है और सुनिश्चित करता है कि किस प्रकार समस्या के समाधान में सदस्यों का बहुमत प्राप्त किया जाये।

महासभा के प्रस्तावों में राज्यों के निम्नलिखित चार वर्गों का उल्लेख होता है—(1) लेटिन अमरीकी राज्य (Latin American States), (2) अफ्रीकी एवं एशियाई राज्य (African and Asian States), (3) पूर्वी यूरोप के राज्य (Eastern European States एवं (4) पश्चिमी यूरोपीय एवं दूसरे राज्य (Western European and Other States)। राज्य के इन वर्गों के अलग-अलग अथवा एक-दूसरे से मिलकर समय-समय पर विभिन्न समूह (groups) विकसित होते हैं।

### महासभा के कार्य और शक्तियाँ

महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के क्षेत्र में निहित सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती है। इसके प्रमुख कार्यों और शक्तियों का उल्लेख संक्षेप में निम्नानुसार है—

1. **शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी** — शान्ति और सुरक्षा कायम रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों के अनुसार सिफारिशें करना। इसमें निःशस्त्रीकरण और शस्त्रों के नियमन की सिफारिशें करना भी सम्मिलित है।
2. **शान्ति और सुरक्षा से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार सम्बन्धी** — शक्ति और सुरक्षा को प्रभावित करने वाली समस्याओं पर विचार-विमर्श करना तथा तत्सम्बन्धी सिफारिशें करना बशर्ते कि उन पर तब सुरक्षा परिषद् में विवाद न चल रहा हो।
3. **विभिन्न क्षेत्रों के विकास सम्बन्धी** — अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विका और संहिताकरण, मानव अधिकारों और मूलभूत स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति तथा सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में आवश्यक अध्ययन को प्रेरित करना तथा इन सब के विकास के लिए समुचित अभिशंसा करना।
4. **प्रतिवेदन प्राप्त करने सम्बन्धी** — सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों से रिपोर्ट या प्रतिवेदन प्राप्त करना और उन पर विचार करना।
5. **शान्तिपूर्ण समाधान सम्बन्धी** — राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को आघात पहुंचाने वाले किसी भी मामले के शान्तिपूर्ण समाधान के लिये सिफारिशें करना।
6. **न्यास समझौतों का अनुपालन निरीक्षण** — न्यास परिषद् के माध्यम से न्यास समझौतों के अनुपालन का निरीक्षण करना।
7. **निर्वाचन एवं नियुक्ति सम्बन्धी** — सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थायी सदस्यों, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के 27 सदस्यों और न्यास समझौतों के अनुपालन का निरीक्षण करना।
8. **बजट सम्बन्धी** — संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट पर विचार करना और उसे स्वीकार करना, राष्ट्रों के लिये चन्दे की राशि नियत करना और विशिष्ट अभिकरणों के बजटों की जांच करना।

### सुरक्षा परिषद् (Security Council)

सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। इसे व्यवहार में 'विश्व की सरकार' (World Government) की संज्ञा दी जा सकती है। सुरक्षा परिषद् 'संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल अंग (Key Organ of the U.N.) है। इसकी रचना संघ के कार्यकारी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग के रूप में की गई है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का मुख्य दायित्व इसी पर है। चार्टर की मूल व्यवस्था के अनुसार परिषद् में पहले 11 सदस्य थे — 5 स्थाई और 6 अस्थायी, किन्तु दिसम्बर, 1965 में चार्टर में एक संशोधन के अनुसार सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 15 कर दी गई है। अब 5 स्थाई और 10 अस्थायी सदस्य हैं। स्थायी सदस्य हैं — अमेरिका, रूस (सोवियत संघ

के स्थान पर), ब्रिटेन, फ्रांस और साम्यवादी चीन। परिषद् द्वारा निर्णयों के न्यूनतम आवश्यक मतों को बढ़ाकर 7 से 9 कर दी है। अवधि समाप्ति पर कोई सदस्य तुरन्त पुनः चुनाव में खड़ा नहीं हो सकता।

परिषद् का संगठन इस ढंग का है कि वह लगातार काम कर सके। इसलिये संघ मुख्यालय पर परिषद् के प्रत्येक सदस्य का प्रतिनिधि हर समय रहना आवश्यक है। कार्यविधि के नियमों के अनुसार परिषद् की बैठकों के बीच 14 दिन से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिये। परिषद् मुख्यालय के अलावा इच्छानुसार अन्यत्र भी अपनी बैठक कर सकती है। अपने कार्यों के समुचित निर्वाह के लिये वह सहायक अंगों की स्थापना कर सकती है। अपने कार्यों के समुचित निर्वाह के लिये वह सहायक अंगों की स्थापना कर सकती है। परिषद् की दो स्थायी समितियां (Standing Committees) हैं—(क) विशेषज्ञ समिति जो कार्यविधि की नियमावली का काम देखती है, एवं (ख) नवीन सदस्यों के प्रवेश का काम देखने वाली समिति। इनके अतिरिक्त परिषद् समय-समय पर तदर्थ समितियों और आयोगों की नियुक्ति करती रहती है। सैनिक आवश्यकताओं, शस्त्रों के नियंत्रण आदि पर स्वतन्त्र परामर्श और सहायता के लिये एक सैनिक स्टॉफ समिति (Military Staff Committee) होती है। परिषद् के अधीन एक निःशस्त्रीकरण आयोग है जिसकी स्थापना जनवरी, 1952 में की गई थी।

परिषद् का सभापतित्व परिषद् के सदस्यों में से अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार सदस्य राष्ट्रों के नाम के क्रम से प्रतिमास बदलता रहता है। परिषद् के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक मत प्राप्त होता है।

### सुरक्षा परिषद् के कार्य और अधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से सुरक्षा परिषद् को व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं। चार्टर के अनुच्छेद 24 में यह व्यवस्था है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का प्रधान उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् का है और उसे यह देखना है कि संघ की ओर से प्रत्येक कार्यवाही जल्दी और प्रभावपूर्ण ढंग से हो। अनुच्छेद 25 के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का कर्तव्य है कि वे चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को मानें और उन पर अमल करें। सुरक्षा परिषद् की शक्तियों का उल्लेख चार्टर के 6, 7, 8 और 12वें अध्याय में किया गया है। इन अध्यायों के अनुसार शान्ति व सुरक्षा की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से परिषद् की शक्तियां निम्नलिखित हैं —

- 1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा** — अनुच्छेद 2 के अनुसार सुरक्षा परिषद् का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना है। परिषद् उन विवादों और परिस्थितियों पर तत्काल विचार करती है जो शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न कर रही हों अथवा जिनसे शान्ति भंग होने की संभावना हो। सुरक्षा परिषद् अपने कर्तव्यों को संघ के प्रयोजनों और सिद्धान्तों के अनुसार ही पूरा करती है। अनुच्छेद 24 में यह व्यवस्था कर दी गई है कि सुरक्षा परिषद् महासभा के विचार के लिए वार्षिक रिपोर्ट या जरूरत पड़ने पर विशेष रिपोर्ट प्रस्तुत करेगी।
- 2. विवादों का शांतिपूर्ण समाधान** — सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिये आवश्यक कार्यवाही करती है। चार्टर के अनुच्छेद 33 से 38 तक विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे से सम्बन्धित है।
- 3. शान्ति के लिये व्यवस्थायें** — सुरक्षा परिषद् शान्ति के लिये खतरनाक, शान्ति भंग करने वाले और आक्रामक कार्यों के सम्बन्ध में कार्यवाही करती है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 39 से 51 में आवश्यक व्यवस्थाएं दी गई हैं। सुरक्षा परिषद् ही यह निर्णय करती है कि कौनसी चेष्टाएं शान्ति को खतरे में डालने वाली, शान्ति भंग करने वाली और आक्रामक समझी जा सकती हैं। वह सिफारिश करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने अथवा उसे फिर से स्थापित करने के लिये निम्नांकित में से कौनसी कार्यवाहियां करें—
  - (क) ऐसी कार्यवाहियां करें जिनमें हथियारबन्द सेना का प्रयोग न हो। परिषद् संघ के सदस्यों से पूर्ण या आंशिक रूप से आर्थिक सम्बन्ध समाप्त करने की मांग कर सकती है। इस कार्यवाही के अनुसार समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधनों पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं या राजनीतिक सम्बन्ध तोड़े जा सकते हैं।
  - (ख) यदि सुरक्षा परिषद् इस कार्यवाही को अपर्याप्त समझे, तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने या पुनः स्थापित करने के लिए जल, थल और वायु सेनाओं का प्रयोग कर सकती है। इस कार्यवाही के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों की सहायता से कोई अन्य कार्यवाही कर सकती है।
- 4. सैनिक सहायता** — अनुच्छेद 43 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य राज्य वचनबद्ध हैं कि "सुरक्षा परिषद् के उपयोग के लिये जो सशस्त्र सेनाएं दी जायेंगी उनका युद्ध सम्बन्धी निर्देशन सैनिक स्टॉफ समिति के हाथ में रहेगा और यह समिति सुरक्षा परिषद् के अधीन रहेगी। परिषद् द्वारा अधिकृत किये

जाने पर सैनिक स्टॉफ समिति अपनी प्रादेशिक उप-समितियां भी बना सकती हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान में यह व्यवस्था है कि सैनिक स्टॉफ समिति का काम सुरक्षा परिषद् को इन प्रश्नों पर सलाह और सहायता देना होगा—(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए सैनिक आवश्यकताएं, (ii) उसके अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान, (iii) शस्त्रों पर नियंत्रण एवं (iv) सम्भावित निःस्त्रीकरण। सैनिक स्टॉफ समिति के सदस्य सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के मुख्य सेना-अध्यक्ष (Chief of Staff) या उनके प्रतिनिधि होंगे।

6. **निर्णयों पर कार्यवाही की वचनबद्धता** – अनुच्छेद 48 के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयों पर जो कार्यवाही की जायेगी वह परिषद् के निर्णय के अनुसार संघ के सभी सदस्यों को या उनमें से कुछेक को करनी होगी। अनुच्छेद 49 की व्यवस्था के अनुसार सुरक्षा परिषद् के सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे उनकी सूचना तुरन्त सुरक्षा परिषद् को देंगे पर चार्टर के अनुसार इससे सुरक्षा परिषद् के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना पर पुनर्स्थापना के लिए जब कभी जो कार्यवाही आवश्यक समझे, कर सकती है।
7. **सुरक्षा परिषद् से परामर्श** – अनुच्छेद 50 के अनुसार जब सुरक्षा परिषद् किसी राष्ट्र के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर रही हो तो उस समय हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष आर्थिक समस्याएं उठ खड़ी हों। ऐसी स्थिति में उस राष्ट्र को चाहे वह संघ का सदस्य हो या नहीं, अपनी समस्याओं को हल करने के लिये सुरक्षा परिषद् से परामर्श करने का अधिकार होगा।
8. **प्रादेशिक संगठन एवं अभिकरण** – स्थानीय विवादों के समाधान के लिये सुरक्षा परिषद् प्रादेशिक संठनों और अभिकरणों को माध्यम के रूप में प्रदान कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन का अभिकरण अपने क्षेत्रों में शांति और सुरक्षा के लिए जो कदम उठाते हैं उनकी सूचना उन्हें वियमित रूप से सुरक्षा परिषद् को देनी पड़ती है।
9. **सामरिक महत्त्व के क्षेत्र** – सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जो दायित्व ग्रहण किया है उसका निर्वाह करने का उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् पर है। संरक्षित प्रदेशों के किसी भी राष्ट्र को संरक्षण देते समय संरक्षण सम्बन्धी शर्तें सुरक्षा परिषद् द्वारा ही तय की जाती हैं। वहीं इन शर्तों में संशोधन कर सकती है। यदि ऐसे कुछ क्षेत्र सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के संरक्षण में हों, तो इन क्षेत्रों को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति के लिये सुरक्षा परिषद् आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। वर्तमान में लगभग सभी संक्षिप्त राष्ट्र स्वतन्त्र हो चुके हैं, अतः उस व्यवहार में इस प्रावधान का केवल प्रतीकात्मक महत्त्व रह गया है।

सुरक्षा परिषद् को अपेक्षाकृत कुछ कम महत्त्वपूर्ण शक्तियां सौंपी गई हैं जिनमें अधिकांश का प्रयोग वह महासभा के साथ मिलकर करती है। ये कार्य निर्वाचनात्मक (Elective), अभिक्रियात्मक अर्थात् पहल करने सम्बन्धी (Initiatatory) एवं निरीक्षणात्मक (Supervisory) हैं। चार्टर द्वारा परिषद् को ये कार्य इस दृष्टि से सौंपे गये हैं कि महाशक्तियां महत्त्वपूर्ण संगठनात्मक मामलों पर अपना कुछ नियंत्रण रख सके। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश के चुनाव में परिषद् का मुख्य हाथ रहता है।

### **आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council)**

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् (ECOSOC) संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रमुख अंगों में से एक है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के निर्देशन में कार्य करती है।

**उद्देश्य** – आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् एक समन्वयी अभिकरण है। इसके उद्देश्य निम्नांकित हैं—

(अ) उच्च जीवन स्तर, पूर्ण रोजगार, आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति एवं विकास की अवस्थायें, (ब) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं स्वास्थ्य और उनसे सम्बन्धित समस्याओं का समाधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी सहयोग एवं (स) जाति, लिंग, भाषा या धर्म के पक्षपात बिना मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिए समान छवि की अभिवृद्धि करना तथा सर्वत्र उनका पालन करना।

**सदस्यता** – संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् को सदस्य संख्या 18 रखी गई थी। 1965 के संशोधन द्वारा उसे बढ़ाकर 27 तथा 1971 के संशोधन द्वारा 54 कर दिया गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य संख्या में वृद्धि को देखते हुए इसकी सदस्य संख्या में वृद्धि की गई। सदस्यों का निर्वाचन संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिये किया जाता है। सदस्य बार-बार निर्वाचित हो सकते हैं, किन्तु इस परिषद् में स्थायी सदस्यता का प्रावधान नहीं है तथापि पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था के कारण कुछ शक्तिशाली एवं औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश इसके स्थायी सदस्य जैसे ही बन गये हैं। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र इस परिषद् के लिये

प्रतिनिधि भेजता है। एक प्रतिनिधि एक मत के अनुसार सभी राष्ट्र इसमें समान हैं। इसका वर्ष में दो बार अधिवेशन होता है। कोई भी प्रस्ताव आधार पर बहुमत से पारित होता है। अपने कार्यों के लिये यह परिषद् महासभा के प्रति उत्तरदायी है।

अपने कार्यों को सम्पादित करने के लिये परिषद् ने चार क्षेत्रीय आर्थिक आयोगों तथा आठ कृत्यात्मक आयोगों का गठन किया है। क्षेत्रीय आर्थिक आयोग—यूरोप के आर्थिक आयोग (E.C.E.), एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिये आर्थिक आयोग (E.C.A.F.E.), लैटिन अमेरिका के लिये आर्थिक आयोग (E.C.L.A.) एवं अफ्रीका के लिये आर्थिक आयोग (E.C.E.)। कृत्यात्मक आयोग, मूर्च्छाकारी औषधि आयोग, मानव अधिकार आयोग तथा भेदभाव—निवारण और तथा अल्पसंख्यक—सुरक्षा उप—आयोग एवं अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु व्यापार आयोग। यह परिषद् स्थायी समितियों, अस्थाई समितियों तथा विशेष समितियों के माध्यम से उत्तरदायित्व निभाने का प्रयास करती है।

## परिषद् के कार्य

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के कार्य निम्नानुसार विश्लेषित किये जा सकते हैं—

**1. अध्ययन तथा प्रतिवेदन** — संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर के अनुच्छेद 62 के द्वारा परिषद् को अध्ययन तथा प्रतिवेदन का कार्य सौंपा गया है। वह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य आदि विषयों का अध्ययन करके महासभा के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकती है। इस परिषद् ने शरणार्थी समस्या के, आवासीय गहों की अपर्याप्तता, युद्ध में ध्वस्त क्षेत्रों के पुनर्निर्माण व महिलाओं की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का समय-समय पर अध्ययन किया है।

**2. विचार-विमर्श तथा संस्तुतियाँ** — संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के 62 वें अनुच्छेद में एक व्यवस्था यह है कि आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् महासभा, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों तथा विशिष्ट अभिकरणों के समक्ष आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक आदि विषयों पर संस्तुतियाँ प्रस्तुत कर सकती है। परिषद् मानव अधिकारों तथा व्यक्ति की मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान में वृद्धि एवं उनके पालन के लिये संस्तुति कर सकती है। परिषद् की कोई संस्तुति अथवा निर्णय बाध्यकारी नहीं है। इस परिषद् की उपयोगिता इसी में है कि इसकी संस्तुतियों को सदस्य राष्ट्र स्वीकार करें एवं उन्हें क्रियान्वित करें। परिषद् सदस्य-राज्यों को मनाने व समझाने की प्रक्रिया ही अपनाती है। अतः इस दृष्टि से परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भावना विकसित करने का कार्य करती है। परिषद् अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों पर अभिसमयों का प्रारूप तैयार करती है जिससे कि उन्हें महासभा के विचारार्थ प्रस्तुत किया जा सके। वह अपने कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत कार्यों के लिये नियमों के अन्तर्गत कार्यों के लिये नियमों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन भी कर सकती है।

**3. समन्वय अथवा तालमेल** — संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण विविध क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करते हैं। चार्टर के अनुच्छेद 57 के अनुसार परिषद् विशिष्ट अभिकरणों से समझौते कर सकती है। परिषद् ने ऐसे समझौते अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I.L.O.), यूनेस्को (UNESCO), विश्व स्वास्थ्य संगठन (F.A.O.), विश्व डाक-संघ (W.P.O.), अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) आदि संस्थाओं के साथ किए हैं। इन समझौतों का उद्देश्य इन विशिष्ट अभिकरणों को निश्चित दिशा में कार्य करने की प्रेरणा देना एवं इनके मध्य समन्वय स्थापित करना है जिससे कि आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के समन्वित समाधान प्राप्त हो और मानव मात्र का हित सिद्ध हो सके। परिषद् इन अभिकरणों से प्रतिवेदन मांग सकती है व संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों को इन अभिकरणों की सेवायें उपलब्ध करा सकती है। परिषद् गैर-सरकारी संगठनों के साथ सीधे विचार-विमर्श कर सकती है।

अध्ययन, प्रतिवेदन, विचार-विमर्श, संस्तुति, सम्मेलन एवं समन्वय जैसे प्रमुख साधन के माध्यम से आर्थिक व सामाजिक परिषद् ने आर्थिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य व उनसे सम्बन्धित क्षेत्रों में सहायनीय कार्य किया है। परिषद् अपनी बात सतत प्रयास, समझाने की प्रक्रिया एवं आग्रह द्वारा स्वीकार करा सकती है। इसमें उसे पर्याप्त सफलता हुई है। संयुक्त राष्ट्र संघ के राजनीतिक कार्य भले ही संतोषप्रद न हों तथापि हमारे विश्वास की पुष्टि करते हैं कि विश्व के राष्ट्र एक-दूसरे के सुखों में समभागी होते हुए तथा दुःख में एक-दूसरे की सहायता करते हुए मिल-जुलकर चलते रहने को सदैव तत्पर हैं। इस दृष्टि से आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् का कार्य उल्लेखनीय है।

महासभा के अधीन होने के कारण यह महासभा के कार्यों को पूरा करने की अपेक्षा उनकी पुनरावृत्ति करती है। यह गाड़ी का पांचवां पहिया है आदि वाक्यों एवं आलोचना से परिषद् को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। यह आलोचना वास्तव में विश्व की परिस्थितियों को सही परिप्रेक्ष्य में न देखने के कारण की जाती है।

परिषद् की मुख्य स्थायी समितियाँ इस प्रकार हैं—प्राविधिक सहायता समिति, अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से सम्पर्क करने वाली समिति,

गैर-सरकारी संगठन या संस्थाओं से सम्बन्धित परामर्श समिति, कार्य-सूची समिति एवं अन्तरिम कार्यक्रम (Agenda) समिति। इन समितियों में प्राविधिक सहायता समिति सबसे महत्वपूर्ण है।

प्रो० फेनविक का यह मत सही है कि आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् कोई नीति निर्धारित करने वाली संस्था नहीं है वरन् विशिष्ट समिति के समान है जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व सामाजिक सहयोग के क्षेत्र में व्यावहारिक कार्य करता है। कुछ समालोचकों का मत है कि यह परिषद् "बातूनी सुरक्षा परिषद् की मौन बहिन है।"

### न्यास परिषद् (Trusteeship Council)

चार्टर के अध्याय 12 में अनुच्छेद 75 से 85 तक न्यास परिषद् की रचना, शक्तियों, कार्यविधियों आदि का उल्लेख किया गया है। पहले राष्ट्रसंघ में संरक्षण-व्यवस्था (Mandate System) थी और अब इसके स्थान पर इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती न्यास व्यवस्था अपनाई गई है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि विश्व में अनेक पिछड़े हुए तथा अविकसित प्रदेश हैं जिनका विकास तभी संभव है जब सम्य और विकसित देश उन्हें सहयोग प्रदान करें, अतः विकसित देशों का यह कर्तव्य है कि स्वयं को न्यासी (Trustee) सकझकर अविकसित प्रदेशों के हितों की देखभाल करें तथा उनके विकास में हर सम्भव सहयोग दें। राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था केवल जर्मन, तुर्की आदि पीड़ित प्रदेशों के लिए थी। वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाए गए सभी क्षेत्रों के लिए है। न्यास पद्धति के मूल उद्देश्य हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा में वृद्धि करना, (ख) न्यास प्रदेशों के निवासियों का स्वशासन की दिशा में विकास करना, (ग) मानवाधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना तथा यह भाव जाग्रत करना कि संसार के सभी लोग अन्योन्याश्रित हैं एवं (घ) समाजिक, आर्थिक, वाणिज्यिक मामलों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना।

न्यास पद्धति के अन्तर्गत समाविष्ट प्रदेश दो भागों में विभाजित है—अ-स्वशासित प्रदेश (Non-Self-governing Territories) एवं न्यास या संरक्षित प्रदेश (Trust Territories)। प्रथम प्रकार के अ-स्वशासित प्रदेश में वे पराधीन प्रदेश या उपनिवेश हैं जो संरक्षित प्रदेश न बने हों या ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी देशों के साम्राज्याधीन प्रदेश थे। न्यास प्रदेश वे हैं जो ऐसे न्याय-समझौतों द्वारा, जो सम्बन्धित राज्यों के मध्य होते हैं और जिन पर महासभा की स्वकृति अनिवार्य है, न्यास प्रदेश बना दिये जाते थे। कुछ वर्ष पूर्व न्यास पद्धति के अन्तर्गत न्यूगिनी व रूआण्डाउरुण्डा, फ्रेंच कैमरूप, फ्रेंच टोगोलैण्ड, पश्चिमी समोआ, टॉगानिका, ब्रिटिश कैमरूप, पेरू, प्रशान्त महासागर के द्वीप, सुमालीलैण्ड, टोगोलैण्ड नामक 11 देश थे जिनमें से बाद में केवल दो प्रदेश ही न्यास प्रदेश रह गए—न्यूगिनी तथा पपुआ। 1975 में ये भी स्वतन्त्र हो गये। इस तरह से न्यास परिषद् के प्रयत्नों से सभी न्यास क्षेत्र स्वतन्त्र हो गये हैं। यह न्यास परिषद् की एक महान् सफलता ही मानी जायेगा।

### संगठन एवं कार्य-प्रणाली

न्यास परिषद् का कार्य मार्च, 1947 से आरम्भ हुआ था। इस परिषद् में संघ के निम्नलिखित सदस्य शामिल हो सकते हैं—

- सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य, चाहे वे न्यास पर प्रशासन करते हैं अथवा नहीं,
- संयुक्त राष्ट्रसंघ के वे सदस्य जो न्यास-क्षेत्र का प्रशासन करते हों, एवं
- महासभा द्वारा तीनवर्ष के लिए निर्वाचित उतने सदस्य जितने न्यास परिषद् में न्यास-प्रदेशों पर शासन करने वाले और न करने वाले सदस्यों की संख्या को समान करने के लिए आवश्यक हों।

परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है। इसके निर्णय परिषद् में उपस्थित सदस्यों के बहुमत से किये जाते हैं। न्यास परिषद् अपनी कार्यविधि के नियम स्वयं बनाती है। अपने अध्यक्ष चुनने की विधि वह स्वयं निर्धारित करती है। न्यास परिषद् की बैठकें नियमानुसार की जाती हैं। सदस्यों की प्रार्थना पर विशेष बैठक बुलाई जा सकती है। यह परिषद् आवश्यकतानुसार आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् और अन्य संस्थाओं से सहायता ले सकती है।

### कार्य एवं अधिकार

न्यास परिषद् महासभा से आदेश प्राप्त करती है और न्यास प्रदेशों के शासन की देखरेख करती है। प्रशासी अधिकारी अपने प्रतिवेदन प्रतिवर्ष न्यास परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करते हैं जिन पर आवश्यक विचार-विमर्श करने के उपरांत परिषद् महासभा और सुरक्षा परिषद् को विभिन्न प्रकार की सिफारिशें भेजती हैं। न्यास परिषद् की सिफारिशें इस प्रकार की होती हैं जैसे—मूल, निवासियों को सरकार के विभिन्न अंगों में स्थान दिलाना, उनके वेतन एवं जीवन स्तर को उन्नत करना, चिकित्सा तथा अधिक लाभप्रद स्वास्थ्य सेवायें सुलभ कराना, दण्ड-पद्धति में सुधार, सामाजिक कुरीतियों का अन्त करके मूल निवासियों की कला एवं संस्कृति को प्रोत्साहन देना आदि-आदि। न्यास परिषद् न्यास-क्षेत्रों में होने वाले अणु विस्फोटों पर भी विचार-विमर्श कर चुकी है।



न्यास परिषद् का दूसरा मुख्य कार्य न्यास-प्रदेश के निवासियों के लिखित एवं मौखिक आवेदन पत्रों पर विचार करना है। यह परिषद् का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है जिसके माध्यम से परिषद् और न्यास-प्रदेशों की जनता में सीधा सम्पर्क हो जाता है।

न्यास परिषद् का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य समय-समय पर न्यास प्रदेशों को निरीक्षण मण्डल (Visiting Missions) भेजना है। इन मण्डलों के माध्यम से पराधीन प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखा जाता है। इनको परिषद् की आंख और कान कहा गया है। ये न्यास-प्रदेशों का आर्थिक विकास, शिक्षा-प्रसार, श्रम-व्यवस्था, सामाजिक-सुधार, भूमि-सुधार आदि से सम्बन्धित नीतियों का अध्ययन करते हैं और सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देते हैं। पिछड़े प्रदेशों की जटिल समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करने में इन निरीक्षण मण्डलों से बहुत सहायता मिलती है। न्यास परिषद् महत्वपूर्ण निर्णय स्वयं ही करती है तथा अपने कार्य को तत्परता से सम्पन्न करने अथवा किसी विशेष समस्या को हल करने के लिए समय-समय पर इसने कई समितियां भी स्थापित की हैं। जैसे-शिक्षा समिति, ग्रामीण विकास समिति एवं प्रशासी संघ समिति। महासभा की चौथी समिति और स्वयं महासभा ने न्यास-पद्धति के विकास में काफी हाथ बंटया है। न्यास परिषद् ने अपने कार्यकाल में बहुत से उपयोगी कार्य किए हैं। महासभा जनरल सी०पी० रोम्यूलो के अनुसार "न्यास व्यवस्था ने शीघ्रता से विकास किया और यह विकास विश्व में राजनीतिक नैतिकता का ऊँचा मापदण्ड है।" इस परिषद् ने गंभीर प्रयासों, महाशाक्तियों के सहयोग तथा बदलती राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप आज सभी न्यास भू-भाग स्थानीय कर दिए हैं, अतः न्यास परिषद् का अब मात्र प्रतीकात्मक महत्त्व ही रह गया है।

### अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The International Court of Justice)

यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का न्यायिक अंग है। यह उस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का नया रूप है जिसे राष्ट्रसंघ द्वारा 1921 में हेग में स्थापित किया था। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर तथा न्यायालय सम्बन्धी परिशिष्ट के आधार पर की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य-क्षेत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों के सभी विवादों तक व्याप्त है। गैर-सदस्य राज्य को भी सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का पक्ष बनाया जा सकता है। केवल राज्य ही इस न्यायालय के विचारणीय पक्ष हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं।

### संगठन

इस न्यायालय में केवल 15 न्यायाधीश होते हैं जिनका चुनाव सुरक्षा परिषद् एवं महासभा द्वारा 9 वर्ष के लिये किया जाता है और कार्यवाही की समाप्ति के बाद वे पुनः निर्वाचित हो सकते हैं। एक राज्य से दो न्यायाधीश नहीं लिये जा सकते। न्यायाधीश की पदच्युति भी हो सकती है जबकि वह सदस्यों की सर्वसम्मति से आवश्यक शर्तों को भंग करने का दोषी पाया जाये।

न्यायालय के विधान के अनुसार इसमें 15 स्थायी न्यायाधीशों के अतिरिक्त अस्थायी न्यायाधीश नियुक्त करने की भी व्यवस्था है। यदि न्यायालय में किसी ऐसे राज्य का मामला विचारणीय हो जिसका न्यायाधीशों में प्रतिनिधित्व नहीं है, तो वह मामले की सुनवाई के समय अस्थायी न्यायाधीश के रूप में अपना एक कानूनी विशेषज्ञ नियुक्त करा सका है। यह न्यायाधीश मामले की सुनवाई समाप्त होते ही पद से हट जाता है। उससे उस मामले के सम्बन्ध में कानेनी राय ली जाती है, किन्तु निर्णय में उसका कोई हाथ नहीं रहता। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की गणपूर्ति 9 रखी गई है। न्यायालय में सभी निर्णय बहुमत से लिये जाते हैं। बहुमत न होने पर सभापति का निर्णायक मत मान्य होता है। न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती है। न्यायालय की भाषा फ्रेंच तथा अंग्रेजी है। अन्य भाषाओं का भी अधिकृत रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

### न्यायिक निर्णयों का निष्पादन

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को क्रियान्वित कराने के लिए संघ के चार्टर की धारा 94 में व्यवस्था की गई है कि इसके अनुसार संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी मामले में विवाद होने पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को स्वीकार करेगा। यदि एक पक्ष न्यायालय के निर्णय को नहीं मानता, तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् का आश्रय ले सकता है। इस पर सुरक्षा परिषद् जैसा आवश्यक समझे वैसी सिफारिश अथवा कार्यवाही करेगी। न्यायालय के निर्णय यद्यपि सर्वसम्मति से किये जाते हैं, मतभेद की अवस्था में प्रत्येक न्यायाधीश अपना पथक् विचार निर्णय-पत्र के साथ संलग्न कर सकता है। न्यायालय के निर्णय को क्रियान्वित कराने के लिये आवश्यक कार्यवाही निश्चित करते समय सुरक्षा परिषद् के 9 सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक है। इसमें से पांच स्थायी सदस्य होने चाहिये। क्रियान्विती के उपायों की धारा 41 तथा 42 में प्रावधान है। प्रथम के अनुसार सुरक्षा परिषद् सैनिक-बल को छोड़कर ऐसे उपायों का प्रयोग कर सकती है जिनमें आर्थिक सम्बन्ध, रेल समुद्र, डाक, सैनिक-बल को छोड़कर ऐसे उपायों का प्रयोग कर सकती है जिनमें आर्थिक सम्बन्ध रेल, समुद्र, डाक, रेडियो, यातायात के साधन तथा राजनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद शामिल है। यदि वे उपाय सफल हो जायें तो धारा 42 के अनुसार सुरक्षा परिषद् जल, स्थल और वायु सेना द्वारा ऐसी कार्यवाही कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक हो।

## क्षेत्राधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

- (क) **ऐच्छिक क्षेत्राधिकार (Voluntary Jurisdiction)** — इस क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत न्यायालय अपनी संविधि (Statute) की धारा 36 के अनुसार उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है जिनको सम्बन्धित राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करे। केवी राज्य ही न्यायालय के विचारणीय पक्ष हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं।
- (ख) **अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Obligatory Jurisdiction)** — इसको वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार (Optional Compulsory Jurisdiction) कहा जाता है जिसके अनुसार राज्य स्वयं घोषणा द्वारा अग्रवर्णित क्षेत्रों में न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लेता है—सन्धि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से सम्बन्धित सभी मामले, किसी ऐसे तथ्य का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य का उल्लंघन समझा जाए एवं किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिणाम। घोषणा करते समय राज्य भी शर्त लगा सकता है। कभी-कभी तो ऐसी शर्तों के कारण यह घोषणा व्यावहारिक रूप से निरर्थक बन जाती है तथापि सशर्त होते हुए वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक और महत्वपूर्ण व्यवस्था है।
- (ग) **परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction)** — इस क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य किया जाता है। महासभा अथवा सुरक्षा परिषद् किसी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श कर सकती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंग तथा विशेष अभिकरण उनके अधिकार-क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय से परामर्श प्राप्त कर सकते हैं। परामर्श के लिये न्यायालय के सम्मुख लिखित रूप से प्रार्थना की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है और सिद्धान्त रूप में सुरक्षा परिषद् महासभा या अन्य संस्था इसको मानने के लिये बाध्य नहीं है, परन्तु व्यवहार में ऐसा करना सर्वथा कठिन होता है।

## मूल्यांकन

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण विवादों के समाधान में सहयोग दिया है। इस सम्बन्ध में मोरक्को का मामला, एंग्लो-ईरानियन मामला, भारतीय प्रदेशों में से पुर्तगाल को मार्ग देने के अधिकार का प्रश्न, कोफू चैनल विवाद, एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह विवाद आदि को लिया जा सकता है। न्यायालय के कार्य संचालन में राज्यों के असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण के कारण यह अधिक उपयोगी तथा शक्तिशाली संस्था का रूप नहीं ले सकी है क्योंकि राज्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय बाध्यकारी नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अपने निर्णय तथा सलाहकारी मतों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्वपूर्ण योगदान मिला है। न्यायाधीश लाउटरपैक्ट ने लिखा है कि दीर्घकाल में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास करना उनके सफलतापूर्वक कार्य सम्पादन और क्षेत्राधिकार के लिए एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है तथा इसमें संदेह नहीं है कि इस महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने की है। यह कम बात नहीं है कि प्रतिकूल परिस्थितियों और विभिन्न सीमाओं के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना काम बड़ी कुशलता से किया है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को एक ऐसे विश्व समाज में काम करना पड़ रहा है जो आज भी इसे महत्वपूर्ण मामले सौंपने को तैयार नहीं है अथवा वे कार्य भी इसे देने को तैयार नहीं है जो चार्टर में इसके लिये निर्देशित हैं। न्यायालय को अधिक कार्यक्षेत्र देने और प्रभावी बनाने के लिए इस स्थिति में परिवर्तन लाना अपरिहार्य है। कुछ विधि-शास्त्रियों का मत है कि न्यायालय की संविधि में संशोधन करके इसे सुधारा जा सकता है तथापि न्यायाधीश जैसफ का यह मत उपयुक्त प्रतीत होता है कि दोष संविधि का नहीं है वरन् यह है कि राज्य न्यायालय का अधिक उपयोग करने के प्रति उदासीन हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ही है जिसने संयुक्त राष्ट्र के किसी अन्य अंग से अधिक आज के अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नई गतिशीलता प्रदान की है।

## सचिवालय (Secretariat)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के सम्पादन के लिये एक सचिवालय की स्थापना की गई है। चार्टर के अध्याय 15 में अनुच्छेद 97 से 101 तक सचिवालय से सम्बन्धित हैं। यह सचिवालय सामान्यतः राष्ट्रसंघ (लीग) के सचिवालय का प्रतिरूप है।

## संगठन एवं विभाग

सचिवालय में एक महासचिव और वे कर्मचारी सम्मिलित होते हैं जो संघ के कार्य-सम्पादन के लिए आवश्यक हों। महासचिव सचिवालय की सहायता से अपने सब कार्य सम्पादित करता है। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा की जाती है। वहीं संघ का प्रमुख अधिशासक अधिकारी है। संघ के पदाधिकारियों या कर्मचारियों की नियुक्ति महासचिव द्वारा

निर्धारित नियमों के अनुसार की जाती है, कर्मचारियों की भर्ती और उनकी सेवा-शर्तों को निर्धारित करने में सबसे अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि वे कुशल और ईमानदार हों। महासचिव यह भी ध्यान रखता है कि भर्ती अधिक से अधिक विस्तृत भौगोलिक आधार पर हो। अनुच्छेद 101 में यह व्यवस्था है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् को स्थायी रूप में यथोचित कर्मचारी उपलब्ध कराये जायेंगे और संघ के अन्य अंगों को आवश्यकतानुसार कर्मचारी दिये जायेंगे। ये सभी कर्मचारी सचिवालय के अंग होंगे।

महासचिव और उसके कर्मचारी केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति निष्ठावान होते हैं। अनुच्छेद 100 में स्पष्ट उल्लेख है कि "अपने कर्तव्यों की पूर्ति में महासचिव और कर्मचारी किसी राज्य से या संघ के बाहर किसी अन्य अधिकारी से परामर्श नहीं मानेंगे और न प्राप्त करेंगे। वे अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी हैं और केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति उत्तरदायी हैं।"

संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रत्येक सदस्य वचनबद्ध है कि वह महासचिव और उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को स्वीकार करेगा। प्रत्येक सदस्य-राज्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह महासचिव और कर्मचारियों के दायित्वों के निर्वाह में किसी प्रकार का दबाव डालने की चेष्टा नहीं करेगा।

सचिवालय प्रशासनिक और अन्य कार्यों की दृष्टि से अनेक विभागों में विभक्त है। इसके प्रमुख विभाग आर्थिक विषय सम्बन्धी विभाग, सामाजिक कार्य सम्बन्धी विभाग, न्याय तथा अ-स्वशासित क्षेत्रों से सूचना सम्बन्धी विभाग, सम्मेलन एवं सामान्य सेवायें, प्रशासकीय एवं वित्तीय सेवायें तथा वैधानिक या कानूनी विभाग हैं। महासचिव की सहायता के लिए एक कार्यकारी सहायक और एक टेक्नीकल-सहायक प्रशासक भी होता है। टेक्नीकल-सहायक प्रशासक एक महासंचालक की देख-रेख का कार्य करता है। 1 जनवरी, 1955 से महासचिव का कार्यभार कम करने के लिए 7 अवर सचिवों की भी नियुक्ति की गई है। महासचिव के कार्यालय से अनेक सम्बन्धित हैं। जैसे-महासचिव के कार्यकारी सचिव का कार्यालय, वैधिक विषयों का कार्यालय, नियन्त्रक कार्यालय, सेवीवर्ग कार्यालय तथा विशेष राजनीतिक कार्य-सम्बन्धी उपसचिव का कार्यालय। सचिवालय के प्रशासकीय और कर्मचारी वर्ग में अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, वैज्ञानिक, दुभाषिए, अनुवादक, पुस्तकालयाध्यक्ष, प्रशासक, सम्पादक, वित्तीय अधिकारी, विधिवेत्ता, फोटोग्राफर, सेवीवर्ग के अधिकारी तथा विशेषज्ञ, सरकारों और संयुक्त राष्ट्रसंघ का भेजे गये विदेशी सेना अधिकारी आदि सम्मिलित होते हैं।

### सचिवालय-कार्यालय के कार्य

सचिवालय का प्रधान कार्यालय न्यूयॉर्क तथा जेनेवा में है, किन्तु क्षेत्रीय सेवाओं, प्रादेशिक आयोगों तथा सूचना केन्द्रों के लिए इसके कर्मचारी विश्व में कई भागों में कार्य करते हैं। सचिवालय द्वारा बहुत महत्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। यह संघ के अंगों एवं अभिकरणों के अधिवेशनों के लिए सेवाएँ प्रदान करता है। यह इन अधिवेशनों के लिए अध्ययन करता है तथा पष्ठभूमि तैयार करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अतिरिक्त संघ के अन्य अंगों के लिए सचिवालय सम्बन्धी सेवायें प्रदान कर एक कार्यकारिणी की भाँति कार्य करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही के लक्ष्य को ध्यान में रखकर यह प्रत्येक साधन द्वारा हर प्रकार की सूचना एकत्रित करता है।

### महासचिव की स्थिति और कार्य

राष्ट्रसंघ (लीग) के महासचिव की तुलना में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव का पद अधिक अधिकार-सम्पन्न और प्रभावशाली है। उसे कुछ ऐसे अधिकार और कर्तव्य सौंपे गये हैं जिनका पुराने राष्ट्रसंघ में सर्वथा अभाव था। चार्टर के अनुसार महासचिव के निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य हैं :-

1. **संकट के विषय पर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित करना** - अनुच्छेद 99 के अनुसार यदि महासचिव समझे कि किसी मामले से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को संकट उत्पन्न हो सकता है, तो सुरक्षा परिषद् का ध्यान उस मामले की ओर आकर्षित कर सकता है। ऐसा अधिकार राष्ट्रसंघ महासचिव को नहीं था। इस अधिकार के बल पर ही संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यक्तिगत रुचि लेकर विश्व-शान्ति कायम रखने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान देते रहे हैं। इससे विश्व-राजनीति के संदर्भ में महासचिव की भूमिका महत्वपूर्ण बन गई है।
2. **संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रमुख अधिशाषी अधिकारी** - अनुच्छेद 98 में प्रावधान है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अधिशाषी अधिकारी की हैसियत से महासचिव महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् की बैठकों में भाग लेगा। इसके अलावा वह उन कार्यों को भी पूरा करेगा जो ये अंग उसे सौंप दें।
3. **वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करना** - महासचिव संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के विषय में महासभा के समक्ष वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करता है जिसमें कार्यों का विस्तृत लेखा-जोखा होता है।

**4. नियुक्तियां करना** – संघ के पदाधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति का भार महासचिव पर ही होता है।

स्टीफेन वेबल के अनुसार अनुच्छेद 99 के अन्तर्गत महासचिव को सात महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं :-

- (1) किसी भी विवाद या स्थिति को सुरक्षा परिषद् की अस्थायी कार्यसूची में रखना,
- (2) राजनीतिक निर्णय लेना,
- (3) सुरक्षा परिषद् के सामने उन आर्थिक और सामाजिक घटनाओं को रखना जिनके राजनीतिक परिणाम निकलने की संभावना हो।
- (4) अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से पूर्व आवश्यक पूछताछ या खोज-बीन करना,
- (5) यह निश्चय करना कि अमुक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत की जाये एवं परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करने से पूर्व औपचारिक रूप से वार्तालाप करना,
- (6) अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए आवश्यक घोषणा करने या सुझाव रखना या सुरक्षा परिषद् के विचारार्थ प्रारूप-प्रस्ताव करना एवं
- (7) सुरक्षा परिषद् के मंच के विश्व-लोकमत को सम्बोधित करते हुए शान्ति के लिए अपील करना।

महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के बहुत से अवसर प्राप्त होते हैं। वह निरन्तर विभिन्न देशों के राष्ट्राध्यक्षों तथा प्रतिनिधि-मण्डलों के सम्पर्क में रहता है। अतः उसकी स्थिति ऐसी होती है कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के कलये सरकारों को प्रभावित कर सके। उसे यह स्वतन्त्रता होती है कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकारों को प्रभावित कर सके। उसे यह स्वतन्त्रता होती है कि वह सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्रालयों से सम्पर्क स्थापित कर उनसे परामर्श कर सकते हैं। उसे सार्वजनिक भाषण देने का अधिकार होता है जिनके द्वारा वह संसार के जनमत को प्रभावित कर सकता है। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के दोषों को सुधारने की दिशा में भी कदम उठा सकता है। वह व्यक्तिगत सम्मेलनों, सभाओं तथा भोजों में सम्मिलित होता है।

किन्हीं अवसरों पर महासचिव को कुछ ऐसे कार्य भी करने पड़ते हैं जिनका संयुक्त राष्ट्रसंघ से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। वह विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों की प्रार्थना पर अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है जिनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से समस्याओं को शांतिपूर्ण निपटारे में सहयोग मिलता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव का पद बहुत ही गरिमापूर्ण और महत्वपूर्ण है। संघ के सदस्यों का सहयोग और विश्वास प्राप्त करके वह विश्व-शान्ति और सुरक्षा के संवर्द्धन में बहुत सहायक हो सकता है। महासचिव की स्थिति ऐसी नहीं है कि चार्टर द्वारा प्राप्त स्वयं की शक्ति से वह शक्तिशाली बन जाये और सब कार्यों की सफलतापूर्वक निर्वहन कर सके। महासचिव की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सदस्य राष्ट्र उसके साथ कितना सहयोग करते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के विश्वास और सहयोग के अनुपात में ही उसकी शक्ति घट-बढ़ सकती है, परन्तु उसके स्वयं के व्यक्तित्व को कम महत्व नहीं है। वह महासचिव जो बुद्धि, चातुर्य तथा राजनैतिक दाव-पेचों में कुशल हो, सदस्यों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने में सफल हो सकता है। महासचिव एक निष्पक्ष अधिकारी समझा जाता है। वह एक अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक सेवक तथा विश्व संस्था का प्रवक्ता है। वह एक ऐसा स्रोत है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के विवरण को जानने के लिए लोग लालायित रहते हैं। उसके द्वारा निर्धारित नीतियां अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित को प्रदर्शित करती हैं। उसे विश्व की 'आँख और कान' कहा जा सकता है।

### **संयुक्त राष्ट्रसंघ के अब तक के महासचिव**

संयुक्त राष्ट्रसंघ में 1 फरवरी, 1946 को नार्वे के ट्रिग्वेली 5 वर्ष के लिए महासचिव पद पर नियुक्त किए गए। 1 नवम्बर, 1950 को उनका कार्यकाल 3 वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। 10 नवम्बर, 1952 को उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। 10 अप्रैल, 1953 को स्वीडन के डॉंग हेमरशोल्ड को महासचिव पद पर नियुक्त किया गया। 26 सितम्बर, 1954 को उन्हें 10 अप्रैल, 1957 से शुरू होने वाले कार्यकाल 5 वर्ष के लिए पुनः महासचिव का पद प्रदान किया गया, लेकिन 18 सितम्बर, 1961 को हवाई दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। कांगों के कटंगा प्रदेश में उनके हवाई जहाज को विद्रोहियों ने मार गिराया था तब बर्मा के ऊ-थाण्ट को कार्यवाहक महासचिव नियुक्त किया गया और फिर उनकी नियुक्ति 5 वर्ष के पूरे कार्यकाल के लिए कर दी गई। अक्टूबर, 1966 में उनका कार्यकाल समाप्त हो रहा था, किन्तु उन्हें पुनः सर्वसम्मति से महासचिव चुन लिया गया। तत्पश्चात् आस्ट्रिया के डॉ० कुर्त वाल्दहीम ने 1 जनवरी, 1972 से महासचिव का कार्य-भार सम्भाला। 21 सितम्बर से 21 दिसम्बर, 1976 तक संयुक्त राष्ट्र महासभा का 13 वाँ नियमित सत्र न्यूर्याक

में हुआ और सुरक्षा परिषद् की सर्वसम्मति सिफारिश पर महासभा ने डॉ० वाल्डहीम को अगले पाँच वर्ष की अवधि के लिए पुनः नियुक्त किया। 2 जनवरी, 1982 को पूरू के पेरेज द कुय्यार महासचिव पर पर आसीन हुए। 1 जनवरी, 1992 से मिस्त्र के प्रसिद्ध राजनयिक ब्रुतरस घाली महासचिव नियुक्त किये गये। वे छठे महासचिव थे। ब्रुतरस घाली ने 1997 में दूसरी बार पुनर्निर्वाचन के लिए आनी नामजदगी के लिये भरसक प्रयास किये, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा उनकी नामजदगी के विरुद्ध किये गये विरोध के कारण ऐसा नहीं हो सका। इस पर घाना के राजनयिक कैफी अन्नान संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव निर्वाचित किये गये। ये संयुक्त राष्ट्र संघ के सातवें महासचिव हैं।

## विश्व-शान्ति में संयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका (Role of U.N.O. in the World Peace)

संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देना है। संघ के आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में किये गये कार्य कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, लेकिन उसके कार्यकलाप सामान्यतः अधिक प्रकाश में आते हैं। विश्व जनमत राजनीति कार्यों के आधार पर संघ की सफलता-असफलता का मूल्यांकन करता है। अब तक संघ के सामने कई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उपस्थित हुए हैं जिनको सुलझाने में कहीं उसे सफलता मिली है और कहीं निराशा। यहाँ हम कुछ प्रमुख राजनीतिक विवादों का उल्लेख करेंगे और पायेंगे कि संयुक्त राष्ट्र संघ उनको निपटाने में कहाँ तक सफल हुआ है—

**1. सोवियत संघ-ईरान विवाद** — संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत यह प्रथम विवाद था। विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सोवियत संघ ने ईरान के प्रान्त अजरबेजान से अपनी फौज नहीं हटाई। तब 19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सुरक्षा परिषद् में शिकायत की। सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी देशों ने ईरान का समर्थन निकालने के लिये कार्यवाही की जाये। सांविगत संघ ने इसी विवाद में अपने वीटो का प्रथम प्रयोग किया। सुरक्षा परिषद् ने सोवियत संघ से आग्रह किया कि वह 6 मई, 1947 तक ईरान से अपनी सेनाएं हटा लें। बाद में मामला दोनों देशों की प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा सुलझ गया। 21 मई, 1946 को दोनों देशों की राजधानियों ने घोषणा की कि सोवियत सेनाएं 9 मई को ही ईरान खाली कर चुकी हैं।

ईरान संकट को सुलझाने में सुरक्षा परिषद् की यद्यपि विशेष भूमिका नहीं रही, तथापि परिषद् में हुई बहस ने सोवियत संघ के विरुद्ध प्रबल जनमत जामत बिकया और उससे अपनी सेनायें ईरानी भूमि से हटा लेना ही उचित समझा।

**2. यूना विवाद** — 3 जनवरी, 1946 को सुरक्षा परिषद् से शिकायत की कि विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद भी ब्रिटिश सेनायें यूनानी भूमि पर जमी हुई हैं और यूनान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप एवं अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा कर रही है। इस पर सुरक्षा परिषद् में विचार-विमर्श के समय यूनानी प्रतिनिधि ने कहा कि यूनानी जनता अपनी सुरक्षा के लिये ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति अनिवार्य समझती है। इस समिति में यह स्वाभाविक था कि सुरक्षा परिषद् ने मामले की सुनवाई समाप्त करने का निश्चय किया। दिसम्बर, 1946 में यूनान ने परिषद् से शिकायत की कि पड़ोसी साम्यवादी देश छापामारों को सहायता दे रहे हैं और यूनान में तनाव उत्पन्न कर रहे हैं। सुरक्षा परिषद् द्वारा नियुक्त आयोग ने मई, 1947 में इस शिकायत की पुष्टि की। इस पर परिषद् ने जब आगे जांच-पड़ताल करने का प्रयत्न किया, तो सोवियत संघ ने वीटो का प्रयोग कर दिया। इसके बाद महासभा ने जांच-पड़ताल के लिये आयोग नियुक्त किया जिसे अल्बानिया, बल्गारिया और यूगोस्लाविया ने अपनी सीमाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं दी। अन्त में तीन प्रमुख कारणों से यूनानी समस्या का समाधान हो गया—

- महासभा द्वारा नियुक्त आयोग की उपस्थिति में साम्यवादी देश छापामारों को पूरी सहायता नहीं दे सके,
- टीटो-स्टालिन विवाद के कारण यूनानी छापामारों को यूगोस्लाविया की सहायता बंद हो गई, एवं
- संयुक्त राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में अमेरिका द्वारा यूनान को पूर्व आर्थिक व सैनिक सहायता प्राप्त हुई।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामयिक और साहसिक हस्तक्षेप से यूनान की समस्या का शांतिपूर्ण समाधान सम्भव हो सका।

**3. बर्लिन की समस्या** — 1945 के पोट्सडम सम्मेलन के अनुसार बर्लिन नगर सोवियत संघ, फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका के अलग-अलग नियंत्रण क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया। पश्चिमी बर्लिन मित्र राष्ट्रों के हाथ में और पूर्वी बर्लिन सोवियत संघ के नियंत्रण में रहा। पोट्सडम सम्मेलन में यह तय हुआ था कि दोनों जर्मनी की आर्थिक एकता कायम रखी जायेगी, लेकिन चारों देश इस निर्णय का पालन न कर सके। पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा नई मुद्रा प्रचलित करने से क्षुब्ध होकर सोवियत संघ ने 1 मार्च, 1948 को पश्चिमी बर्लिन के जल और स्थल मार्ग की नाकेबन्दी कर दी। इस नाकेबन्दी का प्रत्युत्तर पश्चिमी राष्ट्रों ने हवाई मार्ग का अधिकाधिक प्रयोग करके दिया। 23 सितम्बर, 1948 को सुरक्षा परिषद् में प्रस्तावित सोवियत नाकेबन्दी के विरुद्ध शिकायत की गई और कार्यवाही की शांति के लिए घातक बताया गया। यह झगड़ा चार महाशक्तियों के बीच था, अतः सुरक्षा परिषद् समस्या पर विचार करने के अतिरिक्त और कुछ भी कर सकने में असमर्थ थी। इस बीच चार महाशक्तियों के मध्य अनौपचारिक बातचीत चालू

रही और 4 मई, 1949 को फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् को सूचित किया कि बर्लिन समस्या पर सोवियत संघ से उनका समझौता हो गया है। यद्यपि समस्या का हल महाशक्तियों के पारस्परिक समझौते से हुआ तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विचार-विमर्श, पत्र-व्यवहार और सम्पर्क आदि के रूप में दोनों ही विवादग्रस्त पक्षों को परस्पर मिलाने के लिये महत्वपूर्ण तथा उपयोगी पष्ठभूमि तैयार की और स्थान तथा सुविधायें उपलब्ध कराई।

**4. कोरिया संकट** – जून, 1950 में उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर सैनिक आक्रमण कर दिया। सुरक्षा परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। जुलाई, 1950 में लगभग 16 राष्ट्रों की संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना एकत्र की गई जिसने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। उत्तरी कोरिया के समर्थन में साम्यवादी चीन भी युद्ध में कूद पड़ा। एक ओर तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक कार्यवाही जारी रही और दूसरी ओर संघ ने शान्तिपूर्ण समझौते के प्रयास जारी रखे। अन्त में जुलाई, 1951 में दोनों पक्षों में समझौता हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध बनने से रुक गया। वास्तव में संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के बल पर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ कोरिया युद्ध में सफल हो सका।

**5. फिलीस्तीन विभाजन की समस्या** – प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यह प्रदेश ब्रिटेन को संरक्षित प्रदेश (Mandate) के रूप में प्राप्त हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत फरवरी, 1947 में ब्रिटेन ने घोषणा की कि उसके लिए इस मंडेट डेख के शासन-प्रबन्ध को चलाना संभव नहीं है। अप्रैल, 1947 में ब्रिटेन ने यह समस्या महासभा के सामने प्रस्तुत की। महासभा द्वारा नियुक्त विशेष समिति ने अगस्त, 1947 में सिफारिश की कि फिलीस्तीन को दो भागों में विभक्त कर दिया जाये—एक भाग में अरब राज्य की स्थापना हो और दूसरे में यहूदी राज्य की। महासभा ने यह सिफारिश स्वीकार कर ली, लेकिन फिलीस्तीन-विभाजन के प्रश्न पर अरबों और यहूदियों में संघर्ष आरम्भ हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दोनों पक्षों में प्रभावी युद्ध-विराम के सभी प्रयास विफल हो गये। 14 मई, 1948 को ब्रिटेन ने फिलीस्तीन से अपना शासन हटा लिया (जिसकी घोषणा 15 मई को की गई) और यहूदियों ने फिलीस्तीन में इजरायल-राज्य की घोषणा कर दी। इस पर ईराक, लेबनान, ट्रॉसजोर्डन आदि अरब-राष्ट्रों ने फिलीस्तीन पर आक्रमण कर दिया। अरब-राष्ट्र इजरायल के प्रत्याक्रमण को नहीं झेल सके। 11 जून, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रतिनिधि बर्नाडोट के प्रयत्नों से दोनों पक्षों में चार सप्ताह के लिये युद्ध-विराम तो हो गया, किन्तु उपद्रव चालू रहे। 17 दिसम्बर को बर्नाडोट भी गोली के शिकार हुए। सुरक्षा परिषद् ने इसके बाद डॉ० रल्फ जे० बुंच को कार्यवाहक मध्यस्थ नियुक्त किया। 29 दिसम्बर को तीसरी बार युद्ध-विराम स्थापित हुआ। इसके बाद महासभा ने 'संयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग' (U.N. Conciliation Commission) नियुक्त किया जिसमें अनेक गम्भीर प्रश्नों का समाधान किया और इजरायल व पड़ोसी राज्यों में सीमा सम्बन्धी सन्धियां सम्पन्न हुईं।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से फिलीस्तीन के विभाजन की समस्या के समाधान स्वरूप इजरायल और अरब-राष्ट्रों में सन्धियाँ हो गईं तथापि इस क्षेत्र में अनेक युद्ध लड़े गये। अक्टूबर, 1956 में मिस्र और इजरायल में पुनः युद्ध छिड़ा तथा सोवियत संघ व संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रयासों में शान्ति स्थापित हुई। इसके बाद 1967 और 1973 में अरब-राष्ट्रों और इजरायल के बीच भीषण युद्ध हुआ, किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्नों से अस्थायी तौर पर शान्ति स्थापित हो गई। सन् 1993 में इजरायल और फिलिस्तीनी नेता यासिर अराफात के बीच सम्पन्न हुई सन्धि ने इस क्षेत्र में शान्ति स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। इस सन्धि का संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्वागत किया गया।

**6. इण्डोनेशिया विवाद** – द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व इण्डोनेशिया पर हॉलैण्ड का अधिकार था। युद्धकाल में उस पर जापान ने अधिकार स्थापित कर लिया। जापान की पराजय के बाद इण्डोनेशिया में डॉ० सुकर्ण के नेतृत्व में वहाँ के राष्ट्रवादियों में युद्ध छिड़ गया। मामला सुरक्षा परिषद् में आया। परिषद् द्वारा नियुक्त 'सद्भाव समिति' (Good Offices Committee) के प्रयत्नों से अगस्त, 1947 में दोनों पक्षों में युद्ध बन्द हो गया और स्थायी सन्धि-वार्ता आरम्भ हो गई, लेकिन दिसम्बर, 1948 में हॉलैण्ड ने इण्डोनेशिया के विरुद्ध पुनः युद्ध छेड़ दिया तथा इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति डॉ० सुकर्ण एवं अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। सुरक्षा परिषद् ने इस कार्यवाही का विरोध कर हॉलैण्ड से कहा कि इण्डोनेशिया में एक सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न संघात्मक गणराज्य की स्थापना की जाये जिसे डच सरकार 1 जुलाई, 1949 तक सम्प्रभुता हस्तान्तरित कर दे।

गहन-विचार-विमर्श और दबाव के बाद हॉलैण्ड ने इण्डोनेशिया की राजधानी से अपनी सेनाएं वापस बुलाई और यह घोषणा की कि 30 दिसम्बर, 1949 तक इण्डोनेशिया गणराज्य को सर्वोच्च सत्ता हस्तान्तरित कर दी जायेगी। 28 दिसम्बर, 1950 को उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्रदान कर दी गई। इण्डोनेशिया विवाद को हल करने में संयुक्त राष्ट्र संघ को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई।

**7. दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न** – दक्षिण अफ्रीका की सरकार अपनी रंग-भेद नीति के कारण 'काफी लम्बे समय तक बदनाम रही है। 1946 में संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा ने प्रथम अधिवेशन में भारत ने दक्षिणी अफ्रीकी सरकार पर मानवीय अधिकारों का उल्लंघन का आरोप लगाया। दक्षिण अफ्रीका ने भारत की शिकायत पर यह स्पष्टीकरण दिया कि यह

उसका घरेलू मामला है और संयुक्त राष्ट्रसंघ को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। महासभा ने दक्षिण अफ्रीका की आपत्ति को अमान्य ठहराते हुए भारतीय प्रस्ताव पारित कर दिया, किन्तु दक्षिण अफ्रीका में इस प्रस्ताव की कोई परवाह नहीं की और रंगभेद की नीति जारी रखी। 1949 में यह प्रश्न महासभा में पुनः उठाया गया जिसने एक प्रस्ताव द्वारा सिफारिश की कि भारत, पाकिस्तान और दक्षिण अफ्रीका की हठधर्मिता के कारण कोई निर्णय नहीं हो सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में यह प्रश्न निरन्तर उठाया जाता रहा। अन्ततोगत्वा दक्षिण अफ्रीका के तत्कालीन राष्ट्रपति डब्ल्यू० डी० क्लार्क ने रंगभेद को समाप्त करने की दिशा में क्रान्तिकारी निर्णय लिये। अश्वेत नेता डॉ० लेल्सन मण्डेला को रिहा करने, देश में आम चुनाव सम्पादित करने और अश्वेत नेता नेल्सन मण्डेला को सत्ता का हस्तान्तरण करने सम्बन्धी निर्णय इस दिशा में उल्लेखनीय थे। राष्ट्रपति नेल्सन मण्डेला के सत्तारूढ़ होने के साथ ही दक्षिण अफ्रीका से रंगभेद का युग समाप्त हो गया। अब वहां भारतीयों के साथ दक्षिणी अफ्रीका के नागरिकों के समान ही समानता का व्यवहार किया जा रहा है।

**8. कश्मीर समस्या** – 15 अगस्त, 1947 को भारतीय उपमहाद्वीप में दो स्वतन्त्र राष्ट्र – भारत और पाकिस्तान अस्तित्व में आये। स्वतन्त्रता देने के पूर्व ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों को यह स्वतन्त्रता दे दी कि वे अपनी इच्छानुसार, चाहें तो भारत या पाकिस्तान में शामिल हो सकती हैं। कश्मीर भी एक देशी रियासत थी। इसने स्वतन्त्र रहने का निर्णय लिया। पाकिस्तान की इच्छा प्रारम्भ से ही कश्मीर को जबर्दस्ती हड़पने की थी, अतः 22 अक्टूबर, 1947 को उसने उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के कबाइलियों द्वारा कश्मीर पर आक्रमण करवा दिया। पाकिस्तान की सेना के एक बहुत बड़े भाग ने इस आक्रमण में भाग लिया। इस आक्रमण की तीव्रता के कारण राजधानी श्रीनगर का पतन सन्निकट देखकर जम्मू-कश्मीर के तत्कालीन महाराजा हरिसिंह ने 26 अक्टूबर, 1947 को भारत सरकार से कश्मीर को भारत में विलय करने तथा अविलम्ब सैनिक सहायता प्रदान करने का अनुरोध किया। महाराजा ने राज्य के भारत में विलय करने के दस्तावेज (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके बाद भारत सरकार द्वारा जम्मू-कश्मीर में भारतीय सेनाओं द्वारा पाकिस्तानी आक्रमणकारियों को खदेड़ना प्रारम्भ किया गया जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। भारतीय सेनाओं द्वारा जम्मू-कश्मीर का बहुत बड़ा हिस्सा मुक्त करा लिया गया। 1 जुलाई, 1948 को भारत ने सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत की कि पाकिस्तान के इस आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का संकट उत्पन्न हो गया है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान का कश्मीर पर आक्रमण स्वयं भारत पर आक्रमण है। भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की कि कश्मीर का भारत में स्थायी विलय वहाँ जनमत संग्रह (Plebiscite) के आधार पर होगा। सुरक्षा परिषद् ने एक मध्यस्थता आयोग (Mediation Commission) नियुक्त किया जिसे युद्धबन्धियों और जनमत संग्रह का कठिन कार्य सौंपा गया। आयोग ने जनमत संग्रह कराने के लिए दोनों देशों पर कतिपय प्रतिबन्ध लगाये जिन्हें पाकिस्तान ने भंग कर दिया। जम्मू-कश्मीर में परिस्थितियां तेजी से बदलती गईं और भारत तथा पाकिस्तान में समझौता कराने में संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रयास सफल नहीं हो सके। पाकिस्तान को पश्चिमी राष्ट्रों का समर्थन मिलता रहा और उनके हाथों में खेलते हुए सुरक्षा परिषद् भारत के साथ अन्याय करती रही। 1954 में जम्मू-कश्मीर संविधान सभा ने राज्य के भारत में विलय का विधिवत् अनुमोदन कर दिया। 1956 में राज्य के लिये एक नया संविधान स्वीकार किया गया जिसके द्वारा जम्मू-कश्मीर प्रत्येक दृष्टि से भारत का वैध अंग बन गया। इससे कश्मीर समस्या का स्वरूप बिल्कुल बदल गया और जनमत संग्रह का कोई मूल्य नहीं रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमेरिका के साथ सैनिक गुट में शामिल होने तथा जम्मू-कश्मीर को बलपूर्वक हथियाने की चालें खेलने के कारण जनमत संग्रह की बात बहुत पहले ही निरर्थक हो चुकी थी। पाकिस्तान पाश्चात्य राष्ट्रों के समर्थन के बल पर बार-बार कश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा-परिषद् में उठाता रहा, लेकिन भारत के दृढ़ रवैये और न्याय का पक्ष लेते हुए सोवियत संघ द्वारा किये जाने वाले निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण उसके कुटिल उद्देश्य पूरे न हो सके। सितम्बर, 1965 और दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्धों के बाद स्थिति में निर्णायक परिवर्तन आया और पाकिस्तान को यह अहसास हो गया कि सुरक्षा परिषद् के माध्यम से भारत कोई निर्णय थोपने की बात सोचना व्यर्थ होगा। वास्तव में, संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए कश्मीर-विवाद एक कठिन चुनौती बनकर सामने आया। यद्यपि वह इस प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले युद्ध को तो शांत कर सका तथापि पश्चिमी शक्तियों के पक्षपातपूर्ण रवैये के कारण इस महान् संस्था के गौरव और सम्मान को आघात ही पहुँचा। न्याय और निष्पक्षता का तकाजा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ पाकिस्तान को उसके द्वारा बलात् रूप में कब्जा की गई कश्मीर की भूमि से हटाने की कार्यवाही करे। पाकिस्तान जम्मू-कश्मीर में पथकतावादी, आतंवादी और अलगाववादी शक्तियों को सक्रिय रूप में सभी संभव सहायता प्रदान करके भारत की कठिनाईयों को बढ़ाता रहा है। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर यह स्पष्ट कर दिया है कि जम्मू-कश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है और वह इस पर किसी से कोई समझौता नहीं कर सकता। 1996 ई० में काफी समय बाद जम्मू-कश्मीर में राज्य विधान सभा के निर्वाचन हुए, जिसमें डॉ० फारुख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कांफ्रेंस विजय रही। डॉ० अब्दुल्ला ने अनेक असवरों पर यह स्पष्ट कर दिया कि राज्य का भारतीय संघ में विलय अन्तिम है। पाकिस्तान के नव-निर्वाचित प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने भी भारत के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा प्रकट की थी। शरीफ सरकार को अपदस्त कर फौजी हुक्मरान के रूप में वर्तमान जनरल परवेज मुशर्रफ अघोषित युद्ध का बिगुल बजाए हुए हैं।

**9. स्वेज नहर विवाद** — 1869 में निर्मित स्वेज नहर का संचालन स्वेज नहर कम्पनी करती थी, जिसमें ब्रिटेन और फ्रेंच के अधिकांश शेयर थे। समझौते के अनुसार इसकी रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार नहर-क्षेत्र में अपनी सेना रखती थी। नवम्बर, 1950 में मिस्र की सरकार ने यह माँग की थी कि ब्रिटिश सेना स्वेज नहर क्षेत्र से हट जाये। ब्रिटेन द्वारा यह माँग टुकरा देने पर दोनों पक्षों के सम्बन्ध कटु हो गये। मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा और अन्त में जुलाई, 1954 में एक नए समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन को स्वेज नहर-क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेनी पड़ी। इस सकय मिस्र में कर्नल नासिर का शासन था। उपर्युक्त समझौते के बाद मिस्र और ब्रिटेन एवं अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के सम्बन्धों में सुधार नहीं हुआ और 26 जुलाई, 1956 को नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तथा मिस्र स्थित स्वेज नहर कंपनी की सम्पत्ति जब्त कर दली। 26 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने यह विवाद सुरक्षा परिषद् के समक्ष रखा। 13 अक्टूबर, 1956 को परिषद् ने समस्या के हल के लिए एक प्रस्ताव के रूप में 6 सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिसमें स्वेज नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का सुझाव दिया गया, लेकिन सोवियत वीटों से यह प्रस्ताव रद्द हो गया। 26 अक्टूबर, 1956 को ब्रिटेन और फ्रांस की शह पर इजरायल ने स्वेज नहर-क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। इसके दो दिन बाद ब्रिटेन और फ्रांस के वीटो के कारण पास न हो सका। संयुक्त राष्ट्र संघ के इतिहास में यह घोर संकट का समय था जब सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य स्वयं संघ के चार्टर का उल्लंघन कर, संघ के एक सदस्य-राज्य पर आक्रमण कर रहे थे। 2 नवम्बर, 1956 को महासभा के एक विशेष अधिवेशन ने अमेरिका का एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस की सैनिक कार्यवाही की निंदा करते हुए, अविलम्ब युद्ध बन्द करने पर बल दिया गया। 4 नवम्बर को यह प्रस्ताव पारित किया गया कि महासचिव डॉंग हेमरशोल्ड संयुक्त राष्ट्र संघ की एक आपातकालीन सेना तैयार करें जो मिस्र में युद्ध बन्द कराने का कार्य करे। इसके लिये संयुक्त राष्ट्र संघ की एक तत्कालीन सेना का गठन किया गया, जिसमें 10 राष्ट्रों के 6 हजार सैनिक शामिल हुए। 5 नवम्बर को सोवियत संघ ने ब्रिटेन और फ्रांस को स्पष्ट चेतावनी दी कि यदि एक निश्चित समय में मिस्र पर आक्रमण बंद नहीं किया गया तो सोवियत संघ इस संकट में हस्तक्षेप करेगा। इस चेतावनी से तृतीय विश्वयुद्ध की संभावना दिखाई देने लगी और इस पर ब्रिटेन, फ्रांस व इजरायल की सेनाएँ मिस्र से हट जाँएँ तथा स्वेज नहर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सेना की व्यवस्था की जाये। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप युद्ध पूरी तरह बन्द हो गया और 15 नवम्बर को संयुक्त राष्ट्र संघ की आपातकालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुंच गया। मिस्र ने इस सेना को तभी प्रवेश की आज्ञा दी जब उसने मिस्र की प्रभुसत्ता को हानि न पहुंचाने का वचन दिया। अप्रैल, 1957 में स्वेज नहर से जहाजों का आना-जाना पुनः आरम्भ हो गया।

**10. कांगों समस्या** — संयुक्त राष्ट्र संघ की सबसे कठिन परीक्षा कांगों में हुई और उसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई। जुलाई, 1960 में कांगों में भीषण गृह-युद्ध छिड़ गया जिसे भड़काने में बेल्जियम का हाथ था। कांगों में गृह-युद्ध की स्थिति तेजी से बिगड़ती गई। संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक ओर तो सैनिक उपाय द्वारा कांगों का विघटन रोका तथा दूसरी ओर समझौतावादी नीति अपनाई। सितम्बर, 1962 में महासचिव डॉंग हेमरशोल्ड कांगों के संघर्षरत नेताओं से वार्ता करने के लिए स्वयं कांगों गये और वहीं मार्ग में एक वायु-दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। नए महासचिव ऊ-थॉट ने इस दिशा में प्रयत्न जारी रखे। अन्त में विरोधी प्रान्त कटंगा ने घुटने टेक दिये और जनवरी, 1963 में कांगों में शांति का मार्ग प्रशस्त हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ का शान्ति-स्थापना का कार्य कांगों के एकीकरण के साथ समाप्त हुआ।

**11. यमन की समस्या** — 19 सितम्बर, 1962 को यमन के शासक इमाम अहमद की मृत्यु हो गई। 12 सितम्बर को एक क्रान्ति द्वारा यमन में राजतन्त्र की समाप्ति कर दी गई और क्रान्तिकारी परिषद् ने वहाँ गणराज्य की स्थापना कर दी। शहजादा ने सऊदी अरब में जिद्दा नामक स्थान पर यमन की निर्वासित सरकार की स्थापना की। दोनों यमन सरकारें एक-दूसरे को समाप्त करने के लिये प्रयत्न करती रहीं। अक्टूबर के समाप्त होते-होते राजतन्त्रवादियों और गणतन्त्रवादियों के मध्य भीषण संघर्ष शुरु हो गया अर्थात् यमन में गृहयुद्ध की स्थिति बन गई। सऊदी अरब और जॉर्डन ने राजतन्त्रवादियों की सहायता की और मिस्र ने गणतन्त्रवादियों की। गृह-युद्ध को व्यापक बनाने से रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप किया। मार्च, 1963 में संघ की ओर से राल्फ बुंच ने दोनों पक्षों को इस बात के लिये सहमत कर लिया कि वे अपने-अपने सैनिकों को वापस बुला लें और समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान करें। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों के फलस्वरूप शनैः शनैः बाह्य शक्तियों ने अपनी सेनाएँ हटा ली और यमन में शांति स्थापित हो गई।

**12. साइप्रस की समस्या** — 13 अगस्त, 1960 को साइप्रस ब्रिटिश दासता से मुक्त हुआ। वहाँ के संविधान में बहुसंख्यक यूनानियों और अल्पसंख्यक तुर्कों के बीच सामंजस्य और शांति कायम रखने की व्यवस्था की गई। स्वतन्त्रता के कुछ ही समय बाद राष्ट्रपति मकरियोस ने संविधान में ऐसे संशोधन का प्रस्ताव रखा जिसमें दोनों जातियों के मध्य सन्तुलन और सामंजस्य समाप्त हो गया। फलस्वरूप दोनों जातियों में संघर्ष आरम्भ हो गया। इस समस्या का समाधान करने के लिए यूनान, तुर्की और साइप्रस के बीच इंग्लैंड में शान्ति-सम्मेलन शुरु हुआ। ब्रिटेन ने साइप्रस में नाटो सेनाएँ भेजने का षडयन्त्र रचा। राष्ट्रपति मकारियोस ने दिसम्बर, 1963



में सारा मामला सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत कर संयुक्त राष्ट्र संघ में पर्यवेक्षक भेजने और स्थिति संभालने की माँग की। लम्बे विचार-विमर्श के बाद मार्च, 1964 में साइप्रस में शान्ति स्थापना हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना भेजने का निर्णय किया। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय सेना साइप्रस पहुंच गई जिसने वहाँ कानून और व्यवस्था स्थापित रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इसके बाद इस आपातकालीन सेना की अवधि बढ़ाई जाती रही। साइप्रस में स्थायी शान्ति स्थापित होते ही इस आपातकालीन सेना को हटा लिया गया। वर्तमान में साइप्रस में शान्ति का वातावरण है।

**13. डोमोनिकन गणराज्य** – अप्रैल, 1965 में इस देश में युद्ध छिड़ गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस देश में अपनी समर्थित सरकार को बचाने के लिये सैनिक हस्तक्षेप किया। संयुक्त राज्य अमेरिका का यह तर्क था कि डोमोनिकन गणराज्य को साम्यवादियों से बचाने के लिये यह कार्यवाही की गई है। सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् से यह अनुरोध किया कि वह इस मामले में हस्तक्षेप करे। अन्त में उसके द्वारा यह प्रस्ताव पास किया गया कि दोनों पक्ष युद्ध-विराम करें और संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डोमोनिकन गणराज्य में आवश्यक जाँच-पड़ताल के लिए अपने प्रतिनिधि भेजे। अमेरिकी राज्यों के संगठन ने भी समस्या के समाधान की दिशा में कुछ ठोस कदम उठाये। अन्त में अमेरिकी राज्यों के संगठन और संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से 4 माह के गह-युद्ध के उपरान्त 31 अगस्त, 1965 को दोनों पक्षों में समझौते के कारण शान्ति स्थापित हो गई।

**14. अरब-इजरायल संघर्ष** – 1956 के अरब-इजरायल युद्ध-विराम के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ को अन्तर्राष्ट्रीय सेना को गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात किया गया ताकि इजरायल-अरबों में पुनः संघर्ष न छिड़ जाये, लेकिन दोनों पक्षों में तनाव बढ़ता गया। 1967 में जोरों से युद्ध की तैयारियाँ शुरु हो गई। मई में राष्ट्रपति नासिर के आग्रह पर संयुक्त राष्ट्र संघ सैनिक हटा लिये ये। अब मिस्र और इजरायल की सेनाएँ आमने-सामने हो गईं। 5 जून को इजरायल ने अरबों पर प्रबल आक्रमण किया। जोर्डन, सीरिया, मिस्र इजरायल के आक्रमण का सामना न कर सके। केवल 5 दिन की लड़ाई में ही अरब राष्ट्रों की सामरिक क्षमता का विनाश हो गया। इस बीच सुरक्षा परिषद् युद्ध-विराम के लिए प्रयास करती रही। 7 जून का परिषद् ने यह आदेशात्मक प्रस्ताव पारित किया कि सभी युद्धरत देश युद्ध बन्द करें। अरब राष्ट्र बुरी तरह से पराजित हो चुके थे और इजरायल अपने सामरिक उद्देश्यों को पूरा कर चुका था, अतः 8 जून को इजरायल और मिस्र के बीच युद्ध-विराम हो गया और 10 जून तक सभी अरब राष्ट्रों और इजरायल के बीच पूरी तरह युद्ध बन्द हो गया। मिस्र स्वेज तट पर संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यवेक्षकों की देख-रेख में युद्ध-विराम लागू हो गया। इसके बाद भी स्थायी शान्ति स्थापित नहीं हुई। दोनों देशों के बीच तनाव बना रहा, इसका परिणाम था 1973 का अरब-इजरायल संघर्ष। इस युद्ध में भी मिस्र को पराजय का सामना करना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्नों से दोनों देशों के बीच युद्ध विराम हुआ। इसके बाद अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर के प्रयत्नों से मिस्र और इजरायल के बीच 'कैम्प डेविड समझौता' हुआ। मिस्री राष्ट्रपति अनवर अपने निर्णय पर अडिग रहे। इसके बाद अमेरिका द्वारा इजरायल और फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे के बीच समझौते कराने के प्रयत्न किये गये जिसका परिणाम था 1993 का 'वाशिंगटन समझौता'। इजरायल के प्रधानमंत्री रॉबिन तथा फिलिस्तीनी नेता यासिर अराफात ने इस समझौते पर हस्ताक्षर किये। इससे इस क्षेत्र में शान्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। इजरायल और जार्डन के बीच भी समझौता हुआ। इजरायल तथा सीरिया के बीच समझौते वार्ताएँ हुईं, लेकिन अभी इस बारे में कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकले हैं। 3 जनवरी, 2001 का इजरायल के प्रधानमंत्री एहुद बराक ने शान्ति समझौता न होने पर अरब देशों से युद्ध करने की चेतावनी दी। इस प्रकार स्थिति संकटपूर्ण है।

**15. भारत-पाक संघर्ष, 1965** – कश्मीर को हड़पने के लिए पाकिस्तान ने 1965 में पुनः युद्ध का आश्रय लिया। अगस्त, 1965 में हजारों पाकिस्तानी हमलावर छिपकर युद्ध-विराम-रेखा पार कर कश्मीर के भारतीय प्रदेश में प्रवेश कर गए। भारत ने जब इस आक्रमण को असफल कर दिया, तो सितम्बर, 1965 में पाकिस्तान की एक पूरी पैदल ब्रिगेड और 70 टैंक अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार कर कश्मीर पर चढ़ आये। विवश होकर भारत को अपनी रक्षा के लिये पाकिस्तान के विरुद्ध खुलकर लड़ाई छेड़ देनी पड़ी। 22 दिन के घमासान युद्ध में पाकिस्तान पर करारी मार पड़ी। अन्त में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से 23 सितम्बर, 1965 को भारत-पाक युद्ध विराम हो गया तथा पाकिस्तान की रही-सही इज्जत नष्ट होने से बच गई।

संयुक्त राष्ट्र संघ प्रारम्भ से अन्त तक युद्ध-विराम के प्रयत्न करता रहा। स्वयं महासचिव ने दिल्ली और कराँची पहुँच कर भारत के प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब ख़ाँ के साथ सम्पर्क स्थापित किया। महासचिव ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट से सुरक्षा परिषद् को बताया कि यदि पाकिस्तान सहमत हो तो भारत बिना शर्त युद्ध बंद कर ने को तैयार है, किन्तु पाकिस्तान ने युद्ध-विराम प्रस्ताव को प्रत्यक्षतः ठुकरा दिया। महासचिव ने माँग की कि परिषद् दोनों पक्षों को अविलम्ब युद्ध बन्द करने का आदेश दे और युद्ध बन्द न होने पर आवश्यक कार्यवाही करे। भारत ने स्पष्ट कर दिया कि परिषद् पहले यह सुनिश्चित करे कि आक्रामक कौन है? भारत ने यह कह दिया कि संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यवेक्षकों की रिपोर्ट ही इसका स्पष्ट प्रमाण है।

पाकिस्तान ने पहले कश्मीर में धुसपैइ शुरु की और बाद में विधिवत आक्रमण कर दिया। अन्त में काफी ऊहापोह के बाद परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि भारत और पाकिस्तान 22 सितम्बर को दोहपर से युद्ध बन्द कर दें और युद्ध-विराम लागू होने के बाद अपनी-अपनी सेना 5 अगस्त, 1965 की स्थिति में लौटा लें। पाकिस्तान द्वारा सहमति की सूचना देने पर 23 सितम्बर, 1965 को प्रातः युद्ध-विराम हो गया। फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ ने भारत के न्याय संगत पक्ष का खुलकर साथ नहीं दिया। पाकिस्तान जम्मू-कश्मीर के प्रश्न को बराबर उछालता रहता है।

**16. चैकोस्लोवाकिया का संकट** – 21 अगस्त, 1968 को सोवियत संघ के नेतृत्व में वारसा सन्धि संगठन के अन्य साम्यवादी देशों ने तत्कालीन चैकोस्लोवाकिया में सैनिक कार्यवाही की। संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पाश्चात्य देशों ने इस कार्यवाही की तीव्र भर्त्सना की। इस विवाद को सुरक्षा परिषद् में उठाया गया। सुरक्षा परिषद् के 7 सदस्य राष्ट्रों की ओर से एक प्रस्ताव रखा गया जिसमें कहा गया कि सोवियत संघ तथा वारसा सन्धि संगठन की सेनाएँ शीघ्र ही चैकोस्लोवाकिया से चली जाएँ, लेकिन कई कारणों से यह प्रस्ताव व्यर्थ सिद्ध हुआ। स्वयं चैकोस्लोवाकिया की सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। बाद में सितम्बर में महासभा के अधिवेशन में इस विवाद को पुनः उठाने का प्रयत्न किया गया, लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला। चैकोस्लोवाकिया-संकट के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक मूकदर्शक से अधिक की भूमिका नहीं निभाई। इससे इस संस्था की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा। सोवियत संघ के विघटन तथा चैकोस्लोवाकिया में सोवियत सेना बनी रही। चैकोस्लोवाकिया में साम्यवादी शासन की समाप्ति के बाद इस राष्ट्र का दो स्वतन्त्र राष्ट्रों या गणराज्यों-चैक तथा स्लोवाक में विभाजन हो गया।

**17. साम्यवादी चीन का संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश** – महासभा ने 1971 के अधिवेशन में लगभग 22 वर्षों से विद्यमान साम्यवादी चीन की सदस्यता से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक जटिल प्रश्न का समाधान कर दिया। 26 अक्टूबर, 1971 को साम्यवादी चीन को वास्तविक चीन के रूप में मान्यता देने तथा ताइवान (राष्ट्रवादी चीन) की मान्यता समाप्त करने सम्बन्धी अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लेने के साथ ही संयुक्त राष्ट्र संघ के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। करोड़ों लोग इस संस्था से सम्बद्ध हुए।

**18. बंगला देश की समस्या** – पाकिस्तान ने अपने ही एक भाग पूर्वी बंगाल की स्वायत्तता की मांग को कुलचने के लिये 1970-71 में बर्बर दमन-चक्र चलाया जिसके फलस्वरूप मार्च, 1971 में पूर्वी बंगाल की जनता ने अवामी लीग के नेता शेख मुजीब के नेतृत्व में एक स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना की घोषणा कर दी। पाकिस्तान ने बांग्लादेश के जन-आन्दोलन को कुचलने के लिए अमानुषिक ढंग से सैनिक शक्ति का प्रयोग किया जिसके कारण लगभग एक करोड़ लोग शरणार्थियों के रूप में भारत आ गये। भारत, बांग्लादेश तथा अन्य देशों के प्रतिनिधि मण्डल ने इस समस्या को गंभीरता की ओर संयुक्त राष्ट्र संघ का ध्यान आकर्षित किया, लेकिन अमेरिका के पाक-समर्थक और बांग्लादेश विरोधी रवैये के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ इस समस्या को सुलझाने की दिशा में कोई विशेष सहायता नहीं कर सका। बाद में भारत के सहयोग से बांग्लादेश स्वतन्त्र हुआ। शेख मुजीब को पाकिस्तान की जेल से रिहा कर दिया। बंगलादेश संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना।

**19. भारत-पाक संघर्ष, 1971** – इस संघर्ष के समय संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्रों के प्रभाव में आकर पुनः बड़ा पक्षपातपूर्ण रुख अपनाया। भारत के इस अनुरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि वास्तविक विवाद पाकिस्तान तथा बांग्लादेश के बीच है तथा भारत-पाक विवाद के रूप में नहीं लिया जाना चाहिये। भारत के समर्थन से बांग्लादेश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और पाकिस्तान को न केवल करारी हार का ही सामना करना पड़ा अपितु पूर्वी पाकिस्तान से भी हाथ धोना पड़ा।

**20. अरब-इजराइल युद्ध** – 1973 अक्टूबर, 1973 में चतुर्थ अरब-इजरायल युद्ध प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में दोनों ही महाशक्तियों की उदासीनता से युद्ध की स्थिति अत्यधिक विस्फोटक हो गई, तो 22 अक्टूबर को सोवियत संघ और अमेरिका ने संयुक्त रूप से सुरक्षा परिषद् में युद्धरत पक्षों के बीच युद्ध विराम करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसे स्वीकार कर लिया गया। परिषद् के प्रस्ताव को इजरायल और मिस्र ने 22 अक्टूबर को स्वीकार कर लिया, लेकिन सीरिया ने इसे स्वीकार नहीं किया, अतः गोलन पहाड़ियों पर युद्ध जारी रहा। स्थिति इतनी बिगड़ गई कि सोवियत संघ प्रत्यक्ष हस्तक्षेप होने की संभावना दिखाई देने लगी। 26 अक्टूबर को अमेरिका ने विश्व भर में अपने सैनिकों को सतर्क रहने का आदेश दे दिया। 27 अक्टूबर को सुरक्षा परिषद् की बैठक में युद्ध विराम की निगरानी के लिए और उसके उल्लंघन को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रीय आपात सेना के ठन पर विचार-विमर्श हुआ और परिषद् ने भारत के एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। एक सैनिक टुकड़ी अविलम्ब ही मिस्र में युद्ध-विराम का उल्लंघन रोकने के लिए तैनात कर दी गई। इसके बाद पश्चिमी एशिया की विस्फोटक स्थिति में कुछ सुधार हुआ। समझौता वार्ता चालू रही और अन्त में 11 नवम्बर, 1973 को इजरायल और मिस्र के बीच एक 6 सूत्री समझौते पर हस्ताक्षर हो गये।

**21. ईरान-ईराक युद्ध** – ईरान और ईराक में सैनिक झड़पें तो पहले से हो रहीं थीं, किन्तु सितम्बर, 1980 के उत्तरार्द्ध में दोनों

पक्षों में घमासान युद्ध छिड़ गया। सुरक्षा परिषद् ने 2 सितम्बर, 1980 को सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव में ईरान एवं इराक से तत्काल युद्ध बन्द करने तथा आपसी मतभेदों को हल करने के लिए बाहरी मदद स्वीकार करने को कहा। 19 जुलाई, 1988 को ईरान ने संयुक्त राष्ट्र संघ का 20 जुलाई, 1987 का प्रस्ताव संख्या 598 स्वीकार कर लिया जिसमें दोनों पक्षों से युद्धविराम की अपील की गई थी। ईराक वह प्रस्ताव पहले ही स्वीकार कर चुका था, अतः 20 अगस्त, 1988 को युद्ध विराम हो गया तथा विश्व के 24 देशों में से चुने गये 350 संयुक्त राष्ट्र अधिकारियों को ईरान-ईराक सीमा पर तैनात करके उन्हें युद्ध विराम के क्रियान्वयन के निरीक्षण का काम सौंप दिया गया। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस युद्ध को रुकवाने में तत्कालीन संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव पेरेज दी कुय्यार की अहम् भूमिका रही।

**22. नामीबिया** – दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका जिसे 1968 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने अधि त रूप से नामीबिया का नया नाम प्रदान किया वह 1884 से जर्मन उपनिवेश था। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान वहाँ जर्मनी की पराजय के बाद इस पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित हुआ तथा 1920 में राष्ट्रसंघ ने यह स्थिति अस्वीकार कर दी। बाद में यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में उठाया गया। न्यायालय ने अपना फैसला सुनाया कि दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका संयुक्त राष्ट्रसंघ का मैन्डेटेड प्रदेश है। 1970 में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के अनुसार नामीबिया को स्वतन्त्रता प्रदान करने का आदेश दिया गया। अन्ततः संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1978 में प्रस्ताव संख्या 435 द्वारा दक्षिणी अफ्रीका को आदेश दिया कि वह नामीबिया को मुक्त कर दे, परन्तु दक्षिण अफ्रीका ने उस प्रस्ताव की अपेक्षा कर दी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने नामीबिया की स्वतन्त्रता का अभियान जारी रखा तथा उसके साथ लन्दन, जेनेवा, काहिरा और न्यूयार्क में अनेक बार चर्चायें कीं। 10 वर्ष तक चलने वाली इन चर्चाओं का फल संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में न्यूयार्क में हुई तीन राष्ट्रों की गुप्त वार्ता के बाद 13 जुलाई, 1988 को प्राप्त हुआ। इन तीन राष्ट्रों-अंगोला, दक्षिण अफ्रीका और क्यूबा ने संयुक्त राज्य अमेरिका की मध्यस्थता में यह तय किया कि क्यूबा अंगोला से अपने 24,000 सैनिक वापिस बुला लेगा तथा दक्षिण अफ्रीका नामीबिया से अपनी सेनाएँ हटा लेगा और नामीबिया को स्वतन्त्र कर दिया जायेगा। अन्ततः 1 अप्रैल, 1989 को नामीबिया से द० अफ्रीका का साम्राज्यवादी आधिपत्य समाप्त हो गया और उसका प्रशासन नई सरकार के गठन तक संयुक्त राष्ट्र संघ शांति सेना ने संभाल लिया जिसका नेतृत्व भारत के जनरल प्रेमचन्द कर रहे थे।

नवम्बर, 1989 में नामीबिया की संविधान सभा के लिए आम चुनाव कराये गये तथा 26 जनवरी, 1990 के दिन संविधान परित कर दिया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से तत्कालीन महासचिव कुय्यार ने 21 मार्च, 1990 को नामीबिया की प्रभुता नामीबिया की निर्वाचित सरकार को सौंप दी। यहाँ सैम नुजोमा के नेतृत्व में एक राष्ट्रवादी सरकार सत्ता में आई। तृतीय विश्व के देों के लिए यह क्रांतिकारी घटना थी।

**23. कुवैत पर ईराक का कब्जा** – 2 अगस्त, 1990 को ईराक की सेना ने अपने नन्हें से पड़ोसी देश कुवैत पर कब्जा कर लिया। इसकी विश्व भर में प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। सारे विश्व ने एक स्वर से ईराक के इस कदम की निन्दा की। अरब लड़ग ने ईराक से कुवैत खाली करने की अपील की, किन्तु ईराक ने एक नु सुनी। इतना ही नीं, ईरानी सेनाएं सऊदी अरब की सीमा के निकट भी जमा होने लगीं। शुरू में इस स्थिति का सामना करने के लिये नाटो (उत्तर अटलांटिक संधि संगठन) के नौ सैनिक पोत खाड़ी में भेजे गये तथा अमेरिका सहित अनेक पश्चिमी राष्ट्र ईराक के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की तैयारी करने लगे।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् ने ईराक द्वारा कुवैत से न हटने पर उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये। जब उसने कुवैत को अपने प्रदेश में मिला लिया, तो सुरक्षा परिषद् ने ईराक की इस कार्यवाही को अवैध घोषित कर दिया। 25 अगस्त को सुरक्षा परिषद् ने एक निर्विरोध प्रस्ताव पारित करके ईराक और कुवैत के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी के लिए आवश्यक कार्यवाही की अनुमति प्रदान कर दी। इसका अर्थ यह था कि अमेरिका के नेतृत्व में उसके सहयोगी देश सैनिक कार्यवाही कर सकते थे।

29 अक्टूबर, 1990 को सुरक्षा परिषद् ने एक अन्य प्रस्ताव द्वारा ईराक को चेतावनी दी की यदि उसने परिषद् के आदेशों का पालन नहीं किया, तो उसके विरुद्ध और कठोर कार्यवाही की जायेगी। ईराक ने इस चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया, अतः संरक्षा परिषद् ने 29 नवम्बर को एक प्रस्ताव पारित करके ईराक को चेतावनी दी की यदि वह 15 जनवरी, 1991 तक कुवैत खाली नहीं करेगा, तो उसे इसके लिये मजबूर करने की दृष्टि से सभी आवश्यक कदम उठाये जा सकते हैं।

15 जनवरी निकट आ रही थी और ईराक कुवैत से हटने के लिए तैयार न था। ऐसी स्थिति में युद्ध की संभावना को अन्तिम रूप से टालने के लिये महासचिव कुय्यार 12 जनवरी को ईराक के राष्ट्रपति ने ईराक से पुनः अपील की कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्तावों को स्वीकार कर ले, लेकिन ईराक ने इस अपील को अनसुना कर दिया। अन्ततः 17 जनवरी को खाड़ी-युद्ध छिड़ गया। अमेरिका के नेतृत्व में 28 राष्ट्रों की बहुराष्ट्रीय सेनाओं ने कुवैत को मुक्त कराने की दृष्टि से ईराक पर आक्रमण किया। अमेरिकी,

ब्रिटिश और फ्रांसीसी वायुयानों ने ईराक पर बमबारी की। ईराक इस युद्ध में पराजित हुआ और कुवैत को स्वतन्त्र करा लिया गया। इसके बाद संयुक्त राष्ट्र संघ ने सद्दाम हुसैन की शक्ति को कमजोर करने की दृष्टि से उस पर विविध प्रकार के प्रतिबन्ध आरोपित किये। कुछ समय पहले इन प्रतिबन्धों में ढील देते हुए ईराक को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु तेल का निर्यात करने की अनुमति दी गई।

**24. सोमालिया के संकट का समाधान** – अफ्रीकी देश सोमालिया 1991 से गहयुद्ध की विभीषिका से पीड़ित रहा। गहयुद्ध ने अकाल से जूझते इस देश की समस्या को बहुत विकराल बना दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अकाल से पीड़ित इस देश को सहायता पहुंचाने की दृष्टि से 'आपरेशन रेस्टोर होप' का सूत्रपात किया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने सोमालिया में अपने सैनिक तैनात किये। इससे जहाँ सोमालिया की जनता को अकाल से राहत मिली वहाँ प्रतिद्वन्द्वी गुटों पर अंकुश लगाया जा सका। अब सोमालिया में शान्ति की स्थिति बन सकी है।

**25. कम्बोडिया में शान्ति स्थापना** – राजकुमार नरोत्तम सिंहानुक के सत्ताच्युत होने के बाद कम्बोडिया को गहयुद्ध की स्थिति का सामना करना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा कम्बोडिया में शान्ति स्थापना करने के उद्देश्य से संघर्षरत सभी गुटों को एक मंच पर लाने के अथक् प्रयत्न किये गये। फलस्वरूप 23 अक्टूबर, 1991 को पैरिस में कम्बोडिया के संघर्षरत गुटों के बीच शान्ति की स्थापना की दिशा में समझौता हुआ। इसके फलस्वरूप मई, 1993 में कम्बोडिया में संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन हुए और निर्वाचन के पश्चात् राजकुमार नरोत्तक सिंहानुक ने राष्ट्राध्यक्ष पद पर आसीन होने के साथ ही स्थायी शान्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

### **संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरण और संस्थाएँ (Special Agencies and Institutions of U.N.O)**

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत अनेक ऐसी एजेन्सियाँ और संस्थाएँ हैं जो विश्व के विभिन्न देशों की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने, आर्थिक एवं सामाजिक विकास को बढ़ावा देने, बालकों तथा शरणार्थियों जैसे विशेष वर्ग को सहायता पहुंचाने और प्राविधिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार के लिए विभिन्न देशों की सरकारों के साथ मिलकर कार्य कर रही हैं। संघ के चार्टर में मावनीय, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों को बहुत महत्त्व दिया गया है और इनके निर्वहन के लिए ही विभिन्न विशिष्ट अभिकरणों का निर्माण हुआ है। ये स्वायत्तशासी संगठन हैं। इनकी स्थापना विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सरकारी समझौते के अनुसार की गई है। इन अभिकरणों को संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बन्धित करने के लिये समझौते के बारे में बातचीत और पत्र-व्यवहार आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् की एक स्थाई समिति द्वारा किया जाता है। इस समिति द्वारा जो समझौते किये जाते हैं उन्हें आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, महासभा तथा सम्बन्धित अभिकरणों की एक विशेष शाखा स्वीकृत करी है। इन अभिकरणों के विभिन्न कार्यों में समन्वय अथवा तालमेल रखने का दायित्व आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् पर है।

निम्नांकित अधिकरण आर्थिक कल्याण के विकास और प्रसार में सहयोगी बन कर विश्व के राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग और सम्पर्क की दृढ़ आधारशिलाएँ रख रहे हैं—

1. खाद्य एवं कृषि संगठन (Food and Agricultural Organisation),
2. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation),
3. विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organisation),
4. संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा विज्ञान तथा संस्कृति संगठन (United National Educational Scientific and Cultural Organisation),
5. संयुक्त राष्ट्रीय बाल आपात कोष (United Nations International Children Emergency Fund),
6. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development),
7. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund),
8. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation),
9. अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ (International Telecommunication Union),
10. अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन (International Civil Aviation Organisation),
11. विश्व अन्तरिक्ष विज्ञान संघ (World Meteorological Organisation),
12. विश्व डाक संघ (Universal Postal Union),
13. अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति अभिकरण (International Atomic Agency)
14. अन्तर्राजकीय समुद्रीय परामर्श संगठन (Inter-Governmental Marine Consultative Organisation),

15. प्राविधिक सहायता प्रशासन (Technical Assistance Administration),
  16. एशिया तथा प्रशान्त आर्थिक एवं सामाजिक निगम (Economic and Social Commission for Asia and the Pacific),
  17. शरणार्थियों के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ उच्चायुक्त (United Nations High Commissioner for Refugees), एवं
  18. संयुक्त राष्ट्र संघ औद्योगिक विकास संगठन (United Nations Industrial Development Organisation)।
- इनमें से कुछ संगठनों की रचना और उपलब्धियों का विवरण निम्नांकित है—

**अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन** — इसकी स्थापना प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुई थी और यह राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशंस) के साथ सम्बद्ध था। बाद में इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। इस संगठन के सिद्धान्त हैं—(i) श्रम वस्तु नहीं है, (ii) गरीबी समृद्धि के लिये खतरनाक है, (iii) मानव-प्रगति के लिए संगठन तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता परमावश्यक है एवं (iv) अभाव और दरिद्रता के विरुद्ध प्रत्येक देश को पूरे उत्साह के साथ युद्ध करना चाहिये। इन सिद्धान्तों की पूर्ति के लिये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने जो कार्यक्रम अपनाया है वह मुख्य रूप से इस प्रकार है—श्रमिकों को जीवन निर्वाह और पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक तथा पूरी मजदूरी प्राप्त हो, श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्यों का विस्तार हो, श्रमिकों के लिये पर्याप्त भोजन और आवास की व्यवस्था हो, श्रमिकों को सामूहिक सौदेबाजी का अधिकार प्राप्त हो, उन्हें असवरो की पूरी समानता प्राप्त हो एवं उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा की सुचारु व्यवस्था हो। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा श्रमिकों का जीवन—स्तर सुधारने और उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति बढ़ाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस संगठन के तीन प्रमुख अंग हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference), (ख) प्रशासनिक निकाय (Governing Body) एवं (ग) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय (International Labour Office)।

**खाद्य एवं कृषि संगठन** — 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत स्थापित यह प्रथम संगठन था। इसका मुख्य उद्देश्य विश्व में खाद्य एवं कृषि की दशाओं को उन्नत करना है। पौष्टिक खुराक प्राप्त हो, रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठे, फार्मों, जंगलों तथा मछली उद्योग वाले क्षेत्रों में सभी तरह के खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हो तथा इनका समुचित वितरण हो—इन सबके लिए यह संगठन कार्य करता है। इसने विश्व के विभिन्न भागों में भूमि और जी के संरक्षण में और नवीन प्रकार के पौधों की अदला-बदली को प्रोत्साहन दिया है। विश्व में इसने कृषि के उन्नत तरीकों का प्रचार किया है, पशुओं के रोग-निवारण के लिए कार्य किया है और इस दिशा में विभिन्न राष्ट्रों को तकनीकी सहायता दी है। खाद्य और कृषि से सम्बन्धित प्रत्येक समस्या पर इस संगठन की तकनीकी सहायता और परामर्श महत्वपूर्ण रहे हैं। यह प्रतिवर्ष विश्व-खाद्यान्नों की स्थिति का निरीक्षण करता है। भारत में बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने में इस संगठन ने बहुत सहायता की है।

खाद्य एवं कृषि संगठन के मुख्य अंगों में सम्मेलन, परिषद् और महानिदेशक तथा उसका स्टॉफ या सेवीवर्ग सम्मिलित होता है। सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य राज्य का एक-एक प्रतिनिधि होता है। सम्मेलन की खाद्य और कृषि संठन की नीति का निर्धारण करता है और बजट स्वीकार करता है। सम्मेलन के एक अधिवेशन की समाप्ति और दूसरे के आरम्भ की अवधि में परिषद् काम करती है।

**अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष** — 27 दिसम्बर, 1945 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना तब हुई जबकि इसके श्रेष्ठ कोष का 80% भाग विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जमा करा दिया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मुख्य लक्ष्य हैं—विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहन देना, सदस्यों के बीच व्यवस्थित विनिमय-व्यवस्था की स्थापना करना, प्रतिस्पर्द्धापूर्ण विनिमय तथा मन्दी की स्थिति को दूर करना, सदस्यों के लिए कोष के साधन उपलब्ध कराना एवं इस तरह उनमें विश्वास की भावना जगाना आदि—आदि। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध कार्यालय उस देश में होता है जो सबसे अधिक नियतांश प्रदान करता है। वर्तमान में यह कार्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका में है। इस कोष की शाखाएं किसी भी देश में खोली जा सकती हैं। इसमें विभिन्न देशों को समय-समय पर ऋण देकर उनके भुगतान को बकाया के स्थायी असन्तुलन को दूर किया है। इसका अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में भारी योग रहा है। इसने सदस्य-देशों को भुगतान की बकाया के दीर्घकालीन असंतुलन को दूर करने में सहायता दी है। कोष आर्थिक और मौद्रिक विषय पर सदस्य देशों को उपयोगी परामर्श देता रहता है। यह अपने सदस्यों को विश्व की आर्थिक स्थिति के परिवर्तन की सूचनाएँ निश्चित रूप से देता रहता है। कोष अपने विशेषज्ञों की सेवाएँ प्रदान करता है, कभी-कभी बाहरी विशेषज्ञों को सदस्य-देशों की सहायतार्थ भेजता है। ये विशेषज्ञ सदस्य-देशों में आर्थिक परामर्शदाताओं का कार्य करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध एक गवर्नर्स-मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी संचालक मण्डल (Board of Executive Directors), प्रबन्धक संचालकों (Managing Directors) तथा अन्य स्टॉफ की सहायता से किया जाता है। विगत वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भारतीय आर्थिक नीतियों को प्रभावित करने में भूमिका निरन्तर प्रभावशाली रही है।

**अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम** – जुलाई, 1956 में इसकी स्थापना की गई और 20 फरवरी, 1957 से यह संयुक्त राष्ट्र संघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में कार्य कर रही है। इसका कोष अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कोष से बिल्कुल पथक् है। निगम का मूल उद्देश्य विश्व बैंक के पूरक के रूप में उत्पादनशील निजी उद्यम के विकास को (विशेषकर अर्द्ध-विकसित देशों में) प्रोत्साहन देना है। निगम के चार्टर की धारा 1 में इसके इन उद्देश्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

1. किन्हीं उद्योगों के विकास, सुधार, और विस्तार को बढ़ावा देना तथा इसके लिये बिना सरकार की गारण्टी के सदस्य-देशों में स्थित निजी उद्योगों में विनियोग करना।
2. विनियोग के अवसरों, देशी और विदेशी निजी पूँजी तथा अनुभवी व्यवस्थापन को परस्पर सम्बद्ध करना और उनमें समन्वय स्थापित करना।
3. सदस्य-राष्ट्रों में घरेलू और निजी विदेशी पूँजी को उत्पादनशील विनियोगों में प्रभावित कर विकास में सहायक परिस्थितियों को उत्पन्न करना।

सारांश में निगम का उद्देश्य निजी उद्योगों के साथ मिलकर बिना सम्बन्धित सरकार की गारण्टी के उनमें पूँजी का विनियोग करना है। निगम की सदस्यता केवल उन्हीं देशों को प्राप्त हो सकती है जो विश्व-बैंक के सदस्य हैं। सदस्यता ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं। निगम के प्रबन्ध के लिए एक गवर्नर-मण्डल होता है। दिन-प्रतिदिन के कार्य संचालन के लिए संचालक बोर्ड होता है। विश्व बैंक का अध्यक्ष निगम के संचालक बोर्ड का पदेन चेयरमैन होता है।

**अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक** – बेटनवुड्स सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की स्थापना का निर्णय किया गया। यह संस्था, जिसे विश्व बैंक (World Bank) भी कहते हैं, मुद्रा कोष की एक पूरक संस्था है। 27 दिसम्बर, 1945 को इसकी स्थापना हुई, किन्तु 25 जून, 1946 से इसने अपना कार्य आरम्भ किया। मुद्रा कोष और विश्व बैंक 'स्थायित्व और विकास' के उद्देश्यों पर आधारित हैं। मुद्रा कोष जहाँ स्थायित्व पर अधिक बल देता है दूसरी ओर विश्व बैंक विकास पर। इसके मुख्य उद्देश्य हैं—सदस्य-राष्ट्रों का पुनर्निर्माण एवं हिवकास, व्यक्तिगत विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहन, दीर्घकालीन सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन, अधिक आवश्यक उत्पादन के कार्यों की प्राथमिकता तथा शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था की स्थापना। प्रत्येक राष्ट्र, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य है, विश्व बैंक का भी स्वतः ही सदस्य बन जाता है। इन दोनों संस्थाओं की सदस्यता साथ-साथ चलती है और एक की सदस्यता त्याग देने पर दूसरे की सदस्यता स्वतः समाप्त हो जाती है। मुद्रा कोष की सदस्यता समाप्त हो जाने पर कोई देश विश्व बैंक का सदस्य तभी बना रह सकता है जब उसे बैंक के 75 प्रतिशत मतों का समर्थन प्राप्त हो।

विश्व बैंक का संगठन मुद्रा कोष के संगठन की तरह ही है। बैंक के संगठन में बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, प्रशासनिक संचालक बोर्ड, सलाहकार समिति और ऋण परिधि की स्थिति विशेष महत्त्व की होती है। विश्व बैंक के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं – सदस्य-देशों को ऋण देना (अधिकांश ऋण अल्पविकसित देशों में बिजली, उद्योग, परिवहन आदि के विकास के लिए दिए गए हैं) निजी विनियोजकों को गारण्टी देकर उनकी पूँजी अन्य देशों को दिलाना, सदस्य देशों के अधिकारियों के लिए वित्त, मुद्रा-व्यवस्था, कर-प्रणाली, औद्योगिक एवं बैंकिंग संगठन आदि विषयों से सम्बन्धित प्रशिक्षण की व्यवस्था करना एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्यायें सुलझाने के लिए मध्यस्थि के रूप में कार्य करना आदि-आदि। विश्व बैंक द्वारा प्रदान किये जाने वाले विकास ऋणों का असर झोपड़ियों तक पहुँचा है, नए-नए कल-कारखानों का निर्माण हुआ है, सूखे खेतों को पानी मिला है, यातायात और संदेशवाहनों का प्रसार हुआ है तथा रेगिस्तान नखलिस्तान में परिणत हुए हैं। इससे जन-साधारण इस बैंक की भूमिका से परिचित हुआ है। इस प्रकार बैंक की भूमिका विश्व-व्यापी प्रभाव रखती है।

**यूनेस्को (UNESCO)** – संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरणों में 'यूनेस्को' अर्थात् संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation : UNESCO) का अपना अलग विशेष महत्त्व है। 3 नवम्बर, 1946 को इस संस्था का जन्म हुआ। इसके तीन प्रमुख अंग हैं—साधारण सभा (General Conference), कार्यकारी मण्डल (Executive Board) एवं सचिवालय (Secretariat)। संयुक्त राष्ट्र संघ के लगभग सभी सदस्य यूनेस्को के भी सदस्य हैं। यूनेस्को का लक्ष्य शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से राष्ट्रों के बीच सहयोग को प्रोत्साहन देकर शान्ति और सुरक्षा में योगदान करना है। यह संस्था बिना किसी भेदभाव के चार्टर में निहित मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं को क्रियाशील बनाने में सहायक है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरणों में सबसे अधिक सफलता यूनेस्को को ही प्राप्त हुई है। यूनेस्को के प्रमुख कार्य निम्नानुसार हैं :—

1. यूनेस्को का प्रथम कार्य है शिक्षा। इसमें तीन बातें सम्मिलित हैं—शिक्षा का विस्तार, शिक्षा की उन्नति और शिक्षा के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण। इस कार्यक्रम में साक्षरता के प्रसार और आधारभूत शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। यूनेस्को ने जन-शिक्षा (Mass Education) पर बहुत बल दिया है। इसका यह एक महान् उद्देश्य है कि सभी लोगों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाये, इसीलिये यह संस्था विभिन्न देशों की शिक्षा सम्बन्धी विशेष योजनाओं को सहायता देती है।
2. यूनेस्को का दूसरा कार्य है विज्ञान का विकास। इसने प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान पर बहुत ध्यान दिया है। यूनेस्को ने क्षेत्रीय-विज्ञान-सहयोग केन्द्र स्थापित किए हैं। इसका महत्वपूर्ण कार्य है रेगिस्तानी प्रदेशों को उपजाऊ बनाने के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में यह संस्था वैज्ञानिकों के सम्मेलनों का आयोजन करती है, वैज्ञानिक संगठनों के क्षेत्र में यह संस्था वैज्ञानिकों के सम्मेलनों का आयोजन करती है, वैज्ञानिक संगठनों को सहायता देती है और अनुसन्धान, प्रकाशन तथा वैज्ञानिक शिक्षा का कार्य करती है। सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में इसके प्रमुख कार्यों में अन्तर्राष्ट्रीय संघ का निर्माण और सहायता, विचार-गोष्ठियों का आयोजन, अन्तर्राष्ट्रीय तनावों सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन आदि के कार्यों को सम्पन्न करना है। यूनेस्को ने विभिन्न भाषाओं में नस्लवाद के विरुद्ध साहित्य प्रकाशित कराया है जिससे यह सिद्ध हो गया है कि एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से उच्च मानने का कोई न्यायोचित आधार नहीं है। इस तरह से इसने नस्लवाद के विरुद्ध जनमत जागत करने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया है।
3. यूनेस्को का तीसरा कार्य संस्कृति सम्बन्धी है। यह संस्था मानव-जाति की सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है। यूनेस्को ने मानव-जाति का वैज्ञानिक और सांस्कृतिक इतिहास प्रकाशित किया है। यह सामूहिक ज्ञान के प्रचार के लिये प्रयत्नशील है। कार्यवाही फिल्म, प्रेस, रेडियो आदि द्वारा की जाती है। यूनेस्को के सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत अनुसंधान करना तथा सभा सम्मेलनों और विचार गोष्ठियों के आयोजन होते हैं। यह विविध प्रकार का साहित्य भी प्रकाशित करता है।
4. यूनेस्को का चौथा कार्य है व्यक्ति-विनिमय और जन-सम्पर्क। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न देशों के विद्वानों को दूसरे देशों में भेजा जाता है और विभिन्न क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। इस तरी विश्व के दूरस्थ देशों के वैज्ञानिकों और विद्वानों का पारस्परिक सम्पर्क हो जाता है। यूनेस्को ने जन-सम्पर्क के साधनों — प्रेस, रेडियो, फिल्म, टेलीविजन आदि के विस्तार के लिये काफी प्रयत्न किये हैं।
5. यूनेस्को विभिन्न देशों के शरणार्थियों के पुनर्वास में सहायता पहुँचाता है। इस कार्य के लिए यह विश्व के देशों को लोक कल्याणकारी संस्थाओं से धन संग्रह करता है। अपने विशेषज्ञों द्वारा यह संगठन विभिन्न देशों को उपयुक्त परामर्श देकर लाभ पहुँचाता है। सितम्बर, 1952 में स्वीकृत की गई 'यूनिवर्सल' कापीराइट कन्वेंशन' यूनेस्को की एक बहुत बड़ी सफलता मानी जाती है। इस समझौते द्वारा यूनेस्को ने लेखकों को कलाकारों के हितों के संरक्षण में विशेष योगदान दिया है।

यूनेस्को ने अपने उद्देश्यों और कार्यों की पूर्ति के लिये विभिन्न संगठनों अथवा संस्थाओं की स्थापना की है जिनमें से मुख्य हैं— अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य संस्थान (International Theatre Institute), अन्तर्राष्ट्रीय संगीत परिषद् (International Music Council), अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन और मानवतावादी अध्ययन परिषद् (International Council of Philosophy & Humanistic Studies), अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय संघ (International Sociological Association), अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान संघ (International Political Sciences Association) एवं तुलनात्मक विधि की अन्तर्राष्ट्रीय समिति (International Committee of Comparative Law)।

यूनेस्को विश्व में शान्ति की स्थापना और मानवतावाद के संरक्षण में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है, किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका अर्थात् तृतीय विश्व की आवश्यकताओं, आकाँक्षाओं और सांस्कृतिक निधियों पर यह विशेष ध्यान दे।

### स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी संगठन

संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी संगठनों में से अग्रलिखित विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं—

**अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति एजेंसी** — 26 जुलाई, 1956 को इसकी स्थापना हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ इसके कार्य सम्बन्धी प्रस्ताव महासभा द्वारा नवम्बर, 1956 में और एजेंसी की जनरल कांफ्रेंस द्वारा अक्टूबर, 1957 में स्वीकार किया गया। इस अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेंसी (International Atomic Agency) के मुख्य उद्देश्य हैं—विश्व की शान्ति-व्यवस्था और सम्पन्ता में अणुशक्ति के योगदान को बढ़ावा देना, अणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग की हर प्रकार से प्रोत्साहन देना तथा यह देखना कि उसके द्वारा दी जाने वाली सहायता का अनैतिक उद्देश्यों के लिए उपयोग नहीं किया जाए।

**विश्व स्वास्थ्य संगठन** – 7 अप्रैल, 1948 को विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) की स्थापना हुई, इसीलिये प्रतिवर्ष 7 अप्रैल को विश्व भर में 'स्वास्थ्य दिवस' के रूप में मनाया जाता है। इससंगठन की सदस्यता सभी राष्ट्रों के लिये खुली है। इसके प्रमुख अंग हैं—सभा (Assembly), कार्यकारी बोर्ड (Executive Board) एवं सचिवालय (Secretariat)। संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत स्थापित इस संगठन का मुख्य उद्देश्य विश्व को रोगों से मुक्त कराना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये संगठन अनेक कार्य करता है, जैसे—(1) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों का संचालन, (2) महामारियों और रोगों के उन्मूलन सम्बन्धी कार्यक्रमों को प्रोत्साहन, (3) स्वास्थ्य क्षेत्र में अनुसंधान, (4) बीमारियों के अन्तर्राष्ट्रीय नामों के निदान सम्बन्धी कार्यों में एकरूपता की स्थापना, (5) आकस्मिक दुर्घटनाओं तथा उनको रोकने का प्रबन्ध, (6) मानसिक स्वास्थ्य सुधार को प्रोत्साहन, (7) आहार, पोषण, स्वच्छता, (8) निवास और काम करने की दिशाओं में सुधार, एवं (9) स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्र में प्रशासनिक और सामाजिक विधियों का अध्ययन आदि। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा टीके लगाने और औषधियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड निर्धारित करने का कार्य किया जाता है। संगठन विश्व भर के राष्ट्रों को हैजा, चेचक आदि संक्रामक रोगों की सूचना देता है।

**अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात कोष** – बच्चों के स्वास्थ्य पर विशेष रूप से ध्यान देने के लिए महासभा द्वारा 11 सितम्बर, 1964 को अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात कोष (U.N. International Children Emergency Fund) की स्थापना की गई। यह संस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद् की देखरेख में काम करती है। इसका मुख्य उद्देश्य संसार भर के (विशेषकर अविकसित देशों के) बच्चों की हर तरह की आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करना, भूकम्प, बाढ़ आदि के समय प्रसूतिकाओं और शिशुओं की सहायता करना, प्रसूति गहों और शिशु कल्याण केन्द्रों की स्थापना तथा शिशु-आहार की व्यवस्था करना आदि हैं। इस बाल कोष की सहायता से भारत के विभिन्न अस्पतालों और स्कूलों में प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनमें घात-विद्या (नर्सिंग) की शिक्षा दी जाती है।



## अध्याय-3

# महासभा (The General Assembly)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंगों में सबसे बड़ा तथा सबसे अधिक लोकप्रिय अंग महासभा है। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का केन्द्रीय निकाय है। जैसा कि ई०पी०चेज ने लिखा है : "महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ का केन्द्रबिन्दु है। यह न तो अपना स्थान त्याग सकती है और न अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के लिए किसी दुसरे अंग को भागीदार बना सकती है।" ("The General Assembly is the centre of the United Nations. It can neither abdicate nor share its position" - E.P. Chase)। वह महासभा को संयुक्त राष्ट्रसंघ की संसद कहता है। अन्य विचारकों ने भी इसकी तुलना किसी देश के विधानमण्डल अथवा संसद से की है। अन्तर केवल इतना है कि इसके निर्णय बाध्यकारी नहीं होते। सिनेटर बेन्डेनबर्ग ने इसे 'संसार की नगर सभा' (The town meeting of the World) कहा है। कारण यह कि महासभा ऐसा स्थल है जहाँ विश्व के विभिन्न राज्य विश्व-शांति और सुव्यवस्था से सम्बद्ध प्रश्न पर विचार-विमर्श करते हैं। यह एक ऐसा मंच है जहाँ विश्व के राजनयिकों को एकत्रित होने, विचार-विमर्श करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुव्यवस्था कायम रखने के लिए सुझाव देने का अवसर प्राप्त होता है। गुड्सपीड ने ठीक ही लिखा है : "इसके समक्ष प्रस्तुत होने वाली समस्याओं का रूप चाहे जो भी हो, महासभा एक वह स्थान है जहाँ छोटे-बड़े सभी सदस्य अपनी आलोचना तथा विचार व्यक्त कर सकते हैं तथा किसी विषय पर वाद-विवाद कर सकते हैं।" इसलिए महासभा को 'कान का खुला अन्तःकरण' कहा गया है।

## महासभा का संगठन (Organisation of the General Assembly)

महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रतिनिध्यात्मक अंग है। संघ के सभी सदस्य-राज्य इसके सदस्य होते हैं। इस प्रकार यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का अकेला अंग है जिसमें संघ के सभी सदस्य-राज्यों का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। प्रत्येक सदस्य-राज्य 5 प्रतिनिधि और 5 वैकल्पिक प्रतिनिधि के अलावा सलाहकारों एवं विशेषज्ञों को आवश्यकता के अनुसार नियुक्त किया जाता है। इस सम्बन्ध में चार्टर में यह व्यवस्था है कि "किसी सदस्य-राज्य का प्रतिनिधि मंडल 5 प्रतिनिधियों तथा उतने ही सलाहकार एवं विशेषज्ञों को मिलाकर गठित होगा जितना प्रतिनिधि-मण्डल के लिए आवश्यक हो।" जब संघ के चार्टर पर सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में विचार हो रहा था, उस समय कुछ लोगों ने यह सुझाव दिया था कि महासभा में प्रत्येक सदस्य-राज्य को सिर्फ एक-एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो क्योंकि इससे दो फायदे होंगे। एक ओर तो इससे महासभा का आकार असंतुलित होने से बच जायेगा और दूसरी ओर उन छोटे-छोटे राज्यों को भी भाग मिल जायेगा जो बड़ा प्रतिनिधित्व भेजने में असमर्थ हैं। परन्तु यह सुझाव स्वीकार नहीं किया गया। और, प्रत्येक सदस्य के लिए 5 प्रतिनिधि, तथा आवश्यकतानुसार सलाहकारों एवं विशेषज्ञों पर सहमति हुई।

प्रतिनिधियों की नियुक्ति उनकी सरकार द्वारा होती है। उनकी योग्यताओं तथा आवश्यक शर्तों का निर्धारण उनकी सरकार द्वारा ही किया जाता है। प्रतिनिधिगण अपने राज्य के प्रधान अथवा विदेश मंत्री से प्रमाण-पत्र ग्रहण करते हैं। प्रतिनिधि मण्डल के सदस्यों की सूची तथा उनका प्रमाण-पत्र महासभा के अधिवेशन प्रारम्भ होने के पहले ही महासचिव के पास जमा करना पड़ता है। महासभा की प्रमाण-पत्र समिति प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों की जाँच करती है।

## महासभा का अधिवेशन (Session of the General Assembly)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में यह विधान है कि महासभा की बैठक वर्ष में कम-से-कम एक बार अवश्य होगी। आमतौर से यह अधिवेशन सितम्बर के महीने में न्यूयार्क में होता है। अधिवेशन किसी अन्य स्थान पर भी हो सकता है यदि इस तरह की प्रार्थना अधिवेशन होने के एक सौ बीस दिन पहले की गई हो तथा उस पर बहुमत सदस्यों की स्वीकृति प्राप्त हो। इसके अधिवेशन पेरिस में भी हो चुके हैं। प्रायः यह अधिवेशन सितम्बर महीने के तीरे मंगीवार का प्रारम्भ होता है और करीब दो महीने तक चलता है। अगर, जैसा अब आमतौर पर होता है, लगभग दिसम्बर के तीसरे सप्ताह तक काम समाप्त नहीं होता, तो आगामी बसंत में बैठक फिर होती है। महासभा के अधिवेशन की अवधि पर चार्टर में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। केल्सन के अनुसार "यदि कार्य सूची के लिए आवश्यक हो तो महासभा अपना वार्षिक अधिवेशन दूसरे वार्षिक अधिवेशन तक चालू रख सकती है।" परन्तु व्यवहार में यह अधिवेशन लगभग दो महीने तक चलता है।

आवश्यकता पड़ने पर महासभा के विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते हैं। विशेष अधिवेशन सुरक्षा परिषद् अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के बहुमत या अधिकतर सदस्यों की सहमति से एक सदस्य की प्रार्थना पर बुलाया जा सकता है। असाधारण परिस्थितियों में सुरक्षा परिषद् अथवा बहुमत सदस्यों के बहुमत या अधिकतर सदस्यों की सहमति से एक सदस्य की प्रार्थना पर

बुलाया जा सकता है। असाधारण परिस्थितियों में सुरक्षा परिषद् अथवा बहुमत सदस्यों के अनुरोध पर 24 घंटे के भीतर महासचिव के द्वारा सभा का संकटकालीन अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। ऐसे अधिवेशनों में सभा केवल उन्हीं विषयों पर विचार करती है जिनके लिए अधिवेशन बुलाने की माँग की गई हो। अभी तक कई विशेष अधिवेशन ट्यूनिशिया की स्थिति पर विचार करने के लिए 21 अगस्त, 1961 में हुआ था। जून 1967 में भी अब, इजराइल पर विचार करने के लिए एक विशेष अधिवेशन हुआ था। महासभा का सातवाँ विशेष अधिवेशन 1 से 16 सितम्बर, 1975 तक न्यूयार्क में हुआ। नामीबिया की समस्या पर विचार करने हेतु 26 अप्रैल से 3 मई, 1978 तक और निशस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करने के लिए सन् 1978, 1982 और 1988 में तीन विशेष अधिवेशन हुए। अफगानिस्तान में सोवियत संघ की सैनिक कारवाइ से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने हेतु 10 जनवरी, 1980 को और फिलिस्तीन के प्रश्न पर विचार करने के लिए 23 जुलाई, 1980 को महासभा के विशेष अधिवेशन हुए। महाभा के पूर्ण अधिवेशन की बैठक पदाधिकारियों का चुनाव करने, कार्य-पद्धति सम्बन्ध अन्य मामले तय करने के लिए और लगभग पाँच सप्ताह की सामान्य बहस के लिए होती है।

### महासभा के सभापति (President of the General Assembly)

अपने कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए महासभा एक अध्यक्ष का चुनाव करती है। उसका चुनाव महासभा के प्रत्येक अधिवेशन के लिए किया जाता है जो अधिवेशन के अन्त तक सभा की कार्यवाही का संचालन करता है। इस प्रकार उसका कार्यकाल उस अधिवेशन तक ही सीमित रहता है जिसमें उसका निर्वाचन होता है। राष्ट्रसंघ की सभा की भांति महासभा का अध्यक्ष भी छोटे राष्ट्रों में से चुना जाता है। यह परम्परा स्थापित हो चुकी है कि महासभा का अध्यक्ष किसी बड़ी शक्ति का प्रतिनिधि नहीं होगा। परन्तु इससे पद की गरिमा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। इस पद को कुछ ऐसे लोगों ने सुशोभित किया है जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के ख्याति-प्राप्त व्यक्ति रहे हैं। जैसा कि निकोलास ने लिखा है, "महासभा के प्रथम सभापति बेल्जियम के हेनरी एम० स्पॉक से लेकर आज तक इस पद पर बैठने वालों ने इसके कार्य-भार को योग्यतापूर्वक संभाला है।" सभा के आठवें अधिवेशन का अध्यक्ष भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को निर्वाचित किया गया था। अध्यक्ष का चुनाव गुप्त मतदान द्वारा होता है। साधारणतया अधिवेशन प्रारम्भ होने से पूर्व हर सम्भव प्रयास किया जाता है कि ऐसे व्यक्ति को ही अध्यक्ष-पद प्रत्याशी बनाया जाये जिस पर प्रभावशाली बहुमत का समर्थन प्राप्त हो सके।

अध्यक्ष के अतिरिक्त आठ उपाध्यक्षों की भी नियुक्ति की जाती थी। इनमें से पाँच आवश्यक रूप से पाँच स्थायी सदस्यों के प्रतिनिधि होते थे। सन् 1953 में उपाध्यक्षों की संख्या अट्ठारह कर दी गयी। इन उपाध्यक्षों का विभाजन इस प्रकार किया गया है—(क) सात एशियाई-अफ्रीकी राज्यों से, (ख) एक पूर्व यूरोप के राज्यों से, (ग) तीन लैटिन अमरीकी राज्यों से, (घ) दो पश्चिमी यूरोप एवं अन्य देशों से, (ङ) पाँच सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों से। सभी उपाध्यक्षों का चुनाव भी प्रत्येक अधिवेशन के लिए ही किया जाता है। राष्ट्रसंघ की सभा की तरह महासभा का अध्यक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदाधिकारी समझा जाता है। वह सभा की खुली बैठकों का सभापतित्व करता है, वाद-विवादों का निर्देशन करता है। नियमों का पालन करवाता है तथा प्रतिनिधियों को बोलने का अवसर प्रदान करता है। वह किसी प्रश्न पर मत लेता है और उसके निर्णयों की घोषणा करता है। वह प्रक्रियाओं पर नियंत्रण रखता है, समय-सीमा का निर्धारण करता है एवं सभा अथवा बहस के स्थान या समाप्ति की घोषणा करता है। कुछ विचारक उसके अधिकारों की तुलना कॉमन सभा के अध्यक्ष के साथ करते हैं। परन्तु दोनों पदाधिकारियों की स्थिति में काफी अन्तर है। यह ठीक है कि महासभा के अध्यक्ष को कॉमन सभा के अध्यक्ष के कुछ अधिकार अवश्य प्राप्त हैं लेकिन उनके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि महासभा का अध्यक्ष कॉमन सभा के अध्यक्ष की भाँति ही सशक्त है। यह बात महासभा के प्रथम अध्यक्ष हैनरी स्पॉक के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट हो जाती है : "सभापति के रूप में मैं उस दिन का स्वप्न देखता हूँ जब मुझे वे सारे अधिकार प्राप्त होंगे जो कॉमन सभा के अध्यक्ष को प्राप्त हैं...परन्तु अभी हम उस स्थिति में नहीं पहुँच पाये हैं।" वास्तव में महासभा के अध्यक्ष को वह गरिमा प्राप्त नहीं है जो कॉमन सभा के अध्यक्ष को प्राप्त है। कॉमन सभा का अध्यक्ष अपने हस्तक्षेप से किसी भी सदस्य को शांत कर सकता है और यदि वह बोलने के लिए खड़ा हो तो अन्य सदस्यों को बैठ जाना पड़ता है। महासभा के अध्यक्ष के सम्बन्ध में इस तरह की परम्परा स्थापित नहीं हो पायी है। फिर भी, जैसा कि निकोलास ने लिखा है कि एक योग्य व्यक्ति न केवल सभा के अधिवेशन की कार्यवाहियों को सुचारु रूप से चला सकता है, वरन् अपने व्यक्तिगत प्रभाव से वह बहुत कुछ कर सकता है। यह उसकी योग्यता और क्षमता पर निर्भर करता है।

### समितियाँ (Committees)

महासभा एक बड़ी संस्था है। इसके लिए उन सभी विषयों पर विस्तार से विचार-विमर्श कर सकना मुश्किल है जो इसके समक्ष

प्रस्तुत किये जाते हैं। अतः राष्ट्रीय विधायिका सभाओं की भाँति महासभा भी अपने कार्यों के सम्पादन के लिए समितियों का प्रयोग करती है। कार्य-सूची के अधिकांश सादभूत प्रश्नों पर, जिन पर बहस और निर्णय की आवश्यकता होती है, पहले किसी-न-किसी समिति में कार्य-पद्धति पूर्ण अधिवेशन की अपेक्षा कम औपचारिक होती है। प्रतिनिधि सामने किसी मंच पर खड़े होकर बोलने की बजाय अपने स्थानों पर बैठे हुए ही बोलते हैं और मतदान में निर्णय सामान्य बहुमत से होता है। समितियों द्वारा स्वीकृत सभी सिफारिशों पर बाद में पूर्ण अधिवेशन में विचार होता है जहाँ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय करने के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है।

महासभा को अपने कार्य-संचालन के लिए आवश्यकतानुसार समितियों तथा सहायक अंगों का गठन करने का अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत महासभा ने चार प्रकार की समितियों की स्थापना की है। पहली श्रेणी में सभा की मुख्य समितियाँ आती हैं जिनका कार्य महत्वपूर्ण मामलों पर विचार करना होता है। दूसरे और तीसरे वर्ग में क्रमशः प्रक्रिया-समितियाँ आती हैं। इनके अलावा तदर्थ समितियाँ होती हैं जिनकी नियुक्ति समय-समय पर कुछ विशिष्ट विषयों पर विचार करने के लिए होती है।

महासभा अपना कार्य छह मुख्य समितियों द्वारा चलाती है। ये समितियाँ हैं—(i) राजनीति एवं सुरक्षा समिति (Political and Security Committee), (ii) आर्थिक और वित्तीय समिति (Economic and Financial Committee), (iii) सामाजिक, मानवीय और सांस्कृतिक समिति (Social, Humanitarian and Cultural Committee), (iv) न्यास समिति (Trusteeship Committee), (v) प्रशासकीय एवं बजट समिति (Administrative and Budgetary Committee) तथा (vi) विधि-समिति। राजनीतिक और सुरक्षा समिति राजनीति और सुरक्षा-सम्बन्धी मामलों पर विचार करती है, जैसे संघ के सदस्यों का प्रवेश, निलम्बन और निष्कासन, शस्त्रों का नियमन, विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान आदि। आर्थिक और वित्तीय समिति संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले आर्थिक और वित्तीय विषयों पर विचार करती है। यह आर्थिक और वित्तीय सहयोग के प्रश्न पर विचार करती है। सामाजिक, मानवीय और सांस्कृतिक समिति सामाजिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक प्रश्नों पर विचार करती है। न्यास समिति न्यास-व्यवस्था से सम्बद्ध प्रश्नों पर विचार करती है। प्रशासकीय और बजट समिति का गठन प्रशासकीय और बजट-सम्बन्धी मामलों पर विचार करने के लिए किया गया है। विधि समिति को वैधानिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए निर्मित किया गया है।

महासभा के कार्य-संचालन में सहायता देने हेतु दो प्रक्रिया समितियाँ नियुक्त की जाती हैं। ये हैं साधारण समिति और परिचय-पत्र समिति। साधारण समिति में महासभा का अध्यक्ष, सातों उपाध्यक्ष तथा छह मुख्य समितियों के अध्यक्ष रहते हैं। इस समिति का कार्य यह देखना है कि महासभा के अधिवेशन-काल में उनका कार्य सुचारु रूप से चल रहा है अथवा नहीं। प्रक्रिया सम्बन्धी दूसरी समिति है—प्रमाण पत्र समिति। प्रत्येक अधिवेशन में अध्यक्ष एक प्रमाण-पत्र समिति नियुक्त करता है जो प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्र की पुष्टि करती है।

महासभा की सहायता के लिए दो स्थायी समितियाँ भी हैं—एक प्रबन्ध और बजट सम्बन्धी प्रश्नों के लिए परामर्शदात्री समिति और परिचय-पत्र समिति और दूसरी अनुदान समिति। साधारण समिति में महासभा का अध्यक्ष, सातों उपाध्यक्ष तथा छह मुख्य समितियों के अध्यक्ष रहते हैं। इस समिति का कार्य यह देखना है कि महासभा के अधिवेशन-काल में उनका कार्य सुचारु रूप से चल रहा है अथवा नहीं। प्रक्रिया सम्बन्ध दूसरी समिति है—प्रमाण-पत्र समिति। प्रत्येक अधिवेशन में अध्यक्ष एक प्रमाण-पत्र समिति नियुक्त करता है जो प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्र की पुष्टि करती है।

महासभा की सहायता के लिए दो स्थायी समितियाँ भी हैं—एक प्रबन्ध और बजट सम्बन्धी प्रश्नों के लिए परामर्शदात्री समिति और दूसरी अनुदान समिति। प्रबन्ध और बजट समिति में 9 और अनुदान समिति में 10 सदस्य होते हैं। इन समितियों के सदस्य महासभा द्वारा तीन साल के लिए व्यक्तिगत योग्यताओं और भौगोलिक स्थिति के आधार पर चुने जाते हैं। महासभा अपने सहायता के लिये आवश्यकतानुसार तदर्थ समितियों का भी गठन करती है। इसकी संख्या आवश्यकतानुसार घटती-बढ़ती रहती है। महासभा के कुछ अधिवेशनों में राजनीतिक और सुरक्षा-सम्बन्धी समिति का कार्यभार अधिक हो गया था, इसलिए एक तदर्थ राजनीतिक समिति स्थापित की गयी जो प्रथम समिति के काम में हाथ बँटाती है। इस समिति को विशेष राजनीतिक समिति या 7वीं समिति कहते हैं। सभी समितियाँ अपना सुझाव या सिफारिशें महासभा के खुले अधिवेशन में भेजती हैं। साधारणतः महासभा समितियों की सिफारिशों को स्वीकार कर लेती है। परन्तु ऐसा करना अनिवार्य नहीं है। दिसम्बर, 1948 में स्पेनिश भाषा को महासभा ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की तीसरी कार्य करने वाली भाषा बना दिया। समिति ने इस निश्चय के विरुद्ध सिफारिश की थी परन्तु यह स्वीकार नहीं की गयी। नवम्बर, 1949 में महासभा ने न्यासिता समिति द्वारा किये गये एक प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इस प्रस्ताव में इस समिति ने अभिशासक राष्ट्रों से उनके अधीन क्षेत्रों के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता के विकास के लिए विस्तृत योजनाएँ तैयार करने को कहा था। महासभा ने अपनी सहायता के लिये 4 और स्थायी अंगों की स्थापना की है—ऑडिटर बोर्ड, पूँजी-लागत से सम्बन्ध रखने वाली समिति, संयुक्त राष्ट्र कर्मचारी पेंशन समिति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग।

## अन्तरिम समिति अथवा छोटी सभा (Interim Committee or Little Assembly)

नवम्बर, 1949 में महासभा ने एक सर्वथा नवीन एवं महत्वपूर्ण समिति की स्थापना की जो अन्तरिक समिति अथवा छोटी सभा के नाम से विख्यात हुई। इस समिति की स्थापना का अपना अलग इतिहास है। द्वितीय महायुद्ध के बाद महाशक्तियों के बीच जो शीतयुद्ध प्रारम्भ हुआ उसका प्रभाव संयुक्त राष्ट्रसंघ पर पड़े बिना नहीं रह सका। शीघ्र ही यह स्पष्ट होने लगा कि महाशक्तियाँ किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न पर एकमत नहीं हो सकती। अब यह आशंका की जाने लगी कि निषेधाधिकार के प्रयोग और महाशक्तियों की आपसी खींचातानी के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् आक्रमण को रोकने अथवा शांति के शत्रुओं के विरुद्ध कोई कार्रवाई करने में समर्थ नहीं हो सकती। अतः उसकी जगह किसी नयी व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की गयी। अन्तरिक समिति की स्थापना इसी अनुभूति का परिणाम थी। इस समिति की स्थापना 13 नवम्बर, 1947 को महासभा द्वारा की गयी। गुड्सपीड ने लिखा है कि "इस समिति की स्थापना का प्रमुख कारण संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा ऐसे उपाय की खोज की इच्छा थी जिससे आम सभा सदा अधिवेशन में बनी रही और सुरक्षा परिषद् की असफलता की स्थिति में आवश्यक कार्रवाई कर सके।"

यह समिति सदा अधिवेशन में रहने वाली संस्था थी। इसका यह उत्तरदायित्व था कि महासभा के अधिवेशन न होने के समय वह शांति और सुरक्षा के प्रश्न पर अपना सुझाव प्रस्तुत करेगी। अपने कार्यों के समुचित निर्वहन के लिए इसे जाँच-पड़ताल आयोग नियुक्त करने, आवश्यक खोज-बीन करने तथा महासचिव को महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाने की सिफारिश करने का अधिकार था। इस प्रकार इसकी स्थिति महासभा की स्थायी समिति के समान थी। यह सभा के अधिवेशनों के अन्तराल में भी कार्य करती थी और शांति और सुरक्षा सम्बन्धी विषयों पर अपनी दृष्टि रखती थी। यह सर्वप्रथम शांति एवं सुरक्षा से सम्बद्ध समस्याओं को स्वयं सुलझाने का प्रयास कर सकती थी लेकिन यदि इस कार्य में सफलता नहीं मिली तो वह महासभा की शीघ्र बैठक बुलाने की सिफारिश कर सकती थी। इस प्रकार इस समिति को प्रभावी रूप से वे ही अधिकार प्राप्त थे जो चार्टर के द्वारा सुरक्षा परिषद् को प्रदान किये गये थे।

महासभा की भाँति इस समिति के सभी सदस्य-राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। प्रत्येक सदस्य-राज्य को एक-एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इस दृष्टि से यह समिति महासभा का लघु संस्करण थी। निर्माण के समय इससे यह आशा की गयी थी कि यह स्थायी संस्था महासभा के कार्यों और दायित्वों को अधिक गतिशील और प्रभावी बना सकती थी। प्रारम्भ में इसका निर्माण एक वर्ष के लिए किया गया। बाद में इसका कार्यकाल एक वर्ष के लिये बढ़ा दिया गया। सन् 1949 में अपने चौथे अधिवेशन में महासभा ने इस समिति का कार्यकाल अनिश्चितकाल के लिये बढ़ा दिया। प्रारम्भ में इस समिति ने कुछ समय तक कार्य किया। परन्तु बाद में यह विफल रही क्योंकि रूस के गुट ने इसके कार्यों में सहयोग नहीं दिया। साम्यवादी राज्य इस समिति को चार्टर के सिद्धान्तों के विरुद्ध बतलाते थे। उनके अनुसार इस समिति का ध्येय सुरक्षा परिषद् की अवहेलना करना था। साम्यवादी राज्यों के प्रतिनिधियों की अनुपस्थिति में यह समिति शांति और सुरक्षा की समस्याओं पर वास्तविक रूप से विचार नहीं कर सकी फलतः यह लघु सभा व्यावहारिक रूप में बेकार साबित हुई। जैसा कि पामर और परकिनस ने लिखा है, "सन् 1948 के बाद छोटी सभा ने कभी-कभी काम किया है। परन्तु सन् 1950-51 के बाद से यह निर्जीव (Dead duck) हो गयी।" आगे चलकर इसका कार्य विभिन्न नियमित एवं विशेष समितियों तथा आयोगों द्वारा संभाल लिया गया।

## कार्य-सूची (Agenda)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की बैठकों में भाग लेने के लिए जब प्रतिनिधिगण एकत्रित होते हैं तो उनके लिए प्रारम्भ में यह निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि वे किन-किन विषयों पर विचार करेंगे। ऐसे विषयों के योग को कार्य-सूची कहा जाता है। महासभा के समक्ष आने वाले विषय से सम्बन्धित कागज, सूचनाएँ और आँकड़े एंष कार्य सचिवालय तैयार करता है। महासभा के अधिवेशन के लिए कार्य-सूची तैयार करना अपने आप में जटिल एवं कठिन काम है। इसके लिए एक अन्तरिम कार्य-सूची (Provisional agenda) महासचिव तैयार करता है। इसमें साधारणतः निम्नलिखित क्रम में विषय रखे जाते हैं :-

- (क) संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के सम्बन्ध में महासचिव की वार्षिक रिपोर्ट,
- (ख) सदस्यों द्वारा प्रकाशित विषय,
- (ग) आगामी वित्तवर्ष का बजट तथा पिछले वित्तवर्ष की लेखा-रिपोर्ट, एवं
- (घ) महासचिव द्वारा प्रस्तुत विविध आवश्यक विषय।

बैठक प्रारम्भ होने से कम-से-कम साठ दिन पूर्व यह अन्तरिम सूची सभी सदस्यों में वितरित कर दी जाती है। सदस्यों की ओर से कार्य-सूची में कोई नया विषय जोड़ने की सूचना बैठक के कम-से-कम 25 दिन पूर्व तक दी जा सकती है। बैठक आहूत हो जाने

के बाद भी कार्य—सूची में नये विषयों को जोड़ा जा सकता है यदि बहुमत सदस्य उन पर अपनी सहमति प्रदान कर देते हैं। महासभा के परिणियमों के अनुसार कार्यसूची में शामिल किये जाने के बाद किसी भी नये विषय पर सात दिनों तक वाद—विवाद नहीं हो सकता जब तक दो—तिहाई सदस्य इस तरह का निर्णय नहीं लेते। महासभा की कार्य—सूची का आकार प्रत्येक वर्ष बढ़ता चला जाता है। सिडनी डी० बैली के मतानुसार “सदस्य संख्या में वृद्धि तथा नये सदस्यों के विविध हितों के कारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की संख्या तथा जटिलता में वृद्धि हुई है और महासभा को उन पर विचार—विमर्श करके होता है।

### मतदान-प्रणाली एवं समूह (Voting Procedure and Groups)

महासभा की मतदान प्रणाली चार्टर की धारा 18 से विनियमित होती है। इस धारा के अनुसार महासभा में प्रत्येक सदस्य—राज्य को एक ही मत प्राप्त है। इसमें छोटे—छोटे या प्रतिनिधि—मंडल के सदस्यों की संख्या से कोई फर्क नहीं होता। अमरीका हो या क्यूबा, चीन हो या हाइटी, सभी को एक ही मत देना है। महासभा की बैठकों में प्रत्येक विषय पर मतदान करने का तरीका एक ही नहीं है। कुछ विषयों पर दो—तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। महत्वपूर्ण विषय कौन से हैं, इसका उल्लेख कर दिया गया है। ये विषय हैं—विश्वशांति एवं सुरक्षा सम्बन्धी अनुशंसाएं, सुरक्षापरिषद्, आर्थिक—सामाजिक परिषद् तथा संरक्षण परिषद् के लिए सदस्यों का निर्वाचन, किसी राज्य को संयुक्त राष्ट्रसंघ का न्यास सदस्य बनाने के लिए मतदान, किसी सदस्य के अधिकारों एवं सुविधाओं को निलम्बित करना, न्यास व्यवस्था सम्बन्धी समस्याएं और बजट—सम्बन्धी विषय। अन्य विषयों पर बैठक में उपस्थित बहुमत से प्रस्ताव पारित होते हैं। परन्तु, महासभा सामान्य बहुमत से किसी विषय को महत्वपूर्ण घोषित करके उसे पारित होने के लिए दो—तिहाई बहुमत आवश्यक कर दे सकती है।

महासभा में मतदान के लिए धारा 18 महत्वपूर्ण और गैर—महत्वपूर्ण विषयों में विभेद करती है। आलोचकों के अनुसार इस तरह का विभेद उचित नहीं है। जैसा कि कैल्सन ने लिखा है, “धारा 18 की शब्दावली दुर्भाग्यपूर्ण है। किसी भी विषय को जिस पर महासभा में विचार किया जा रहा हो, उसे गैर—महत्वपूर्ण कैसे कहा जा सकता है ?”

धारा 19 में यह व्यवस्था है कि उस सदस्य को, जिसने संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपना वित्तीय अनुदान अदा किया हो, महासभा में मतदान का अधिकार नहीं रह जाता। किन्तु महासभा किसी ऐसे सदस्य को मत देने की अनुमति प्रदान कर सकती है। जिसकी तरफ से उसको संतोष हो गया है कि चन्दे का भुगतान करना सदस्य—राष्ट्र के नियंत्रण से बहार है।

महासभा की मतदान—प्रणाली पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह राष्ट्रसंघ की सभा की मतदान—प्रणाली से अधिक उदार है। वैंडेनबोश तथा होयन इसे राष्ट्रसंघ की पद्धति से अधिक सुधरी हुई तथा प्रगतिशील बतलाते हैं। राष्ट्रसंघ की सभा में निर्णय के लिए सर्वसम्मत आवश्यक था यानी उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों का एकमत होना। इसका अर्थ यह था कि सभा कोई भी सदस्य अपने निषेधाधिकार के बल पर उसके निर्णय को रोक सकता था। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में निर्णय लेने के लिए सर्वसम्मत प्रणाली उठा दी गयी है। उसकी जगह कुछ विषय पर दो—तिहाई तथा कुछ पर सामान्य बहुमत से निर्णय लेने की व्यवस्था है।

जिस प्रकार राष्ट्र के अन्दर अधिक व्यापक लक्ष्यों के लिए इकट्ठे होकर काम करने के लिए जब व्यक्तियों ने छोटे—छोटे मतभेद भुला दिये तो उससे राजनीतिक दलों का जन्म हुआ, उसी प्रकार राष्ट्र भी अपने सामान्य जितों की प्राप्ति के लिए इकट्ठा होकर अलग—अलग गुप अथवा समूह बना लेते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में इस तरह के समूहों के अस्तित्व देखने को मिलता है। महासभा की बैठक के पूर्व जब सभी प्रतिनिधिसा—मण्डल संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय में पहुँच जाते हैं, तो विभिन्न प्रकार की कूटनीतिक वार्तायें विभिन्न प्रतिनिधि मंडलों में शुरू हो जाती वार्तायें विभिन्न गुटों में तथा गोपनीय ढंग से होती है। इन वार्ताओं में ही महासभा की बैठक में विभिन्न प्रश्नों पर मतदान किस प्रकार करना होगा, यह बहुत कुछ निर्णीत होता है। इन वार्ताओं में ही महासभा की बैठक में विभिन्न प्रश्नों पर मतदान किस प्रकार होगा, यह बहुत कुछ निर्णीत होता है। विभिन्न स्थानों तथा पदों के लिए किन सदस्य—राज्यों के प्रत्याशी निर्वाचित होंगे, यह भी अधिकतर इन्हीं वार्ताओं और सम्पर्कों में तय किया जाता है। महासभा के प्रस्तावों में राज्यों की चार श्रेणियों का उल्लेख होता रहता है। (क) लैटिन अमरीकी राज्य, (ख) अफ्रीकी एवं एशियाई राज्य, (ग) पूर्वी यूरोपीय राज्य, तथा (घ) पश्चिमी यूरोपीय एवं दूसरे राज्य। राज्यों की इन श्रेणियों के अलग—अलग अथवा एक दूसरे से मिलकर समय—समय पर विभिन्न सदस्यों की दृष्टि से विभिन्न समूह (Groups) पनपते रहते हैं। चुनाव तथा बहालियों के विषय में इन राज्य—समूहों ने बहुधा साथ—साथ मतदान किया है। उदाहरणार्थ लैटिन अमरीकी गुट तथा एशियाई अफ्रीकी गुट ऐसा करते पाए गये हैं। आलोचकों के अनुसार इन संयोगों तथा समूहों की गतिनिधियों के फलस्वरूप महासभा द्वारा किसी निष्पक्ष निर्णय पर पहुँचने की संभावना घट जाती है। यह आरोप यद्यपि एक हद तक सही है लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि महासभा कोई दार्शनिकों या वैज्ञानिकों का निकाय नहीं है और न न्याय की खेज करने वाला कोई न्यायिक संस्थान ही है। यह तो एक राजनीतिक निकाय है जो विभिन्न समस्याओं का सम्भावित हल खोजने का प्रयास करता है और यह देखता है कि किसी प्रकार समस्या के समाधान में सदस्यों का बहुमत प्राप्त किया जाये।

## महासभा के अधिकार और कार्य (Powers and Functions of the General Assembly)

महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख एवं प्रभावशाली अंग है। संघ के चार्टर में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंगों में इसको प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। इसके अधिकार तथा कार्य काफी व्यापक तथा विस्तृत हैं। चार्टर की धारा 10 से 17 तक इसके अधिकारों तथा कार्यों का उल्लेख है। धारा 10 उसके सामान्य अधिकारों से सम्बद्ध है। इसके अनुसार महासभा को चार्टर के अन्तर्गत आने वाले सबअ विषयों पर विचार-विमर्श करने का अधिकार है। चार्टर में दिये गये अन्य अंगों से सम्बन्धित विषयों पर भी यह सभा वाद-विवाद कर सकती है। विश्व-शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के तत्कालिक प्रयोग एवं परम्परा बनाने के हेतु हर सम्भव प्रयत्न करना इसका प्रयत्न करना इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सर्वप्रथम दायित्व है। इसके अन्तर्गत शस्त्रास्त्रों पर नियंत्रण एवं निरस्त्रीकरण की समस्याएं विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। परन्तु सभा के कार्यों की प्रकृति मुख्य रूप से निरीक्षणात्मक एवं अन्वेषणात्मक है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंग अपना प्रतिवेदन महासभा के पास ही प्रस्तुत करते हैं। आर्थिक और सामाजिक परिषद् महासभा की देख-रेख से ही अपने कार्यों का सम्पादन करती है। महासभा का निर्वाचन, बजट तथा प्रशासन सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं। इस प्रकार उसके अधिकारों और कार्यों की लम्बी सूची है। वस्तुतः संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता उनके सफल कार्यान्वयन पर निर्भर करती है। जैसा गुडस्पीड ने लिखा है, "महासभा के विभिन्न कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता के आधार हैं।" (All of its functions are fundamental to the working of the United Nations Organisation.)। सुविधा के लिए महासभा के कार्यों तथा अधिकारों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :-

- (i) विचारात्मक कार्य (Deliberative Functions),
- (ii) निरीक्षणात्मक कार्य (Supervisory Functions),
- (iii) वित्तीय कार्य (Financial functions),
- (iv) संगठनात्मक कार्य (Organisational Functions),
- (v) संशोधन सम्बन्धी कार्य (Constitutional Function),
- (vi) विविध कार्य (Miscellaneous Functions)।

**विचारात्मक कार्य (Deliberative Functions)** – संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माताओं का उद्देश्य महासभा के रूप में एक ऐसी संस्था का निर्माण करना था जहाँ विश्व-शांति से सम्बद्ध किसी भी विषय पर विचार किया जा सके। जैसा कि कैल्सन ने लिखा है, "उनकी मंशा महासभा को विश्व की नगर सभा" या 'मानव का उन्मुक्त अन्तःकरण' बनाने की थी अर्थात् वे उसे आलोचना एवं विचार-विमर्श करने वाला अंग बनाना चाहते थे।" इसलिए चार्टर के अन्तर्गत उसे विश्व-शांति से सम्बद्ध किसी भी विषय पर विचार-विमर्श करने के विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं। अनुच्छेद 10 में कहा गया है कि "महासभा घोषणा-पत्र के अधिकार क्षेत्र में अपने वाले तथा उसके द्वारा स्थापित विभिन्न निकायों के अधिकारों एवं कृत्यों से सम्बद्ध सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती है तथा उसके सम्बद्ध में अपनी सिफारिश पेश कर सकती है।" इस प्रकार अनुच्छेद 10 महासभा को किसी विषय पर विचार-विमर्श करने का सामान्य अधिकार प्रदान करता है। इसका द्वारा उसे चार्टर के अन्तर्गत आने वाले सभी विषयों तथा संघ के अन्य अंगों से सम्बन्धित विषयों पर वाद-विवाद का अधिकार प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः इस अनुच्छेद की भाषा इतनी लचीली है कि उसकी आड़ में महासभा किसी भी प्रश्न पर वाद-विवाद कर सकती है। इस अनुच्छेद की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० इवाट ने सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में कहा था, "इस अनुच्छेद के अन्तर्गत चार्टर के सभी पहलू तथा उसमें अन्तर्निहित सब कुछ आ जाते हैं, जैसे चार्टर की प्रस्तावना, उसमें निहित संघ के महान उद्देश्य तथा सिद्धान्त एवं संघ के विभिन्न अंगों के कार्य शामिल हैं।" कैल्सन के अनुसार "संभवतः कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय विषय ऐसा नहीं है जिस पर यह सभा विचार या सिफारिश नहीं कर सकती हो।

शांति और सुव्यवस्था के मामले में आम सभा को व्यापक विचारात्मक अधिकार प्राप्त हैं। यद्यपि इस क्षेत्र में प्राथमिक जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद् को प्रदान की गयी है लेकिन महासभा को यह अधिकार है कि वह शांति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए सहयोग के सामान्य सिद्धान्त पर विचार कर सकती है तथा निर्णय लेकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों अथवा सुरक्षा परिषद् के सदस्यों अथवा दोनों के पास ही सिफारिश कर सकती है। अनुच्छेद 11 में महासभा के इस अधिकार की चर्चा की गयी है। इस अनुच्छेद के अनुसार महासभा विश्वशांति और सुरक्षा को स्थापित करने के सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है। यह निरस्त्रीकरण और शस्त्रों के नियंत्रण पर भी विचार कर सकती है। इन सिद्धान्तों के विषय में यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों या सुरक्षा परिषद् या दोनों से सिफारिश कर सकती है। यहां पर यह भी कहा गया है कि विश्वशांति और सुरक्षा सम्बन्धी कोई भी प्रश्न संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य सुरक्षा परिषद् या अन्य किसी राज्य के द्वारा, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है, महासभा के समक्ष विचारार्थ रखा जा सकता

है। ऐसे प्रश्न के सम्बन्ध में महासभा वाद-विवाद के पहले अथवा बाद में सुरक्षा परिषद् के समक्ष भेज सकती है। वह सुरक्षा परिषद् का ध्यान ऐसी परिस्थितियों की ओर भी आकर्षित कर सकती है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शांति को खतरे की सम्भावना हो। स्पष्ट है कि विश्व-शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने से सम्बन्धित कोई भी सम्बन्धित कोई भी समस्या महासभा के समक्ष पेश की जा सकती है, केवल दो अपवादों को छोड़कर (1) समस्या सुरक्षा-परिषद् के विचाराधीन हो तथा (2) समस्या का सम्बन्ध किसी देश के घरेलू मामलों से नहीं हो। अनुच्छेद 2(1) में स्पष्ट कहा गया है कि यदि कोई परिस्थिति या झगड़ा सुरक्षा परिषद् के विचाराधीन है तो महासभा उस झगड़े और परिस्थिति के सम्बन्ध में तब तक सिफारिश नहीं करेगी जब तक सुरक्षा परिषद् उससे ऐसा करने के लिए न कहें। सुरक्षा परिषद् के विचाराधीन मामलों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी है कि महासचिव महासभा को ऐसे मामलों की सूचना दे दिया करेगा। वैसा होने पर महासभा में उस पर तब तक विचार नहीं किया जायेगा जब तक कि सुरक्षा परिषद् की कार्य-सूची से वह हटा नहीं दिया गया हो अथवा परिषद् स्वयं ही महासभा से उस पर विचार करने का अनुरोध नहीं करे। इस प्रकार अनुच्छेद 12 महासभा की शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाता है। दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि महासभा उस समस्या पर विचार नहीं कर सकती जिसका सम्बन्ध किसी देश के 'घरेलू मामले' से हो। 'घरेलू मामला' एक ऐसी आड़ है जिसमें दुनिया की अनेक सारी समस्याएँ खींच ली जाती हैं, जिन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ में व्यवस्था का प्रश्न बनाया जा सकता था।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि चार्टर के अन्तर्गत महासभा को निरोधात्मक या दंडात्मक कार्रवाई करने का अधिकार नहीं प्राप्त है। उसका काम है, विचार-विमर्श करना और उससे सम्बन्धित सिफारिश करना। अधिक-से-अधिक वह किसी समस्या की ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकृष्ट कर सकती है, यदि उससे शांति भंग हुई हो अथवा होने का भय हो परन्तु यहाँ आकर उसका काम समाप्त हो जाता है।

महासभा ने सन् 1950 में एक प्रस्ताव द्वारा अपने अधिकारों को बढ़ाने की चेष्टा की। यह प्रस्ताव 'शांति के लिए एकता' (Unity for Peace) के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रस्ताव के अनुसार शांति को खतरा, शांति-भंग अथवा आक्रमण की विभीषिका के सम्बन्ध में स्थायी सदस्यों के एकमत न होने के कारण यदि सुरक्षा परिषद् कार्य-संचालन में असफल रहे तो महासभा तुरन्त ही उस पर विवाद करा सकती है और सामूहिक कदम उठाने के लिए उचित सिफारिशें कर सकती है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम रहे।" प्रस्ताव के अनुसार यदि महासभा का अधिवेशन न हो रहा हो तो सुरक्षा परिषद् के किन्हीं 9 सदस्यों के साधारण बहुमत से अथवा संघ के सदस्यों के बहुमत से 24 घंटे के अन्दर महासभा का संकटकालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है। इस तरह के अधिवेशन सन् 1967 में पश्चिमी एशियाई संकट तथा सन् 1971 में भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय में हुए थे। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक कार्रवाई से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करने के लिए 1980 में तथा फिलिस्तीन के प्रश्न पर विचार करने के लिए जुलाई 1980 में महासभा के विशेष अधिवेशन हुए हैं।

इस प्रकार 'शांति के लिए एकता प्रस्ताव' से महासभा की स्थिति अधिक महत्वपूर्ण हो गयी। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि यदि सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार के कारण गतिरोध पैदा हो जाता है तो इस रिक्तता को महासभा अवश्य पूरी करे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि महासभा जैसा आवश्यक समझे तो सैनिक अथवा सशस्त्र कार्रवाई करने के लिए भी सिफारिश कर सकती है। स्पष्ट है कि इस प्रस्ताव से संघ के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। हॉफमैन के अनुसार "यह प्रस्ताव चार्टर में क्रांतिकारी तथ्यतः परिवर्तन का सूचक है और सामूहिक कार्रवाई के रास्ते को फिर से खोलने का प्रयास करता है।" व्यवहार में भी ऐसा देखा गया है कि शांति और सुरक्षा के क्षेत्र में विचार-विमर्श और अनुशांसा करने वाली संस्था के रूप में महासभा को जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, उसने उनका व्यापक प्रयोग किया है। जैसा कि गुडसपीड ने लिखा है, "अन्तर्राज्य सम्बन्धों के आचरण को निर्देशित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों की सिफारिश करने में महासभा ने अपनी शक्ति का व्यापक प्रयोग किया है।" ("There is hardly any international matter which the General Assembly is not competent to discuss and on which it is not competent to make recommendations.")। इसने एक ऐसे मंच का काम किया है जहाँ पर अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा उत्पन्न करने वाले विवादों पर विचार किया गया है और उनके समाधान की सिफारिशें की गयी हैं। अभी तक सभा ने जिन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :- फिलिस्तीन, ग्रीस, कोरिया, हंगरी, अल्जीरिया, स्वेज नहर तथा साईप्रस के मामले, भारत-पाकिस्तान का प्रश्न, क्यूबा, कांगों, बर्लिन आदि के प्रश्न। सन् 1987 में अरब-इजरायल संघर्ष तथा सन् 1971 में भारत-पाकिस्तान युद्ध से उत्पन्न परिस्थिति पर भी महासभा में विचार-विमर्श किया गया था। सारांश यह है कि शांति और सुव्यवस्था से सम्बद्ध लगभग सभी मामलों पर महासभा ने विचार किया है। वेन्डेनबोश तथा होगन ने ठीक ही लिखा है, "महासभा के अधिवेशनों की कार्य-सूची (Agenda) में वर्णित विषयों की सूची उन सभी कठिनाईयों और संघर्षों की परिगणना है जो द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व में उत्पन्न हुए हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि विश्व संसद नहीं होने के कारण महासभा के निर्णय तथा प्रस्ताव आदेशात्मक नहीं होते। फिर भी इसके निर्णय कभी-कभी सदस्य-राज्यों पर काफी प्रभावकारी रहे हैं। सन् 1956 में स्वेज नदी संकट के समय महासभा की भूमिका से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। 7 नवम्बर, 1956 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने एशियाई-अफ्रीकी देशों द्वारा प्रस्तुत यह प्रस्ताव पारित किया कि ब्रिटिश, फ्रांसीसी और इजरायली सेनाएँ मिस्र से हटा ली जायें और स्वेज नहर-क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाए। जब आक्रमणकारियों ने अपनी सेनाएँ हटाने में देर की तो महासभा ने 24 नवम्बर को एक दूसरा प्रस्ताव पास कर आक्रमणकारियों को यह आदेश दिया कि वे यथाशीघ्र अपनी सेनायें वापस बुला लें। ब्रिटेन और फ्रांस ने शीघ्र ही सभा के आदेश का पालन किया पर इजरायल हटने का नाम नहीं लेता था। इस पर सभा ने एक और प्रस्ताव पास कर सदस्य-राज्यों को आदेश दिया कि वे इजरायल को किसी प्रकार की आर्थिक और सैथनक सहायता न दें। इस पर इजरायल को भी हटना पड़ा। इसी प्रकार कोरिया युद्ध के समय में महासभा के प्रस्तावों ने अमेरिका की कोरिया-सम्बन्धी नीति पर अवरोधक प्रभाव डाला था। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि महासभा के निर्णयों को कोई कानूनी बाध्यता नहीं प्राप्त है। इसीलिए इसकी सिफारिशों की अनेक अवसरों पर अवहेलना भी की गयी है। इस दृष्टिकोण से महासभा और सुरक्षा परिषद की स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। यदि सुरक्षा परिषद कोई निर्णय ले ले तो सदस्य-राज्यों पर उसका बन्धनकारी प्रभाव होगा। परन्तु इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि महासभा के सुझाव व्यर्थ हैं। महासभा को दुनिया की 'नगर सभा' कहा गया है फलतः इसके निर्णय विश्व जनमत की अभिव्यक्ति माने जाते हैं। आदेशात्मक नहीं होते हुए भी उनका भारी नैतिक प्रभाव होता है। प्लानो तथा रिन्स के मतानुसार "कभी-कभी 'Manifestoes against sin' कहे जाने वाले प्रस्तावों के माध्यम से महासभा ऐसी भूमिका अदा करती है जिसे उसके समर्थक चार्टर के सिद्धान्तों और मानव-समाज की चेतना की सुरक्षा के रूप में स्वीकार करते हैं और विरोधी केवल सनक के रूप में ठुकरा देते हैं।"

**निरीक्षणात्मक कार्य (Supervisory Functions) :-** महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ की केन्द्रीय संस्था है, अतः चार्टर के द्वारा इसके कुछ निरीक्षणात्मक कार्य प्रदान किये गये हैं। इस कार्य के अन्तर्गत महासभा को सुरक्षा परिषद् तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य विभागों से रिपोर्ट प्राप्त करने एवं उस पर विचार कर अपना मत प्रकट करने का अधिकार प्राप्त है। चार्टर के 15वें अनुच्छेद में महासभा को संघ के दूसरे अंगों से प्रतिवेदन प्राप्त करेगी और उस पर विचार करने के लिए अधिकृत करता है। विद्वानों से महासभा के इस कार्य को काफी महत्व प्रदान किया है। उदाहरण के लिए गुड्सपीड ने लिखा है, "संयुक्त राष्ट्रसंघ के सफल कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक है कि उसके विभिन्न विभागों के कार्य-करण से संघ के सभी सदस्यों को अवगत रखा जाये और उन्हें उस पर विचार करने का अवसर प्रदान किया जाये। यह कार्य केवल महासभा में ही सम्भव हो सकता है क्योंकि संघ के इसी अंग में सभी सदस्य-राष्ट्रों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता।" इसी उद्देश्य हेतु यह व्यवस्था की गयी है कि संघ के सभी अंग अपना-अपना प्रतिवेदन महासभा के समक्ष प्रस्तुत करे।

महासभा के समक्ष आने वाले प्रतिवेदनों में महत्व की दृष्टि से महासचिव का वार्षिक प्रतिवेदन उल्लेखनीय है। इसने सम्पूर्ण संघ की कार्यवाहियों एवं सामान्य हित के विषयों का विवरण रहता है। इसके अलावा अनुच्छेद 15 और 24 के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् को महासभा के समझा अपना वार्षिक प्रतिवेदन पेश करना होता है। इसमें सुरक्षा परिषद् की साल भर तो कार्यवाही का विवरण होता है। चार्टर में इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया गया है कि सुरक्षा परिषद् कब अपना प्रतिवेदन पेश करेगी। ऐसा लगता है कि चार्टर के निर्माताओं ने इस सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् को काफी स्वतंत्रता देनी चाही थी। संघ के दूसरे अंगों के भी महासभा का प्रतिवेदन प्राप्त करने का अधिकार है। इन प्रतिवेदनों पर महासभा में खुलकर वाद-विवाद तथा आलोचना अथवा अभिस्तवन किया जाता है। महासभा सुरक्षा परिषद् या सम्बद्ध सदस्य-देशों को अपने विचार एवं अनुशांसा से अवगत करा सकती है।

चार्टर के अनुच्छेद 13 के अनुसार राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने के लिए महासभा प्रारम्भिक अध्ययन द्वारा जांच-पड़ताल की व्यवस्था कर सकती है तथा इस विषय में अपनी सिफारिशें भी प्रस्तुत कर सकती है। अनुच्छेद 57 के अन्तर्गत अन्तः सरकारी समझौते द्वारा विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों से सम्पन्न आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में विशेष माध्यम खोले जाने के लिए महासभा को आदेश देने का अधिकार दिया गया है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् इनमें से किसी भी माध्यम के साथ समझौता करके उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित बना सकती है। ऐसे समझौते के प्रति महासभा का अनुमोदन आवश्यक है। उसे इन माध्यमों की नीतियाँ और कृत्यों में समन्वय लाने के लिए सिफारिशें करने का अधिकार है। इस प्रकार आर्थिक और सामाजिक परिषद् महासभा के अधीक्षण में कार्य करती है। इतना ही नहीं, न्यास परिषद् के सम्बन्ध में भी महासभा को कुछ अधीक्षण सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। अनुच्छेद 85 में यह कहा गया है कि सामरिक महत्व के लिए नामोद्दिष्ट न किये गये सभी क्षेत्रों के लिए न्यास समझौतों से सम्बद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों, जिनमें न्यास-समझौतों की शर्तों का अनुमोदन उनमें परिवर्तन अथवा संशोधन भी सम्मिलित है, का प्रयोग महासभा द्वारा



किया जायेगा। अर्थात् न्यास-परिषद् जी महासभा की सत्ता के अन्तर्गत कार्य करती है, महासभा इन कार्यों को पूर्ण करने में सहायता प्रदान करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संघ के दो प्रमुख अंग-आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद्-को महासभा के अधीक्षण में ही कार्य करना पड़ता है। जैसा कि लियोनार्ड ने लिखा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघके ये दोनों अंग महासभा के निर्देशन में ही कार्य करते हैं। संघ के विभिन्न अंगों के कार्यों पर निरीक्षण रखने के कारण समासभा की स्थिति काफी महत्वपूर्ण हो जाती है।

**वित्तीय कार्य (Financial Functions) :-** महासभा का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ की वित्तीय व्यवस्था से सम्बद्ध है। यह कार्य राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के पारम्परागत धन-सम्बन्धी कार्यों से मिलता-जुलता है। साधारण तथा सरकार में वित्त पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्रतिनिधि सभा को प्रदान किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भी लगभग ऐसी ही व्यवस्था पायी जाती है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रसंघ में यह कार्य असेम्बली के द्वारा सम्पादित किया जाता था। प्रारम्भ में जिस समिति को बजट पर नियंत्रण रखने का अधिकार दिया गया था, उसकी संरचना राष्ट्रसंघ की कौंसिल करती थी। परन्तु बाद में सन् 1928 में यह अधिकार सभा ने अपने हाथों में ले लिया। तब से राष्ट्रसंघ के बजट पर असेम्बली का अधिकार हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में भी यह अधिकार महासभा को प्रदान किया गया। अनुच्छेद 17 यह उपबंधित करता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट पर विचार करना तथा उसे स्वीकार करना महासभा का ही दायित्व है। इस प्रकार संघ की आर्थिक व्यवस्था का संचालन महासभा के हाथों में चला जाता है। यह संघ के बजट को स्वीकार करती है और सदस्य राज्यों में व्यय-बंटवारा करती है। संघ का व्रत्येक अंग अपने अनुमानित खर्च का ब्यौरा महासभा के समक्ष पेश करता है। यह उस पर विचार करके यह निश्चित करती है कि किस अंग को खर्च के लिए कितना मिलना चाहिए। संघ के बजट की तैयारी तथा स्वीकृति की प्रक्रिया लगभग वही है जैसी किसी भी आधुनिक विकसित देश में होती है। संघ का बजट पहले सचिवालय में तैयार होता है और इसके बाद उसे महासचिव की स्वीकृति मिलने पर महासभा के प्रशासन तथा बजट सलाहकार समिति के विचारार्थ भेज दिया जाता है। यहाँ उसके प्रत्येक कार्यक्रम पर विस्तार के साथ विचार-विमर्श किया जाता है। इसके बाद अनुशासार्थ स्वीकृत करके प्रारूप बजट को महासभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है अब महासभा की पाँचवीं समिति उस पर विचार करती है। इस प्रकार अन्तिम रूप से तैयार होने पर बजट को महासभा की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। महासभा में उसके एक-एक मद पर घंटों बहस होती है। "अपेक्षाकृत इतने छोटे बजट पर शायद ही कहीं इतने महत्वपूर्ण लोक इतना समय लगाते हैं।" सारांश यह है कि संघ के बजट को स्वीकार करना महासभा का एक महत्वपूर्ण कार्य है। संघ के खर्च के लिए प्रत्येक सदस्य-राज्य को कितना अनुदान देना है, यह निर्णय महासभा करती है। अन्य शाखा-संस्थाओं, एजेन्सियों के वित्तीय तथा बजट-व्यवस्था की स्वीकृति महासभा को ही देनी होती है।

तात्पर्य यह है कि विश्व-संस्था की वित्तीय व्यवस्था पर निर्णायक अधिकार होने से महासभा का महत्त्व सर्वाधिक होना स्वाभाविक है। गुड्सपीड के अनुसार, "ये उपबन्ध, जो संघ के बजट तथा वित्त पर नियन्त्रण का अधिकार महासभा को प्रदान करते हैं, सम्पूर्ण संगठन पर उसके नियंत्रण को और भी दृढ़ बना देते हैं।" वेन्डेनबोश तथा होगन के शब्दों में "अपने इस अधिकार के चलते सम्पूर्ण संगठन के प्रशासन में महासभा की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है।" वास्तव में इन कथनों में बहुत कुछ सच्चाई है। कहा भी जाता है कि जिसके पास वित्तीय होती है, वास्तविक शक्ति उसी के पास होती है।

**संगठनात्मक कार्य (Organisational Functions) -** महासभा को कुछ संगठनात्मक कार्य भी सम्पादित करने होते हैं। इस कार्य के अन्तर्गत वह दोहरे निर्वाचन-सम्बन्धी अधिकार को प्रयोग करती है। सर्वप्रथम, महासभा सुरक्षा परिषद् की सलाह पर संघ में नये सदस्यों को सदस्यता प्रदान करती है। परन्तु संघ में महासभा की अनुमति पर अब तक प्रवेश सम्भव नहीं है। जब तक सुरक्षा परिषद् का समर्थन नहीं प्राप्त हो जाता। इस दृष्टिकोण से यदि देखा जाये तो महासभा की शक्ति राष्ट्रसंघ की असेम्बली से भी कम है। असेम्बली को दो-तिहाई बहुमत से बिना परिषद् की सिफारिश के ही नये सदस्यों के प्रवेश की पुष्टि कर देने का अधिकार था। चार्टर के सिद्धान्तों की अवहेलना करने पर सुरक्षा परिषद् के किसी भी सदस्य को निष्कासित भी कर सकती है। अनुच्छेद 5 में यह भी कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के वैसे किसी भी सदस्य, जिनके विरुद्ध बाध्यकारी कदम उठाये जा चुके हैं, सदस्यता की सुविधा एवं अपने अधिकारों के उपयोग करने से महासभा अथवा सुरक्षा परिषद् द्वारा वंचित किये जा सकते हैं।

महासभा का दूसरा संगठनात्मक कार्य-संघ के अंगों के निर्वाचित सदस्यों के चयन से सम्बन्धित है। महासभा सुरक्षा परिषद् के उस अस्थायी सदस्यों का चुनाव करती है। निर्वाचन महासभा के दो-तिहाई मतों से होता है। कुछ विद्वानों की दृष्टि से सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों के निर्वाचन करने का अधिकार महासभा को शांति एवं सुरक्षा के कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है। इससे महासभा को परिषद् पर किंचित अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, नियंत्रण-सूत्र मिल जाता है। महासभा आर्थिक और सामाजिक परिषद् के गठन में महासभा का पूरा हाथ होता है। न्यास परिषद् के कुछ सदस्यों का चुनाव भी महासभा के द्वारा ही होता है। न्यास परिषद् के कुछ सदस्यों का चुनाव भी महासभा के द्वारा ही होता है। इसके अलावा सुरक्षा परिषद् की अनुशांसा अथवा उससे मिलकर वह कुछ सर्वोच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति या निर्वाचन भी करती है। उदाहरणार्थ महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की

अनुशंसा पर महासभा ही करती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिए न्यायधीशों की नियुक्ति महासभा और सुरक्षा परिषद् मिलकर करती है। इतना ही नहीं, सचिवालय द्वारा की जाने वाली बहालियों के लिए निर्देश भी महासभा ही देती है।

**संशोधन सम्बन्धी कार्य (Constituent Functions)**—अनुच्छेद 108 के अनुसार महासभा को चार्टर में संशोधन लाने की शक्ति प्रदान की गयी है। इसके अनुसार महासभा को सुरक्षा परिषद् के साथ मिलकर चार्टर पर विचार करने के लिए सामान्य सम्मेलन बुलाने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस सम्मेलन द्वारा लाया गया कोई भी संशोधन दो—तिहाई सदस्यों द्वारा संविधानिक प्रक्रिया से पारित होने पर लागू हो जाता है। चार्टर में यह भी व्यवस्था की गयी है कि यदि महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के पहले ऐसा सम्मेलन नहीं होता तो सम्मेलन करने का प्रस्ताव महासभा के उसी अधिवेशन की कार्यावली पर रखा जायेगा और यदि महासभा के बहुमत से और सुरक्षा परिषद् में किन्हीं 9 सदस्यों के मत से यह स्वीकार कर लिया जाता है तो ऐसा सम्मेलन होगा। परन्तु अभी तक इस तरह का कोई सम्मेलन नहीं हो पाया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चार्टर में कोई दूसरी विधि से संशोधन नहीं हो सकता। महासभा को अपनी दो—तिहाई बहुमत से चार्टर में संशोधन लाने की सिफारिश करने का अधिकार है। परन्तु इस तरह का संशोधन तब तक लागू नहीं होगा जब तक उस पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के दो—तिहाई सदस्यों, जिनमें सुरक्षा परिषद् की पाँच महाशक्तियों का एक मत शामिल हो, का समर्थन प्राप्त नहीं हो जाता। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अभी तक तीन धाराओं धारा 23, 27, 61-में संशोधन हो चुके हैं। 17 दिसम्बर 1963 को इन संशोधनों पर महासभा का अनुमोदन प्राप्त हुआ और 31 अगस्त, 1965 से ये लागू हुए जब सदस्य—राज्यों की आवश्यक संख्या द्वारा इन पर अनुमति प्राप्त हो गयी। चार्टर में संशोधन के सम्बन्ध में एक बात याद रखने योग्य है कि कोई भी संशोधन तब तक नहीं हो सकता जब तक उस पर सुरक्षा परिषद् की पाँच बड़ी शक्तियों की स्वीकृति प्राप्त नहीं हो जाती। उनकी स्वीकृति के अभाव में महासभा के अनुमोदन का व्यवहार में कोई महत्व नहीं होता।

**विविध कार्य (Miscellaneous Functions)**— उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त महासभा को कुछ अन्य कार्य भी करने पड़ते हैं। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुधार लाने के हेतु अनेक प्रकार की अनुशंसा कर सकती है। इसमें मौजूदा संधियों में उपर्युक्त परिवर्तन करने की अनुशंसा भी शामिल है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जो संधियाँ हुई हैं, उनमें परिवर्तन करने की अनुशंसा महासभा कर सकती है। अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों में उपर्युक्त परिवर्तन अथवा उन्हें खत्म करने की सिफारिश कर सकती है। राज्यों के वर्तमान सीमांतों में भी परिवर्तन करने की अनुशंसा महासभा के कार्य—क्षेत्र के अन्तर्गत है। महासभा का एक महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास तथा संहिताकरण करना तथा मानव अधिकारों और आधारभूत स्वतन्त्रताओं की रक्षा करना है। अपनी इस भूमिका के निर्वह में महासभा अनेक ऐसे प्रस्ताव पारित करती है। (जैसे जातिबद्ध समझौता) जिनके द्वारा राष्ट्रीय जातीय अथवा धार्मिक समूहों की सामूहिक हत्या को अवैध करार दिया जाता है और जो सदस्य राज्यों द्वारा अनुसमर्थित किये जाने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक कानून की भांति प्रभावी हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास और संहिताकरण के क्षेत्र में इसका एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह इस बात का अध्ययन करती रहती है कि ऐसे कौन से कानून हो सकते हैं जिन्हें सभी राष्ट्रों द्वारा स्वीकृति प्राप्त हो जायेगी। यह महासभा का अन्वेषणात्मक कार्य कहा जा सकता है। इस कार्य का सर्वोत्तम उदाहरण महासभा का अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग है जो सन् 1948 से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास और संहिताकरण की दिशा में कार्यरत है। यह आयोग संहिताबद्ध होने योग्य विषय के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें महासभा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। उसको यह भी कार्य दिया गया है कि वह औपचारिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतिपादन करने वाली सामग्री को संकलित और प्रकाशित करे। जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म का भेदभाव किये बिना सबको महान् अधिकार और मूल स्वतन्त्रता सुलभ कराने में सहायता प्रदान करना महासभा का कर्तव्य है।

### **शांति के लिए एकता प्रस्ताव (Uniting for Peace Resolution)**

सुरक्षा परिषद् के निषेधाधिकार से उत्पन्न गतिरोध को दूर करने तथा सामूहिक सुरक्षा—व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का महासभा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सफल प्रयास 3 नवम्बर, 1950 का शांति के लिए एकता प्रस्ताव था। यह प्रस्ताव कोरिया—युद्ध की पृष्ठभूमि में पारित किया गया था। जून 1950 में रूस—समर्थक उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। साम्यवादी चीन भी उत्तरी कोरिया को मदद कर रहा था। इस समय साम्यवादी चीन की सदस्यता के प्रश्न को लेकर सोवियत रूस सुरक्षा का बहिष्कार किये हुये था। उसका प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद् के कार्यों में भाग नहीं ले रहा था। सोवियत रूस की अनुपस्थिति के कारण सुरक्षा परिषद् बड़ी तेजी से कार्य कर रही थी। वह उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सशस्त्र कार्रवाई प्रारम्भ करने में सफल हो रही थी। ऐसी परिस्थिति में सोवियत रूस ने बहिष्कार की नीति को त्यागने का निर्णय किया। उसने यह घोषणा की कि वह सुरक्षा परिषद् के सत्रों में भाग लेने के लिए वापिस आ रहा है। सोवियत रूस की इस घोषणा से पश्चिमी राष्ट्रों में के पाँव के नीचे से धरती खिसक गयी। इससे यह आशंका उत्पन्न हो गयी कि रूस अपने निषेधाधिकार के प्रयोग द्वारा कोरिया में संयुक्त राष्ट्र की सशस्त्र कार्रवाई की प्रभावशीलता को नष्ट करने का प्रयत्न करेगा। अतः सोवियत अडंगेबाजी के विरुद्ध सुरक्षा के रूप में अमेरिका आदि 7 राष्ट्रों

ने 9 अक्टूबर, 1950 को 'शांति के लिए एकता' की 'अकेसन योजना' (Acheson Plan) प्रस्तुत की जिसे महासभा ने 3 नवम्बर, 1950 को स्वीकार कर लिया। यही प्रस्ताव 'शांति के लिए एकता प्रस्ताव' के नाम से जाना जाता है। इसे अकेसन-योजना इसलिए का कहा जाता है क्योंकि इस प्रस्ताव को अमरीकी सदस्य डीन अकेसन के नेतृत्व में प्रस्तुत किया गया था।

'शांति के लिए एकता प्रस्ताव' की व्यवस्था इस प्रकार थी, "यदि सुरक्षा परिषद् अपने स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति के अभाव के कारण किसी भी मामले में जिसमें शांति के लिए संकट, शांति-भंग अथवा कोई आक्रामक कार्य दिखाई पड़ता है, अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की व्यवस्था के अपनी प्राथमिक उत्तरदायित्व को पूरा करने में असफल हो जाती है, तब महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुव्यवस्था को बनाये रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए सामूहिक कार्रवाई, आवश्यकता पड़ने पर शांति-भंग या आक्रामक कार्य के मामले में सशस्त्र बल-प्रयोग भी सम्मिलित है, के सम्बन्ध में सदस्य के उचित सिफारिश करने के उद्देश्य से तुरन्त मामले पर विचार करेगी। यदि उस समय महासभा का अधिवेशन नहीं चल रहा हो तो 24 घंटे की भीतर उसका आपातकालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है। ऐसा आपातकालीन विशेष अधिवेशन तभी बुलाया जायेगा यदि किन्हीं 7 सदस्यों के मत में सुरक्षा परिषद् या संयुक्त राष्ट्रसंघ का बहुमत ऐसा करने की प्रार्थना करे।"

इस प्रस्ताव में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव वाले क्षेत्रों की स्थिति का निरीक्षण करने और रिपोर्ट देने के लिए 14 सदस्यीय 'शांति-निरीक्षण आयोग' (Peace Observation Commission) की व्यवस्था भी की गयी। प्रस्ताव के तीसरे भाग में संघ द्वारा सदस्य-राज्यों से यह प्रार्थना की गई है कि वह आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर संघ के अधीन कार्रवाई करने के लिए सुशिक्षित सेना प्रदान करे।

इस प्रस्ताव की मुख्य बातों का सारांश हम निम्नलिखित ढंग से निरूपित कर सकते हैं—

- (1) यदि सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार के कारण गतिरोध उत्पन्न हो गया हो तो सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव पर अथवा संघ के बहुमत सदस्यों की माँग पर 24 घंटों के अन्तर्गत महासचिव महासभा का विशेष अधिवेशन आहूत करेगा।
- (2) महासभा उस प्रश्न पर विचार-विमर्श कर सकती है, पता लगा सकती है कि किसने आक्रमण किया है।
- (3) यह सामूहिक सुरक्षा के लिए प्रस्ताव पारित कर सकती है तथा यदि आक्रमण हो तो सैनिक कार्रवाई करने का भी निश्चय कर सकती है।

इस प्रकार यह प्रस्ताव पारित करके पश्चिमी राष्ट्रों ने बड़ी होशियारी से काम लिया। आसानी से उन लोगों ने निषेधाधिकार के रोग से ग्रस्त सुरक्षा परिषद् से छुटकारा पा लिया। उसकी जगह महासभा को शक्तिशाली बना दिया गया। इस प्रस्ताव के पारित होने पर जॉन फॉस्टर डलेस ने कहा था, "आज हम जो शक्ति महासभा से प्राप्त कर रहे हैं वह सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में ही उसे दी गई थी।" इस प्रस्ताव के अध्ययन से कतिपय महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। सर्वप्रथम, चार्टर के अनुसार महासभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार होता है और वह भी बहुत थोड़े दिनों के लिए। परन्तु इस प्रस्ताव के अनुसार कभी भी 24 घंटे के भीतर महासभा का अधिवेशन बुलाया जा सकता है। द्वितीयतः, चार्टर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम रखने का एकमात्र दायित्व सुरक्षा परिषद् को प्रदान किया गया था, उसे निर्णय लेने तथा कोई भी कार्रवाई करने का अधिकार था। महासभा को केवल निगरानी तथा प्रस्ताव पारित करने का अधिकार दिया गया था। लेकिन, इस प्रस्ताव ने महासभा के कार्य क्षेत्र को विस्तृत कर दिया तथा उसे शांति एवं सुरक्षा के क्षेत्र में भी कार्य करने का अधिकार प्रदान किया। तृतीयतः, इस प्रस्ताव के द्वारा महासभा को यह भी अधिकार दिया गया कि यदि कहीं पर आक्रमण हो गया तो वह सैनिक कार्रवाई कर सकती है तथा सदस्य-राज्यों को सैनिक सहायता के लिए अनुरोध कर सकती है। इसी निर्णय के द्वारा एक 'क्लेक्टिव मेजर कमिटी' (Collective Measure Committee) तथा 'पीस ऑब्जर्वेशन कमीशन' (Peace Observation Commission) भी स्थापित किया गया। साथ-ही-साथ सैनिक विशेषज्ञों का एक पैनल नियुक्त करने का भी निर्णय हुआ।

सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसके अनुसार यह प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् की मुख्य जवाबदेही के क्षेत्र में दखल करता है और चार्टर में उल्लेखित निषेधाधिकार की व्यवस्था का भी खंडन करता है। अनेक लेखकों ने भी शांति के लिए एकता का प्रस्ताव को गैर-संवैधानिक माना है। उनके अनुसार यह प्रस्ताव चार्टर की मूल भावना का विरोधी है क्योंकि यह संघ के सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों को सुरक्षा परिषद् के हाथों से महासभा को हस्तान्तरित करने का प्रयास करता है। जो भी हो, सोवियत संघ के विरोधों के बावजूद कई अवसरों पर महासभा ने इस प्रस्ताव के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य किया है। परन्तु गौर से देखा जाये तो इस प्रस्ताव की कई बातें मतप्राय पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, 'क्लेक्टिव मेजर कमिटी' ने तीन प्रतिवेदन पेश किये थे परन्तु तीनों में से किसी पर भी अमल नहीं किया गया। इसकी यह सिफारिश कि सदस्य-राष्ट्र अपने राष्ट्रीय सैनिक दल में एक विशेष 'संयुक्त राष्ट्र टुकड़ी' का

निर्माण करे तथा सैनिक विशेषज्ञों को एक पैनल बनावें, भी अब समाप्त ही हो गयी। 'पीस ऑवजरवेशन कमीशन' का इतिहास कुछ भिन्न तथा यशपूर्ण रहा है, फिर भी इसे पूर्ण सफल नहीं कहा जा सकता। इसके द्वारा दो प्रयत्न किये गये, जिनमें एक सफल रहा। यूनान के मामले में उठाया गया सन् 1951 का कदम इसका सफल प्रयास कहा जा सकता है परन्तु इस प्रस्ताव की यह व्यवस्था कि जब सुरक्षा परिषद् ने निषेधाधिकार के कारण गतिरोध पैदा हो जाये तो उसे महासभा में लाया जा सकता है तथा संकटकालीन स्थिति में जब महासभा की बैठक नहीं हो रही हो तो चौबीस घंटे में उसका आपातकालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है, बहुत ही सजीव साबित हुई है। इस प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा ने अक्टूबर 1956 में मिस्र पर इजरायल, ब्रिटेन और फ्रांस के आक्रमण को सफलतापूर्वक रोक दिया। सन् 1960 में कांगो विवाद के मामले में सोवियत संघ तथा पौलैंड के प्रतिनिधियों ने सुरक्षा परिषद् के आठ और दो के बहुमत से संकटकालीन अधिवेशन बुलाने की वैधता को चुनौती दी। उनके अनुसार, "सर्वसम्मत निर्णय" आवश्यक था। फिर भी कार्यकारी कदम उठाये गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शांति के लिए एकता प्रस्ताव' ने महासभा की स्थिति को काफी महत्वपूर्ण बना दिया है। इसने यह सम्भव बना दिया है कि यदि सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार के कारण गतिरोध पैदा हो जाता है तो इस रिक्तता को महासभा अवश्य पूरी करे। परिणामस्वरूप इस बात की संभावना भी घट गयी है कि महाशक्तियां बार-बार निषेधाधिकार के प्रयोग से सुरक्षा परिषद् को एकदम निष्क्रिय बनाकर अपना उल्लू सीधा करती रहे। महासभा में निषेधाधिकार की व्यवस्था नहीं है, अतः 'शांति के लिए एकता प्रस्ताव' के अन्तर्गत महासभा अपने आपातकालीन अधिवेशन में समस्या पर विचार कर सकती है। पामर तथा परकिन्स के अनुसार "शांति के लिए एकता प्रस्ताव एक प्रभावशाली सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की दिशा में प्रकृति का एक महान् सीमा-चिह्न है।" यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को विकसित तथा कार्यान्वित करने का एक गम्भीर प्रयत्न है। इसने चार्टर के बिना किसी औपचारिक संशोधन के संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्त और व्यवहार में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया। इसने महासभा को सुरक्षा परिषद् से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया और निषेधाधिकार की व्यवस्था में निहित इस मूलभूत धारणा को, कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सशस्त्र कार्रवाई तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकती जब तक कि सभी स्थायी राज्य उससे सहमत न हों, एक गंभीर चुनौती दी। कैल्सन, शीवर तथा हैवीलैंड प्रभृति विद्वानों ने इस प्रस्ताव से होने वाले परिवर्तनों की वैधानिकता को उचित ठहराया है। क्लॉड का विचार है कि यदि इसमें थोड़ा बहुत असंविधानिकता का तत्त्व हो भी तो भी, यदि उससे व्यापक हित की सिद्धि होती है तो छोटे-मोटे तकनीकी गुत्थियों में उलझना ठीक नहीं।

### **महासभा के कार्यों का मूल्यांकन तथा उसका बढ़ता हुआ महत्त्व**

#### **(Evaluation of the General Assembly and Growing Importance of the General Assembly)**

महासभा के विभिन्न कार्यों तथा अधिकारों का अध्ययन करने के बाद हम पाते हैं कि इसके अधिकार काफी व्यापक हैं पर चार्टर के द्वारा इन अधिकारों को काफी सीमित कर दिया गया है। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं का विचार था कि सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र का प्रधान कार्यकारी अंग होगी और महासभा एक वाद-विवाद के मंच के रूप में कार्य करेगी। इसीलिये सुरक्षा परिषद् को बाध्यकारी शक्ति प्रदान की गई जबकि महासभा को केवल सिफारिशें करने का अधिकार दिया गया। अमरीकी सचिव स्टेटीनिव्स (Stettinivis) ने कहा था, "महासभा का कार्य केवल विचारात्मक है तथा यह प्रस्ताव पारित करने वाली संस्था है। परन्तु सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम करने के लिए कार्य करती है।" चार्टर के निर्माण हेतु बुलाये गये डम्बार्टन ओक्स तथा सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में छोटे राज्यों ने महासभा को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया था किन्तु उनका यह प्रयास सफल नहीं हो सका। बड़े देश महासभा को सौतेले की तरह उपेक्षा भरी नजर से देख रहे थे। चूँकि उनका इसमें बहुमत नहीं था। अतः वे इसे न तो प्रभावकारी अंग बनाना चाहते थे और न ऐसा अंग ही जो सुरक्षा-समस्याओं से सम्बन्धित हो। मध्यम और छोटे राज्यों की उनके समक्ष आखिर विसात ही क्या थी? अतः डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन में शक्ति-पथक्करण के सिद्धांत को अपनाया गया। प्रस्ताव और अनुशांसा करने का अधिकार महासभा को एवं निर्णय लेने का अधिकार सुरक्षा परिषद् को दिया गया। परन्तु सेन फ्रांसिस्को में मध्यम तथा छोटे राज्यों ने महासभा के अधिकार के लिये काफी प्रयास किया। अन्त में एक रास्ता निकाला गया। सुरक्षा परिषद् को मुख्यतः शांति और सुरक्षा बनाये रखने का कार्य दिया गया परन्तु धारा 10 के अनुसार महासभा को भी इस क्षेत्र में विस्तृत अधिकार दिये गये। इसके अधिकार क्षेत्र को इतना अधिक व्यापक बनाया गया कि वह अणु बम से लेकर आर्थिक सहायता तक के प्रश्न पर विचार कर सकती है। केवल एक अपवाद को छोड़ कर इसे शांति और सुरक्षा के सम्बन्ध में विचार करने का अधिकार दिया गया। परन्तु इसके बावजूद महासभा सुरक्षा परिषद् के मुकाबले में एक कमजोर संस्था ही बनी रही। इसके प्रतिकूल सुरक्षा परिषद् को अनेक प्रकार के अधिकार दिये गये। यह शांतिमय ढंग से विवादों को सुलझाने का आदेश दे सकती है, पाबन्दियां लगा सकती है। आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्रवाई भी कर सकती है। इसकी सहायता के लिए सैनिक स्टॉफ समिति भी है। इसके

निर्णय को सभी राज्यों को मानना पड़ता है, परन्तु महासभा के प्रस्ताव को मानने के लिये सभी स्वतंत्र हैं। इस प्रकार आकर्षण का केन्द्र सुरक्षा परिषद् थी, न कि महासभा।

लेकिन कालान्तर में परिस्थितियों के चलते यह स्थिति बदल गई और महासभा का महत्व निरन्तर बढ़ता गया। इसके विपरीत सुरक्षा परिषद् का प्रभाव घटा। विगत वर्षों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य-करण के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। शुरु-शुरु में – सन् 1946 में सुरक्षा परिषद् ने आठ राजनीतिक प्रश्नों पर विचार किया था। वहाँ सभा ने केवल दो प्रश्नों पर। इस प्रकार परिषद् ने राजनीतिक कार्रवाई करने वाले प्रमुख अंग के रूप में अपना जीवन शुरु किया। किन्तु बाद में स्थिति बदल गयी। जून, 1952 से जून, 1953 तक बारह महीनों में महासभा ने 11 मामलों पर विचार किया जबकि सुरक्षा परिषद् ने सिर्फ पांच पर। सुरक्षा परिषद् के घटते हुए प्रभाव का पता हमें उसी बैठकों की घटती हुई संख्या से भी लगता है। 16 जुलाई, 1947 से लेकर 15 जुलाई, 1949 तक जहाँ सुरक्षा परिषद् की 180 बैठकें हुईं। वहाँ 1952-53 में सिर्फ 26 ही। ऐसा लगता है कि 1948 के बाद सुरक्षा परिषद् की जगह महासभा ने ले ली। यद्यपि यह सत्य है कि महासभा कालान्तर में यह सुरक्षा परिषद् के निर्णयों के विरुद्ध एक अपीलीय संस्था के रूप में परिणत हो गयी। जैसा कि क्लॉड ने लिखा है, “वास्तव में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत एकमात्र राजनीतिक उत्तरदायित्व वहन करने वाली संस्था के रूप में महासभा ने सुरक्षा परिषद् की जगह अपने आपको पुनः स्थापित कर दिया है।” इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष आये महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर सक्रिय और प्रभावशाली निर्णय भी लिये हैं। इन प्रश्नों में कुछ हैं—फिलिस्तीन, ग्रीस, स्पेन, स्वेज नहर, कांगो आदि के प्रश्न।

सारांश यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माताओं की इच्छा के विपरीत महासभा की प्रतिष्ठा में निरन्तर वृद्धि होती रही है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :-

- (i) महासभा में विश्व के प्रायः सभी देशों का प्रतिनिधित्व होता है और इस प्रकार लोकतंत्र के युग में यह विश्व लोकमत का प्रतीक बन गई है यहाँ पर लिये गये निर्णयों का कोई भी राष्ट्र सामान्यतः उपेक्षा नहीं कर सकता।
- (ii) महासभा की बढ़ती प्रतिष्ठा का एक महत्वपूर्ण कारण यह रहा है कि इसकी सदस्य-संख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई है। संसार के इने-गिने कुछ राष्ट्र ही इसकी सदस्यता से अब वंचित रह गये हैं। इसकी तुलना में सुरक्षा परिषद् में केवल 15 सदस्य हैं। इद दृष्टिकोण से वह सच्चे अर्थ में विश्व की प्रतिनिधि संस्था नहीं कही जा सकती। वास्तव में महासभा ने अब मानव-जाति की संसद का रूप धारण कर लिया है जिसमें सदस्य-राज्य शांतिपूर्ण परिवर्तन की अनेक समस्याओं पर विचार करने का साधन ढूँढते हैं और वह भी कानूनतः संसदीय प्रक्रिया के ढाँचे में। सितम्बर के तीसरे सप्ताह में जब महासभा का वार्षिक अधिवेशन शुरु होता है तो उसमें भाग लेने के लिए विश्व के प्रमुख राजनीतिज्ञ न्यूयार्क में एकत्र होते हैं। यहाँ वे स्वतन्त्र रूप से अपनी शिकायतें, प्रस्ताव और सुझाव आदि प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार महासभा एक ऐसे मंच के रूप में काम करती है जहाँ संसार की सभी समस्याओं-राजनीतिक ओर गैर-राजनीतिक पर विचार किया जाता है। इससे भी महासभा की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है।
- (iii) महासभा की प्रतिष्ठा की वृद्धि में अफ्रीकी-एशियाई देशों का भी सक्रिय योगदान है। आज संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का सबसे बड़ा समूह अफ्रीकी-एशियाई समूह है जिसके सदस्यों की संख्या आधी शताब्दी से भी अधिक बढ़ गई है। इसमें से केवल ग्यारह संयुक्त राष्ट्रसंघ के संस्थापक सदस्य हैं। ये नवोदित तथा विकासशील देश महासभा के सदस्य होने के नाते इसकी ओर अधिक भरोसे के साथ देखते हैं। उनके लिए महासभा ही संघ का ऐसा अंग है जहाँ वे अपनी संख्या के बहुमत के बल पर अपने पक्ष को बड़ी शक्तियों के विरुद्ध दृढ़ता के साथ प्रस्तुत कर सकते हैं तथा निर्णय ले सकते हैं। अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ में महासभा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उचित भूमिका दिलाने के लिए वे प्रयत्नशील रहे हैं।
- (iv) एक अन्य महत्वपूर्ण कारण है – सस्थायी सदस्यों में मतभेद और उनके निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण सुरक्षा परिषद् की क्षमता में निरन्तर कमी। निषेधाधिकार के अनुचित और अधिक प्रयोग के कारण सुरक्षा परिषद् अधिक लाभकारी नहीं रही है। यह कोई भी निर्णय नहीं ले पाती और न किसी झगड़े को सुलझा पाती है। अतः संकटकालीन स्थिति में सदस्य राज्य इस पर पूरा भरोसा नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में उनके लिए यह आवश्यक था कि वे संघ के किसी अंग को शक्तिशाली बनावें जिससे कि वह सुरक्षा-परिषद् में निषेधाधिकार के कारण गतिरोध पैदा हो जाने पर उस रिक्तता को पूरा कर सके। इसी स्थिति में 3 नवम्बर, 1950 को ‘शांति के लिए एकता प्रस्ताव’ को जन्म दिया। इस प्रस्ताव ने महासभा की शक्तियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया। इसके अनुसार यदि सुरक्षा परिषद् आपसी मतभेदों के कारण शांति-भंग की अथवा आक्रमण की आशंका या आक्रमण को रोकने में अपने कर्तव्य का पालन नहीं करती, तो सुरक्षा परिषद् के निषेधाधिकार विहिन कोई सदस्य अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बहुमत से 24 घंटे के सूचना पर महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। महासभा ऐसे विषय पर तुरन्त विचार कर ‘सामूहिक कार्रवाई’ के लिए सिफारिशें कर सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये

रखने के लिए फौजी कार्रवाई का भी निर्देश कर सकती है। वस्तुतः इस प्रस्ताव ने संयुक्त राष्ट्र के विधान में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। न केवल इसने सुरक्षा परिषद् की अपेक्षा महासभा के कार्य और अधिकार क्षेत्र को ही बढ़ा दिया वरन् निषेधाधिकार से उत्पन्न गतिरोध दूर करने का हल निकाल लिया। इसने सभा को सुरक्षा के मामलों में निषेधाधिकार विहीन अधिकार प्रदान किया। इस प्रस्ताव के पारित होने के बाद सुरक्षा परिषद् की तुलना में महासभा का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ा है। यही कारण है कि निरस्त्रीकरण, राजनीतिक विवादों का निबटारा और सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी विषयों पर जहाँ सुरक्षा परिषद् को प्रमुख भूमिका निभानी थी, वहाँ महासभा को महत्वपूर्ण कार्य करने व निर्णय लेने पड़े हैं। नवम्बर, 1956 में मिस्र पर इजरायल, इंग्लैंड और फ्रांस द्वारा आक्रमणात्मक कार्रवाई करने पर महासभा के विशेष अधिवेशन ने इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते हुए सफलतापूर्वक शांति स्थापित की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि बड़े राष्ट्रों के मतभेद के कारण वहाँ सुरक्षा परिषद् की क्षमता घटती गयी वहाँ महासभा की शक्ति बढ़ती गई। जैसा कि पामर और परकिनस ने कहा है, "अपनी असमर्थता के कारण सुरक्षा परिषद् अपना कार्य सुचारु रूप से करने में सफल नहीं हो सकी है। इस कारण सभा की शक्ति व महत्व बढ़ गया है।" गुडसपीड इस विकास को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार महाशक्तियों के आपसी मतभेद से उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के वातावरण में यह स्वाभाविक ही था कि महासभा एक ऐसे अंग के रूप में कार्य करना शुरू करे जहाँ अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रश्नों पर विचार किया जा सके। एल०एम० गुडरीच ने भी उक्त मत का समर्थन किया है। उसके अनुसार शीतयुद्ध से ग्रस्त सुरक्षा परिषद् की अकर्मण्यता की स्थिति में सभा को एक मनोरम 'प्लेटफॉर्म' होना स्वाभाविक ही कहा जायेगा।

- (v) संयुक्त राष्ट्र संघ में छोटे राज्यों की बहुलता ने भी महासभा को एक शक्तिशाली संस्था बनाने में योगदान किया है। इन राज्यों के पास सैन्य या आर्थिक शक्ति अधिक नहीं है। उनकी अर्थ-व्यवस्था में अधिकांश का आधार मात्र जीवन-यापन करने योग्य खेती है। उनका निर्यात-व्यापार कभी-कभी एक ही वस्तु तक सीमित होता है। शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाएं अपर्याप्त हैं। इन देशों के लिए जो अपनी भौतिक दुर्बलता के प्रति सचेत हैं, महासभा एक ऐसा मंच है, जहाँ दुर्बलता से कोई विशेष हानि नहीं होती। महासभा ही एक ऐसा अंग है जहाँ वे अपनी बहुमत के आधार पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यान्वयन को प्रभावित कर सकते हैं और अपने हित में निर्णय कराने में सफल हो सकते हैं। यही कारण है कि महासभा ऐसे राज्यों में अधिक लोकप्रिय है। उन्होंने सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में ही महासभा की शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया था। परन्तु वहाँ सफल नहीं हो सके। बाद की घटनाओं ने उसका साथ दिया। महाशक्तियों के मतभेद तथा निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण सुरक्षा-परिषद् बिल्कुल नाकामयाब साबित हुई। छोटे राज्यों ने परिषद् की कमजोरियों से लाभ उठाया और महासभा के प्रभाव में वृद्धि के लिए निरन्तर दबाव डालना शुरू किया। यही संस्था उनकी बड़ी उम्मीदों और महासभा के रूप में है। उनके प्रयास से शक्ति का हस्तान्तरण परिषद् से सभा के हाथों में हुआ। गुडसपीड का विचार है कि यदि शीतयुद्ध की स्थिति न भी रहती तब भी ये छोटे राज्य महासभा को ऊँचे पद पर लाने का अवश्य ही प्रयास करते। वे ऐसे किसी भी उपाय का सहारा लेने से नहीं चूकते, जिससे महासभा की रीढ़ मजबूत होती।

उपर्युक्त कारणों के चलते अपने संस्थापकों की इच्छा के विपरीत महासभा एक बड़ा अंग बन गयी, और इसकी कोई संभावना नहीं कि उसकी यह स्थिति कभी बदल भी पायेगी। व्यवहार में भी महासभा ने केवल विश्व-मंच के रूप में ही कार्य किया है, वरन् महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार कर निर्णय भी लिया है। इसने नकारात्मक और सकारात्मक दोनों दिशाओं में कार्य किया है। नकारात्मक कार्य के द्वारा इसने राजनीतिक आग बुझाने में मदद की है तथा सकारात्मक कार्यों के द्वारा इसने आग लगने की गुंजाइश कम की है। कुछ इने-गिने यूरोपीय राज्यों से शुरु होने वाली यह संस्था आज 'विश्वजीत' कहलाने का दावा करने लगी है। यहाँ अणुबम से लेकर मानवीय कल्याण, भोजन, कपड़ों, आवास तक की सभी समस्याओं पर विचार होता है, अतः इसे विश्व का उन्मुक्त अन्तःकरण ठीक ही कहा जाता है।

# सुरक्षा परिषद् (Security Council)

संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य विश्व शांति और सुरक्षा को बनाये रखना है। उन महान् दायित्व की पूर्ति के साधन के रूप में सुरक्षा परिषद् की स्थापना की गई है। इसीलिये संघ के घोषणा-पत्र के अन्तर्गत विश्व-शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने का मुख्य दायित्व सुरक्षा परिषद् पर ही डाला गया है। इस दृष्टिकोण से यह संयुक्त राष्ट्र संघ का महत्वपूर्ण तथा प्रभावकारी अंग है। गुडसपीड ने लिखा है कि आम लोगों की राय में संयुक्त राष्ट्रसंघ का मतलब है सुरक्षा परिषद्। वैसे संघ के घोषणा-पत्र में सुरक्षा परिषद् का नाम महासभा के बाद आता है। परन्तु संगठन, कार्य एवं शक्ति की दृष्टि से उसका स्थान पहला है। यदि उसे 'संयुक्त कुंजी' (Key Organ of the U.N.O.) कहा है। सेगरिड अर्ने उसे विश्व संगठन का बिजली घर बतलाते हैं। नार्मन वेटविच की राय में, उस सरकार और कार्यकारिणी के बीच वर्तमान हैं। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ के संस्थापकों ने सुरक्षा परिषद् को विश्व-समुदाय की शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने का एक प्रभावी साधन बनाना चाहा था। इसलिये इसे विश्व-समुदाय के सजग प्रहरी तथा विश्व-शांति और सुव्यवस्था की रक्षा हेतु आरक्षी दायित्व से सम्पन्न किया गया था। परन्तु सिद्धान्त और व्यवहार में जितना अन्तर तथा विरोधाभास सुरक्षा परिषद् में दृष्टिगोचर होता है उतना संघ के किसी अन्य अंग में नहीं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सुरक्षा परिषद् की शक्तियां अभूतपूर्व हैं, क्योंकि यह चार्टर के सातवें भाग के अन्तर्गत शांति के खतरे, शांति-भंग एवं आक्रमण के कार्यों के सम्बन्ध में जो निर्णय लेती हैं उन्हें मनाने एवं कार्यान्वित करने के लिए सदस्य-राज्य बाधित हैं। लेकिन व्यवहार में उसकी शक्ति मुख्यतया औपचारिक महत्व की रह गई है। लगभग सभी राजनीतिज्ञ और नेता यह स्वीकार करते हैं कि परिषद् आशाओं के अनुकूल सफल नहीं रही है। महाशक्तियों की आपसी फूट, उनके पारस्परिक शीतयुद्ध तथा विचारधाराओं एवं क्षेत्रीय प्रश्नों पर उनकी टकराहट ने उसे पंगु बना दिया है। वह प्रस्ताव पारित कर सकती है। पर उसमें भी आपत्ति है। निषेधाधिकार उसे ज्यादातर गतिरोध की स्थिति में रखता है। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के क्षेत्र में महासभा के दायित्वों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई है। यद्यपि सुरक्षा परिषद् की वैधानिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, किन्तु शान्ति एवं सुव्यवस्था के क्षेत्रों में इसने जो प्रयत्न किये हैं उन पर शीतयुद्ध की छाया रही है।

## संगठन (Organisation)

चार्टर की मूल व्यवस्था के अनुसार सुरक्षा परिषद् एक ग्यारह सदस्यी संस्था थी। उनमें से 5 स्थायी और 6 अस्थायी सदस्य थे। चीन, फ्रांस, सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका इसके स्थायी सदस्य हैं। और छः अस्थायी का चुनाव महासभा करती थी। सन् सोवियत रूस के विघटन के बाद सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्य का उसका स्थान 'रूस' को प्रदान कर दिया गया। इस प्रकार अब सोवियत संघ का स्थान रूस ने ले लिया है। 1965 में चार्टर में संशोधन करके सुरक्षा-परिषद् के संगठन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन लाया गया। जिस समय संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई थी उस समय संघ के सदस्यों की संख्या सिर्फ इक्यावन थी। अतएव सुरक्षा परिषद् में ग्यारह सदस्य रखे गये। परन्तु सन् 1955 के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या निरन्तर बढ़ती गई। एशिया और अफ्रीका के अनेक राज्य स्वतंत्र होकर इसके सदस्य बन गये। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक था कि सुरक्षा परिषद् की सदस्य-संख्या में वृद्धि की जाये। 17 दिसम्बर, 1965 को महासभा ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके चार्टर में संशोधन करने की एक सिफारिश की जिसमें यह कहा गया था कि सुरक्षा परिषद् की सदस्य-संख्या ग्यारह से बढ़ाकर पन्द्रह कर दी जाये। इस प्रस्ताव के आधार पर सदस्य राज्यों के अनुमोदन के बाद चार्टर का संशोधन हो गया। इस संशोधन के अनुसार सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यों की संख्या में तो कोई वृद्धि नहीं हुई, लेकिन अस्थायी सदस्यों की संख्या दस हो गई। इन अस्थायी सदस्यों का चुनाव संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्यों में से दो वर्षों के लिये महासभा द्वारा किया जाता है। इसका विधान चार्टर की धारा 23 में किया गया है। इस धारा में यह भी कहा गया है कि अपनी अवधि की समाप्ति पर कोई भी सदस्य तुरन्त फिर निर्वाचित नहीं हो सकता। यह प्रावधान इसलिए रखा गया है कि राष्ट्रसंघ की कौंसिल में निर्वाचित सीटों पर अधिकांश चुनावों में मध्यवर्ती शक्तियों का ही नियंत्रण बना रहा और लघु शक्तियों को उसमें प्रवेश से वंचित रहना पड़ा। यद्यपि प्रतिनिधित्व का कोई निश्चित नियम नहीं है, तथापि इन सदस्यों का चुनाव करते समय महासभा को यह देखना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने में अमुक सदस्य ने कितना योग दिया है तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों को कहां तक माना है ? उनकी भौगोलिक स्थिति का भी ख्याल रखा जाना चाहिये। कौन सदस्य कहां तक इन शर्तों का पालन करता है, इसका निर्णय महासभा करती है। व्यवहार में विश्व-शांति और सुरक्षा की और सदस्य देशों के योगदान पर कम किन्तु समान भौगोलिक वितरण की शर्त पर अधिक ध्यान दिया जाता है। सन् 1965 के

संशोधन के पूर्व सामान्यतः पश्चिमी और पूर्वी यूरोप से एक-एक, दक्षिणी अमेरिका से दो, अरब राज्यों से एक तथा ब्रिटिश डोमिनियन या राष्ट्रमण्डल से एक सदस्य अस्थायी सदस्य के रूप में चुने जाते थे किन्तु यह व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी। इसमें एशिया और अफ्रीका के देशों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता था। संशोधन के आधार पर यह तय किया गया है कि इन अस्थायी पदों में पांच सीट अफ्रीका-एशियाई देशों को, दो लैटिन अमेरिकी देशों को, दो पश्चिमी यूरोपीय देशों को तथा एक पूर्वी यूरोप के देशों को मिले। 14 नवम्बर, 1977 को भारत सहित, 19 गुटनिरपेक्ष देशों ने सुरक्षा परिषद् की संख्या बढ़ाने हेतु एक प्रस्ताव महासभा में पेश किया। इस प्रस्ताव में मांग की गयी कि परिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 21 कर दी जाये। गुटनिरपेक्ष देशों का तर्क था कि इससे तीसरी दुनिया के देशों को परिषद् में समुचित प्रतिनिधित्व मिल सकेगा। अमरीका और सोवियत संघ का तर्क है कि इससे सुरक्षा परिषद् की कुशलता नकारात्मक रूप से प्रभावित होगी। संयुक्त राष्ट्रसंघ में 1980-81 से ही यह प्रस्ताव विचाराधीन है परन्तु इस पर आज तक मतदान नहीं हो सका है।

सुरक्षा परिषद् के संगठन की सबसे आपत्तिजनक बात महाशक्तियों की स्थिति की अपरिवर्तनशीलता है। चार्टर में स्थायी सदस्यों के लिये किसी प्रकार की शर्त का उल्लेख नहीं है, केवल पांच महाशक्तियों को स्थायी सदस्यता प्रदान कर दी गई है, और उनका नामोल्लेख चार्टर में कर दिया गया है। इससे चार्टर में स्थिरता आ गई है, यह निश्चित नहीं है कि वे पांचों वास्तविक रूप से सदा के लिये महान् शक्तियां बनी रहेंगी। संभव है कि उनमें से कोई कलाकार से अपनी महानता खो दे अथवा किसी नये राज्य से कम महान् रह जाये ? ऐसी स्थिति में क्या उसे स्थायी सदस्यता से वंचित किया जा सकता है ? परन्तु हम जानते हैं कि कोई भी संशोधन बिना महान शक्तियों की सहमति के प्रभावकारी नहीं हो सकता। इसलिये सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता में परिवर्तन असंभव सा है, भले ही नामांकित स्थायी सदस्यों की शक्ति में हास हो जाय। निषेधाधिकार की व्यवस्था के कारण नये महान् राज्यों के लिए सुरक्षा परिषद् द्वारा बन्द है। सन् 1945 के बाद विश्व के अनेक राज्य महाशक्ति की श्रेणी में आ गये हैं। फिर भी, उन्हें महाशक्ति की श्रेणी से अपदस्त नहीं किया जा सकता। परिणामस्वरूप सुरक्षा परिषद् की स्थिति पांच महाशक्तियों के अनन्य क्लब के रूप में है।

### बैठक (Session)

सामान्यतः सुरक्षा परिषद् की बैठक प्रत्येक पखवाड़े होती है। इसका संगठन इस प्रकार बनाया गया है कि वह लगातार काम करती रहे। इसीलिये प्रत्येक देश सुरक्षापरिषद् में अपना एक स्थायी सदस्य भेजता है। वह सदस्य स्थायी रूप से न्यूयार्क में रहता है, जिससे आवश्यकतानुसार तुरन्त बैठक बुलाई जा सके। यह व्यवस्था राष्ट्रसंघ के विधान की उस व्यवस्था से भिन्न है जिसमें परिषद् की बैठक वर्ष में एक बार होने का विधान था, हालांकि व्यवहार में उसकी बैठकें वर्ष में तीन बार होती थीं। इसके विपरीत सुरक्षा परिषद् का अधिवेशन अनवरत ढंग से चालू रहता है, इसके सदस्य सदैव मुख्यालय में उपस्थित रहते हैं। परिणामस्वरूप यह आवश्यकतानुसार तुरन्त कार्य करने के लिए तैयार रहती है। बैठक अध्यक्ष के द्वारा बुलाई जाती है। सुरक्षा परिषद् के किसी सदस्य की मांग पर अथवा महासभा द्वारा किसी विवाद की ओर परिषद् का ध्यान आकर्षित किये जाने पर इसकी बैठक बुलाई जा सकती है। चार्टर में परिषद् की आवधिक बैठकों (Periodic Meetings) का भी विधान है। इस प्रकार की बैठकों में सदस्य देशों के विदेश मंत्री अथवा अन्य नियत अधिकारी के भाग लेने की व्यवस्था है। स्पष्टतः इस तरह की बैठकों का आयोजन विशेष महत्व की समस्याओं के समाधान के लिये किया जायेगा। किन्तु, अब तक इस तरह की कोई भी आवधिक बैठक नहीं हुई है। परिषद् की बैठक सामान्यतः संयुक्त राष्ट्र मुख्यालयों में होती हैं, पर आवश्यकता पड़ने पर किसी ऐसे स्थान पर जहां संकट का केन्द्र हो, इसकी बैठक हो सकती है। इस तरह की एक बैठक आदिस अबावा में हुई थी।

परिषद् के सदस्य देशों के प्रतिनिधि तो उसकी बैठक में भाग लेते ही हैं, उन देशों के प्रतिनिधि भी जो उसके सदस्य नहीं हैं, कुछ खास परिस्थितियों में उसकी बैठकों में भाग ले सकते हैं। धारा 31 के अनुसार यदि सुरक्षा परिषद् यह विचार करे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी ऐसे सदस्य का हित विशेष रूप से प्रभावित हो रहा हो जो उसका सदस्य नहीं है तो वह बैठक में भाग ले सकता है। पर, ऐसे सदस्य-राज्य को मत देने का अधिकार नहीं होता। राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत ऐसे आमंत्रित सदस्य को मतदान का अधिकार था। सुरक्षा परिषद् ही यह निर्धारित करती है कि किसी सदस्य के हित कब प्रभावित होते हैं। धारा 32 के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई सदस्य, जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य नहीं है अथवा वैसा राज्य, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं हो, यदि किसी विवाद से सम्बद्ध हो तथा उस पर सुरक्षा परिषद् में विचार-विमर्श किया जा रहा हो तो उसे विशेष रूप से उस विवाद से सम्बद्ध विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। ईरान व सोवियत रूस के झगड़े में ईरान को तथा इंडोनेशिया व नेदरलैंड के झगड़े में आमन्त्रित किया गया था। सन् 1962 में कश्मीर के प्रश्न पर हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान को आमन्त्रित किया गया था। ऐसे राज्य जिनके बीच झगड़े नहीं हैं तथा जो इसके सदस्य नहीं हैं वैसे राज्यों को भी आमन्त्रित किया जा सकता है। यदि उन्होंने झगड़े में विशेष दिलचस्पी का प्रदर्शन किया हो, जैसे इंडोनेशिया तथा नेदरलैंड के झगड़े में फिलिपाइन को। यदि कोई राज्य इसके



समक्ष किसी झगड़े को प्रस्तुत करता है तो वैसे राज्य को भी यह आमन्त्रित करती है। जैसे इण्डोनेशिया और नेदरलैण्ड के झगड़े में हिन्दुस्तान एवं आस्ट्रेलिया को आमन्त्रित किया गया था। वैसे राज्य जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं हैं उन्हें सुरक्षा परिषद् वाद-विवाद में भाग लेने के लिए आमन्त्रित कर सकती है, परन्तु वैसे देशों की बैठक में भाग लेने की शर्तें परिषद् स्वयं निर्धारित करती है। कोरिया युद्ध के समय साम्यवादी चीन को सुरक्षा परिषद् में आमन्त्रित किया गया था।

### अध्यक्ष (President)

सुरक्षा परिषद् का एक अध्यक्ष होता है। यह परिषद् की बैठक का संचालन करता है। इस पद पर परिषद् के सदस्य बारी-बारी से एक-एक महीने के लिये अपने देश के नाम के प्रथम अक्षर (अंग्रेजी वर्णमाला के) के क्रमानुसार आसीन होते हैं। अध्यक्ष सभा की कार्यवाहियों को संचालित करता है, किसी मामले को परिषद् को समिति में विचारार्थ भेजता है तथा आदेश जारी करता है। यद्यपि अध्यक्ष का पद विशेष महत्व का नहीं होता किन्तु मतदान के पूर्व सदस्य राज्यों तथा विवादग्रस्त पक्षों से अनौपचारिक वार्ताओं में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। कभी-कभी उसे राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिये भारत-कश्मीर विवाद के अवसर पर नार्वे के प्रतिनिधि के सुझाव पर परिषद् ने अपने अध्यक्ष को अधिकृत किया कि वह दोनों पक्षों से मिलकर विवाद के संतोषप्रद हल की संभावना का पता लगाये। ऐसा भी देखा गया है कि राजनीतिक लाभ के लिये कभी-कभी अध्यक्ष परिषद् की बैठक बुलाना तब तक स्थगित रखा जब तक अमरीकी पक्ष की सरकार की वहां स्थापना नहीं हुई। इसी तरह रोडशिया के प्रश्न पर सन् 1966 में अध्यक्ष ने लगभग अड़तालीस घंटों तक परिषद् की संकटकालीन बैठक बुलाने से इन्कार कर दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ अवसरों पर अध्यक्ष का पद काफी महत्वपूर्ण हो जाता है। सुरक्षा परिषद् की प्रक्रिया के नियमों के अनुसार अध्यक्ष वैसे बैठकों की अध्यक्षता नहीं करेगा जिसमें ऐसे प्रश्नों पर विचार हो रहा हो जिससे उसका देश प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हो।

सुरक्षा परिषद् के अन्य कर्मचारी जैसे किरानी, अनुवादक आदि सचिवालय द्वारा प्रदान किये जाते हैं। सभी महत्वपूर्ण अभिलेखों, प्रस्तावों तथा सार्वजनिक बैठकों की कागजातों का फ्रांसीसी, अंग्रेजी, रूसी, स्पेनिश तथा चीनी भाषाओं में प्रकाशित किया जाता है।

### मतदान-प्रणाली (Voting-System)

सुरक्षा परिषद् की मतदान-व्यवस्था बड़ी महत्वपूर्ण है। चार्टर का 27वां अनुच्छेद इस व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसके अनुसार सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार है। पर स्थिति इतनी साधारण नहीं है। परिषद् के कार्यक्रम को दो भागों में बांटा गया है—प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural) तथा अन्य महत्वपूर्ण (Substantive)। प्रक्रिया-सम्बन्धी बातों में परिषद् के किन्हीं नो सदस्यों के स्वीकारात्मक मत (Affirmative Vote) आने से प्रस्ताव स्वीकृत समझा जाता है। अन्य सभी मामलों में कम-से-कम नो सदस्यों के स्वीकारात्मक वोटों में पांच स्थायी सदस्यों का स्वीकारात्मक वोट अनिवार्य है। इन पांच स्थायी सदस्यों में से यदि कोई भी अपनी असहमति प्रकट करे और अपना वोट प्रस्ताव के विरुद्ध दे दे तो वह प्रस्ताव अस्वीकृत समझा जायेगा। इस उपबन्ध के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् की प्रत्येक स्थायी अथवा महान् शक्ति को निषेधाधिकार या 'वीटो' प्राप्त हो गया है। हालांकि 'वीटो' शब्द का प्रयोग चार्टर में कहीं नहीं किया गया है, किन्तु किसी भी सदस्य को चाहे वह स्थायी सदस्य हो अथवा अस्थायी शांतिपूर्वक सुलझाये जाने वाले ऐसे मामलों में मतदान का अधिकार नहीं होगा, जिससे उसका अपना सम्बन्ध हो। यदि कोई स्थायी सदस्य अपने मत का प्रयोग नहीं करता तो यह निषेधाधिकार नहीं कहलाता।

सुरक्षा परिषद् की मतदान-प्रणाली से निष्कर्ष यही निकलता है कि किसी भी महत्वपूर्ण कार्य को सफल बनाने के लिये स्थायी सदस्यों का मत आवश्यक है और यही महाशक्तियों की सर्वसम्मति का सिद्धांत है। आई०पी० चेज का मत है : "सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की स्थिति अनोखी है। इससे परिषद् की राजनीतिक समस्याओं की महत्ता का पता चलता है। सुरक्षा परिषद् की मतदान-व्यवस्था इसका सबसे अद्भुत लक्षण है। निषेधाधिकार का प्रश्न संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे कठिन प्रश्न है।"

### सहायक अंग (Subsidiary Organ)

सुरक्षा परिषद् एक छोटी संस्था है इसलिये यह समिति और आयोगों की सलाह कम लेती है। समिति पद्धति इसके लिये उपयोगी नहीं है। आमतौर से यह अपना कार्य स्वयं करती है। फिर भी इसकी दो स्थायी समितियां हैं—विशेषज्ञों की समिति तथा नये सदस्यों के प्रवेश का कार्य देखने वाली समिति। विशेषज्ञ समिति जिसकी स्थापना जनवरी, 1956 में हुई थी, कार्यविधि की नियमावली के सम्बन्ध में अध्ययन तथा परामर्श देती है। यह ऐसे अन्य मामलों पर भी विचार करती है जो परिषद् के द्वारा उसके पास भेजे जाते हैं। नये सदस्यों के प्रवेश का कार्य देखने वाली समिति की स्थापना मई, 1946 में हुई थी। परिषद् द्वारा विचारार्थ प्रस्तुत किये जाने

पर यह संघ की सदस्यता के लिये अभ्यर्थी राज्यों के प्रतिवेदन की जांच करती है। चार्टर की धारा 47 के अनुसार एक सैनिक स्टॉफ समिति भी होती है जो सुरक्षा परिषद् को शांति बनाये रखने के लिये उसकी सैन्य आवश्यकताओं, उसकी अधीन सेना का निर्देशन, शस्त्रों के नियमन एवं सेना व शस्त्रों में पांच स्थायी सदस्य देशों के 'चीफ आफ स्टाफ' अथवा इनके प्रतिनिधि होते हैं। सोवियत रूस तथा अन्य सदस्य-राज्यों में मतभेद रहने के कारण यह समिति कुछ भी महत्वपूर्ण कार्य करने में असमर्थ रही।

सन् 1946 में महासभा ने एक अनुशक्ति आयोग स्थापित किया। यह आयोग सुरक्षा परिषद् को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता था। शांति और सुरक्षा सम्बन्धी विषयों के लिये यह आयोग सुरक्षा परिषद् के प्रति उत्तरदायी था। फरवरी, 1847 में सुरक्षा परिषद् ने परम्परागत शस्त्र-सम्बन्धी आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने सुरक्षा परिषद् के सब सदस्य रहते थे। शस्त्रों के नियंत्रण, कम करने की व्यवस्था और अन्य अनेक कार्य इस समिति के द्वारा किये जाते थे। सन् 1952 में इन दोनों आयोगों की जगह पर निरस्त्रीकरण आयोग और उसकी उपसमिति की स्थापना की गयी। सन् 1957 में महासभा ने 1958 के लिये इस आयोग में 14 सदस्य और बढ़ा दिये गये। इस प्रकार इस आयोग की सदस्य-संख्या 25 हो गई। चूंकि इस आयोग के अधिकतर सदस्य पश्चिम गुट के पक्षपाती थी, इसलिए रूस ने इसके कार्यों में भाग न लेने की इच्छा व्यक्त की। अतः सन् 1956 में महासभा ने यह निश्चय किया कि संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्य निरस्त्रीकरण आयोग के सदस्य बना दिये जायें।

सुरक्षा परिषद् द्वारा कुछ और आयोग और समितियां गठित की गयी हैं। इण्डोनेशिया के लिये इसने एक सत्प्रयास समिति (Good Office Committee) स्थापित की। जनवरी 1949 में इस समिति के स्थान पर इण्डोनेशिया के लिये संयुक्त राष्ट्र आयोग स्थापित किया गया। इस आयोग ने हालैण्ड और इंडोनेशिया के बीच मध्यस्थता का काम किया। सुरक्षा परिषद् ने समय-समय पर कुछ अन्य आयोगों की भी रचना की। उनमें प्रमुख हैं-भारत-पाकिस्तान आयोग, पैलेस्टाईन के लिये युद्ध-विश्रान्ति आयोग आदि। काश्मीर और पैलेस्टाईन की समस्या को सुलझाने के लिए इसने मध्यस्थ नियुक्त किये।

### कार्य और शक्तियां (Functions and Powers)

सुरक्षा परिषद् का मुख कार्य शांति और सुव्यवस्था बनाये रखना है। इस उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ की कौंसिल की भांति सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ की सम्पूर्ण सदस्यता के अभिकर्ता के रूप में कार्य करती है। धारा 24 के अन्तर्गत सदस्य राज्यों ने यह स्वीकार किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के क्षेत्र में सुरक्षा परिषद् उनके बदले में कार्य करेंगी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परिषद् मनमाने ढंग से कार्य करने के लिये स्वतंत्र है। वास्तव में सुरक्षा परिषद् अपने कार्यों के निर्वहन में संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने के लिये बाधित है।

यदि उसके कार्य संघ के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों के अनुसार नहीं हो तो सदस्य-राज्य उसकी अवज्ञा कर सकते हैं। अन्यथा वे धारा 25 के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को मानने तथा कार्यान्वित करने को बाध्य है। सारांश यह है कि सुरक्षा परिषद् की शक्तियों के सम्बन्ध में सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को अपनाया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व-शान्ति की रक्षा संसार के सभी राष्ट्रों का संयुक्त उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिये वे संयुक्त परिषद् को सौंपा गया है। इस दृष्टिकोण से सुरक्षा परिषद् की स्थिति संघ के सभी अंगों में सबसे अधिक शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण हो जाती है। डै० पी० चेज ने लिखा है : "सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ का हृदय है। संकट का समय हो या शांति कार्य, संयुक्त राष्ट्र के दूसरे अंग कार्य कर रहे हों या न कर रहे हों, साल का कोई भी समय हो या कैसा ही मौसम हो, सुरक्षा परिषद् अपना कार्य करती ही रहती है।" संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की धारा 24, 5 और 26 में सुरक्षा परिषद् के कार्यों और शक्तियों का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में हम उन्हें निम्नलिखित ढंग से निरूपित कर सकते हैं-अ

- (क) संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाये रखना,
- (ख) ऐसे किसी भी विवाद अथवा स्थिति के बारे में जांच-पड़ताल करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव एवं संघर्ष पैदा होने का खतरा हो;
- (ग) झगड़ों के निबटारे के लिये उपायों या समझौते की शर्तों की सिफारिश करना;
- (घ) हथियारों के नियमन की व्यवस्था के बारे में योजनायें तैयार करना;
- (ङ) शांति के लिये खतरा अथवा आक्रामक कार्रवाई की स्थिति को निश्चित करना तथा उसके सम्बन्ध में क्या कदम उठायें जायें, इसकी सिफारिश करना;
- (च) आक्रमण को रोकने अथवा बन्द करने के लिये सदस्य-राज्यों से आर्थिक अनुशक्ति तथा अन्य उपायों, जिनमें बल-प्रयोग नहीं शामिल हो, लागू करने का अनुरोध करना;
- (छ) आक्रमण के विरुद्ध सैनिक कार्यवाई करना;
- (ज) नये सदस्य बनाना, निलंबित करना एवं निष्कासित करना;

- (झ) उन शर्तों का निर्धारण जिनमें कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि का पक्ष हो सकता है;
- (ञ) सैनिक महत्व के क्षेत्रों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्यास कार्यों को लागू करना;
- (ट) महासचिव की नियुक्ति के लिये महासभा से सिफारिश करना तथा महासभा के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करना तथा
- (प) महासभा के समक्ष वार्षिक तथा विशिष्ट प्रतिवेदन प्रस्तुत करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुरक्षा परिषद् को काफी व्यापक अधिकार तथा दायित्व प्रदान किये गये हैं। इन दायित्वों को निभाने के लिये परिषद् को चार्टर के अध्याय 6, 7, 8 और 12 में विशेष शक्तियाँ दी गई हैं। अध्याय 6 विवादों के शांतिपूर्ण समाधान से सम्बन्धित है जिसमें 33 से 48 तक अनुच्छेद सम्मिलित हैं। अध्याय 7 शांति को खतरे में डालने वाली, शांति-भंग और आमण की चेष्टाओं के बारे में कार्यवाही से सम्बन्धित है; इसमें 39 से 51 तक के अनुच्छेद शामिल हैं। अध्याय 8 प्रादेशिक प्रबन्ध से सम्बन्धित है। जिसमें 52 से 54 तक के अनुच्छेद शामिल हैं। अध्याय 12 अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-पद्धति की चर्चा करता है और इसमें सुरक्षा परिषद् के विभिन्न न्याय सम्बन्धी अधिकार सम्मिलित हैं। उपर्युक्त सभी अध्यायों में सुरक्षा परिषद् के जिन कार्यों और शक्तियों का उल्लेख है वे इस प्रकार हैं :

### विवादों का शांतिपूर्ण समझौता (Pacific settlement of disputes)

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान परिषद् का एक महत्वपूर्ण कार्य है। ऐसे विवादों से निपटने में परिषद् समय-समय पर विभिन्न उपायों का आश्रय लेती रही है। प्लानों तथा रिग्स ने परिषद् के विशिष्ट उपायों में विचार-विमर्श (Deliberations) अन्वेषण अथवा खोज-बीन (Investigation), सिफारिश (Recommendation), समझौता (Councillation), मध्यस्थता (Interposition), अपील (Appeal) तथा आदेश (Enforcement) गिनाये हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का छटा अध्याय झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने की व्यवस्था करता है। इस अध्याय में झगड़ों को तय करने के विभिन्न ढंग बताये गये हैं। विवाद से सम्बन्धित पक्ष ये यह आशा की जाती है कि पहले से बातचीत, जांच-पड़ताल, मध्यस्थता, पंच-निर्णय, क्षेत्रीय अभीकरणों एवं व्यवस्थाओं की सहायता तथा अन्य शांतिपूर्ण तरीकों के माध्यम से आपनी झगड़ों का फ़ैसला करेंगे। आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा परिषद् दोनों पक्षों को इन विधियों द्वारा अपने विवादों का फ़ैसला करने के लिये कह सकती है। धारा 34 के द्वारा सुरक्षा परिषद् को विवादों एवं परिस्थितियों की जांच का महत्वपूर्ण अधिकार दिया गया है। इसके अनुसार सुरक्षा-परिषद् किसी ऐसे विवाद या परिस्थिति की जांच कर सकती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय विवाद या झगड़े पैदाहोने की संभावना हो। वह यह जांच करेगी कि विवाद या परिस्थिति का कायम करना अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिये खतरा तो नहीं पैदा कर रहा है। आवश्यक जांच-पड़ताल के लिये परिषद् का अध्यक्ष सभी पक्षों से पूछताछ कर सकता है अथवा इस उद्देश्य के लिये एक समिति अथवा एक आयोग भी नियुक्त किया जा सकता है। जांच-पड़ताल द्वारा यद्यपि परिषद् विवाद से सम्बन्धित सभी तथ्यों का एकदम सही मूल्यांकन नहीं कर पाती फिर भी ऐसी परिस्थिति में पहुंचने की गुंजाइश रहती है कि परिषद् कामचलाऊ समाधान की दिशा में आगे बढ़ सके।

सुरक्षा परिषद् स्वयं किसी विवाद अथवा परिस्थिति की जांच तो कर ही सकती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य अथवा महासचिव भी उसका ध्यान ऐसे विवाद अथवा ऐसी परिस्थिति की ओर आकृष्ट कर सकता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा परिक्षद अथवा महासभा, के समक्ष कोई ऐसा विवाद ला सकता है जिसका कि स्वयं वह एक पक्ष है यदि उसे शांतिपूर्ण समाधान सम्बन्धी चार्टर की व्यवस्था स्वीकार हो।

यद्यपि विवादग्रस्त पक्षों का दायित्व है कि वे विवादों के समाधान किसी भी शांतिपूर्ण तरीके से करे किन्तु सुरक्षा परिषद् धारा 36 के अनुसार विवाद के किसी भी क्रम से समाधान हेतु कोई भी उपर्युक्त उपाय अथवा प्रक्रिया की सिफारिश कर सकती है। किन्तु सिफारिश करते समय उसे इस बात का ध्यान रखना होगा कि पक्षों ने किन-किन उपायों का पहले उपयोग किया है। परिषद् का दायित्व यह भी देखना है कि वैधानिक विवाद समाधान के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष भेजे जायें।

अगर विवाद के विभिन्न पक्ष शांतिपूर्ण तरीके से किसी हल पर पहुंचने में असमर्थ हो तो उनका कर्तव्य है कि वे विवाद को सुरक्षा परिषद् को सौंप दें। सुरक्षा परिषद् विवादग्रस्त पक्षकारों के अनुरोध पर विवाद के शांतिपूर्ण समाधान के उद्देश्य से सिफारिशें कर सकती है। यदि सुरक्षा परिषद् यह निश्चय करती है कि विवाद से अन्तर्राष्ट्रीय शांति के भंग होने का भय है तो वह स्वयं ऐसे निपटारे की व्यवस्था का सुझाव दे सकती है जो वह न्यायोचित समझे।

सम्बद्ध पक्षों के अभाव में अन्य पक्षों द्वारा भी परिषद् के समक्ष कोई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद को उठाने की व्यवस्था की गयी है। यह व्यवस्था एक विशेष उद्देश्य से की गई है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कोई राज्य किसी दूसरे राज्य को वैद्य सरकार को शक्ति-प्रयोग या अन्य तरीके से अपदस्थ करा देता है और उसके स्थान पर अपने मनोनुकूल कठपुतली सरकार को पदासीन करा देता है। कठपुतली

सरकार उसके पक्ष में ब्यान देने लगती है और अक्सर उसे भारी सुविधायें प्रदान करने लगती हैं। ऐसी स्थिति में सम्बद्ध पक्ष आक्रमण की कार्रवाही को परिषद् के सामने कैसे ला सकता है ? अतः चार्टर में यह व्यवस्था की गयी है कि कोई भी सदस्य राज्य ऐसे मामले को उठा सकता है। व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से यह व्यवस्था काफी उपयोगी है।

विवादों के शांतिपूर्ण समाधान से सम्बद्ध विभिन्न धाराओं पर गौर करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल एक स्थल पर सुरक्षा परिषद् द्वारा समझौता की शर्तों की सिफारिश का जिक्र है (धारा 39 (2) अन्यथा सुरक्षा परिषद् समझा-बुझाकर दोनों पक्षों को वार्ता या अन्य साधनों से विवाद के समाधान के लिये राजी करती है। वास्तव में यहां परिषद् का काम अनुशासनात्मक है जिसका अभिप्राय यह है कि इसकी अनुशांसा की अवहेलना की जा सकती है। परन्तु गुडरीव का विचार है कि अध्याय सात के अन्तर्गत परिषद् के बलशाली अधिकार को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि विवादग्रस्त पक्ष शांतिपूर्ण समाधान के लिये सुरक्षा परिषद् के सुझावों की अवहेलना नहीं करेंगे।

### आदेशात्मक कार्य (Enforcement Acti on)

चार्टर के अध्याय 7 में उन तरीकों का उल्लेख किया गया है जिनका सहारा सुरक्षा परिषद् उस स्थिति में ले सकती है जब झगड़ों का फैसला शांतिपूर्ण समझौते के तरीके से नहीं हो। इस अध्याय का शीर्षक है "शांति को खतरा, शांति का भंग और आक्रामक कार्रवाईयों के सम्बन्ध में कार्रवाही।" इसके अन्तर्गत परिषद् को दो तरीके की दंड-व्यवस्था लागू करने का अधिकार है : प्रथम, कूटनीतिक, आर्थिक एवं वित्तीय दंड-व्यवस्था, तथा द्वितीय, सैनिक दंड व्यवस्था। किन्तु कार्रवाई करने के पूर्व शांति-भंग का निधारेण आवश्यक है। धारा 59 अनुसार परिषद् इस बात का निर्णय करेगी कि कौन-सी चेष्टायें शांति को खतरों में डालने वाली, शांति भंग करने वाली और आक्रमण की चेष्टायें समझी जा सकती हैं। वही सिफारिश करेगी और तय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम करने अथवा फिर से परिस्थिति अधिक नहीं बिगड़ने पाये। इस उद्देश्य से वह विवाद के पक्षों को कतिपय आवश्यक अस्थायी उपायों का अनुकरण करने के लिये कह सकती है। ऐसे अस्थायी उपाय पक्षों के अधिकारों, दावों या स्थितियों को किसी प्रकार से प्रभावित नहीं करेंगे। यद्यपि इस धारा में अस्थायी उपायों का वर्णन नहीं है किन्तु उनके अन्तर्गत ये विषय आते हैं, युद्ध-विराम, युद्ध-क्षेत्रों या खास प्रदेशों से सेना की वापसी, खास क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सेना का रखा जाना तथा आक्रामक कार्रवाई को बन्द करना। पिछले वर्षों के अनुभव से यह सिद्ध होता है कि सुरक्षा परिषद् ने इस अधिकार का अनेक अवसरों पर प्रयोग किया है। 15 जुलाई 1948 को अरबी और इजराइल को युद्ध-विराम का आदेश इसका उदाहरण है। सन् 1956 के स्वेज-संघर्ष के दरम्यान ऐसे ही आदेश के फलस्वरूप ही इजरायल को मिस्र के अधिकृत क्षेत्र से अपनी सेनायें वापिस बुला लेनी पड़ी थी। सन् 1966 में अरब-इजराइल को युद्ध-विराम संघर्ष में इजरायल को अरबों के अधिकृत क्षेत्र से अपनी सेनाएं बुला लेने को कहा गया था। 21 दिसम्बर, 1971 को भारत और पाकिस्तान को युद्ध-विराम करने का आदेश दिया गया। अस्थायी उपायों का अनुकरण नहीं करने पर सुरक्षा परिषद् को अन्य कदम उठाने का अधिकार है। 2 अगस्त 1990 को जब इराक के कुवैत पर कब्जा कर लिया तो सुरक्षा परिषद् ने प्रस्ताव पारित कर इराक को कुवैत खाली कर देने का आदेश दिया।

अध्याय सात के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् किसी राज्य के विरुद्ध, जिसे वह अन्तर्राष्ट्रीय शांति भंग करने का दोषी मानती है अथवा जिसका व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिये आपत्तिजनक समझती है :-, (1) आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने, (2) उससे राजनयिक सम्बन्ध तोड़ने, (3) रेल, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो आदि संचार साधन काटने का आदेश दे सकती है। आर्थिक प्रतिबंध पहले आंशिक अर्थात् कुछ खास वस्तुओं के आयात-निर्यात सम्बन्धी होता है। सुरक्षा परिषद् अपने सदस्य-राज्यों को यह आदेश देती है कि वे आक्रामक देश से इन वस्तुओं का व्यापार नहीं करें। दक्षिण अफ्रीकी संघ तथा रोडेशिया के विरुद्ध सुरक्षा परिषद् ने आर्थिक अस्त्र का प्रयोग किया था। पर, ये दोनों प्रतिबन्ध पूर्णतया विफल रहे, क्योंकि प्रतिबन्ध को कड़ाई के साथ लागू नहीं किया जा सका। इस तरह की कार्रवाई तभी सफल हो सकती है, जब पूरी ईमानदारी तथा कड़ाई के साथ संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य-राज्य उन पर अमल करें। 2 अगस्त 1960 को कुवैत पर कब्जा करने के रूप में सुरक्षा परिषद् ने इराक के विरुद्ध आर्थिक और सैनिक प्रतिबन्ध लागू किया। आर्थिक प्रतिबन्ध के साथ-साथ कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ने तथा यातायात, संचार आदि की सुविधायें रोक देने का आदेश भी दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, अप्रैल 1992 में सुरक्षा परिषद् ने लीबिया के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का निर्णय लिया।

अगर सुरक्षा परिषद् समझे कि उपर्युक्त उपाय असंतोषप्रद है तो हवाई, सामुद्रिक या स्थल सेनाओं के माध्यम से कार्रवाई कर सकती है। इसकार्य के अन्तर्गत प्रदर्शन, नाकेबन्दी एवं सदस्य-राज्यों की स्थल, जल एवं वायु सेनाओं द्वारा कार्रवाई सम्मिलित है। सैनिक दंड के निर्णय में सुरक्षा परिषद् को पूरी स्वतंत्रता है। पिछले लगभग छह दशकों में फिर खाड़ी संकट के समय (1990-91) इराक के खिलाफ सैनिक कार्यवाही की गयी। एक बार कोरिया के संदर्भ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के झंडे के नीचे सैनिक कार्यवाही की गई

थी। शांति-स्थापना के लिए सुरक्षा परिषद् द्वारा सन् 1960 में कांगों तथा 1964 में साइप्रस में सेना भेजी गई किन्तु उसे सैनिक कार्रवाई नहीं कहा जा सकता।

सैनिक दण्ड-व्यवस्था के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को कार्यान्वयन किस तरह से हो, उसके लिये 43 से 47 तक की धाराओं में व्यवस्था है। धारा 43 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देने के लिये संघ के सब सदस्यों का यह कर्तव्य है कि सुरक्षा परिषद् के मांगने पर और विशेष समझौते अथवा समझौतों के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएं सहायता तथा सुविधायें जिनमें मांग-अधिकार सहयोग भी शामिल होंगे, मुहैया करेंगे। सेनाओं की संख्या, उनके प्रकार, उनकी तैयारी और स्थिति आदि के बारे में निश्चय समझौते या समझौते किये जायेंगे और इस प्रकार के समझौतों की बातचीत सुरक्षा परिषद् की प्रेरणा से जल्दी-से-जल्दी शुरु की जानी चाहिये। वे समझौते सुरक्षा परिषद् और सदस्यों के समुदाय के बीच में होंगे। इनका अनुसमर्थन सम्बद्ध राष्ट्रों द्वारा उनकी संवैधानिक प्रक्रियाओं के द्वारा ही होना आवश्यक है। इन उपबंधों के फलस्वरूप सामूहिक सुरक्षा की योजना तभी फलवती हो सकती है जब सामान्य या विशेष समझौते किये जायें। यद्यपि सदस्य राज्य सुरक्षा परिषद् के निर्णय को मानने के लिये वचनबद्ध है किन्तु समझौते के बिना सैनिक कार्यवाही में भाग नहीं ले सकते। अनुच्छेद 45 के अनुसार सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई के लिये अपनी राष्ट्रीय वायुसेना के दल जल्दी-से-जल्दी उपलब्ध करेंगे ताकि संयुक्त राष्ट्रसंघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। इन सैनिक दलों की संख्या, तैयारी आदि के बारे में निश्चय के लिये परिषद् को उसकी सैनिक स्टाफ समिति मदद देगी। यही परिषद् के अधीन सशस्त्र सेनाओं का संचालन करेगी।

सुरक्षा परिषद् के निर्णय को कार्यान्वित करने के लिये सदस्य-राष्ट्र एक-दूसरे का हाथ बटाएंगे। जब अपराधी राज्य के खिलाफ सुरक्षा परिषद् के द्वारा कोई आदेशात्मक कार्यवाही की जाये और इस कार्यवाही के कारण किसी अन्य राज्य को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़े तो उन कठिनाइयों को सुलझाने के लिये यह सुरक्षा परिषद् की सलाह ले सकता है।

धारा 51 में यह कहा गया है कि चार्टर में लिखित कोई भी बात राज्यों को व्यक्तिगत और सामूहिक स्वसुरक्षा के अधिकार से वंचित नहीं करेगी। इस प्रकार उनका व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मरक्षा का अधिकार ज्यों-का-त्यों रखा गया है जब तक कि सुरक्षा-परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को कायम रखने के लिये आवश्यक कदम न उठा लिया हो। आत्मरक्षा के लिये किसी राष्ट्र द्वारा उठाये गये कदम की सूचना सुरक्षा परिषद् को तुरन्त देनी चाहिये। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये सुरक्षा परिषद् के दायित्व पर उस कार्य का प्रभाव नहीं पड़ता। इसका तात्पर्य यह है कि सुरक्षा परिषद् कार्य करने का अधिकार अक्षुण्ण बना रहता है।

### क्षेत्रीय व्यवस्थाएं (Regional arrangements)

चार्टर के आठवें अध्याय में क्षेत्रीय प्रबन्ध की व्यवस्था बतलायी गई है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति और व्यवस्था के दृष्टिकोण से किसी क्षेत्र में क्षेत्रीय संस्थाओं की स्थापना की जा सकती है। लेकिन इन व्यवस्थाओं और संस्थाओं को उनके कार्य-कलापों को संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य और सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिये। यह आशा प्रकट की गयी है कि सदस्य-राष्ट्र सुरक्षा परिषद् का सहारा लेने के पहले इन क्षेत्रीय संस्थाओं के द्वारा स्थानीय झगड़ों को सुलझाने का प्रयत्न करेंगे। परिषद् भी स्थानीय विवादों के सुझाव के लिये क्षेत्रीय व्यवस्थाओं को प्रोत्साहित करेगी। परिषद् जब कभी उचित समझे तो क्षेत्रीय अभिकरणों और प्रबन्धों को किसी देशके विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए प्रयोग में ला सकती है। परन्तु क्षेत्रीय प्रबन्धों या अभिकरणों के अन्तर्गत जो कार्रवाही की जायेगी वह सुरक्षा परिषद् की अनुमति के बिना नहीं की जा सकेगी। अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के सम्बन्ध में क्षेत्रीय व्यवस्थाओं या संस्थाओं द्वारा उठाये गये किसी प्रकार के कदम की सूचना सुरक्षा परिषद् को हमेशा मिलनी चाहिये।

### अन्य कार्य (Other functions of the Security Council)

यह ठीक है कि चार्टर के द्वारा सुरक्षा परिषद् को शांति और सुरक्षा के क्षेत्र में प्राथमिक दायित्व सौंपा गया है किन्तु अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण क्षेत्रों में भी उसे कतिपय शक्तियों से विभूषित किया गया है जिनमें से अधिकांश का प्रयोग वह महासभा के साथ मिलकर करती है। प्लानों तथा रिन्त के अनुसार ये कार्य हैं-निर्वाचनात्मक (Elective), प्रेरणात्मक (Initiatory), और निरीक्षात्मक (Supervisory) निर्माताओं द्वारा परिषद् को ये कार्य इस दृष्टि से सौंपे गये हैं कि महाशक्तियां महत्वपूर्ण संगठनात्मक मामलों पर अपना कुछ नियंत्रण रख सके। सुरक्षा परिषद् के निर्वाचनात्मक कार्यों में महासचिव की नियुक्ति का कार्य महत्वपूर्ण है। धारा 97 यह व्यवस्था करती है कि महासचिव की नियुक्ति महासभा द्वारा सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर होगी। उस सिफारिश में सुरक्षा परिषद् के सभी स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है। इसका अभिप्राय यह है कि महासचिव के पद पर ऐसे व्यक्ति की ही नियुक्ति हो सकती है जो सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को मान्य हो। महासभा के साथ मिलकर सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है। संघ में नये सदस्यों के प्रवेध पर परिषद् का कठोर नियन्त्रण है। सुरक्षा परिषद्

की सिफारिश पर ही महासभा किसी राज्य के प्रवेश पर धारा 4 के अनुसार निर्णय ले सकती है। इस सिफारिश में सभी स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है। चार्टर के अन्तर्गत परिषद को एक और महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किया गया है। यह अधिकार सदस्यों के निलम्बन और निष्कासन से सम्बन्धित है। धारा 5 के अनुसार ऐसा सदस्य जिसके विरुद्ध दण्ड की कार्यवाही लागू की गई हो, महासभा द्वारा सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर सदस्यता के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों के प्रयोग में निलम्बित किया जा सकता है। धारा 6 के अनुसार ऐसा सदस्य जिसने लगातार चार्टर के सिद्धान्तों की अवहेलना की हो, महासभा के द्वारा सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर निष्कासित किया जा सकता है।

चार्टर की धारा 26 के अनुसार सुरक्षा परिषद को यह दायित्व सौंपा गया है कि वह सैनिक स्टाफ समिति की सहायता से शास्त्रों के नियमन की योजना बनाये तथा उसे सदस्य-राज्यों को प्रस्तुत करें। परन्तु इस क्षेत्र में परिषद का कार्य बहुत ही पीछे रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के प्राथमिक दायित्व के अनुसार परिषद को विशिष्ट प्रदेशों की निगरानी का अधिकार प्रदान किया गया है। धारा 83 के अनुसार सामरिक महत्व के क्षेत्रों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी कार्य जिसमें न्याय समझोते भी शामिल हैं, सुरक्षा परिषद द्वारा सम्पादित किये जायेंगे। इस कार्य के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद न्याय परिषद से यह मांग कर सकती है कि वह सामरिक न्यास क्षेत्रों में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक विषयों से सम्बन्ध सामान्य न्यास कामों का सम्पादन करें।

### सुरक्षा परिषद का मूल्यांकन (Evaluation of Security Council)

सुरक्षा परिषद के संगठन और कार्यों के अध्ययन के बाद यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि विश्व-संस्था के संस्थापकों ने इसे विश्व समुदाय की शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने का एक प्रभावी साधन बनाना चाहा था। इसलिये संघ के कार्यकारी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग के रूप में परिषद की रचना की गई तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने का मुख्य दायित्व परिषद पर ही डाला गया। यह विश्व-समुदाय के लिए एक सजग प्रहरी के रूप में काम कर सके, इसके लिये इसे आरक्षी दायित्व से सम्पन्न किया गया। दुनिया कि किसी भी कोने में होने वाला अन्तर्राज्य विवाद इसके सामने लाया जा सकता है। इसका सत्र कभी समाप्त नहीं होता। कोई भी अन्तर्राज्य विवाद युद्ध का रूप न ले ले और युद्ध हो जाने पर जल्द-से-जल्द इसे खत्म कराने हेतु उसे प्रभावी तथा व्यापक निरोधात्मक कार्रवाई करने के अधिकार दिये गये हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी प्रधान अंगों में सिर्फ इसे ही निर्णय लेने का अधिकार है। पर, मात्र अधिकार दे देने से ही कोई संस्था पूर्णतया प्रभावी नहीं हो सकती। यह बहुत कुछ उसके कार्यकरण पर निर्भर करता है। सुरक्षा परिषद के सम्बन्ध में भी यह बात पूर्णतया सत्य है। चार्टर के द्वारा उसे सारे अधिकारों से विभूषित किया गया है किन्तु व्यवहार में वह उन अधिकारों के प्रयोग में सक्षम नहीं हो पायी है। प्लानों तथा रिग्स के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी अंग तथा अभिकरण में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर नहीं है जितना सुरक्षा परिषद में। लगभग सभी राजनीतिज्ञ और नेता यह स्वीकार करते हैं कि सुरक्षा परिषद अपने निर्माताओं की आशायें पूरी नहीं कर सकी है। अब प्रश्न उठता है कि परिषद अपनी निर्धारित भूमिका के निर्वहन में शिथिल क्यों रही है? इस प्रश्न का उत्तर है, महाशक्तियों की आपसी फूट, उनके पारस्परिक शीतयुद्ध आदि। निषेधाधिकार का अत्यधिक प्रयोग, राजनीतिक कार्यों में विफलता, दंड-व्यवस्था की निष्क्रियता, निरस्त्रीकरण का अभाव आदि उस मौलिक दोष के लक्षण हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में सुरक्षा परिषद की भूमिका को निरूपित करने के लिये विगत वर्षों में उसके द्वारा सम्पन्न कार्यों पर गौर करना होगा। पिछले 39 वर्षों में बीसियों अन्तर्राज्य विवाद सुरक्षा परिषद के समक्ष लाये गये हैं। उनमें से कुछ तो परिषद की विभिन्न कार्यवाहियों के फलस्वरूप सुलझाए जा सके। सुरक्षा परिषद के प्रयास से ही इंडोनेशिया की समस्या का समाधान संभव हो सका। फिलिस्तीन-समस्या के प्रारम्भिक दिनों में भी सुरक्षा के विवादों में परिषद को कुछ सफलता मिली थी। कश्मीर में दो बार युद्ध-विराम लाने में, कांगो, साइप्रस तथा पश्चिम एशिया के विवादों में परिषद का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। अन्तर्राज्य विवादों के शांतिपूर्ण समाधान में परिषद का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह रहा है कि यह विवादग्रस्त पक्षों के परस्पर विरोधी एवं संकीर्ण हितों पर अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के विस्तृत संदर्भ में विचार करने का अवसर प्रदान करती है।

फिर भी इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि शांति और सुव्यवस्था के क्षेत्र में सुरक्षा परिषद की भूमिका उत्साहपूर्वक नहीं रही है। शक्ति-राजनीति के कारण अधिकांश मामलों में वह पंगु साबित हुई है। निषेधाधिकार उसे ज्यादातर गतिरोध की स्थिति में रखता है। पिछले पचास वर्षों में एक बार कोरिया के संदर्भ में सुरक्षा परिषद द्वारा सैनिक कार्रवाई की गयी या की जा सकी वह भी ऐसी विशेष परिस्थिति में जो संयुक्त राष्ट्र के संस्थापकों की इच्छा से सर्वथा भिन्न थी। उस समय सोवियत रूस की अनुपस्थिति के कारण ही परिषद सैनिक हस्तक्षेप का निर्णय ले सकी। फिर खाड़ी संकट के समय (1990-91) इराक के खिलाफ परिषद ने सैनिक कार्रवाई की। परन्तु अन्य मामलों में यह कोई कारगर कार्यवाही नहीं कर सकी। चेकोस्लोवाकिया के विवाद तथा बर्लिन की नाकेबन्दी के मामले में सोवियत संघ द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण वह कुछ भी नहीं कर सकी। उसी तरह हंगरी तथा स्वेज संकट के समय भी इसकी भूमिका बिल्कुल नगण्य रही। अगस्त 1968 में चेकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप के विरुद्ध

जब निन्दा प्रस्ताव पेश किया गया तो सोवियत संघ ने उसके विरुद्ध निषेधाधिकार का प्रयोग किया। परिणामस्वरूप निन्दा का प्रस्ताव भी पारित नहीं किया जा सका। सुरक्षा परिषद् के होते हुये भी पश्चिम एशिया में तनाव का वातावरण बना रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रेक्षकों के बावजूद युद्ध—विराम का उल्लंघन एक आम बात हो गई। सुरक्षा परिषद् द्वारा पारित प्रस्तावों को इजरायल ने खुले तौर पर अवहेलना की। 4 दिसम्बर, 1971 को बांगला देश के प्रश्न पर छिड़ने वाले भारत—पाकिस्तान युद्ध में भी सुरक्षा परिषद् का कीर्तिमान निन्दनीय ही कहा जा सकता है। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य इस अवसर पर अपने हितों और स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ सके। सोवियत संघ ने भारत का समर्थन करने के लिये युद्ध बंद करने का प्रयास कर वीटों का प्रयोग किया और उधर चीन तथा अमेरिका पाकिस्तान के समर्थन में लगे रहे। कुल मिलाकर यह प्रमाणित हो गया कि युद्ध रोकने अथवा होने देने में सुरक्षा परिषद् की क्षमता बहुत सीमित है। अपने लगभग 60 वर्षों के जीवन में संयुक्त राष्ट्रसंघ को प्रत्येक महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्यों में प्रायः विफलता का सामना करना पड़ा है।

अब प्रश्न उठता है कि सुरक्षा परिषद् की महान विफलता इस अल्पावधि में क्यों और कैसे हुई, इसका एक ही उत्तर है— सोवियत गुट और अमरीकी गुट का मतभेद। इसके साथ ही परिषद् को अनेक सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है। सर्वप्रथम, सुरक्षा परिषद् अपनी स्थायी तथा महान् शक्तियों के विरुद्ध कुछ भी कार्रवाई करने में असमर्थ है। न केवल स्थायी सदस्य वरन् उनके पिछलग्गू राज्यों के विरुद्ध भी कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती क्योंकि बड़े राष्ट्र अपने विशेषाधिकार के द्वारा उसे ऐसा करने से रोक देते हैं। वास्तव में जैसा कि निकोलास ने लिखा है कि सुरक्षा परिषद् की स्थापना अपने पांच स्थायी सदस्यों को बाध्य करने वाले अभिकरण के रूप में नहीं की गयी है। परिषद् इन स्थायी तथा महान् सदस्यों की कृति है। ये इसके हिमायती और महान संरक्षक हैं। अतः अपने महान् संरक्षकों के विरुद्ध आदेश देने की शक्ति उसके पास कैसे रहती?

द्वितीयतः सुरक्षा परिषद् का संगठन दोषपूर्ण है। इसके स्थायी सदस्यों का नामोल्लेख चार्टर में कर दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि वेसे महान् राज्य की महानता की श्रेणी से नीचे आ गये हों, वे हमेशा स्थायी सदस्य बने रहेंगे। यह व्यवस्था सुरक्षा परिषद् को प्रतिक्रियावादी संस्था बना देगी। अतः चार्टर में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिसके आधार पर मान्यता प्राप्त महान् शक्तियों की श्रेणी से नीचे आने वाले राज्यों को स्थायी सदस्यता से वंचित कर उसके स्थान पर जनसंख्या, औद्योगिक एवं सामरिक शक्ति के आधार पर जो देश महान् शक्तियों की श्रेणी में आवें, उन्हें स्थायी सदस्यता प्रदान की जाये। गिनी के विदेशमंत्री वी०बी० लंसाना ने महासभा के 18वें अधिवेशन में बोलते हुए कहा कि चार्टर में संशोधन करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि अफ्रीका को सुरक्षा परिषद् में एक स्थायी स्थान प्रदान किया जाये।

तृतीयतः, संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा—पत्र में सभी राज्यों की संप्रभु समानता का उद्घोष किया गया है। परन्तु सुरक्षा परिषद् में पांच राज्यों को निषेधाधिकार के रूप में विशेष दर्जा प्रदान किया गया है। अन्य राज्यों पर वे कार्रवाई कर सकते हैं, पर शेष सभी राज्य मिलकर भी निर्णय करें, तब भी उनमें से एक के विरुद्ध भी उंगली नहीं उठा सकते। उनकी सहमति के साथ ही उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती है। परन्तु कोई भी अपने विरुद्ध स्वयं ही कोई कार्रवाई करने की अनुमति कैसे देगा ? अतः सुरक्षा परिषद् के संगठन में संप्रभु समानता की बात कहाँ रही ?

चतुर्थतः सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों को मिली निषेधाधिकार की शक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा की जाने वाली सुरक्षा की कार्रवाई के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है। इसके कारण सुरक्षा परिषद् शांति और सुरक्षा की व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो गई है। जब कभी भी वे कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेने बैठती है, निषेधाधिकार के प्रयोग के द्वारा उसे ऐसा करने से रोका जाता है। इसके सामने अभी तक बीसियों विवाद आये हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश को सुलझाने में यह असफल रही है क्योंकि इसके स्थायी सदस्यों में से कोई—न—कोई निषेधाधिकार का प्रयोग कर देता है। फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् की प्रतिष्ठा में काफी हास हुआ है। आज स्थिति ऐसी है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के सिद्धान्त में विश्वास करने वाला कोई भी राज्य अपने को सुरक्षा परिषद् में नहीं ले जाना चाहता। सर होमी मोदी ने ठीक ही कहा था : “स्थायी सदस्यों के निषेधाधिकार ने सुरक्षा परिषद् के प्रभावी कार्यकरण को निर्बल बना दिया है।” पीटर स्टार्सबर्ग के शब्दों में, “सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार से सुरक्षा परिषद् को पंगु बना दिया है।”

परन्तु बहुत से लेखकों की राय में सुरक्षा परिषद् की असफलता का मुख्य कारण इसके स्थायी सदस्यों के बीच एकता का अभाव रहा है। युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जब शीत युद्ध का समावेश हुआ और दुनिया दो खेमों में बंट गई तब इनका असर सुरक्षा परिषद् पर भी पड़ना शुरु हुआ। यह भी दो भागों में विभाजित हो गई। इसका प्रभाव छोटे—बड़े विवादों पर पड़ा। फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् सौम्यीकरण का माध्यम न रहकर महान् शक्तियों के विभेदों को प्रकाश में लाने का साधन हो गई। यह सिर्फ ऐसे संघर्षों का निदान कर सकती है जो शीतयुद्ध से अलग हों। क्लॉड का विचार है कि सुरक्षा परिषद् केवल 'No mans land of the cold war' में ही सफल हो सकती है, वैसे विवादों में नहीं हो शक्ति गुटों के संघर्षों से सम्बन्ध हो।

पंचमः, संयुक्त राष्ट्रसंघ की दंड—व्यवस्था भी पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। महाशक्तियों की इच्छा के विरुद्ध न तो इसे लागू किया

जा सकता है और न उसे सफल ही बनाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, सदस्य-राज्यों के असहयोग के कारण रोडेशिया के विरुद्ध लगाया गया आर्थिक प्रतिबन्ध सफल नहीं हो सका। सैनिक प्रतिबन्ध की संभावना तो अब और भी क्षीण हो गई है। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् को सदस्य-राज्यों के असहयोग के साथ सैनिक दंड-व्यवस्था लागू करने के लिये समझौता करने का अधिकार दिया गया है। परन्तु सौवियत संघ एवं पाश्चात्य राज्यों के आपसी मतभेद के कारण सुरक्षा परिषद् एवं अन्य राज्यों के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। परिणामस्वरूप सुरक्षा परिषद् के लिये स्थायी या अस्थायी किसी भी तरह की सेना की व्यवस्था नहीं हो सकी है। षष्ठः, सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार के बार-बार प्रयोग होने से तथा वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य के परिप्रेक्ष्य पर परिषद् में उत्पन्न होने वाले गतिरोध के कारण सुरक्षा परिषद् की तुलना में महासभा के महत्व एवं प्रभाव में वृद्धि हुई है। 'शांति के लिये एकता प्रस्ताव' ने महासभा की स्थिति को सुरक्षा परिषद् से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। इस प्रस्ताव के अनुसार यदि कभी शांति के लिये संकट पैदा हो अथवा शांति भंग हो अथवा आक्रमण हो जाए और सुरक्षा परिषद् अपने स्थायी सदस्यों द्वारा निषेधाधिकार प्रयोग किये जाने के कारण कोई कार्रवाई नहीं कर सके तो महासभा उस विवाद को अपना संकटकालीन अधिवेशन बुला कर तुरन्त अपने हाथ में ले सकती है और स्थिति का मुकाबला करने के लिये सामूहिक कार्रवाई का सुझाव दे सकती है, जिसमें शांति भंग होने या आक्रमण की स्थिति में सशस्त्र सेना के उपयोग का सुझाव भी शामिल है। इस प्रस्ताव का व्यवहार करके सन् 1956 में परिषद् में गतिरोध उत्पन्न होने पर महासभा के द्वारा ही मध्यपूर्व के लिये सेना की व्यवस्था की गयी। सन् 1967 के जून में युद्ध के बाद पश्चिम एशिया की स्थिति पर विचार करने के लिये महासभा की आपातकालीन बैठक बुलाई गयी थी। सन् 1980 में अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप तथा उसी वर्ष जुलाई में फिलिस्तीन के प्रश्न पर विचार करने के लिए महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इस प्रकार सुरक्षा परिषद् की अकर्मण्यता से महासभा की शक्तियों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। सुरक्षा परिषद् की प्रतिष्ठा में कमी आने का एक अन्य कारण यह है कि संघ में एशियाई-अफ्रीकी राज्यों की संख्या में बड़ी तीव्रता से वृद्धि हुई है। ये राज्य महासभा के हिमायती तथा सुरक्षा परिषद् के विरोधी हैं। उनके प्रयास से भी परिषद् की कीमत पर महासभा के प्रभाव में वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त कारणों के चलते शांति और सुरक्षा के मामले में सुरक्षा परिषद् का कीर्तिमान बिल्कुल उत्साहवर्द्धक नहीं रहा है। कुछ मामलों में प्रभावशाली भूमिका अदा करते हुए भी कुल मिलाकर इसका इतिहास इसके निर्माताओं की आशा के अनुकूल नहीं रहा है। व्यवहार में यह महाशक्तियों के हाथों का खिलौना बनकर रह गयी है। अधिकांश मामलों में उसी नीति तथा कार्य-प्रणाली बहुरंगी, दुमुँही और शिथिल रही है। चाहे कश्मीर का प्रश्न हो या अरब इजरायल का, चाहे दक्षिण रोडेशिया का प्रश्न हो या हंगरी का, विगत वर्षों में यह किसी भी समस्या के स्थायी समाधान में सफल नहीं हुई है। प्रत्येक बड़े संघर्ष के बाद इसने मात्र युद्ध-विराम कराने की भूमिका ही निभायी है। जुड़वाँ बच्ची की तरह उलझी हुई वियतनाम की समस्या में तो यह उस भूमिका को भी नहीं निभा सकी। इसके रहते हुये अनेक अवसरों पर तो दुर्बल पक्ष को निम्नतम न्याय भी नहीं मिल सका है। पाकिस्तानी सैनिक तानाशाही की एड़ के नीचे कराहते हुए बांगला देश के मामले में परिषद् ने अपने जिस निष्क्रिय अभिनय का परिचय दिया वह अवश्य ही विश्व-संस्था के लिये घोर कलंक की बात रही है। किन्तु खाड़ी युद्ध में शक्तियों की एकता के कारण सुरक्षा परिषद् को आक्रामक इराक के विरुद्ध कार्रवाई करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। परिषद् के निर्णय के तहत इराक के विरुद्ध जो आर्थिक प्रतिबन्ध तथा सैनिक कार्रवाई की गई उससे इराक की रीढ़ टूट गई और उसे बाध्य होकर सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव को मानने के लिये बाध्य होना पड़ा। 12 अप्रैल 1991 की प्रातः 3.30 बजे इराक में औपचारिक स्थायी युद्ध विराम लागू हो गया और इसके साथ ही युद्ध समाप्त हो गया। इससे पूर्व संयुक्त राष्ट्रसंघ सुरक्षा परिषद् ने कुछ शर्तें रखी थी जिन्हें इराक ने बिना शर्त स्वीकार कर लिया। शर्तों में इराक से कहा गया कि वह समस्त जैविक परमाणु हथियारों व उसके भंडारों के बारे में सूचना देगा और संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में उन्हें नष्ट कर देगा। वह कुवैत को कभी भी हस्तगत नहीं करेगा। युद्ध-विराम की देख-रेख के लिये एक संयुक्त राष्ट्र इराक-कुवैत पर्यवेक्षक दल बनाया गया। इसमें लगभग 14,000 अधिकारी और सैनिक होंगे। यह सुरक्षा परिषद् की सफलता का बहुत बड़ा उदाहरण है। बाद में सोमालिया तथा बोस्निया के मामलों में सुरक्षा परिषद् को निगैय लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई है।

अतः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सुरक्षा परिषद् की असफलताओं में इसके संगठन या कार्य-प्रणाली का उतना दोष नहीं है जितना वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आचरणों के मानदण्डों, निहित स्वार्थों तथा शक्ति राजनीति का। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रत्येक विद्यार्थी इस तथ्य से भली भांति परिचित है कि युद्धोत्तर विश्व शक्तिपरस्त राज्यों के शीतयुद्ध के राजनीतिक अभिनय को एक दुर्बल द्रष्टा-सा देखता रहा है क्योंकि इसके अभिनेता बड़े राष्ट्र रहे हैं। इसके द्वारा किये गये प्रयासों पर शीतयुद्ध की छाया रही है। अर्थात् शांति और सुरक्षा के मामले में सुरक्षा परिषद् की असफलता का कारण शक्ति राजनीति रहा है, न कि उसका संगठनात्मक तथा संरचनात्मक दोष। यही कारण है कि शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद विशेषकर मई, 1990 के बाद सुरक्षा परिषद् की भूमिका में स्पष्ट बदलाव आया है। लिबिया, बोस्निया तथा सोमालिया के मामले में परिषद् द्वारा लिये गये निर्णय बदले हुए परिप्रेक्ष्य में सुरक्षा परिषद् के प्रथम शिखर को रेखांकित करते हैं। जनवरी, 1992 में सुरक्षा परिषद् के प्रथम शिखर सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन का उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र के लिये शीतयुद्धोत्तर कार्यक्रम का निर्धारण करना था। सम्मेलन में शामिल विश्व के नेताओं ने आक्रमण तथा शांति के भय का सामना करने के लिये सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था के प्रति जो प्रतिबद्धता दिखलाई, उससे सुरक्षा परिषद् को व्यापक भूमिका की संभावनायें हैं।



## संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण (The Specified Agencies of the U.N.O.)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर ने यह स्वीकार किया गया है कि संघ का मुख्य उत्तरदायित्व संसार में अमन कायम रखना है। अतः राष्ट्रों के बीच उत्पन्न राजनीतिक और राजनयिक विवादों को शांतिपूर्ण तरीकों से सुलझाना इसका सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य है। परन्तु इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र के कुछ गैर-राजनीतिक कार्य भी हैं जिनका उद्देश्य मानव के भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में सहयोग देना है। संघ के चार्टर में इन कार्यों को काफी महत्त्व प्रदान किया गया है। पामर एवं परकिन्स ने लिखा है कि "वे ऐसे कार्य हैं जो क्षेत्र, उपलब्धि तथा महत्त्व के दृष्टिकोण से संघ के राजनीतिक एवं सुरक्षात्मक कार्यों को आच्छादित कर लेते हैं।" इन कामों को संघ कई विशिष्ट अभिकरणों (Specialised Agencies) की सहायता से करता है। इस तरह की कई एजेन्सियां संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सम्बद्ध हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण वे संस्थायें हैं जिनकी स्थापना विभिन्न अन्तर्सरकारी समझौतों के द्वारा की गई है तथा जिनका आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक, शिक्षा-सम्बन्धी, स्वास्थ्य तथा सम्बन्धित क्षेत्रों में बहुत विस्तृत उत्तरदायित्व है। चार्टर की धारा 57 में कहा गया है कि "अन्तर्सरकारी समझौतों द्वारा स्थापित वे विभिन्न अभिकरण जो विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों से युक्त हैं और जिनकी परिभाषायें उनके मूल आलेख में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्य एवं सम्बद्धविषयों के अन्तर्गत की गई हैं, उनका सम्बन्ध संयुक्त राष्ट्र के साथ धारा 63 के प्रावधानों के अनुसार स्थापित किया जायेगा। संयुक्त राष्ट्र के साथ सम्बद्ध ऐसे अभिकरणों को विशिष्ट अभिकरण कहा जायेगा।" ऐसे अभिकरणों को संयुक्त राष्ट्रसंघ में सम्बन्धित करने के निमित्त समझौतों के विषयों में वार्ता एवं लिखा-पढ़ी आर्थिक व सामाजिक परिषद् की एक स्थायी समिति द्वारा की जाती है। इसके द्वारा किये गये समझौतों को आर्थिक-सामाजिक परिषद्, महासभा और सम्बन्धित अभिकरणों की शाखा-विशेष स्वीकार करती है। इन अभिकरणों के कार्यों में तालमेल बनाये रखना आर्थिक-सामाजिक परिषद् का कार्य है।

### स्थापना के उद्देश्य (Aims of their Establishment)

संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरणों की स्थापना राष्ट्रोत्तर मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने के लिये की गई है। ये अभिकरण विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं। इन संगठनों के विभिन्न राष्ट्र सदस्य होते हैं जो आपस में मिलकर पारस्परिक हित के कार्य करते हैं। इनके पीछे, डेविड मिट्रेनी के शब्दों में, दार्शनिक अथवा प्रकार्यात्मक आधार यह है कि इन गतिविधियों के द्वारा समस्त प्रशासन के अन्तर्गत सामान्य हित के कार्यों में लगे रहने के कारण धीरे-धीरे राष्ट्रों की सीमान्त रेखाएं सारहीन हो जायेगी और लोग राष्ट्रोत्तर दृष्टिकोण से सोचने-विचारने के अभ्यस्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय हित में कार्य करने लगेंगे। मिट्रेनी का तर्क यह है कि विश्व समाज का विकास विभिन्न राष्ट्रों की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के आधार पर ही हो सकती है। चूँकि विशिष्ट अभिकरण राष्ट्रीय सीमाओं का बिना विचार किये हुये कार्य करते हैं, अतः राष्ट्रोत्तर मूल्यों, हितों व कार्यों के विकास में सहायक है। गुड्सपीड ने विशिष्ट अभिकरणों की स्थापना के निम्नलिखित कारण बतलाये—

- (क) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के निर्माताओं का विचार था कि संघ के लिये इनके पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकना न तो उचित है, न सम्भव ही। यदि केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ को ही इन क्षेत्रों में पूर्ण दायित्व प्रदान किया जायेगा तो इसका संगठन काफी भारी-भरकम तथा पेचीदा हो जायेगा।
- (ख) आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों के अधिकांश कार्य तकनीकी स्वभाव के होते हैं। अतः यह आवश्यक समझा गया कि इन क्षेत्रों में कार्यों का सम्पादन संयुक्त राष्ट्र से छोटे विशिष्ट अभिकरणों को प्रदान किये जायें।
- (ग) विशिष्ट अभिकरणों के अधिकांश कार्य प्रशासकीय होते हैं। ऐसे कार्यों का सम्पादन कतिपय ऐसे अभिकरणों द्वारा भूतकाल में काफी सफलतापूर्ण किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ का नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

### विशिष्ट अभिकरणों की सामान्य विशेषतायें (General Features of Specialised Agencies)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण स्वतंत्र संगठन हैं। प्रत्येक अभिकरण की स्थापना पथक् अन्तर्सरकारी समझौते द्वारा की जाती है। वे अपने विभिन्न क्षेत्रों में निश्चित सीमाओं के स्वतन्त्र हैं। परन्तु बेन्जामिन ए० कोहन के अनुसार एक उच्चतर विश्व के निर्माण का सबका सामान्य उद्देश्य होने के कारण वे एक-दूसरे पर निर्भर हैं। इन विशिष्ट अभिकरणों के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं—

- (i) प्रत्येक विशिष्ट अभिकरण का अपना चार्टर अथवा संविधान होता है जो इसके कार्यों, दायित्वों, संगठन आदि का वर्णन करता है। प्रत्येक का अपना प्रधान कार्यालय और एक प्रबन्धकारी निकाय होता है। प्रत्येक अभिकरण का अपना बजट होता है। इस तरह प्रत्येक अभिकरण संयुक्त राष्ट्रसंघ से तथा अन्य अभिकरणों से भिन्न है।
- (ii) प्रत्येक विशिष्ट अभिकरण के वैधानिक अस्तित्व अन्तर्सरकारी समझौतों का परिणाम है। यह एक ऐसा संगठन है जिसे राज्यों ने अपनी इच्छा से स्वीकार किया है। संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य सभी विशिष्ट अभिकरणों के सदस्य नहीं हैं। कुछ ऐसे राज्य हैं जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं किन्तु कुछ विशिष्ट अभिकरणों के सदस्य हैं।
- (iii) प्रत्येक विशिष्ट अभिकरण का लगभग सामान्य संगठन होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक विशिष्ट अभिकरण की एक असेम्बली अथवा कांफ्रेंस होती है जिसमें सभी सदस्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। प्रत्येक की अपनी कार्यकारिणी अथवा प्रबन्धकारिणी समिति होती है जो प्रबन्धकारी तथा निरीक्षात्मक कार्यों का सम्पादन करती है और प्रत्येक का अपना निदेशक अथवा महासचिव होता है जिसका कार्य संघ के महासचिव के समान है।
- (iv) प्रत्येक विशिष्ट अभिकरण विशिष्ट समझौतों द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध है। इस समझौते को अभिकरण के प्रबन्धकारी निकाय और संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा स्वीकार किया जाता है।
- (v) इस सम्बन्ध के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ अपनी आंशिक और सामाजिक परिषद् के द्वारा इन संगठनों की गतिविधियों की निरन्तर जांच करता है ताकि वे मिलकर सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित रूप से कार्य कर सकें।
- (vi) सामान्यतः विशिष्ट अभिकरण अपने कार्यों की योजना बनाते हैं और यह सुझाव देते हैं कि उनका सम्पादन किस प्रकार किया जाये। उन योजनाओं को कार्यान्वित करना सदस्य राज्यों पर निर्भर है।
- (vii) विशिष्ट अभिकरण व्यक्ति के दैनिक जीवन के कार्यों से विशिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। उनके कार्यक्रम प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक जीवन को प्रभावित करते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य व्यक्ति के जीवन को उतना प्रभावित नहीं करते।

सभी विशिष्ट अभिकरणों में कुछ सामान्य विशेषतायें पायी जाती हैं परन्तु अपने स्वभाव और कार्यों के आधार पर उनमें कुछ अन्तर भी पाये जाते हैं। यहां हम कुछ विशिष्ट अभिकरणों के संगठन और कार्यों पर प्रकाश डालेंगे।

## अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संगठन (International Labour Organisation - ILO)

### स्थापना (Establishment)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों में सबसे पुराना तथा अति महत्वपूर्ण है। इसका कार्य-क्षेत्र अन्य अभिकरणों की तुलना में अधिक व्यापक है। इसकी स्थापना प्रथम विश्वयुद्ध के बाद 11 अप्रैल, 1919 को वर्साय-संधि के भाग 13 के अनुसार मजदूरों के हित-साधन के लिये की गयी थी। यद्यपि इस संगठन की स्थापना एक स्वतंत्र संस्था के रूप में की गयी थी किन्तु राष्ट्रसंघ के साथ इसके अनेक प्रत्यक्ष तथा प्रच्छन्न सम्बन्ध थे। संस्थापकों ने ये विधान किया था कि संगठन का मुख्यालय राष्ट्रसंघ के मुख्यालय में ही होगा तथा उसकी स्थापना राष्ट्रसंघ के एक अंग के रूप में होगी। राष्ट्रसंघ का प्रत्येक सदस्य श्रम-संगठन का भी सदस्य होगा तथा उसका मुख्य काम राष्ट्रसंघ को संबद्ध कार्यक्षेत्र में सहयोग एवं निर्देशन का होगा। उसे अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का सहयोग और सहारा लेना अनिवार्य था। सबसे बड़ी बात यह थी कि उसका खर्च राष्ट्रसंघ के आम अधिकोष से पूरे किये जाते थे। श्रम कार्यालय का निदेशक राष्ट्रसंघ के महासचिव के प्रति संगठन व्यय के लिये जवाबदेह था। परन्तु राष्ट्रसंघ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के बावजूद यह संस्था अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये रही। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्यवर्ती काल में इस संस्था ने श्रमिकों के हित-साधन के लिये अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। युद्ध-काल में राष्ट्रसंघ की एकमात्र यही संस्था अपना मुख्यालय कनाडा ले जाकर कार्यशील रही। इसके सफल कार्यकारण को देखकर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ ने संस्थापकों के बिना किसी परिवर्तन के उसको संयुक्त राष्ट्रसंघ में अंगीभूत कर लिया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रथम विशिष्ट एजेंन्सी के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन 1946 में संविधान में बिना किसी संशोधन के नई विश्व-संस्था के साथ सम्बद्ध हो गया। इसके लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार इस संगठन के विश्व के देशों में श्रम एवं सामाजिक कार्य को करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक विशिष्ट अभिकरण बना।

### उद्देश्य एवं सिद्धान्त (Aims and Principles)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का मुख्य लक्ष्य श्रमिकों का कल्याण एवं हित-साधन है। इसके संविधान में जो 1919 में बनाया गया यह

स्पष्ट रूप से घोषित किया गया कि सार्वजनिक तथा स्थायी शांति केवल उसी दशा में स्थापित की जा सकती है जब यह सामाजिक न्याय पर आधारित हो और श्रमिकों को सामाजिक न्यास तभी प्राप्त हो सकता है जब वे दूसरे लोगों के समान ही आर्थिक कल्याण और उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों। वास्तव में यह संगठन इस उद्देश्य को लेकर चला है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा श्रमिकों की दशा उन्नत की जाये, उनकी आर्थिक स्थिति में स्थिरता लायी जाये और सामाजिक क्षेत्र में उनके स्तर को उन्नत बनाया जाये। सन् 1944 में फिलाडेल्फिया में श्रम-संगठन की एक बैठक हुई और उसमें संगठन की ओर से एक घोषणा निकाली गई। इस घोषणा में श्रम-संगठन के उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया। इस घोषणा के अनुसार संगठन के निम्नलिखित सिद्धान्त बतलाये गये :-

- (क) श्रम वस्तु नहीं है;
- (ख) किसी एक स्थान की दरिद्रता सभी स्थानों की समृद्धि के लिए खतरनाक है;
- (ग) अभिव्यक्ति अथवा संघ-निर्माण की स्वतंत्रता स्थायी उन्नति के लिए परमावश्यक है;
- (घ) प्रत्येक देश को अभाव और दरिद्रता के विरुद्ध पूरे जोश के साथ पूरा करना चाहिये।

फिलाडेल्फिया घोषणा अंतर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के इतिहास की सर्वाधिक महत्व की घटना थी। उसके द्वारा संगठन के मूल अधिकारों एवं लक्ष्यों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया, केवल फिर से स्पष्ट रूप से उनकी पुष्टि की गई। इस घोषणा ने इस बात पर भी जोर दिया गया कि अंतर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय नीतियों का उद्देश्य ऐसी दशाओं को प्राप्त करना होना चाहिये जिनमें प्रत्येक मानव प्राणी की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा आर्थिक सुरक्षा तथा अवसर की अवस्थाओं में नैतिक सुख और विकास करने का समान अवसर प्राप्त हो। इस घोषणा के अनुसार श्रम-संगठन के निम्नलिखित कार्यक्रम किये गये :-

- (i) जीवन निर्वाह और पूर्ण रोजगार के लिये आवश्यक और पूरी मजदूरी मिले।
- (ii) मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा के लिये कार्यों का विस्तार हो।
- (iii) मजदूरों के लिये पर्याप्त भोजन एवं निवासगहों की व्यवस्था हो।
- (iv) मजदूरों को सामूहिक रूप से सौदा करने का अधिकार प्रदान किया जाये।
- (v) उन्हें अवसरों की पूरी समानता मिले।
- (vi) मजदूरों के वेतन, कार्य के घंटे तथा कार्य करने की अन्य अवस्थाओं के विषय में हितकर नीतियों का निर्णय हो।
- (vii) उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा की अच्छी व्यवस्था हो।
- (viii) उनके लिये शिशु-कल्याण और प्रसूति संरक्षण की व्यवस्था हो।
- (ix) उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिये प्रबन्धकों और मजदूरों में सहयोग स्थापित हो।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का मुख्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा मजदूरों की दशा को उन्नत करना, उनके जीवन-मान को ऊँचा उठाना तथा आर्थिक और सामाजिक स्थिरता को बढ़ावा देना है। आर्थिक विषमताओं से मुक्ति प्राप्त करने पर ही श्रमिकों का आर्थिक स्तर ऊँचा उठेगा, वे जीने योग्य जीवन बिता सकेंगे। जब आर्थिक सुख-समृद्धि का प्रसार होगा तो अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के प्रसार में सहयोग मिलेगा।

## संगठन (Organisation)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के तीन प्रमुख अंग हैं— (1) अंतर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन (International Conferences), (2) प्रशासकीय निकाय (Governing Body), (3) अंतर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय (International Labour Office)। संगठन का कार्य इन्हीं तीन अंगों द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

**अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन (International Labour Conference)**—यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का सत्ताधारी अंग है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के सभी सदस्य इसके प्रतिनिधि होते हैं। यह श्रम-संगठन का प्रतिनिधित्वात्मक अंग है। इसे संसार का औद्योगिक संसद कहा जा सकता है। प्रत्येक सदस्य-राज्य से इसमें प्रतिनिधि आते हैं। इनकी नियुक्ति सम्बन्धित सरकार द्वारा की जाती है किन्तु उसमें से सरकार के प्रतिनिधि होते हैं और एक मालिकों का तथा एक मजदूरों का प्रतिनिधि होता है। इसके अलावा प्रतिनिधि T-मण्डल में कुछ सलाहकार भी हुआ करते हैं। सरकारी प्रतिनिधियों में अधिकांशतः मंत्रमण्डल के सदस्य हुआ करते हैं जो अपने-अपने देश में श्रम से सम्बद्ध मामलों के प्रभारी होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन की बैठक वर्ष में एक बार अवश्य जेनेवा में होती है।

इस सम्मेलन का प्रमुख कार्य समझौतों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक मानदंडों का निर्धारण करना है। इसके अधिकांश निर्णय

समझौते तथा सिफारिशों को मानने के लिये बाध्य नहीं हैं। सम्मेलन में अंगीकृत समझौते को व्यवस्थापना के लिये अपनी सरकार के पास रखना प्रत्येक सदस्य-राज्य के प्रतिनिधि का प्रधान कर्तव्य है। सदस्य-राज्यों की सरकारें उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने के लिये स्वतंत्र हैं। इस प्रकार सम्मेलन के निर्णय केवल दिशानिर्देशन का कार्य करते हैं और सदस्य-राज्यों के लिये बंधनकारी नहीं होते। फिर भी, सदस्य-राज्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सिफारिशों के अनुरूप अपने देश में श्रम सम्बन्धी कानूनों का निर्माण करें। सदस्य-राज्य श्रम-संगठन का वार्षिक प्रतिवेदन भेजकर यह बतलाते हैं कि अभिसमयों के अनुरूप व्यवस्थापन करने के लिये उन्होंने क्या कदम उठाये हैं? यह सम्मेलन एक मंच का तो काम करता है जहां समय विश्व के महत्वपूर्ण सामाजिक एवं श्रम-सम्बन्धी प्रश्नों पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार किया जाता है। यह श्रम-संगठन का नीति-निर्धारण करने वाला निकाय है। प्रशासनिक निकाय के सदस्यों का निर्वाचन तथा संगठन के वार्षिक बजट को पारित करना इसके अन्य महत्वपूर्ण कार्य हैं।

**प्रशासनिक विकास (Governing Body)** – यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। यह श्रम-संगठन का प्रशासनिक निकाय है। लियोनार्ड के मतानुसार प्रशासनिक निकाय संगठन की कार्यकारिणी परिषद् के रूप में कार्य करता है। इसमें 48 सदस्य होते हैं। उनमें 24 सरकारों के, 12 मालिकों के तथा 12 श्रमिकों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रशासनिक निकाय अपना अध्यक्ष स्वयं चुनता है और अपनी बैठकों का समय निश्चित करता है। इसकी बैठक वर्ष में कई बार होती है। श्रम-कार्यालय के महानिदेशक की नियुक्ति इसी के द्वारा की जाती है। संघ के विभिन्न कार्यों में एकसूत्रता लाने का दायित्व इसी को दिया गया है। यह अन्तर्राष्ट्रीय आयोगों तथा समितियों एवं श्रम कार्यालयों के कार्यों की देख-देख करता है। यह सम्मेलन के लिये कार्यक्रम तैयार करता है, जांच पड़ताल करता है तथा समितियों के माध्यम से अध्ययन करता है।

**अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office)** – यह संगठन स्थायी सचिवालय है। इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में अवस्थित है और शाखायें न्यूयार्क तथा यूरोप एवं एशिया के अन्य देशों में फैली हुई हैं। इसका प्रभाव महानिदेशक होता है। जिसकी नियुक्ति प्रशासनिक मण्डल के द्वारा होती है। यह कार्यालय अनेक प्रकार के कार्यों का सम्पादन करता है जैसे, प्रशासकीय, सूचना प्रदान करने तथा शोध-सम्बन्धी कार्य आदि। यह कार्यालय तीन विभागों में बंटा हुआ है—राजकीय विभाग, गुप्तचर विभाग एवं अनुसंधान विभाग। राजनयिक विभाग विभिन्न राज्यों के साथ पत्र-व्यवहार करता है, गुप्तचर विभाग विश्व में श्रम की स्थिति के सम्बन्ध में सूचनायें एकत्रित करता है तथा एक अन्य विभाग श्रम समस्याओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जांच तथा अनुसंधान से सम्बद्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक जीवन तथा श्रमिकों की स्थिति से सम्बद्ध सभी विषयों के सम्बन्ध में सूचनायें एकत्रित करता है और आवश्यकता पड़ने पर सदस्य राज्यों को उनसे अवगत कराता है। यह मजदूरी के कार्य की शर्तों एवं आर्थिक परिस्थितियों के बारे में प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है।

इन मुख्य अंगों के अलावा एशिया, अफ्रीका, अमरीका तथा निकट एवं मध्य पूर्व के लिए चार क्षेत्रीय संगठनों के माध्यम से श्रम-संगठन विश्व-भर में विकेंद्रित आधार पर अपने कार्यों का सम्पादन करता है। लियोनार्ड के मतानुसार द्वितीय महायुद्ध के बाद क्षेत्रीय संगठन श्रम-संगठन के कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगा है। इन संगठनों के अलावा विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम-संगठन के तत्त्वावधान में कई अधीनस्थ संस्थाओं की स्थापना की गई है। प्रशासनिक निकाय द्वारा अपने कार्यों में सहायता के लिए समितियों की स्थापना की गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन समय-समय पर श्रम-समस्याओं पर विचार करने के लिये विशिष्ट टेक्नीकल बैठकों का आयोजन करता है। उदाहरणार्थ सन् 1969 में इसने जूता एवं चर्मोद्योग में श्रम-समस्याओं पर विचार करने के लिये इस तरह की बैठक का आयोजन किया था।

### अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के कार्य (Functions of the ILO)

श्रम-संगठन के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए यह बतलाया गया है कि इसका मुख्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा मजदूरों की दशा में सुधार लाना, उनके जीवन के मानदण्डों को ऊँचा उठाना तथा आर्थिक एवं समाजिक स्थिरता को बढ़ावा देना है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन अपनी स्थापना के समय से ही इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहा है। दोनों विश्वयुद्धों के बची के समय से इस संस्थान ने श्रमिक-कल्याण के लिये अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। इसी के प्रयास से अनेक समझौतों और सिफारिशों को स्वीकार किया गया। इन समझौतों और सिफारिशों में मजदूरों के कल्याण से सम्बद्ध ऐसे सिद्धांतों का समावेश होता था जो श्रम-कानूनों के निर्माण के लिए उपयोगी हो सकते थे। समझौते प्रायः ऐसे विस्तृत कानूनी प्रस्ताव होते थे, जिनके सम्बन्ध में प्रत्येक सदस्य-राज्य से यह आशा की जाती थी कि वह इसका अनुमोदन करेगा और इसके अनुसार कानून बनायेगा। सन् 1939 तक प्रतिवर्ष होने वाले सामान्य सम्मेलनों ने एक सौ तैंतीस सिफारिशें और समझौते पास किये जिसका सम्बन्ध मजदूरों के कल्याण सम्बन्धी विषयों से था। राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों की सरकारों ने अनेक समझौतों का अनुमोदन किया। इस प्रकार दोनों विश्वयुद्धों के बीच की अवधि ने

इस संस्था ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। यही कारण है कि राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध संस्थाओं में यह सबसे अधिक सफल संस्था थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण के रूप में भी इसके द्वारा अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। इसके महत्वपूर्ण कार्यों को निम्नलिखित ढंग से सूचीबद्ध किया जा सकता है।

- (i) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का मुख्य काम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संहिता का निर्माण करके तथा उसे विभिन्न सरकारों द्वारा स्वीकृत करा कर, श्रमिकों की सेवा-अवस्थाओं में तथा जीवन-स्तर में सर्वतोमुखी उन्नयन कराना है। इसके लिये यह समझौते और अनुशंसाएं प्रस्तुत करता है। समझौतों और सिफारिशों में जो सिद्धान्त निहित हैं वे सब सदस्य-राज्यों को मानने पड़ते हैं। इस संस्था के संविधान के अनुसार सदस्य-राज्यों को यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक वर्ष इस संस्था को बताये कि उसने इस समझौते को कार्यान्वित करने के लिए कौन-कौन से पग उठाये हैं। सिफारिशों के लिए अनुसमर्थन आवश्यक नहीं है। वे समझौतों की तरह प्रभावशाली नहीं हैं। समय-समय पर सदस्य राज्यों को यह भी बताना चाहिये कि उन्होंने सिफारिशों में दिये गये सिद्धान्तों को कहां तक अपनाया है तथा किन-किन समझौतों को स्वीकार करने में उन्हें कठिनाइयां हैं। अब तक संगठन 118 कन्वेंशन तथा 117 अनुशंसाएं प्रस्तुत कर चुका है। सब समझौतों और सिफारिशों का मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संहिता करते हैं। ये मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रश्नों से सम्बन्धित हैं—बेकारी और नौकरी, नौकरी की साधारण शर्तें, बच्चों और नवयुवकों को नौकरी की शर्तें, स्वस्थ परीक्षा, रात का काम इत्यादि, महिलाओं की नौकरी, व्यावसायिक स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, व्यावसायिक सम्बन्ध, श्रमिक निरीक्षण, समुद्रीयश्रमिक, प्रवजन, अंकशास्त्र व संगठन की स्वतन्त्रता आदि। इन समझौतों में अधिकांश इस समय लागू हैं और जेनेवा में इस संगठन के प्रधान कार्यालय में सन् 1970 तक लगभग 3700 अनुसमर्थन जमा किये जा चुके हैं। समझौतों और सिफारिशों में दिये गये सिद्धान्त सदस्य सरकारों की नीति का अवश्य प्रभावित करते हैं, यद्यपि बहुत-से समझौतों और सिफारिशों का सदस्य-राज्यों ने सरकारी रूप से स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार विश्व में श्रम-कानून तथा सामाजिक न्याय के विकास में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संहिता ने महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है।
- (ii) संगठन का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न सरकारों को निर्धारित कार्यक्रमों में तकनीकी सहयोग एवं सहायता प्रदान करना है। संगठन के लिए तकनीकी कार्य बिल्कुल नया नहीं है। दोनों महायुद्धों के बीच के समय में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संस्था ने बहुत देशों का तकनीकी सहायता प्रदान की। यह सहायता सलाहकारी शिष्टमण्डलों द्वारा दी गई। अब इस संस्था को इस प्रकार का काय। बहुत बढ़ गया है। इस कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय साम-संस्था क्षेत्रीय निकायों के सहयोग से कर रही है। इस कार्य के अंतर्गत संगठन ने विशेष सलाह दी है, शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की हैं, प्राविधिक सूचना प्रदान की है। छात्रवृत्ति दी है तथा परामर्श गोष्ठियां संगठित की हैं। इस संस्था ने व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं को स्थापित करने में विशेष रुचि दिखलाई है। पिछड़े हुए देशों में इस तरह की संस्थाओं की विशेष आवश्यकता है। विभिन्न धर्यों की पूर्ति के लिये बर्मा, चीन, इंडोनेशिया, थाईलैंड, पाकिस्तान, मिस्र, भारत, टर्की, हेटी, युगोस्लाविया आदि में प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये हैं। केवल 1962 के लगभग तीन करोड़ लागत डालर की पैतिस विशेष अधिकोष योजनाएँ संगठन को सुपुर्द कर दी गई थी। तकनीकी सहायता के संगठन के कार्य एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमरीका जैसे अल्पविकसित क्षेत्रों में विशेष रूप से परिचालित होते हैं। 1962 में केवल एशिया में लगभग एक-तिहाई लागत के कार्य सम्पादित किये जा रहे थे। इन दस वर्षों में संगठन के प्राविधिक सहायता कार्यों में काफी विस्तार हुआ है। सन् 1960 और 1970 के बीच की अवधि में संयुक्त राष्ट्रसंघ विकास-कार्यक्रम के अन्तर्गत श्रमसंगठन की 150 योजनाएं सुपुर्द की गयीं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्था ने श्रम-अवस्था, प्रशासन, सामाजिक सुरक्षा, सहकारिता के सम्बन्ध में भी योजनाएं तैयार की हैं। तकनीकी सहायता कार्यक्रम के प्रशासन के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्था ने लीमा, स्तम्बुल, बंगलौर और मैक्सिको शहर में क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित किये हैं।
- (iii) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य श्रम-सम्बन्धी समस्याओं के बारे में ज्ञान और सूचना एकत्रित करना है। यह संस्था इन सूचनाओं के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करती है और अपने प्रकाशन के रूप में इन्हें प्रकाशित करती है। वह विभिन्न भाषाओं में पत्रिका, श्रम कानून तथा परिनियमों, अध्ययन तथा तकनीकी कार्यों आदि के लिए एक प्रकाशनगृह का कार्य करती है। संगठन का यह कार्य काफी महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा प्रकाशित आंकड़ों से श्रमिकों की दशा की जानकारी प्राप्त करने में सदस्य-राज्यों को काफी सुविधा होती है। यह एक सूचना-केन्द्र का कार्य करती है और प्रत्येक वर्ष राष्ट्रीय प्रशासनों द्वारा पूछे गये हजारों-हजार प्रश्नों का उत्तर प्रदान करती है। यह संगठन निम्नलिखित आधुनिक समस्याओं पर अधिक बल दे रहा है। अणुशक्ति का औद्योगिक उपयोग, स्वयं संचालन (Automation) की सामाजिक और श्रमिक प्रतिक्रिया और श्रम प्रबन्धकर्ताओं के बीच सम्बन्ध आदि कुछ इस प्रकार की समस्याएँ हैं।
- (iv) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का परामर्शदात्री कार्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। मजदूरों की क्षमता बढ़ाने, उनके जीवन स्तर को

ऊँचा उठाने, बेकारी की समस्या को रोकने आदि विषयों के सम्बन्ध में यह सदस्य-राज्यों को लाभकारी तथा उपयोगी परामर्श देता है। इसके द्वारा पारित समझौते एवं सिफारिशें सदस्य-राज्य के लिए मार्गदर्शन कर कार्य करती है। यह संस्था समय-समय पर अमरीका, एशिया और यूरोप में अपनी क्षेत्रीय बैठकें करती है। विश्व के आठ मुख्य व्यवसायों के लिये त्रिपक्षीय समितियों की बैठकें भी इसी प्रकार होती हैं। निम्नलिखित विषयों पर भी समितियां स्थापित की गयी हैं : रोपस्थली, कृषि, सहकारिता, सामाजिक सुरक्षा, दुर्घटना की रोक, व्यावसायिक स्वास्थ्य, महिलाओं को नौकरी, अंकशास्त्र, स्थानीय मजदूर वर्ग। सदस्य-राज्यों की प्रार्थना पर इस संस्था ने जांच-आयोग स्थापित किये हैं। बलपूर्वक किये गये कार्यों और संगठन की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में जांच-पड़ताल करने के लिये भी समितियां स्थापित की गयी हैं। ये समितियां सम्बद्ध समस्याओं का अध्ययन करती हैं और उनके सम्बन्ध में अपना परामर्श और सुझाव देती हैं। विभिन्न सरकारों तथा उद्योगों ने इन सुझावों तथा सिफारिशों से लाभ उठाया है। सहकारिता, सामाजिक सुरक्षा, औद्योगिक सुरक्षा, स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के परामर्श काफी लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

- (v) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का ध्यान ग्रामीण विकास-कार्यक्रमों की ओर भी गया है। ग्रामीण क्षेत्रों में औसत आय तथा जीवन-स्तर उन्नयन करने के लिये कई व्यापक योजनायें बनायी गई हैं और उन पर काम हो रहा है। इनमें ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी दूर करने तथा सम्बद्ध विषयों पर अध्ययन, शोध एवं आंकड़े एकत्र करने के कार्य सम्मिलित हैं। इसके अनुरोध पर ही राष्ट्रीय सरकारों द्वारा पूर्ण रोजगार की नीति (Full Employment Policy) अपनायी गई है। सन् 1969 में अपनी 50 वीं वर्षगांठ के अवसर पर श्रम-संगठन ने विश्व रोजगार कार्यक्रम लागू किया। उद्योगों तथा छोटे व्यवसायों में उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिये भी श्रम-संगठन ने कार्य किया है।

### अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के कार्यों का मूल्यांकन (Evaluation of the Works of the ILO)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के कार्यों के विश्लेषण से यह पता चलता है कि इसके कार्य काफी महत्वपूर्ण तथा उपयोगी हैं। श्रमिक मानदंडों की स्थापना, अध्ययन एवं अनुसंधान तथा प्राविधिक सहायता के द्वारा विश्व-भर में करोड़ों मजदूरों के जीवन-स्तर तथा काम करने की दशाओं में सुधार लाने की दिशा में इस संस्था के कार्य काफी सराहनीय हैं। जेकब तथा अथर्टन ने कहा है : "यह पहली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जिसका निर्माण मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक मानदंडों की स्थापना करने के लिये किया है। और, इस संस्था ने इस कार्य को बड़े उत्साह एवं साहस से सम्पादित किया है।" अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्था के कार्य के कारण संसार में श्रमिक समस्याओं के सम्बन्ध में जागति उत्पन्न हो गई है तथा श्रमिक वर्ग की अवस्था को सुधारने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं। श्रमिक वर्ग के सम्बन्ध में कानून भी तेजी से बनाये जा रहे हैं राज्य ने श्रमिक वर्ग के प्रति अपने कर्तव्यों को स्वीकार किया है। एन०एन० कौल लिखते हैं "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्था के स्थापित होने के कारण समाजिक न्याय में अनिश्चित और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति नहीं रही है। इस संस्था ने विश्व-चेतना को जागृत कर दिया है। यह संस्था मानवजाति के जीवन और कार्यों की अवस्थाओं का निरीक्षण करने का स्थान बन गई है। इस संस्था के कार्यों की अवस्थाओं का निरीक्षण करने का स्थान बन गयी है। इस संस्था के कार्यों के फलस्वरूप श्रमिक समस्याओं के बारे में सरकारों का दृष्टिकोण ही बदल गया है। इस संस्था के संविधान ने उन शक्तियों को प्रोत्साहन दिया है जो श्रमिक-वर्ग की अवस्था को सुधारने में लगी हुई थीं। इसके कार्य से विरोधी आवाजें बन्द हो गयीं।" श्रम-संस्था के सम्पर्क में आकर भारत ने अधिक लाभ उठाया है। भारत की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम समझौतों का अनुसंधान आकर्षक नहीं है परन्तु कई ढंग से वह महत्वपूर्ण है। जिन समझौतों को भारत ने अनुसमर्थित नहीं किया है उनकी भावनाओं को उसने स्वीकार किया है। भारत सरकार द्वारा बनाये गये बहुत से कानूनों ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्था द्वारा बनाये गये समझौतों से प्रेरणा ली है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन संयुक्त राष्ट्र के विशिष्ट अभिकरणों में काफी उपयोगी साबित हुआ है।

अनेक अच्छाइयों के होते हुए श्रम-संगठन की अनेक आधारों पर आलोचना की गई है। सर्वप्रथम यह आरोप लगाया जाता है कि श्रम-संगठन एशियाई तथा अन्य अविकसित देशों की अपेक्षा पश्चिमी राष्ट्रों की ओर अधिक ध्यान देता रहा है। द्वितीयतः, कुछ लोगों का कहना है कि यह संस्था इतने अधिक समझौते और सिफारिशें तैयार करती जाती है कि राज्यों के लिये उन्हें स्वीकार करना और लागू करना संभव नहीं है। आलोचकों का यह भी कहना है कि संगठन द्वारा पारित समझौते तथा सिफारिशें काफी प्रभावशाली नहीं रहीं हैं। सदस्य-राज्यों द्वारा उनका अनुसमर्थन बहुत उत्साहपूर्वक नहीं रहा है। कुछ राज्य ऐसे भी हैं जिन्होंने एक का भी अनुसमर्थन नहीं किया है। इन आलोचनाओं में कुछ बल अवश्य है परन्तु ये पूर्ण सत्य का विवेचन नहीं करतीं। यह ठीक है कि प्रारम्भ में इस संस्था को स्थापित करने की प्रेरणा पश्चिम से मिली। प्रारम्भ में यह एक यूरोपीय संगठन ही था और यह यूरोप की आवश्यकताओं को ही पूरा करता था। परन्तु अब स्थिति बदल गई है। पिछले कुछ वर्षों में संयुक्त राष्ट्र में एशिया और अफ्रीका के बहुत अधिक सदस्य हो गये हैं। इस समय संयुक्त राष्ट्रसंघ के लगभग तीन-चौथाई सदस्य एशिया और अफ्रीका के हैं। इतनी

अधिक संख्या ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन को प्रभावित किया। सन् 1957 में डेविड ए० मोर्स ने कहा था : "संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य-संख्या बढ़ जाने के कारण इस संस्था की स्थिति में परिवर्तन हो गया है। दिसम्बर, 1939 में इस संस्था में 57 सदस्य थे। सन् 1948 में इसकी सदस्य-संख्या 151 थी। अधिकतर नये सदस्य एशिया और मध्यपूर्व के हैं। ये वे देश हैं जिन्होंने हाल ही में स्वतंत्रता प्राप्त की है। तथा प्रथम बार अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर आए हैं। इसलिए यह कहना कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्था एक यूरोपीय संगठन है, ठीक नहीं है। जहां तक संगठन द्वारा पारित किए गए समझौतों का राज्यों द्वारा समर्थन का अनुसमर्थन का सवाल है, राज्यों का दृष्टिकोण कुछ हद तक उत्साहवर्धक नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन समझौतों तथा सिफारिशों ने संसार में श्रमिक समस्याओं के सम्बन्ध में जागृति उत्पन्न की है। श्रमिक वर्ग के सम्बन्ध में तेजी से कानून बनाये जा रहे हैं तथा श्रमिक वर्ग की अवस्था को सुधारने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं। जेकब तथा अथर्टन ने स्वीकार किया है कि सदस्य-राज्यों में सुरक्षा अधिनियमों, खतरनाक उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों के सम्बन्ध में व्यवस्थाओं तथा इसी तरह की अन्य अनेक बातों में जो विकास हुए हैं, उनका पूरा श्रेय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन को प्राप्त है।" जॉन मैकमोहन के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन द्वारा विकसित किए गए विधायी तरीकों एवं उन्हें लागू करने वाले यह निश्चित रूप से किसी भी विशिष्ट अभिकरण से अधिक प्रगतिशील है।" अपने इन्हीं कामों के चलते इसे 1969 को नोबेल शांति पुरस्कार प्राप्त हुआ जो संयोग से इस संस्था की स्वर्ण जयन्ती भी थी।

निष्कर्ष में, अपनी स्थापना के बाद से श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने तथा उसके कार्य करने की दशाओं में सुधार लाने में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन की भूमिका काफी सराहनीय रही है। इसने वे स्तर निर्धारित कर दिये हैं जिनके द्वारा श्रमिक वर्ग की अवस्थाओं को सुधारा जा सकता है। जार्ज जी० गिरार्ड ने इसे एक नये ढंग की बहुपक्षीय कूटनीति बनाया है जो हमारे युग की महत्वपूर्ण विशेषता है। इस संस्था की श्रम संहिता दरिद्रताको दूर काने का मुख्य अस्त्र है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शीतयुद्ध ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के करीब-करीब सभी अंगों के कार्य-करण को प्रभावित किया लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन शीतयुद्ध से व्याप्त अंधकार में भी अपनी प्रभा से दीप्तिमान रहा। वी०वी० गिरी ने कहा है कि राष्ट्रसंघ असफल रहा लेकिन यह संस्था सफल रही है और अभी तक संसार में अच्छा कार्य कर रही है। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त इस संस्था के द्वारा एक नवीन युग का आरम्भ होता है। इस संस्था की 40वीं वर्षगांठ के अवसर पर आकाशवाणी से भाषण करते हुए भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने इस संस्था की प्रशंसा करते हुए कहा था, "संसार की जनता अब इस संस्था से लाभ उठा रही है। उन्होंने इस संस्था के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को श्रम की विश्व संसद कहा था।" उनके अनुसार "इस संस्था की मुख्य देन यह है कि इसने श्रमिक वर्ग की अवस्था में स्थायी सुधार कर दिया है तथा इसने सामाजिक न्याय के क्षेत्र को विकसित कर दिया है। इस संस्था की सफलता उन सब मनुष्यों की सफलता है जो अपनी शुभ-कामानाओं द्वारा मनुष्य मात्र की भलाई करना चाहते हैं।"

### संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक संगठन (UNESCO)

संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक संस्था जो यूनेस्को के नाम से विख्यात है, संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक विशिष्ट अभिकरण है। यह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सांस्कृतिक गतिविधियों की सर्वप्रमुख और प्रतिनिधि संस्था है। इसकी स्थापना का उद्देश्य शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति के माध्यम से राष्ट्रों के बीच परस्पर सहयोग के द्वारा शांति और सुरक्षा की स्थापना को प्रोत्साहन देना है।

#### स्थापना (Establishment)

इस संस्था की स्थापना 4 नवम्बर, 1946 ई० को हुई थी। परन्तु इसका अर्थ कदापि यह नहीं है कि इसके पूर्व इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच बिल्कुल खाली था। वैसे राष्ट्रसंघ की संविदा में बौद्धिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में सहयोग स्थापित करने के लिए कोई स्पष्ट विधान नहीं था, परन्तु सन् 1922 में असेम्बली तथा काँसिल के प्रस्ताव पर बौद्धिक सहयोग समिति की स्थापना की गई। इस समिति के तीन मुख्य उद्देश्य थे— (1) बुद्धिजीवियों की भौतिक स्थिति में सुधार, (2) दुनिया-भर के शिक्षकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, लेखकों तथा अन्य बुद्धिजीवियों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं सम्पर्क स्थापित करना एवं (3) बुद्धिजीवियों के सहयोग तथा सम्पर्क से विश्व-शांति का पक्ष मजबूत करना। कहना नहीं होगा कि ये तीनों उद्देश्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। कतिपय यूरोपीय देशों में इनकी कुछ परम्परा भी थी। फ्रांस में फ्रांसीसी बुद्धिजीवी संघ प्रभावी और शक्तिशाली संस्था थी। राष्ट्रसंघ के जीवन-काल में बौद्धिक समिति के द्वारा कई महत्वपूर्ण कार्य किये गये। उसकी उपलब्धियां देखकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में अखिल विश्व स्तर पर वैसी ही संस्था स्थापित करने की कल्पना की गयी।

नये विश्व-संगठन में यह महत्वपूर्ण कार्यभार संयुक्त राष्ट्रसंघ के शिक्षा-विज्ञान संस्कृति संगठन को सौंपा गया। इनकी स्थापना के लिये लन्दन में 1 नवम्बर से 16 नवम्बर, 1945 तक एक सम्मेलन हुआ। 44 राज्यों के शासनों ने सम्मेलन में अपने प्रतिनिधि भेजे। बड़े ही उत्साहपूर्ण वातावरण में सम्मेलन की कार्यवाहियां चलीं। विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के उपरांत इस संगठन का संविधान

बनाया गया। एक वर्ष बाद संविधान के स्वीकृत होने पर संगठन की स्थापना की विधिवत् घोषणा की गई। 4 नवम्बर, 1946 को यह संगठन अस्तित्व में आया। समझौते द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इस संगठन को अपने विशिष्ट अभिकरण के रूप में स्वीकार कर लिया।

### उद्देश्य एवं सिद्धान्त (Amis and Principles)

यूनेस्को के संविधान की प्रस्तावना और अनुच्छेद 1 में संगठन के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों का वर्णन है। प्रस्तावना का प्रथम वाक्य "युद्ध मनुष्य के दिमाग में पैदा होता है, इसलिये शांति को सुरक्षित रखने की आधारशिलाएं भी मनुष्य के दिमाग में बनायी जानी चाहिये।" शांति स्थापना का यह एक नया मार्ग है—एक नया सन्देश है। यह इस धारणा पर आधारित है कि जितना मनुष्य एक-दूसरे को अधिक समझेंगे, उतनी ही कम संभावना उनमें आपस में संघर्ष की होगी। यह समझना मूल है कि युद्ध केवल राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से चलते ही होता है। एक-दूसरे के जीवन एवं ढंग के सम्बन्ध में अज्ञान सामान्यतः मानव-मानव के बीच सन्देह और अविश्वास को जन्म देता है जो युद्ध का कारण होता है। जैसा कि यूनेस्को की प्रस्तावना में कहा गया है, "मानव जाति के समस्त इतिहास में एक-दूसरे के जीवन और ढंग के सम्बन्ध में अज्ञान सामान्यतः मानव-मानव के बीच सन्देह और अविश्वास को जन्म देता है और इन मतभेदों के परिणामस्वरूप ही युद्ध होते हैं।" अतः युद्ध को रोकने तथा स्थायी शांति की व्यवस्था करने के लिये मनुष्य के दिमाग को इस तरह से बदलना होगा जिससे युद्ध की संभावना सदा के लिये समाप्त हो जाये। इस हेतु राष्ट्रों के बीच केवल आर्थिक और राजनीतिक सहयोग ही स्थापित करना पर्याप्त नहीं है वरन् बौद्धिक सहयोग तथा सांस्कृतिक सहयोग भी आवश्यक है। प्रस्तावना इस तथ्य पर जोर देती है कि स्थायी शांति की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि वह मानव जाति की बौद्धिक और नैतिक ऐक्य भावना और दृढ़ता के आधार पर निर्मित की जाये। जिस शांति को प्राप्त करना यूनेस्को का मुख्य लक्ष्य है। उसके सम्बन्ध में प्रो० डी०वैरोडो कारनीरो (ब्राजील) कहते हैं : "यह सेनाओं की शांति नहीं है, न आर्थिक समझौतों की शांति है, यह मस्तिष्क और हृदय की शांति है।" यूनेस्को के संविधान के अनुच्छेद 1 में संस्था का उद्देश्य शांति और सुरक्षा की स्थापना में योगदान करना बतलाया गया है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के द्वारा राष्ट्रों में मेल-भाव स्थापित करना है। उसे उन बौद्धिक दशाओं में परिवर्तित करना है जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, शिक्षकों और लेखकों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों का विकास हो तथा सामान्य सभ्यता और संस्कृति की उन्नति में सहयोग हो। इस प्रकार यूनेस्को का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय शांति और मानव जाति का सामान्य कल्याण विकसित करने के लिये किया गया है, जिसके लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ है और जिसकी घोषणा उसका चार्टर करता है। मानव-जाति के सामान्य कल्याण का विकास करना अतना ही महत्वपूर्ण है जितना अन्तर्राष्ट्रीय शांति स्थापित करना। वास्तव में मानव-जाति के कल्याण से ही अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये मार्ग प्रशस्त होता है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में, "हमारी प्रस्तावना ठीक ही इस बात पर जोर देती है कि सच्ची शांति, मानव कल्याण के आधार पर ही निर्मित की जा सकती है। भूख ही मनुष्य को पाशविकता की ओर ले जाती है। शांति और संतोष परस्पर गुंथे हुए हैं।"

### संगठन (Composition)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य यूनेस्को के सदस्य होते हैं। वैसे जो राज्य संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं, वे भी यूनेस्को के सदस्य बन सकते हैं। यदि कार्यकारिणी-मंडल की सिफारिश पर यूनेस्को सामान्य सम्मेलन अपने उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करें। सन् 1951 में महासम्मेलन द्वारा स्वीकार किये गये संशोधन के अनुसार वे क्षेत्र या क्षेत्र समुदाय जो अपने परराष्ट्र सम्बन्धों को निर्धारित नहीं कर सकते, उत्तरदायी सत्ता की प्रार्थना पर यूनेस्को के सम्बद्ध सदस्य के रूप में प्रवेश पा सकते हैं। यूनेस्को अपने कार्यों का सम्पादन निम्नलिखित तीन प्रमुख अंगों के द्वारा करता है :- सामान्य सम्मेलन, कार्यकारिणी-मण्डल और सचिवालय।

(i) **सामान्य सम्मेलन (General Conference)**— यह यूनेस्को का प्रतिनिध्यात्मक अंग है। सभी सदस्य-राज्य सम्मेलन के सदस्य होते हैं। प्रत्येक राज्य के अधिक से अधिक पांच प्रतिनिधि होते हैं परन्तु एक ही वोट प्राप्त है। प्रतिनिधियों का चुनाव यदि राष्ट्रीय आयोग हो तो उसके परामर्श से या शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के परामर्श से किया जाता है। प्रति दूसरे वर्ष सम्मेलन के साधारण अधिवेशन होते हैं। सम्मेलन संगठन के लिये आम नीतियां निरूपित करता है, दो वर्षों के लिये बजट पारित तथा कार्यक्रम निर्धारित करता है। वह कार्यकारिणी के सदस्यों का निर्वाचन भी करता है। सम्मेलन के अधिवेशन संसार की महत्वपूर्ण शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं के पूर्ण विवेचन और विश्लेषण के लिये स्थल उपलब्ध करते हैं। मिस एलन विलकन्सिन ने ठीक ही कहा था कि सामान्य सम्मेलन समस्त संसार के मानसिक कार्यकर्ताओं की संसद' के रूप में कार्य करेगा।

(ii) **कार्यकारिणी मंडल (Executive Board)**— यह यूनेस्को का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। प्रारम्भ में इसमें 18 सदस्य होते थे। परन्तु संगठन के सदस्यों में वृद्धि के कारण कार्यकारिणी मंडल के सदस्यों में भी वृद्धि हुई है। इस समय मंडल में 45 सदस्य



हैं। इनका निर्वाचन सामान्य सम्मेलन करता है। प्रारम्भ में मंडल के सदस्य अपने व्यक्तिगत रूप में कार्य करते थे अपने शासनों के प्रतिनिधि के रूप में नहीं, वरन् कला, विज्ञान और ज्ञान की विविध शाखाओं के प्रतिनिधि के रूप में। सन् 1951 में संविधान में संशोधन किया गया, जिसके अनुसार मंडल के सदस्यों को व्यक्तिगत बुद्धिजीवियों के स्थान पर शासकीय प्रतिनिधियों का स्तर दिया गया। मंडल का मुख्य काम संगठन सामान्य सम्मेलन द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम को कार्यान्वित करना, सम्मेलन के लिये कार्य-सूची तैयार करना तथा संगठन के कार्यों का अधीक्षण करना है। इसके अधिकारों को देखकर ही मण्डल को 'संस्था का हृदय' कहा जाता है।

(iii) **सचिवालय (Secretariate)** – यूनेस्को का तीसरा अंग सचिवालय है। इसे विशेषज्ञों का आगार कहा जाता है। यूनेस्को के संविधान में यह कहा गया है कि 'सचिवालय में एक महानिदेशक एवं अन्य नियुक्त अधिकारी होंगे।' सचिवालय का मुख्यालय फ्रांस की राजधानी पेरिस में अवस्थित है। इसमें लगभग 1000 अन्तर्राष्ट्रीय सेवा-कर्मचारी काम करते हैं। महानिदेशक की नियुक्ति कार्यकारिणी मंडल की सिफारिश पर सामान्य सम्मेलन के द्वारा की जाती है। यह यूनेस्को का प्रमुख पदाधिकारी है। यह यूनेस्को के आये दिन के कार्रवाइयों को निर्देशित करता है। सचिवालय में छह विभाग हैं।

इन प्रमुख अंगों के अतिरिक्त यूनेस्को अपने कार्यों का सम्पादन राष्ट्रीय आयोगों, स्थायी प्रतिनिधि-मंडलों तथा ऐसी गैर-सरकारी संस्थाओं की सहायता से करता है जो शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के क्षेत्र में कार्यरत रहे हैं। विभिन्न राज्य-सरकारों के साथ संगठन का सम्पर्क प्रत्येक सदस्य-राज्य में राष्ट्रीय आयोग के माध्यम से बना रहता है। इन आयोगों के सदस्य सरकारी तथा गैर सरकारी संगठनों के प्रतिनिधि होते हैं। आयोग संगठन के कार्यों में योगदान प्रदान करता है।

### यूनेस्को के मुख्य कार्य तथा उपलब्धियां (Functions and Achievements of UNESCO)

यूनेस्को के कार्य-क्षेत्र विस्तृत और बहुमुखी है। तीन विषय-शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति-उसके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते हैं। संविधान में स्पष्ट रूप से उल्लेख करके एक चौथा विषय-जन-संचारण इसके क्षेत्र में सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार संगठन के कार्य विविध प्रकृति के हैं। इसके कार्यों की विधिवेत्ता को देखकर ही चार्ल्स एस० एशर ने विचार व्यक्त किया है कि यूनेस्को को संघ का विशिष्ट अभिकरण कहना गलत है। जरजी स्जैपिरो के मतानुसार "संयुक्त राष्ट्रसंघ की सभी विशिष्ट संस्थाओं में यूनेस्को सबसे कम विशिष्ट है। कारण यह है कि इसके कार्य शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के विविध और विस्तृत क्षेत्रों को आवत करते हैं।"

यूनेस्को के कार्यों का अध्ययन सुविधा के लिये निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :-

(i) **शिक्षा-सम्बन्धी कार्य** – यह यूनेस्को का प्रथम कार्य है। क्रिस्टाइन एम० असिकार के मतानुसार, "विज्ञान और संस्कृति को आच्छादित करते हुए शिक्षा इस संगठन के समस्त कार्यों के हृदय पर अवस्थित है।" शिक्षा के क्षेत्र में यूनेस्को तीन प्रकार के कार्यों का सम्पादन करता है-शिक्षा का विस्तार, शिक्षा की उन्नति तथा विश्व समुदाय में रहने की शिक्षा की व्यवस्था। निरक्षरता का उन्मूलन यूनेस्को के मुख्य कार्यों में एक है। दक्षिण एशिया तथा प्रशान्त महासागर क्षेत्र में 50 प्रतिशत से भी अधिक बच्चों को किसी प्रकार की शिक्षा नहीं मिलती। अतः यूनेस्को का कार्य अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना है। संगठन में एशिया के प्राथमिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु 1980 ई० तक प्रत्येक बच्चे के लिये शिक्षा-सुविधा प्रस्तुत करने का लक्ष्य स्वीकृत किया है। इसके लिये कई तरह के कार्यक्रम हाथ में लिये गये हैं-यथा क्षेत्रीय शिक्षा कार्यालयों की स्थापना, स्कूल प्रशासकों का प्रशिक्षण तथा विद्यालय-भवन निर्माण में नये आयाम की तलाश आदि। लेटिन अमेरिका शिक्षा के विस्तार के लिये यूनेस्को की प्रमुख योजना का विशेष प्रभाव पड़ा है। इसके परिणामस्वरूप प्राथमिक स्कूलों की संख्या में वृद्धि हुई और शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था हुई। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में यूनेस्को ने अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के विकास के दृष्टिकोण से इतिहास, भूगोल एवं विदेशी भाषाओं के शिक्षण में सुधार के प्रयत्न किये हैं।

स्कूलों से बाहर दी जाने वाली शिक्षा में यूनेस्को की बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सन् 1947 में इस संस्था ने इस कार्यक्रम को अपने हाथों में लिया ताकि संसार के लगभग 50% व्यक्तियों को, जिन्हें कभी स्कूल में पढ़ने का मौका नहीं मिला है, न्यूनतम स्तर पर बुनियादी शिक्षा दी जा सके। बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम इस धारणा पर आधारित है कि केवल अक्षर-ज्ञान करा देना ही पर्याप्त नहीं है। वयस्कों के लिए कुछ बुनियादी बातों का ज्ञान आवश्यक है, जैसे पीने के पानी को उबालना, पाखाना खोदना, ऊँचे उठे हुए रसोईघर बनाना, स्थानीय सामग्रियों से अच्छे घर बनाना, भोजन में सुधार करना आदि। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा का अभिप्राय सामुदायिक विकास की उस शिक्षा से है जो जनसामान्य को उनके स्वास्थ्य, भोजन और जीवन-स्तर को सुधारने के लिये दी जाती है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत निरक्षर जनता को न केवल साक्षर बनाने बल्कि उनके शारीरिक स्वास्थ्य, आहार एवं पोषण, कृषि, गह-विज्ञान आदि की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है। इस कार्य के लिए बुनियादी शिक्षा केन्द्र खोले गये हैं, जैसे

मैक्सिको में लेटिन अमरीका के लिए तथा इजिप्ट में अरब राज्यों के लिये। इन केन्द्रों में नवसाक्षरों को उपयुक्त पठन-सामग्री उपलब्ध कराने के लिये प्रयत्न किये गये हैं। व्यस्क शिक्षा से सम्बन्धित नयी विधियों और पद्धतियों के विषय में सूचनायें एकत्रित की गयी हैं और वितरित की है। राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर पर गोष्ठियां आयोजित करने और विशेषज्ञों को भेजकर यूनेस्को ने सरस्य-राज्यों और उपर्युक्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को व्यस्क शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम विकसित करने में सहायता पहुंचाई है।

यूनेस्को का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य शिक्षा के माध्यम से बालकों को विश्व समाज में रहने के लिये तैयार करना है। शिक्षा के रूप के सम्बन्ध में यूनेस्को की प्रारम्भिक योजना यह थी कि वह इस प्रकार की हो कि उससे अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास हो सके। सन् 1962 में इसके कार्यक्रम में 'विश्व नागरिता के लिए शिक्षा' (Education for World Citizenship) शब्द का प्रयोग किया गया। इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये इसने सदस्य राज्यों से आग्रह किया है कि वे अपने यहां के पाठ्य पुस्तकों से दूसरे देशों के प्रति पक्षपातपूर्ण सामग्री को निकाल दें तथा इस बात का प्रयत्न करें कि बच्चों के मस्तिष्क में दूसरों के प्रति घणा तथा मिथ्या राष्ट्रीय अभियान तथा पक्षपात की मनोवृत्ति जागृत न हो। इसी उद्देश्य हेतु स्कूलों के पाठ्यक्रम ने संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उसके विशिष्ट अभिकरणों एवं मानव-अधिकारों की घोषणा को शामिल करने का प्रयास किया गया है।

**(ii) सांस्कृतिक कार्य** – संगठन का एक मौलिक उद्देश्य है, अधिकारिक लोगों ने सांस्कृतिक चेतना जागृत करना। तकनीकी प्रगति एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों की होड़ में विश्व में लगे यूनेस्को का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वास्तव में साहित्य, कला, संगीत, नाटक और लोक परम्पराओं के रूप में व्यक्त सांस्कृतिक मूल्य एक बड़ी सीमा तक मानव के मस्तिष्क और आत्मा की वृद्धि कर सकते हैं। इसलिये यूनेस्को ने मानव जाति की सांस्कृतिक विरासत को कायम रखने के लिये प्रयत्न किये हैं। उसने अनेक प्रकार की कार्रवाइयों की हैं। उसने कला तथा साहित्य का ज्ञान प्रसार, मानविकी में शोध को प्रोत्साहन देने, सांस्कृतिक महत्व के अवशेषों तथा वस्तुओं के संरक्षण में हाथ बंटाय है और संग्रहालयों एवं पुस्तकालयों के विकासार्थ सहायता प्रदान की है। इसके तत्वावधान में संग्रहालयों को लोकप्रिय बनाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विचार किया गया है। सांस्कृतिक सम्पत्ति की सुरक्षा और पुनर्निर्माण के अध्ययन के लिये रोम में एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र खोला गया है। सार्वजनिक पुस्तकों के विकास को प्रेरणा देने के लिये यूनेस्को ने भारत-नाइजीरिया और कोलम्बिया में तीन सार्वजनिक पुस्तकालय योजनायें आरम्भ करने में सहायता पहुंचाई है। प्राचीन अवशेषों के संरक्षण के लिये संगठन ने एक अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन तैयार करके उसे लगभग पचास देशों से स्वीकृत कराया है।

इस क्षेत्र में संगठन का महत्वपूर्ण योगदान है-अन्तर्राष्ट्रीय थियेटर संस्थान, अन्तर्राष्ट्रीय संगीत परिषद, अन्तर्राष्ट्रीय मानविकी तथा दर्शन अध्ययन परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय समाज-विज्ञान और राजनीति-विज्ञान संघ आदि की स्थापना। इसके माध्यम से देश-विदेश के चिन्तन में तालमेल लाना संभव होगा।

यूनेस्को के सांस्कृतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत अनुसंधान, सभा-सम्मेलनों तथा विचार-गोष्ठियों के आयोजन होते हैं, और बहुमुखी साहित्य का प्रकाशन होता है। संग्रहालयों के लिये फ्रेंच और अंग्रेजी में 'म्यूजियम' नामक पत्रिका निकलती है। ग्रामीण क्षेत्रों में व्यस्क शिक्षा सम्बन्धी गोष्ठी का आयोजन किया जाता है। काल के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास होता है तथा यह राय दी जाती है कि सांस्कृतिक विषयों को शिक्षण कार्यक्रमों के अन्तर्गत कैसे लिया जाये। यूनेस्को नाटक, संगीत, दर्शन, म्यूजियम, पुस्तकालयों आदि के सांस्कृतिक क्षेत्रों में स्वेच्छित संगठनों को अनुदान तथा चलती फिरती कला-प्रदर्शनियों को प्रोत्साहन देता है।

पूर्व और पश्चिम के लोगों को एक-दूसरे के विषय में सीखने और अधिक अवसर देने के लिये यूनेस्को ने सन् 1956 में इस वर्ष के लिये 'पूर्वी-पश्चिमी सांस्कृतिक मूल्यों के परस्पर अवधारण सम्बन्धी प्रमुख योजना' प्रारम्भ की। इसके अन्तर्गत यूनेस्को ने इस सम्बन्ध में प्रयत्न किया है कि सूचना-सामग्री का प्रवाह दोनों तरफ हो अर्थात् पश्चिम से पूरब और पूरब से पश्चिम। इस उद्देश्य हेतु यूनेस्को ने पूरब और पश्चिम के समाज विज्ञानों के एवं मानवीय शास्त्रों के विशेषज्ञों की बैठकें आयोजित की हैं, छात्रवृत्तियाँ प्रदान की हैं, जिससे कि शिक्षक एवं शोध करने वाले विद्वान अन्य देशों की संस्कृतियों का अध्ययन कर सकें। बालकों के मस्तिष्क में अन्य राज्यों के सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति सम्मान की भावना विकसित करने के उद्देश्य से शालाओं के पाठ्यक्रम में सुधार करने का प्रयत्न किये हैं और पूर्व के साहित्यिक ग्रंथों का पश्चिम की भाषाओं में अनुवाद करने के कार्यक्रम को बढ़ावा दिया है। इस प्रकार यूनेस्को ने अपने कार्यों से उन बौद्धिक एवं सांस्कृतिक दीवारों को तोड़ने का प्रयास किया है जिन्होंने हमारी पृथ्वी को विभाजित कर रखा है।

**(iii) विज्ञान के क्षेत्र में कार्य** – यूनेस्को ने प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के विकास पर बड़ा ध्यान दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक सहयोग का बीज बोने के लिये यूनेस्को ने उपयुक्त भूमि तैयार की है। इसके लिये इसने वैज्ञानिकों के सभा-सम्मेलनों का आयोजन, वैज्ञानिक संगठनों की सहायता, अनुसंधान, प्रकाशन तथा वैज्ञानिक शिक्षा का कार्य किया है। यह विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों को वैज्ञानिक सूचनाओं के आदान-प्रदान तथा वैज्ञानिक खोजों को आगे बढ़ाने के लिये एक साथ मिलता है। वैज्ञानिक सूचनाओं के विस्तार में सहायता देने के लिये लैटिन अमरीका, मध्यपूर्व, दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा अफ्रीका में क्षेत्रीय विज्ञान सहयोग केन्द्र

स्थापित किया है। इन केन्द्रों में अनेकों विशेषज्ञ कार्य करते हैं जो एक-दूसरे को अपने-अपने देशों में वैज्ञानिक अनुसंधानों से अवगत कराते हैं। यूनेस्को ने ही अणु केन्द्रीय शोध की यूरोपीय परिषद् की स्थापना के विषय में पहल की थी और आज यह अपने क्षेत्र में विश्व की एक अग्रणी संस्था है। यूनेस्को का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य मरु प्रदेशों को उर्वर बनाने के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में किये जा रहे प्रयोगों में तारतम्य लाना है। संगठन ने तर प्रदेशों को निवास योग्य बनाने के प्रयास किये हैं तथा सामुद्रिक सम्पदा को भोजन तथा खाद के लिये उपयोग में लाने सम्बन्धी कार्यों को प्रोत्साहन दिया है।

सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में यूनेस्को ने शोध के विकास में सहायता पहुंचायी है। इस क्षेत्र में इसके प्रधान कार्य इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संघों का निर्माण और सहायता, विचार-गोष्ठियों का आयोजन, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पर साहित्य का प्रकाशन करना है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक-विज्ञान बुलेटिन का प्रकाशन करता है।

**(iv) विद्वानों का आदान-प्रदान एवं सामूहिक ज्ञान** – अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करने के लिये यूनेस्को सदस्य-राज्यों में व्यक्तियों के आदान-प्रदान के कार्यक्रम को प्रोत्साहित करता है। यह विद्वानों तथा शिक्षार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान की सुविधाएं उपलब्ध करता है। शिक्षकों एवं श्रमिक, युवा तथा महिला संघों के सदस्यों के आदान-प्रदान की आयोजना भी करता है। 'यूथ ट्रेवल ग्रांट स्कीम' (Youth Travel Grant Scheme) के अन्तर्गत शिक्षा-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम में भाग लेने वाले विद्यार्थियों के भ्रमण में होने वाले खर्च को संगठन के द्वारा पूरा किया जाता है। इस तरह व्यक्तियों के आदान-प्रदान के कार्यक्रम के अन्तर्गत विश्व दूरस्त देशों के वैज्ञानिकों और विद्वानों का आपस में सम्पर्क स्थापित हो जाता है।

यूनेस्को के महत्वपूर्ण कार्यक्रमों के अन्तर्गत सामूहिक ज्ञान-प्रचार का कार्य आता है। इस कार्य हेतु यूनेस्को ने प्रेस, रेडियो, फिल्म, टेलीविजन के विस्तार के लिये काफी प्रयत्न किये हैं। विदेशों में शोध तथा उच्चतर अध्ययन के लिये कहां कौन-से अवसर और सुविधायें प्राप्त हैं, इसकी जानकारी देने के लिये संगठन के तत्त्वाधान में कई तरह के सूची-ग्रन्थ प्रकाशित किये जाते हैं। संगठन ने अमरीका जैसे कठोर मुद्रा-क्षेत्रों से पुस्तकों तथा शिक्षण-सामग्री की खरीद में नरम मुद्रा क्षेत्रों के समक्ष डालरों के अभाव की कठिनाई को दूर करने के लिये लाखों डालर के कूपन जारी किये हैं जिनसे नरम मुद्रा वाले राज्य आवश्यक पुस्तकें, शिक्षण फिल्में तथा वैधानिक सामग्री खरीद सकते हैं। सूचनाओं और विचारों के मुक्त प्रवाह के मार्ग में हो बाधायें हैं, उनका निराकरण करने के लिये संगठन ने सदस्य-राज्यों के बीच दो अन्तर्राष्ट्रीय समझौते सम्पन्न कराये हैं। इन समझौतों के कारण कई राज्यों ने सूचना सामग्रियों को चुंगी-शुल्क से मुक्त कर दिया है और उनके आयात पर, जो मुद्रा-सम्बन्धी और प्रशासकीय प्रतिबन्ध है, उन्हें ढीला कर दिया है। नवोदित राष्ट्रों के लिये जो औद्योगिकीकरण के पथ पर बढ़ रहे हैं और जिनके यहां अपनी निजि संस्थाओं में उच्च तकनीकी प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं है, व्यक्ति विनिमय का संगठन का कार्य वरदान साबित है। जरजी स्जपिरो कहते हैं, "यूनेस्को के कार्यों में एक सबसे अधिक फलदायक कार्य विदेशी अध्ययन को बढ़ावा देना है।" यूनेस्को द्वारा प्रोत्साहित विभिन्न निनिमय योजनायें नये सम्बन्ध जोड़ने में उपयोगी रही है।

**(v) अन्य कार्य** – यूनेस्को ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के व्यापक सहायता कार्य में भाग लेता है। यह अपने विशेषज्ञों द्वारा सदस्य-राज्यों को उपयुक्त सहायता प्रदान करता है। यह अग्रगामी विकास योजनाओं (Pilot Projects) द्वारा किये गये अनुसंधानों के आधार पर विभिन्न देशों की जनता का जीवन-स्तर ऊँचा उठाता है। इसने संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा आदि में जनकल्याणकारी संस्थाओं द्वारा धन-संग्रह करके इनमें विभिन्न देशों के शरणार्थियों के पुनर्वास में बड़ी सहायता पहुंचाई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनेस्को के कार्य काफी महत्वपूर्ण तथा विश्वव्यापी हैं। अपने अधिकार एवं कार्य से सम्बद्ध क्षेत्रों में इसने सफलता हासिल की है। इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि शिक्षा के जगत में है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्य क्षेत्रों में इसकी उपलब्धि शिक्षा के जगत में है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्य क्षेत्रों में इसकी अवधि नगण्य है।

### मूल्यांकन (Evaluation)

यूनेस्को की स्थापना से लेकर अब तक इसने शिक्षा और संस्कृति को फैलाने और सुधार करने के काफी उल्लेखनीय कार्य किये हैं। इसके साथ यह भी मानना होगा कि इसकी गतिविधियों से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को भी बढ़ावा मिला है और इस प्रकार परोक्ष रूप में विश्व शांति का पक्ष भी मजबूत हुआ है। यदि इस संस्था में कुछ दुर्बलतायें न होती तो यह और अधिक प्रगति कर सकती थी। इस संस्था की प्रमुख दुर्बलतायें निम्नलिखित हैं :-

प्रथमतः, इस संस्था की दुर्बलता यह है कि इसके संविधान की प्रस्तावना में काफी उच्च आवश्यकताओं को स्थान दिया गया है। यह ठीक है कि उच्च तथा गरिमायुक्त घोषणाएं मनुष्य-मनुष्य की कल्पनाओं को आकृष्ट करती है किन्तु उनके पूर्ण न होने से निराशा और निरुत्साह का वातावरण उत्पन्न होता है। जब से यूनेस्को की स्थापना हुई है तभी से इसके द्वारा मनुष्यों के मस्तिष्क में शांति

का गढ़ निर्मित करने का प्रयास किया जाता रहा है। किन्तु क्या वे इतने शक्तिशाली हुये हैं कि शांति को भंग होने से बचा सके। हमारा अनुभव निषेधात्मक है। चार्ल्स पी० श्लेचर ने ठीक ही लिखा है “उन साधनों को निश्चित करना कठिन है और उन्हें लागू करना तो और भी कठिन है जिनके द्वारा मनुष्यों में मस्तिष्कों में शान्ति के सुरक्षा-गढ़ निर्मित किये जा सकें और यूनेस्को की सबसे बड़ी कठिनाई है। वास्तव में निरक्षता उन्मूलन कार्यक्रम के द्वारा यूनेस्को अपने उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि बहुत से युद्ध ऐसे लोगों के बीच हुए हैं जो सबसे अधिक साक्षर या सर्वाधिक शिक्षित रहे हैं।”

द्वितीयतः, कुछ लोग यूनेस्को की मूल धारणा पर ही आक्षेप करते हैं। यूनेस्को की यह मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव से प्रेरित शिक्षा और सांस्कृतिक आदान-प्रदान आदि सभी गतिविधियों द्वारा विभिन्न राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध बढ़ते हैं, इससे वे एक-दूसरे के निकट से समझने का अवसर पाते हैं और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समाज और शांति की स्थापना को प्रोत्साहन मिलता है। इस धारणा में यह मान्यता अन्तर्निहित है कि राष्ट्र एक-दूसरे को न जानने और शिक्षा एवं सांस्कृतिक स्तरों पर अलग-अलग कार्य करने के कारण युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु इतिहास से यह बात सिद्ध नहीं होती। फ्रांस और जर्मनी के लोग एक-दूसरे से सुपरिचित रहे हैं और फिर भी उनके बीच घोर रक्तपात से परिपूर्ण युद्ध हुए हैं। मॅथेन्थो का कथन है कि जानकारी और संघर्ष की अनिर्वार्यता के सम्बन्ध में विचार इतिहास की दुःखपूर्ण सच्चाई है। जितनी अधिक एक पक्ष को दूसरे पक्ष के बारे में उसकी स्थिति, चरित्र, नियत के बारे में जानकारी होती है उतने ही अधिक संघर्ष की अनिर्वार्यता बढ़ती ही जाती है।

तृतीयतः, यूनेस्को एक अनुशासनात्मक संस्था है। इसके कार्यक्रम सदस्य-राज्यों के अनुरोध पर तथा उनके सहयोग से चलाये जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश इस संस्था को अपने सदस्य-राज्यों की ओर से यथेष्ट सहयोग नहीं मिला है। बहूत से सदस्य-राज्यों ने यूनेस्को के कार्यक्रम में प्रभावपूर्ण ढंग से भाग नहीं लिया है। बहुतों ने तो संस्था के द्वारा भेजी गई प्रश्नावलियों के उत्तर भी नहीं दिये हैं। ऐसे राज्यों की संख्या भी कम है जिन्होंने यूनेस्को द्वारा तय किये गये समझौतों का अनुसमर्थन किया है। बहुधा कई सदस्य अपना आर्थिक अनुदान समय पर नहीं चुकाते। सदस्य-राज्यों के सहयोग के अभाव में यूनेस्को उन आदर्शों की प्राप्ति में पूर्णतया सफल नहीं हो पाता जिनके लिये इसका निर्माण हुआ है।

चतुर्थतः, यूनेस्को का कार्य-क्षेत्र काफी विशाल है लेकिन उसकी तुलना में उसका बजट ही कम रहा है। पर्याप्त आर्थिक स्रोतों के अभाव में यह संस्था अपने कार्यों के सम्पादन में काफी प्रभावपूर्ण नहीं हो पायी है। यूनेस्को के सामान्य सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन से ईरानी प्रतिनिधि डॉ० अली अकबर सियासी ने कहा था, “हमारे साधन सीमित हैं, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता परन्तु हमारे उद्देश्य सीमित नहीं हैं। ऐसा लगता है कि हम हाथियों को पक्षियों के पिंजरों में बन्द कर रहे हैं।”

पंचम, यूनेस्को की प्रगति में सबसे बड़ा अवरोधक शीतयुद्ध रहा। संसार के विरोधी गुटों में विभाजित होने से संस्था के कार्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। गरमागरम वाद-विवाद, शाब्दिक आक्रमण, दोषारोपण और प्रत्यारोपण जो संस्था के सामान्य सम्मेलन में सुनने को मिलते हैं, एक दुःखमय तथा निराशाजनक चित्र प्रस्तुत करते हैं। अतः यह संस्था तब तक प्रभावशाली नहीं बन सकती जब तक शीतयुद्ध के चिहनों से मुक्त न हो जाये। संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन ने यूनेस्को के कार्यों से असंतुष्ट होकर उससे नाता-रिश्ता तोड़ लिया। उनका आरोप रहा है कि यूनेस्को व्यापक राजनीतिकरण, हद से ज्यादा खर्च, बजट का घटिया प्रबन्ध, गलत कार्मिक नीति के लिये दोषी है। उनके अनुसार यह स्वतन्त्र समाज, स्वतन्त्र बाजार और स्वतन्त्र प्रेस के लक्ष्य से भटक गया है। उसने पश्चिम की व्यक्तिगत और आर्थिक स्वतन्त्रता की नीतियों का विरोध किया है जबकि सांविद्यत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों में राजनीतिक तथा वैयक्तिक अधिकारों के दमन की कभी आलोचना नहीं की है। उन्होंने अंशदान भी यूनेस्को को देना बन्द कर दिया जिसके चलते उसकी अर्थ-व्यवस्था से गहरा धक्का लगा है।

इन दुर्बलताओं के बावजूद यूनेस्को की उपलब्धियां उसकी असफलताओं की तुलना में काफी अधिक हैं। इसके कार्य तथा सफलतायें काफी उत्साहवर्धक हैं। जैसा कि एम० गेसकार्ट ने कहा है, “त्रुटियों और विषम परिस्थितियों के बावजूद यूनेस्को की सफलतायें प्रभावपूर्ण और उत्साहवर्द्धक हैं।” अपने कार्यकाल की छोटी सी अवधि ने राष्ट्रों, जनता तथा सभ्यता को एक-दूसरे के नजदीक लाने में भूतकाल के किसी भी संगठन की अपेक्षा यूनरिस्को ने अधिक मत्वपूर्ण तथा सराहनीय कार्य किया है। निबुर रेनहल्ड के अनुसार “यूनेस्को का इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि की कठिन प्रयोजनाओं के इतिहास में एक रोमांचकारी अध्याय है।” अतः आधुनिक पीढ़ी यूनेस्को को पाकर भाग्यशाली है। भय, लोभ, जातीय पक्षपात और सम्बन्धित दोषों से ग्रस्त संसार में यूनेस्को एक प्रभावपूर्ण प्रतिरोधक है। जैसा कि क्यूबा के डॉ० पैब्लो एफ० लेनिन ने कहा था, “एक अच्छे संसार के निर्माण हेतु युद्ध के भयानक किटाणुओं का नाश करने के लिये यूनेस्को अन्तर्राष्ट्रीय समाज में सज्जनकारी प्रयत्न और सकारात्मक कार्य का अभिकर्ता है, एकता के पथ को प्रदर्शित करने वाला है और मानवीय आत्मा में मानव-जाति की उच्च, आध्यात्मिक विरासत के प्रति नया विश्वास संचारित करने वाला है।”

## खाद्य और कृषि संगठन (Food and Agriculture Organisation)

खाद्य और कृषि संगठन की स्थापना मई 1943 में हुए होट स्प्रिंग्स वर्जिनिया में खाद्य कृषि सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के परिणामस्वरूप हुई। इस सम्मेलन का आयोजन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने किया था। सम्मेलन में 44 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। सम्मेलन द्वारा नियुक्त एक अन्तरिम आयोग ने एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के संविधान का प्रारूप तैयार किया। कुछ समय बाद बीस राष्ट्रों की स्वीकृति के साथ इस संस्था की स्थापना हुई। अक्टूबर, 1945 में इसके सम्मेलन का पहला सत्र हुआ। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के बाद स्थापित होने वाली यह पहली विशिष्ट एजेंसी थी।

### संगठन (Organisation)

इस संगठन के तीन प्रमुख अंग हैं—सामान्य सभा, कार्यकारिणी परिषद् तथा कार्यालय। सम्मेलन में हर सदस्य—राज्य का एक—एक प्रतिनिधि होता है। प्रति दो वर्ष में इसकी एक बैठक अवश्य होती है। सदस्यों में प्रत्येक का एक वोट होता है। यह सम्मेलन संगठन की नीति का निर्धारण करता है तथा बजट स्वीकार करता है। संगठन के अन्तर्गत एक 49 सदस्य वाली खाद्य परिषद् भी है। यह संगठन की कार्यकारिणी परिषद् है। इसके सदस्य सामान्य सम्मेलन द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। यह परिषद् विश्व की खाद्य व कृषि स्थिति पर विचार करती है और अपनी सिफारिशों को सदस्य—राज्यों के पास भेजती है। इस संगठन का संचिवालय भी है। इसका मुख्य पदाधिकारी एक डायरेक्टर जनरल होता है जो संगठन के सम्मेलन द्वारा चुना जाता है। इसके अन्तर्गत पांच तकनीकी खंड स्थापित किये गये हैं। ये खण्ड कृषि, वन, मत्स्यकी, पोषण और अर्थशास्त्र से सम्बन्धित हैं।

### उद्देश्य और कार्य (Aims and Functions)

इस संगठन के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य हैं : पौष्टिक खुराक की व्यवस्था, रहन—सहन के स्तर को ऊँचा करना, कृषि, जंगलात व मछली उद्योग की क्षमता को बढ़ाना, ग्रामीय लोगों की हालत को अच्छा करना व इन सब साधनों के जरिये उत्पादन का काम करने के लिये समस्त लोगों के अवसर व्यापक करना। इस संस्था का प्रधान कार्य खाद्य और कृषि सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन और अनुसंधान, विश्व में खाद्य—सामग्री तथा कृषि की परिस्थितियों का निरीक्षण, विभिन्न सरकारों को इस विषय में आंकड़े, अनुमान तथा भावी संभावनाओं को सूचनायें देना है। यह कृषि, वन सम्पदा और मछली पालन आदि के बारे में निम्नलिखित उद्देश्यों को पूरा करने के लिये उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय कार्य करने हेतु अपनी सिफारिशें देता है—(1) खाद्यान्नों, वन्य समिति तथा मछलियों का उत्पादन बढ़ाना, इनके विक्रय की व्यवस्था उन्नत करना, (2) जीवन—यापन और पोषण के स्तर को ऊँचा करना, (3) अपने कार्य—क्षेत्र में शिक्षक एवं प्रशासन का सुधार, (4) प्राकृतिक साधनों का संरक्षण, (5) भूमि धारण व्यवस्था की विभिन्न पद्धतियों में सुधार और कृषि के लिये शास्त्र प्रबन्ध करना। इस संगठन का यह भी कार्य है कि सदस्य—राज्यों को तकनीकी सहायता प्रदान करे तथा आवश्यकता पड़ने पर उनके क्षेत्र में विशेषज्ञ व अन्य मिशन भेजे। यदि कोई राष्ट्र इस संगठन का सदस्य बन जाता है तो इसे संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये रिपोर्ट एवं सूचना देनी पड़ती है।

### संगठन की सफलतायें (Achievements)

खाद्य और कृषि संगठन ने अपने क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता अर्जित की है। इसने राष्ट्रीय पोषण—सेवाओं की स्थापना व टिड्डी दल—विरोधी—अभियानों में सहायता पहुंचायी है। इसके द्वारा दुनिया की भूमि और पानी के मूल साधनों के विकास में योग दिया गया है। इसने भारत में चावल के अनुसंधान का एक केन्द्र स्थापित किया है। उत्तर प्रदेश में तराई के प्रदेश को कृषि योग्य बनाने में इसने बड़ी सहायता दी है। इंडोनेशिया में मछली और चावल के उत्पादन को इसने बहुत बढ़ाया है। इसने मवेशियों की बीमारियों की रोकथाम के लिये उपाय ढूँढ़े हैं। मंड की बीमारी को दूर करने और कुराकुल मंड व्यवसाय को प्रत्साहन देने के लिये इसके विशेषज्ञ भेजे गये। ब्रिटिश गायना में ऊसर भूमि को पशुओं के चारे के लिये उपयोगी बनाने के लिये विशेषज्ञ भेजे गये। अकाल के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने के लिये इसके विशेषज्ञ पाकिस्तान भेजे गये थे। इसके कारण थाईलैंड, हैटा में खेती की नई विधियों का प्रचार हुआ। यूनान, ग्वाटेमाला, फिलिपाइन्स द्वीप—समूह और थाईलैंड में इसने पोषण की समस्याओं का अध्ययन किया है, यूरोप और दक्षिण अमेरिका की इमारती लकड़ी का उत्पादन बढ़ाने में सहायता दी है, कृषि—समस्याओं पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया है। यह खाद्य और कृषि की प्रत्येक समस्या पर विभिन्न देशों की तकनीकी सहायता देता है तथा प्रतिवर्ष विश्व खाद्यान्नों का सर्वेक्षण कराता है। संगठन के इन कार्यों से सदस्य—राज्यों को काफी लाभ हुआ है।

आज विश्व के इन—गुने क्षेत्रों की जनता को छोड़कर सबके सम्मुख खाद्य संकट विकराल प्रश्न दानव—सा मुख बाये खड़ा है। खाद्य और कार्य संगठन इस समस्या को हल करने में सतत प्रयत्नशील हैं। राष्ट्रसंघ में इस प्रकार का कोई संगठन नहीं था।

## अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्था है। जुलाई 1944 के बुडल समझौते के अनुसार 44 राष्ट्रों ने इस कोष की स्थापना की। इसका प्रमुख लक्ष्य 1920 व 1930 के दशकों में हुई आर्थिक नीतियों में हुई गलतियों को सुधारना था क्योंकि प्रथम विश्व युद्ध के बाद बहुत से देशों ने पुरानी स्वर्ण प्रणाली को वापस लाने के लिये असफल प्रयास किये। 1950 की विश्वव्यापी मन्दी ने अधिकांश देशों को स्वर्ण मानक छोड़ने पर मजबूर कर दिया। इस स्थिति के परिणामस्वरूप देशों में अत्यधिक राष्ट्रवादी नीतियां अपनायी गईं जिनके अन्तर्गत लगभग प्रत्येक देश ने निर्यातों (Export) को बढ़ावा दिया व व्यापार प्रतिबन्ध व विनिमय नियन्त्रण लगाये। इजसके कारण विश्व व्यापार में और अधिक गिरावट आ गयी। जिसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक मन्दी और बढ़ गई। इन आर्थिक परिस्थितियों पर विचार विमर्श करने के लिये 44 राष्ट्र वेटन-वुडज में 1 जुलाई से 22 जुलाई, 1944 तक संयुक्त राष्ट्र मौद्रिक एवं वित्तीय सम्मेलन में सम्मिलित हुये। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) की स्थापना विश्व के देशों में आर्थिक व वित्तीय सहयोग को बढ़ाने के उद्देश्य से की गई। इसने 1 मार्च, 1947 से अपना कार्य करना प्रारम्भ किया। 1998 तक इसके सदस्य देशों की संख्या 189 हो गयी थी। अपने इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) विश्व स्तर पर महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

## अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य (Objectives of International Monetary Fund (IMF))

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष IMF के उद्देश्य व लक्ष्य इसके लिये किये गये समझौते के मूल नियमों के अन्तर्गत निश्चित किये गये थे। इन उद्देश्यों के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का संस्थागत ढांचा व कार्य प्रणाली तय की गयी है। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :-

1. इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य विकासशील व अविकसित देशों की अर्थव्यवस्था को मजबूत करना व विश्व को आर्थिक व वित्तीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करके आर्थिक सहयोग को बढ़ाना है।
2. इसका दूसरा उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाना तथा देशों की आर्थिक नीतियों की प्राथमिकताओं के उद्देश्यों को प्राप्त करना तथा सदस्य राज्यों के उत्पादक संसाधनों के विकास में योगदान देना है।
3. निविमय स्थिरता को बढ़ावा देना व सदस्य देशों में विनिमय प्रबन्ध बनाये रखना।
4. सदस्य देशों की चालू लेन-देन के सम्बन्ध में भुगतान की बहुदेशीय प्रणाली की स्थापना करने में सहायता करना।
5. सदस्यों को उचित संरक्षणों के अन्तर्गत कोष से संसाधन उपलब्ध कराकर उनमें विश्वास जगाना व उन्हें ऐसे अवसर प्रदान करना।

## अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का संगठनात्मक ढांचा (Organisational structure of International Monetary Fund)

इस संस्था के समझौते के नियमों के आधार पर व संशोधन के आधार पर परिवर्तन संगठित ढांचा इस प्रकार है। इसका एक (शासक मण्डल) बोर्ड ऑफ गवर्नर (Board of Governor) कार्यकारी मंडल, एक प्रबन्ध निदेशक, एक परिषद् और स्टाफ है जिसका मुख्य कार्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका के वाशिंगटन शहर में यह। शासक मंडल तथा अधिशासी मंडल द्वारा नियुक्त की गई तदर्थ एवं स्थायी समितियां हैं। शासक मण्डल द्वारा नियुक्त की गई एक अन्तरिम समिति भी है। शासक मंडल तथा अधिशासी मंडल इस संस्था के महत्वपूर्ण मामलों के सम्बन्ध में निर्णय लेने वाले अंग हैं। कोष के संगठनात्मक ढांचे में शासक मंडल सर्वोपरि होता है।

इस मंडल में प्रत्येक सदस्य द्वारा नियुक्त किया गया एक-एक गवर्नर और एक-एक एकान्तर गवर्नर (Alternative Governor) होता है। सामान्य तौर से सदस्य देश अपने वित्तमन्त्री का अथवा अपने केन्द्रीय बैंक के गवर्नर को अपनी ओर से अस कोष का गवर्नर नियुक्त कर देते हैं। एकान्तर गवर्नर बोर्ड की मीटिंगों में भाग ले सकता है परन्तु उसे केवल गवर्नर की अनुपस्थिति में ही मतदान का अधिकार है।

प्रत्येक वर्ष शासक मंडल की बैठक होती है, जिसमें कोष की पिछली बैठकों की सक्रियताओं के बारे में विवरण दिया जाता है। वार्षिक बैठकों में कोष की नीतियों के सम्बन्ध में निर्णय लिये जाते हैं। कोष के कोई पांच सदस्य, जिन्हें 25 प्रतिशत कुल मताधिकार प्राप्त हैं, कोष की विशेष मीटिंगें कर सकते हैं। व्यवहार में शासक मंडल के निर्णय लेने के अधिकांश अधिकार अधिशासी निदेशक मंडल (Board of Executive Director) को सौंप दिये गये हैं।

इस समय अधिशासी मंडल (Executive Board) के 21 सदस्य हैं। पांच अधिशासी निदेशक उन पांच सदस्यों द्वारा नियुक्त किये गये हैं जिनमें 'कोटे' अधिकतम है। कोष में अधिकतम चंदा देने वाले दो देशों में से एक होने पर सउदी अरेबिया ने छटा अधिशासी निदेशक नियुक्त किया है।

कोष का एक प्रबन्ध निदेशक (Managing Director) होता है जिसका निर्वाचन अधिशासी निदेशक करते हैं। यह प्रायः कोई राजनीतिज्ञ अथवा महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी होता है। अधिशासी बोर्ड कोष का सर्वाधिक शक्तिशाली अंग है और समझौते के नियमों द्वारा प्रश्न तथा शासक मंडल द्वारा प्रदत्त विशाल अधिकारों का प्रयोग करता है।

अन्तरिम समिति (Interim Committee) अक्टूबर 1974 में स्थापित की गई थी। इसका कार्य मौद्रिक प्रणाली से सम्बन्धित सुधारों के बारे में शासक मण्डल को परामर्श देना है। इस समय इसके 22 सदस्य हैं।

विकास समिति भी अक्टूबर 1974 में स्थापित की गयी थी तथा इसके भी 22 सदस्य हैं। यह शासक मंडल को विकासशील देशों को सभी पहलुओं से सम्बन्धित संसाधनों को स्थानान्तरण करने के लिये परामर्श देता है।

### कोष के कार्य (Functions of IMF)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक प्रमुख वित्तीय संस्था है जो अपनी स्थापना से आज तक समझौते में निश्चित किये गये उद्देश्यों व समय की आवश्यकताओं को विशेष तौर पर विश्व के बदलते स्वरूप की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अनेक महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

1. भुगतान शेष क्षेत्र में कोष को 'सदाचरण का अभिभावक' समझा जाता है। इसका प्रमुख लक्ष्य सदस्य देशों के प्रशुल्क (Tariff) और अन्य व्यापार प्रतिबन्ध घटाना है। सदस्य देशों की नीतियों की निगरानी करना कोष का प्रमुख कार्य है।
2. वित्तीय सहायता के साथ-साथ यह संस्था अपने सदस्यों को मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के सम्बन्ध में तकनीकी सलाह भी देता है। यह शोध व प्रकाशन का कार्य भी करता है।
3. यह अपने केन्द्रीय बैंकिंग सेवा विभाग, राजकोषीय मामलों के विभाग, सांख्यिकीय विभाग व IMF संस्थान के माध्यम से सदस्य राष्ट्रों के कर्मचारी वर्ग के लिये विभिन्न विषयों पर प्रशिक्षण पाठ्यक्रम भी चलाता है।
4. सदस्य देशों के साथ विनिमय दर समायोजन नीतियों की निगरानी करना।
5. नियमन तथा परामर्श सम्बन्धी कार्य करने के अतिरिक्त यह एक वित्तीय संस्था है। यह सदस्यों को सोना बेचकर अपना कोष बढ़ाता है। यह सरकारों, केन्द्रीय बैंकों तथा औद्योगिक देशों की निजी संस्थाओं में, तथा OPEC जैसे समूहों के देशों से उधार लेता है।
6. कोष अपने सदस्यों को अपने संसाधनों से उधार भी देता है।

### अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का मूल्यांकन (Evaluation of International Monetary Fund)

द्वितीय महायुद्ध के विखण्डित अर्थव्यवस्था को सुधारने व आर्थिक विकास की राज पर जाने में अन्य वित्तीय संस्थाओं के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विशेषतौर पर 1950 के बाद एशिया, अफ्रीका व लेटिन अमेरिका में नये स्वतन्त्र राष्ट्रों की पुनः आर्थिक निर्माण व अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को प्राप्त करने में यह संस्था प्रमुख भूमिका निभा रही है। यह संस्था न केवल औद्योगिक व तकनीकी क्षेत्र में एक वित्तीय संस्था के रूप में कार्य कर रही है, बल्कि मानवीय क्षेत्र में भी राष्ट्रों के साथ, देशों की राज्य सरकारों के साथ व अन्य के रूप में कार्य कर रही है, बल्कि मानवीय क्षेत्र में भी राष्ट्रों के साथ, देशों की राज्य सरकारों के साथ व अन्य गैर सरकारी संस्थाओं के साथ सहयोग कर रही है। इस सहयोग के बावजूद इस संस्था की भी कई आधारों पर आलोचना की जा रही है जो कुछ हद तक सही भी प्रतीत होती हैं। इसकी कुछ प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं –

1. वित्तीय सहायता देने की प्रक्रिया जटिल है।
2. कर्ज देने की शर्तें अनुचित हैं।
3. क्रिया विधि पक्षपातपूर्ण है।
4. इस संस्था के निर्णय लेने वाले प्रशासनिक ढांचे में कुछ महाशक्तियों का बोलबाला है।
5. इसकी कई शर्तें सीधे-सीधे राज्यों की राजनीतिक व आर्थिक प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप है।
6. इस संस्था के माध्यम से कई महाशक्तियां नव उपनिवेशवाद को जन्म देने व उनके विस्तार में लगी हैं।

इन आलोचनाओं के बावजूद हम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के महत्व को नकार नहीं सकते। यह वास्तव में एक उपयोगी मौद्रिक व वित्तीय संस्था है।

## विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organisation)

विश्वव्यापी पैमाने पर स्वास्थ्य की समस्या के समाधान के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत विश्व स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की गयी है, परन्तु इस संस्था की स्थापना के बहुत पहले से ही इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ काम किया जा रहा था। पेरिस में 1921 ई० में अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठन कार्यालय की स्थापना की गयी थी। इस कार्यालय के तत्वावधान में सदस्य राज्यों के स्वास्थ्य विभाग से सूचनायें प्राप्त करके उनका वितरण किया जाता था प्रतिवर्ष सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की बैठक बुलाई जाती थी। राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में इस संस्था को लेने तथा उसको विस्तृत करने का कार्यक्रम बनाया गया। परन्तु प्रारम्भ में कुछ कठिनाईयों के कारण ऐसा सम्भव नहीं हो सका। फिर भी एक स्वास्थ्य समिति की स्थापना की गयी। संक्रामक रोगों के प्रसार को रोकने के लिये इस समिति ने कई महत्वपूर्ण कार्य किये। फलस्वरूप सन् 1022 में राष्ट्रसंघ की असेम्बली ने समिति को स्थायी रूप में काम करने का अधिकार दे दिया। अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यालय के साथ सहयोग करके इस समिति ने कई तरह की योजनायें बनायीं और उन पर काम शुरु हुआ। धीरे-धीरे आर्थिक कठिनाईयों के बावजूद इसने एक स्वास्थ्य संगठन का रूप ले लिया। इसका कार्य-क्षेत्र और सदस्यता विश्व-व्यापक हो गयी। इस संगठन ने काफी उत्साह और दक्षता के साथ अपने कार्यों का सम्पादन किया। इसने राष्ट्रसंघ का प्रभाव ऐसे देशों तथा क्षेत्रों में फैला दिया, जहां उसका केवल नाम ही सुना गया था।

पुराने राष्ट्रसंघ के स्वास्थ्य संगठन का संयुक्त राष्ट्रसंघ के विश्व स्वास्थ्य संगठन के रूप में पुनर्जन्म हुआ है। इस संगठन की स्थापना की नींव 19 जून, 1946 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् द्वारा न्यूयार्क में आमन्त्रित एक सम्मेलन में पड़ी। स्वास्थ्य समस्याओं पर विचार करने के लिये आयोजित इस सम्मेलन ने 22 जुलाई, 1946 तक कार्य किया और इसी बीच उसने विश्व स्वास्थ्य संगठन के संविधान की रचना की। 67 देशों के प्रतिनिधियों ने इस संविधान रचना में भाग लिया। तदनुसार 7 अप्रैल, 1948 को इस संगठन की स्थापना हुई। यही कारण है कि 7 अप्रैल को समग्र विश्व में स्वास्थ्य दिवस के रूप में मनाया जाता है। आज इसकी सदस्य संख्या शताधिक हो गयी है।

### संगठन (Organisation)

विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक असेम्बली, कार्यपालिका बोर्ड, एक सचिवालय तथा दुनिया के विभिन्न भागों में उसके कार्यों का संचालन करने के लिये छः क्षेत्रीय समितियां हैं। असेम्बली इसकी सर्वोच्च संस्था है सड़में सभी सदस्य-राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं। इसका मुख्य कार्य नीति-निर्धारण करना है। असेम्बली को यह भी अधिकार है कि इस संगठन के ध्येयों की पूर्ति के लिये आवश्यक नियम बनाये। यह एक डायरेक्टर जनरल भ नियुक्त करती है और संगठन का बजट भी स्वीकार करती है। यह स्वास्थ्य सम्बन्धी सिफारिशों पर विचार करती है। सदस्य-राज्यों के अनुसमर्थन के लिये यह समझौते अथवा इकरारनामे पारित करती है। अट्टारह महीनों के भीतर उन पर कार्रवाई करना सदस्य राज्यों का कर्तव्य है।

इस संगठन का एक कार्यकारी निकाय है जिसे कार्यपालिका बोर्ड कहते हैं। इसमें 30 सदस्य होते हैं। इसके सदस्यों का चयन असेम्बली के द्वारा चिकित्सा आदि कार्यों में विशेष ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों में से किया जाता है। ये सदस्य भौगोलिक आधार पर मनोनीत किये जाते हैं। इस निकाय की वर्ष में बैठकें होती हैं, और इसके सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष है। यह संगठन की कार्यकारिणी के रूप में कार्य करता है। यह स्वास्थ्य सभा क्षरा दिये गये कार्यों का सम्पादन करता है तथा असेम्बली की बैठक के लिये कार्यावली तैयार करता है।

इस संगठन का एक सचिवालय भी है जिसका मुख्य अधिकारी डायरेक्टर जनरल होता है। यह संगठन का मुख्य तकनीकी तथा प्रशासकीय अधिकारी है। यह बजट तैयार करता है और सचिवालय के कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। सचिवालय में लगभग 2000 कर्मी तथा पदाधिकारी काम करते हैं। उसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है।

दुनिया के विभिन्न भागों में इसके कार्यों का संचालन करने के लिये छह क्षेत्रीय समितियां हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिये इसका क्षेत्रीय कार्यालय नई दिल्ली में है। चूँकि विश्व स्वास्थ्य संगठन का काम सहायता, सलाह व सहयोग देना है, एक सर्वोपरि राष्ट्रीय स्वास्थ्य प्रशासन की तरह काम करना नहीं, इसीलिये इसने प्रदेशीकरण के सिद्धान्तों को लागू किया है। इस संगठन द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में जो क्षेत्रीय संगठन और कार्यालय स्थापित किये गये हैं, उसी के द्वारा उसका अधिकांश कार्य चलाया जाता है। ये क्षेत्रीय संगठन विश्व स्वास्थ्य संगठन के अभिन्न अंग हैं। क्षेत्रीय संगठनों के अधिकारों एवं कर्तव्यों को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पड़ने वाले सदस्य-राज्यों की सलाह से स्वास्थ्य सभा निर्धारित करती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य विश्व स्वास्थ्य संगठन के सदस्य होते हैं। अन्य देश भी आवेदन-पत्र देकर विश्व स्वास्थ्य असेम्बली के समान्य बहुमत के समर्थन से सदस्य बन सकते हैं।



## उद्देश्य एवं कार्य (Aims and Functions)

विश्व स्वास्थ्य संगठन की प्रस्तावना में उसके उद्देश्यों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तावना में यह कहा गया है कि संगठन का उद्देश्य 'विश्व की जनता द्वारा स्वास्थ्य की उच्चतम संभव दशा' प्राप्त करना है। इसमें स्वास्थ्य का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि यह केवल बीमारी और दुर्बलता का अभाव नहीं है वरन् शारीरिक, मानसिक और सामाजिक दृष्टि से पूर्ण रूप से उत्तम रहने की दशा है। प्रस्तावना में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य का यह मौलिक अधिकार है कि उसे उच्चतम स्वास्थ्य स्तर की सुविधा मिलनी चाहिये। संसार की शांति और सुरक्षा के लिये आवश्यक है कि सब मनुष्यों के स्वास्थ्य का ध्यान रखा जाये। यदि किसी एक राज्य में स्वास्थ्य की सुरक्षा और प्रोत्साहन के लिए कोई पग उठाया जाता है तो वह संसार के सब मनुष्यों के लिये उपयोगी है। इस प्रकार इस संगठन के उद्देश्य काफी महान् हैं। अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये संगठन निम्न कार्यों को करता है—

- (i) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों को संचालित और समन्वित करने वाली संस्था के रूप में कार्य करना।
- (ii) स्वास्थ्य के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ, विशिष्ट अभिकरणों तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं में प्रभावशाली सहयोग स्थापित एवं कायम रखना।
- (iii) सरकारों के अनुरोध पर उनके स्वास्थ्य सेवाओं को शक्तिशाली बाने में सहायता प्रदान करना।
- (iv) स्वास्थ्य समस्या पद अन्तर्राष्ट्रीय प्रशिक्षण कार्यक्रमों और गोष्ठियों का आयोजन करना तथा घटनास्थल पर क्रियात्मक प्रदर्शन के लिये विशेषज्ञ टोलियों की व्यवस्था करना।
- (v) महामारियों तथा बीमारियों के उन्मूलन के कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करना।
- (vi) स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसंधान के कार्य को प्रोत्साहन देना।
- (vii) आवश्यकतानुसार अन्य विशेष अभिकरणों के साथ सहयोग करते हुये आकस्मिक चोटों को रोकने का यत्न करना।
- (viii) मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्य करना तथा लोगों के वातावरणीय स्वास्थ्य की एवं आहार, पोषण, सफाई, निवास—गह तथा काम करने की दशाओं को उन्नत करना।
- (ix) बीमारियों के अन्तर्राष्ट्रीय नामों और उनके निदान सम्बन्धी कार्यों में एकरूपता स्थापित करना।
- (x) मात—कल्याण एवं बाल—कल्याण के कार्यों को प्रोत्साहन देना।
- (xi) खाद्य पदार्थों, दवाओं तथा अन्य ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मानक निश्चित करना।
- (xii) स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रशासनात्मक और सामाजिक प्रविधियों का अध्ययन करना।
- (xiii) स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी व्यवसायों के लिये उच्चतर शिक्षा व प्रशिक्षण को प्रोत्साहन देना।
- (xiv) स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों पर जनमत के विकास में सहायता करना।

इस संगठन के कार्यों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—परामर्शदात्री सेवायें और तकनीकी सेवायें। परामर्शदात्री सेवाओं के अन्तर्गत संगठन के द्वारा अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं। इसने यूनान में मलेरिया निरोध के लिये बड़े पैमाने पर सहायता की और वहां इस बीमारी के उन्मूलन में संगठन को पर्याप्त सफलता मिली। सन् 1942 में यूनान में 20 लाख मनुष्य मलेरिया से पीड़ित थे। सन् 1950 में यह संख्या घटकर 50 हजार रह गई। विश्व स्तर पर क्षय रोग को रोकने के लिए इसके द्वारा अनेक कार्यक्रम चलाये गये हैं। एशिया, लेटिन अमेरिका तथा अफ्रीका में क्षय रोग केन्द्र और बी०सी०जी० प्रयोगशाला की स्थापना की गई। इसके तत्वावधान में 1951 से 1961 तक की अवधि में लगभग 41 देशों में 345 मिलियन लोगों की जांच की गई और 180 मिलियन लोगों को टीके लगाये गये। बीमारियों एवं महामारियों के निरोध के कार्यों को प्रोत्साहन तथा इस क्षेत्र की सरकारों को परामर्श देने में इस संगठन की प्रदर्शन टोलियों एवं व्यक्तिगत सलाहकारों ने कार्य किया है वे क्षेत्र हैं क्षय रोग, मलेरिया, मात और बाल सुरक्षा, पोषण और स्वच्छता इत्यादि। इसके अलावा यह संगठन विकसित छात्रवृत्ति कार्यक्रम में समन्वय लाता है जिसके अन्तर्गत एक देश क नागरिक दूसरे देश में जाकर अध्ययन करते हैं और उस अनुभव का प्रयोग अपने देश में आकर करते हैं।

इस संगठन की तकनीकी सेवाओं के अन्तर्गत टीके लगाने और औषधियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड निर्धारित किये जाते हैं। यह संगठन हैज, चेचक आदि संक्रामक रोगों की सूचना विश्व—भर में राष्ट्रों को देता है। संगठन की ओर से इस प्रकार की सूचना प्रायः रेडियों द्वारा प्रसारित की जाती है। संगठन द्वारा पणित कुछ वर्षों में इन्फ्लूएन्जा, पोलियो, मैलिटिस आदि रोगों पर विशेष शोध कार्य कराया जा रहा है। यह तकनीकी बुलेटिन तथा अन्य साहित्य छापकर संसार भर के देशों में वितरित करता है। प्राविधिक बारीकियों

से संगठन को सुसज्जित रखने के लिये और आधुनिकतम अनुसंधन खोजों के आधार पर कार्रवाइयों की सिफारिश करने के लिए संसार भर में इसने क्षय-रोग के निवारण के लिये प्रभूत मात्रा में बी०सी०जी० वैक्सीन दी है। इसने इथियोपिया की सरकार के लिये चिकित्सा प्रशिक्षण की विस्तृत योजना बनायी है, इटालियन बन्दरगाहों में स्वास्थ्य वृद्धि में सहायता दी है और बड़े पैमाने पर पैसिलीन, डी०डी०टी० आदि दवाइयों का विभिन्न देशों में वितरण किया है। अल्प विकसित और पिछड़े हुए देशों को आवश्यक औषधियां एवं डाक्टरों का बहुमूल्य सामान उपलब्ध कराया है तथा ऐसे देशों के सरकारी कार्यालयों के अफसरों व चिकित्सकों को सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी उच्च अध्ययन के लिये छात्रवृत्तियां प्रदान की हैं। यह अणुशक्ति उपयोग के स्वास्थ्यजनक पहलुओं से भी निकट का सम्पर्क स्थापित करता है।

### विश्व स्वास्थ्य संगठन के कार्यों की समीक्षा

#### (Critical Assessment of the Works of the World Health Organisation)

विश्वव्यापी पैमाने पर स्वास्थ्य की समस्या के समाधान हेतु तथा संसार को बीमारी से मुक्त करने के लिये विश्व स्वास्थ्य संगठन ने काफी सराहनीय कार्य किया है। यह बात सर्वविदित है कि मानव-स्वास्थ्य तथा बीमारियों की अनेकानेक ऐसी समस्यायें हैं जिन्हें विश्व-संस्था के तत्वावधान में ही सुलझाया जा सकता है। इसके लिये व्यापक तथा सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सबसे अधिक आवश्यकता है। इस उद्देश्य हेतु विश्व संस्था ने जो कार्य किये हैं, वे निश्चय ही प्रशंसनीय हैं। इस संस्था को दुनिया के कतिपय बीमारियों तथा महामारियों को रोकने में महत्वपूर्ण सफलता मिली है। मलेरिया, फाइलेरिया के उन्मूलन विश्व स्वास्थ्य संगठन की उल्लेखनीय उपलब्धियां हैं। संगठन ने इस क्षेत्र से सम्बद्ध देशों को बहुमूल्य सहायता प्रदान की है। विभिन्न क्षेत्रों में फैली महामारियों को रोकने के इसके कार्य भी प्रशंसनीय रहे हैं। उदाहरणार्थ, 1949 में मिस्र में विशूचिका तथा अफगानिस्तान में टाइफायड से असंख्य लोगों की रक्षा करने में संगठन को काफी सफलता मिली। संगठन ने विभिन्न राज्यरू-सरकारों को जनस्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य कार्यों तथा क्षेत्रों में भी उपयोगी सहायता प्रदान की है। जनस्वास्थ्य तथा औषधिविज्ञान सम्बन्धी आंकड़ा-संचयन एवं विश्लेषण करके संगठन सदस्य-राज्यों को लाभ पहुंचाता रहा है। इस प्रकार जैसा कि गुड्सपीड ने लिखा है कि स्वास्थ्य के क्षेत्र में विश्व संगठन की देन काफी विशिष्ट तथा उल्लेखनीय है।

फिर भी संगठन के कार्यों में अनेक बाधाएँ हैं। प्रथमतः, इसके कार्यों के अनुपात में इसका वित्तीय साधन अत्यधिक सीमित है। संगठन बजट-अनुदान के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से प्राप्त धनराशि को मिलाकर 5-6 करोड़ डॉलर सालाना खर्च करता है। परन्तु इस धनराशि से विश्व पैमाने पर स्वास्थ्य की समस्या का समाधान कर सकना किसी भी संस्था के लिए एक दुष्कर कार्य है। तात्पर्य यह है कि पर्याप्त धनराशि के अभाव में विश्व स्वास्थ्य संगठन अपने कार्यों का उचित ढंग से सम्पादन नहीं कर पाता।

द्वितीयतः, विश्व स्वास्थ्य संगठन के संविधान में दुनिया के विभिन्न भागों में उसके कार्यों का संचालन करने के लिये छह क्षेत्रीय समितियों की व्यवस्था है। अतः उनके कार्यों की बीच समन्वय स्थापित करना संगठन की सबसे बड़ी समस्या है। ऐसा देखा जाता है कि उचित समन्वय के अभाव में कभी-कभी कार्यों का दुहराव हो जाता है जिससे लाभ नहीं होता। तृतीयतः, अन्य संगठनों की भांति विश्व स्वास्थ्य संगठन भी राजनीति से पूर्णतया मुक्त नहीं है। चूँकि स्वास्थ्य की समस्या समान रूप से छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को प्रभावित करती है, अतः यह आवश्यक है कि स्वास्थ्य-सम्बन्धी संगठन की सदस्यता सर्वव्यापी हो। किन्तु ऐसा देखा गया है कि सिर्फ राजनीतिक कारणों के चलते कई राज्यों को इसकी सदस्यता से वंचित रखा गया अथवा कई राज्यों ने इसके कार्यों में भाग नहीं लिया। उदाहरणार्थ, मध्यपूर्व ने स्वास्थ्य संगठन का एक क्षेत्रीय कार्यालय का एक क्षेत्रीय कार्यालय खोलने तथा उसी में अरब राज्यों एवं इजराइल को एक साथ शामिल रखने का प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं हो सका। सदस्य-राज्यों के बीच राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक बातों में मतभेद होने के कारण बहुधा विश्व स्वास्थ्य संगठन के अन्तर्गत भी मतभेद देखा जाता है। इस प्रकार विश्व स्वास्थ्य संगठन अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से प्रथक रखने में असमर्थ रहा है। परन्तु इन त्रुटियों और विषम परिस्थितियों के बावजूद विश्व स्वास्थ्य संगठन की सफलतायें प्रभावपूर्ण और उत्साहवर्द्धक रही हैं। इस संस्था में कार्य के सम्बन्ध में ग्राहम बैकिल ने ठीक ही कहा है, "यह उल्लेखनीय है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन विश्व बीमारी संगठन नहीं है। कोई भी संगठन अपनी स्वयं की शक्ति से संसार के दो अरब मनुष्यों की स्वास्थ सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और विश्व स्वास्थ्य संगठन का यह ध्येय भी नहीं है। यह संगठन तो सब देशों को उस समय सहायता देता है जब वे स्वयं भी एक-दूसरे की सहायता करें। यह संगठन बीमारियों का ही अन्त करने का प्रयत्न नहीं करता परन्तु उसका ध्येय सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक भलाई को प्रोत्साहन देना है जिसके बिना अन्तर्राष्ट्रीय भलाई संभव नहीं है।"

## अन्तर्राष्ट्रीय बाल-आपातकालीन कोष (UNICEF)

बच्चों के स्वास्थ्य पर विशेष रूप से ध्यान देने के लिये संघ के अन्तर्गत साधारण सभा ने 11 सितम्बर 1946 को अन्तर्राष्ट्रीय बाल-आपातकालीन कोष की स्थापना की। यह संस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद् की देख-रेख में काम करती है। 1950 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने इसके कार्य को बढ़ाकर संसार भर में विशेषकर अविकसित देशों के बालकों की हर तरह की आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था की। 1958 में यह कोष स्थायी बना दिया गया। इन दिनों इसका कार्य संसार के प्रायः सभी देशों में हो रहा है। इसके द्वारा मलेरिया, यक्ष्मा आदि कठिन रोगों का निवारण, प्रसूतिका गहों एवं शिशु कल्याण केन्द्रों की स्थापना, घात-विद्या प्रशिक्षण, शिशु आहार की व्यवस्था, दुग्ध संरक्षण और वितरण आदि कार्य किये जाते हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़ आदि के समय यह विभाग प्रसूतिकायों एवं शिशुओं की अपेक्षित सहायता करता है।

इस संस्था की सहायता से भारत के विभिन्न स्थानों में अस्पतालों और स्कूलों में सौ से अधिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित हो चुके हैं जहाँ परिचायिकाओं को घात-विद्या की शिक्षा दी जाती है। मातमंगल एवं शिशु-कल्याण के लिए एक संस्था विशेष रूप से कार्य कर रही है। 1962 में संस्था के कार्यों का बहुत विस्तार किया गया।

## विशेष एजेंसियों के कार्यों का मूल्यांकन (Evaluation of the works of the Specialised Agencies)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के संस्थापकों ने शांति और सुव्यवस्था कायम रखने के अतिरिक्त विश्व समुदाय की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं को सुलझाने तथा विषमता दूर करने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं साधनों के सुनियोजन का भार भी उस पर रखा है। संघ के इस लक्ष्य की प्राप्ति में विशेष एजेंसियां काफी सहायक रही हैं। लीलैण्ड एम० गुडरीच के अनुसार "मानव भलाई को प्रोत्साहित करने के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ का योगदान अपूर्ण रहेगा यदि हम विशेष एजेंसियों के कार्यों का उल्लेख न करें। आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक-सांस्कृतिक तथा ऐसे ही अन्य कार्यों में विशेष एजेंसियों से संसार के लोगों को अत्यधिक लाभ पहुंचा है। इन एजेंसियों ने सांख्यिकी क्षेत्र में उपयोगी कार्य किया है और अनेक देशों की सैंकड़ों विशेषज्ञ भेजे हैं और प्रशिक्षण के कार्यक्रम बनाये हैं। इन एजेंसियों द्वारा दिये गये आंकड़ों की व्याख्या की गई है और उच्च अनुमान भी लगाये गये हैं। एजेंसियों का यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण साबित हुआ है। इसके श्रम-संगठन ने मजदूरों की दशा को उन्नत किया है तथा खाद्य एवं कृषि संगठन ने अन्न का उत्पादन बढ़ाकर अकालों को नियन्त्रित करने का प्रयास किया है।" सन् 1960 ई० में संगठन ने 'भुखमरी से मुक्ति का आन्दोलन' का नारा दिया तथा उनके हेतु बहुमुखी कार्यक्रम चलाये। इसका उद्देश्य था, खाद्य के रूप में सहायता प्रदान करके आर्थिक तथा सामाजिक विकास की संभावनाओं को आकलन करना। कुछ ही वर्षों में 50 से भी अधिक राज्यों ने इसमें सहयोग करने का वचन दिया और अनेक रूपों में लगभग 10 करोड़ डॉलर मूल्य की सहायता दी। यद्यपि सदस्य-राज्यों से मिले अनुदान उत्साहवर्द्धक नहीं थे, फिर भी इस कार्यक्रम की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसके "विश्व बैंक" ने विकासशील देशों को कारखाने लगाने, प्रसार और संचार के साधनों में उन्नति तथा बिजलीघर बनाने के लिये ऋण दिये हैं। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रयास किया है और बीमारियों के प्रतिरोध में बड़ी सहायता पहुंचायी है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विनिमय सम्बन्धी व्यवहार में आने वाली कठिनाईयों को दूर किया है। शिक्षा, जीवन-स्तर का उन्नयन तथा उससे सम्बद्ध कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण कार्य क्षेत्र है। उत्तरी अमरीका, पश्चिमी यूरोप, रूस तथा जापान को छोड़कर दुनिया के काफी विस्तृत भाग के 80-90 प्रतिशत निवासी निरक्षर हैं। ज्ञान-विज्ञान एवं संस्कृति का संदेश पहुंचाना विश्व संस्था का महान् संकल्प है। इस संकल्प को पूरा करने में यूनेस्को ने बड़े प्रशंसनीय कार्य किये हैं। विशेष एजेंसियों के कार्यों का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि ये विकासशील देशों को सर्वाधिक सहायता तथा निर्देशन प्रदान करती है। विशेष एजेंसियों द्वारा दी गई सहायता बिना किन्हीं शर्तों के दी जाती है। इस प्रकार की सहायता के साथ कुछ राजनीतिक शर्तें नहीं लगायी जाती। दुर्बल राष्ट्र महान् राष्ट्रों से ऐसी सहायता लेते समय घबराते नहीं। विज्ञान तथा तकनालॉजी के इस युग में विशेष एजेंसियों द्वारा दी गयी तकनीकी सहायता अनिवार्य-सी बन गयी है। विकासशील देशों के राष्ट्रीय नेता अपनी स्थिति को सुधारने के लिये सहायता चाहते हैं परन्तु साम्राज्यवादी शर्तों के आधार पर नहीं। यह सहायता विशेष एजेंसियों द्वारा दी जा सकती है और यह कार्य अवश्य ही महान् सेवा है। कुल मिलाकर संयुक्त राष्ट्र के आर्थिक व सामाजिक कार्यों को मानव जीवन की दशाओं में क्रान्तिकारी सुधार करने वाला कार्यक्रम माना जा सकता है।

उपर्युक्त सफलताओं के बावजूद बहुत अधिक आशावादी दृष्टिकोण अपना अथवा उपलब्धियों को बढ़ा-चढ़ाकर देखना भी ठीक नहीं है। लेकिन जब तक कि राष्ट्रों में मान्यताओं अथवा सिद्धान्त सम्बन्धी आधारभूत मतभेद हैं, तब तक इनसे बहुत आशा नहीं की जा सकती। जहां तक इन संस्थाओं की गतिविधियां राष्ट्रीय, आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों से टकराती हैं वहां पर अनेक कठिनाईयां आ खड़ी होती हैं। उद्योग-प्रधान देशों के बीच एक उचित मूलभूत वेतन व मजदूरी की दर निश्चित करने का प्रश्न अत्यन्त आवश्यक होते हुये भी राज्य-नियोजन, सामाजिक नीति और गम्भीर राजनीतिक प्रश्नों के कारण तय नहीं हो पाता। खाद्य एवं कृषि संगठन के इस विचार के अतिरिक्त उपभोक्ता वस्तुओं की कमी वाले प्रदेशों में भेजा जाये तथा महत्वपूर्ण खाद्य सामग्री का समान अन्तर्राष्ट्रीय वितरण हो आन्तरिक नीति-सम्बन्धी कारणों से अमरीका ने स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार वस्तुस्थिति यह है कि अनुकूल राजनीतिक वातावरण के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के किसी भी कार्यक्रम से बहुत अधिक सफलता नहीं मिल सकती। गुडसव्रीड ने ठीक ही लिखा है : "विशेष एजेंसियों को जो विविध और व्यापक कार्य प्रदान किये गये हैं, वे विश्व की मूलभूत आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान के बहुत बड़े प्रयास हैं। यह एक शुभारम्भ है और इन एजेंसियों की सफलताएँ बहुत कुछ उस राजनीतिक वातावरण पर निर्भर करेंगी जिनमें उन्हें कार्य करना पड़ता है।"

## संयुक्त राष्ट्रसंघ : एक मूल्यांकन (The U.N.O. : An Estimate)

संयुक्त राष्ट्रसंघ हमारे सामने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का जीता-जागता रूप विद्यमान है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई तो उस समय एक अत्यन्त सुखद भविष्य की कल्पना की गई। चार्टर को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की उन बुराईयों से दूर रखने का प्रयत्न किया गया जिनके कारण पुराना राष्ट्रसंघ असफल हो गया था और नये विश्व संगठन को पहले की अपेक्षा एक उत्कृष्ट और शक्तिशाली संगठन बनाया गया। ऐसा लगता था कि संयुक्त राष्ट्र के रूप में एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मात्र ही नहीं वरन् शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होने जा रही है। परिणामस्वरूप संसार के लोगों में यह विश्वास होना स्वाभावित था कि नया विश्व-संगठन संसार में स्थायी शांति और समृद्धि लाने में सफल होगा। परन्तु वर्तमान युग में संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रबलतम समर्थक भी इस बात को स्वीकार करेगा कि संयुक्त राष्ट्र से जो आशाएँ की गयी थीं वे पूरी नहीं हो सकीं। यह मानवता को 'भय से मुक्ति' नहीं दिला पाया है। महायुद्ध का भय पूर्ववत् बना हुआ है और संघ आधुनिक समस्याओं को सुलझाने में प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर पा रहा है। शूर्मी ने लिखा है : "एक मध्यस्थ अथवा समझौते की बातचीत के न्यायपीठ के रूप में उनका अभिनय युद्ध में लड़ने वाली सेनाओं के समकक्ष ही है। एक नैतिक अर्थ में ही आक्रमणों से पीड़ित लोगों के रक्षक के रूप में भी संयुक्त राष्ट्र संघ का अभिनय आपत्तिजनक उपयोगिता का ही रहा है। शांति कराने वाले के रूप में उनका अभिनय अदृश्य ही है।" द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्ति के शीघ्र ही बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ शीतयुद्ध के भँवरजाल में फँस गया। यह बड़े राष्ट्रों के बीच विभिन्नता एवं फूट का अखाड़ा बन गया। कहा जाता है कि उसका नाम 'संयुक्त राष्ट्र' एक झूठा दिखावा, एक व्यंग मात्र रह गया। यह संयुक्त राष्ट्रों के बदले में विभाजित राष्ट्रों का संघ बन गया। बेटविच और मार्टिन ने लिखा भी है : "जिस चीज की रचना विश्व शांति के एक यंत्र के रूप में की गयी थी वह विश्व संघर्ष का एक मंच सिद्ध हुई।" सोवियत रूस और अमरीका के पारस्परिक संघर्ष के कारण वह निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में नितांत असफल रहा। इसी के कारण बहुत दिनों तक वह साम्यवादी चीन को अपना सदस्य नहीं बना सका। वह चैकोस्लोवाकिया, हंगरी और तिब्बत पर साम्यवादी आक्रमण को नहीं रोक सका और कश्मीर के मामले में आक्रान्ता को दंडित ही कर सका। दक्षिण अफ्रीका, वियतनाम और बांगला देश के मामले में इसकी भूमिका निंदनीय ही रही है। इसके रहे हुए भी अनेक अवसरों पर दुर्बल पक्ष को न्याय नहीं मिल पाया है। राष्ट्रपति टूमैन ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यकरण पर असन्तोष व्यक्त करते हुए कहा था कि संयुक्त राष्ट्र अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शांति का आशवासन नहीं दे सका, जिसके फलस्वरूप "संयुक्त राष्ट्रों के लोग अब भी आक्रमण की निरन्तर आशंका से पीड़ित हैं तथा आक्रमण के विरुद्ध तैयारी के व्यय-भार से दबे हुए हैं।" अब प्रश्न उठता है कि जिस यंत्र की रचना काफी शोर-शराबे तथा उत्साह के साथ की गयी थी, इतने छोटे समय में उसकी असफलता की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है? शूर्माँ के अनुसार "इसके दो उत्तर प्रतीत होते हैं। इंजन की बनावट दोषपूर्ण है या इंजीनियरों में उसके चलाने की इच्छा व चतुराई की कमी है।" दोनों ही बातें सत्य हैं।

### संयुक्त राष्ट्रसंघ की विफलताएँ (Failures of the U.N.O.)

अपने लगभग 60 वर्ष के जीवन में संयुक्त राष्ट्रसंघ को प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्यों में प्रायः विफलता का ही सामना करना पड़ा है। इसकी विफलताओं को हम निम्नलिखित ढंग से वर्णित कर सकते हैं :

1. राष्ट्रों के बीच हथियार बंदी की होड़ को रोकना संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक उद्देश्य है। चार्टर में इसीलिए निरस्त्रीकरण के उपबन्ध रखे गये हैं। परन्तु बहुत से प्रयत्नों के बावजूद इस दिशा में कोई ठोस पग नहीं उठाया जा सका है। संघ अभी तक इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों के बीच समझौता नहीं करा सका है। 15 जून, 1969 के अपने वार्षिक प्रतिवेदन में संघ के तत्कालीन महासचिव ऊथॉट ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों पर निराशा ही व्यक्त की थी। उसे यह देखकर अशांति का अनुभव हो रहा था कि परमाणु शस्त्रों की समस्या आज भी अधर में लटकी हुई है। परमाणु शस्त्रों का परीक्षण होता जा रहा है। विश्व में सेना पर किया जाने वाला व्यय निरंतर रूप में बढ़ता जा रहा है। इनमें से सबसे अधिक भयानक बात परमाणु शस्त्रों की अबाध गति से चलने वाली होड़ है। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस होड़ को रोकने में सफल नहीं हुआ। अब सन् 1990 में सोवियत संघ और अमरीका ने अपने अधिकांश रासायनिक हथियारों को नष्ट करने पर सहमति की घोषणा की है।

2. संयुक्त राष्ट्रसंघ का मूल उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखना तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जहाँ कहीं भी सशस्त्र आक्रमण हो वहाँ सुरक्षा के लिए सामूहिक एवं प्रभावपूर्ण कार्रवाई करना है। परन्तु उस कार्य में संयुक्त राष्ट्रसंघ पूर्णतया असफल रहा है। यह ठीक है कि इसकी स्थापना से लेकर अब तक मानवता को तृतीय महायुद्ध का भीषण रूप देखने को नहीं मिला, परन्तु इसका पूरा श्रेय संयुक्त राष्ट्र को नहीं दिया जा सकता। यह इसलिए संभव है कि युद्धों को सीमित करने में महाशक्तियों का सामान्य हित रहा है अथवा उनमें से कोई महायुद्ध का खतरा मोल लेने को तैयार नहीं है। कश्मीर का प्रश्न रहा हो या अरब-इजरायल का, दक्षिण रोडेशिया का प्रश्न रहा हो या कोरिया का, विगत 59 वर्षों में संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी भी बड़ी समस्या का स्थायी हल निकालने में सफल नहीं हो सका है। प्रत्येक बड़े युद्ध के बाद उसने युद्ध-विराम कराने की भूमिका ही निभायी है। जुड़वाँ बच्चों की-सी उलझी हुई वियतनाम समस्या में तो वह यह भूमिका भी नहीं निभा सका। इसके रहते हुए भी अनेक अवसरों पर दुर्बल पक्ष को न्याय नहीं मिल सका है। बांगला देश इसका ज्वलंत प्रमाण है। जर्मनी, कोरिया, वियतनाम जैसे संसार में संकट पैदा करने वाले स्थलों की समस्याओं के समाधान में संयुक्त राष्ट्रसंघ का योगदान उससे बिल्कुल भिन्न रहा है जिसकी संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान-निर्माताओं ने कल्पना की थी। विगत चार दशकों में क्षेत्रीय स्तर पर लगभग 150 छोटे-बड़े सैन्य संघर्ष हुए हैं; जैसे, भारत-चीन युद्ध, भारत-पाक युद्ध, अरब-इजरायल युद्ध, इथियोपिया-सोमालिया संघर्ष, वियतनाम कम्पूचिया संघर्ष, ईरान-इराक युद्ध आदि। इनमें से अधिकांश का निपटारा वस्तुतः सम्बद्ध देशों की सीधी वार्ता या दूसरे की मध्यस्थता से हुआ है। उनमें संयुक्त राष्ट्र की या तो कोई भूमिका नहीं रही है या नगण्य रही है।
3. संयुक्त राष्ट्रसंघ के गत 59 वर्षों के कार्यकाल में अनेक राष्ट्रों के संघ के चार्टर और उद्देश्यों का अतिक्रमण किया है, उन्होंने संयुक्त राष्ट्र के निर्णयों की अवहेलना की है। कुछ उदाहरणों द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाएगी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माता मानव अधिकारों तथा मूल स्वतंत्रता में अधिक विश्वास रखते थे। इसलिए इनकी रक्षा के लिए घोषणा-पत्र 6-7 उपबन्ध बनाये गये तथा 10 दिसम्बर, 1948 को साधारण सभा द्वारा मानव-अधिकारों की सार्वभौम घोषणा को स्वीकार किया गया। परन्तु दुःख की बात यह है कि कुछ राज्यों ने चार्टर और घोषणा के शब्दों और भावनाओं की अवहेलना की। दक्षिण अफ्रीका की श्वेत सरकार ने उनका अतिक्रमण किया। वह भारतीय तथा अश्वेत जातियों के साथ प्रजातीय व्यवहार करके संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा उद्घोषित मौलिक मानवीय अधिकारों का उल्लंघन करती रही और संयुक्त राष्ट्रसंघ उसको रोकने में विफल रहा। उसी तरह संयुक्त राष्ट्र बल्गेरिया, हंगरी, रूमानिया आदि देशों में मूल अधिकारों की अवहेलना को नहीं रोक सका। एच० फील्ड हैवीलैंड का कहना है कि संघ की महासभा तो केवल यह मालूम कर लेती है कि कहाँ-कहाँ पर मूल अधिकारों की अवहेलना हुई। इससे अधिक वह कुछ और नहीं कर पाती। कई अन्य राज्यों ने भी संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र के विरुद्ध कार्य किया। सन् 1956 में इंग्लैंड और फ्रांस ने स्वेज पर आक्रमण करके संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की उपेक्षा की थी। रूस ने महासभा के उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था जिसके द्वारा रूस को हंगरी के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप न करने के लिये कहा गया था। यद्यपि हंगरी संयुक्त राष्ट्र का सदस्य है फिर भी उसने संयुक्त राष्ट्र के प्रेक्षकों को अपने क्षेत्र में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी। कादर सरकार ने अपने देश में महासचिव का स्वागत करने की भी नम्रता नहीं दिखलाई। बिजर्टा सरकार के उपरान्त जब महासचिव ने फ्रांसीसी सरकार से बातचीत करने की प्रार्थना की तो उसने महासचिव का पेरिस में स्वागत करने से इन्कार कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के आग्रह करने के बाद भी पुर्तगाल ने अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्रता नहीं दी थी। सन् 1967 के अरब-इजरायल संघर्ष में भी संयुक्त राज्य अमरीका उत्तरदायी था। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ ने बार-बार दक्षिण अफ्रीका की रंग भेद की नीति के विरुद्ध प्रस्ताव पारित किये किन्तु वहाँ काले लोगों पर अत्याचार उसी प्रकार होता रहा। उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों के बावजूद उसका विदेशी व्यापार बढ़ता रहा। इस सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि संघ के चार्टर की अवहेलना की गयी है जिसके चलते संघ की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा है तथा वह अपना कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर पा रहा है। यह भी देखा गया है कि विश्व शक्तियों ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए संघ के बजाय सीधे द्विपक्षीय परामर्श का सहारा लिया है। साल्ट-2 और हिन्द महासागर के विसैन्यीकरण पर अमरीका और सोवियत संघ सीधी बातचीत करते रहे।
- यह देखने में आया है कि महाशक्तियाँ अपने हितों और स्वार्थों की पूर्ति के लिये सैद्धान्तिक विषयों पर दृढ़ नहीं रहती। दक्षिण

अफ्रीका में भारतीयों तथा अश्वेत जातियों के साथ जो प्रजातीय व्यवहार किया जाता रहा है उससे उसे ब्रिटेन और अमरीका प्रोत्साहन देते रहे हैं। अमरीका और पश्चिमी राष्ट्रों ने लैटिन अमरीका के प्रति जो अनुचित पक्ष लिया, उससे विश्व शान्ति को गहरा धक्का पहुँचा, वास्तव में संयुक्त राष्ट्र के कार्य गुटबन्दी पर आधारित है। ऐसा देखा जाता है कि किसी प्रश्न पर एक गुट का समस्त मत एक ही ओर पड़ता है। यह एक अनुचित प्रवृत्ति है। डा० ईवाट उसे खतरनाक एवं अवांछनीय मानते हैं। यह भी देखने में आया है कि सदस्य-राष्ट्रों द्वारा विश्व संस्था का उपयोग अपने स्वार्थों के लिए किया जाता है। संघ की महासभा तथा अन्य अंगों को अन्तर्राष्ट्रीय विवादों तथा मतभेदों को दूर करने के लिए प्रयोग में नहीं लाया जाता रहा है वरन् अपने गुट के समर्थकों की संख्या बढ़ाने के लिए प्रचार संस्था के रूप में किया जाता है। जैसा कि बैटविच तथा मार्टिन ने लिखा है : "महासभा और सुरक्षा परिषद् का प्रयोग विवादों को सुलझाने के लिए नहीं वरन् झगड़ों को बढ़ाने के लिए किया जाता है। ऐसे प्रचार के कारण महासभा का अमूल्य समय ही नष्ट नहीं होता वरन् संसार की निगाहों में इस संस्था का महत्त्व भी कम हो जाता है। इसके कार्यों को गम्भीरता से नहीं देखा जाता और आम जनता को इसकी सच्चाई और उपयोगिता में विश्वास नहीं रह पाता। महासभा के कार्यों की प्रभावशीलता इसलिए भी कम हो जाती है कि सदस्य-राज्यों के प्रमुख राजनीतिक उसकी बैठकों में उपस्थित होने में अपना समय नष्ट नहीं करते। महान् शक्तियों के प्रधानमंत्री और विदेश मंत्री इसकी बैठकों में उपस्थित रहते हैं। इसके कारण महासभा की कार्यवाही अधिक प्रभावशाली नहीं हो पाती। यदि सदस्य सरकार के मंत्रिमण्डल के सदस्य महासभा की बैठकों में भाग लेने लगे तो विश्व के लोग इसकी कार्यवाही में अधिक रुचि लेने लगेंगे। श्री डॉंगस ने कहा था : "यह वह समय है जब कि सरकारें और व्यक्तिगत राजनीतिक अपने कार्यों में अधिक व्यस्त हैं। यदि संयुक्त राष्ट्र को अपनी प्रतिष्ठा रखनी है तो यह आवश्यक है कि मंत्रिमण्डल स्तर के प्रतिनिधि इसके सत्रों में उपस्थित हों, इसलिए नहीं कि प्रतिनिधि योग्य और अनुभवी हैं वरन् इसलिए कि ये प्रतिनिधि अपने-अपने देशों को निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी हैं। वे ही अपने देश की नीति निर्धारित करने के लिये की गयी थी, अपने प्रधान उत्तरदायित्व का पालन करने में सफल नहीं हुईं। निषेधाधिकार की व्यवस्था ने इसे पंगु बना दिया और महाशक्तियों के संघर्ष द्वारा यह पक्षपातग्रस्त कर दिया है। इसके कारण सुरक्षा परिषद् की प्रतिष्ठा घटी है और जनता की दृष्टि में वह गिर गयी है। बहुत ही कम विषय अब सुरक्षा परिषद् को सौंपे जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र के हिमायती राष्ट्र भी अपना विवाद सुरक्षा परिषद् नहीं ले जाना चाहते।

4. सदस्यता के सम्बन्ध में भी राष्ट्रसंघ असफल रहा है।

### संयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण (The Reasons of the Failure of the U.N.O)

संयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलता के दो प्रकार के कारण बतलाये जा सकते हैं—सांविधानिक तथा राजनीतिक अथवा मनोवैज्ञानिक।  
**सांविधानिक तथा संगठनात्मक कारण :** संयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलता के लिये उसके संविधान और संगठन को भी उत्तरदायी बतलाया जाता है। इसकी प्रमुख वैधानिक दुर्बलताओं का वर्णन नीचे दिया जाता है।

- (i) संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण संसार के राष्ट्रों की सरकारों ने संसार की जनता के नाम पर किया। वर्तमान प्रजातंत्र के युग की यह विशेषता है कि निर्णय तो कुछ राजनीतिज्ञों के द्वारा लिये जाते हैं परन्तु नाम जनता का रहता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के विषय में यह भी सत्य है। फलवरूप राष्ट्रसंघ की भाँति संयुक्त राष्ट्रसंघ भी प्रधानतः सरकारों का ही संगठन है। उसे जनता से सीधा सम्पर्क स्थापित करने का कोई अधिकार नहीं है।
- (ii) संयुक्त राष्ट्रसंघ का आधार वही है जो पुराने राष्ट्रसंघ का था। यह आधार है राष्ट्रीय 'संप्रभुता' की अक्षुण्णता। इसमें भी राष्ट्रों की संप्रभुता सर्वोपरि है। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ पुराने राष्ट्रसंघ की प्रेतात्मा है। यह उस अनाथ की तरह है जो इधर-उधर से भीख माँगकर अपने को धनपति समझ लेता है। अन्तर्देशीय क्षेत्र में राष्ट्रीय संप्रभुता का अर्थ है विभिन्न देशों की सरकारों की स्वेच्छा। तत्त्वतः यह विभिन्न देशों की पथक् तथा प्रतिस्पर्धाजनक शक्ति है। अतः राष्ट्रीय संप्रभुता का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विरोधी है। राष्ट्रीय संप्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ केवल चर्चा, वाद-विवाद तथा विवादों के शांतिपूर्ण हल के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थल-मात्र बना हुआ है। इसके पास स्वयं भी कोई ठोस शक्ति नहीं है, सिवा उन अधिकारों के जो सदस्य-राष्ट्रों ने उसे स्वेच्छा से प्रदान किये हैं।
- (iii) यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन में राष्ट्रों की समानता का सिद्धान्त मान्य है तथापि, व्यवहार में, यह व्यवस्था असमानता

पर आधारित है। इसका प्रमाण यह है कि इसमें बड़े राज्यों और छोटे राज्यों का अन्तर माना गया है। बड़े राज्यों को सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यता दी गयी है और निषेधाधिकार प्राप्त है। इस प्रकार यथार्थ में महाशक्तियों की ही मनमानी बनाये रख गया है। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में विद्यमान एक गंभीर विरोधभास है।

- (iv) सदस्यता प्रदान करने का प्रश्न संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक बहुत बड़ी उलझन है। चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता उन सभी शांति-प्रेमी राज्यों के लिए खुली है जो चार्टर में दिये गये दायित्वों को पूरा करने की इच्छा और योग्यता रखते हों। किसी राष्ट्र को संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों में तभी शामिल किया जा सकता है जब सुरक्षा परिषद् उसकी सिफारिश करे और महासभा उस सिफारिश पर अपना निर्णय दे। सैद्धान्तिक दृष्टि से उसमें कोई दोष नहीं है, लेकिन राष्ट्रों की गुटबन्दी तथा उनकी राजनीति ने सदस्यता के सवाल को काफी उलझनपूर्ण बना दिया है। सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ तथा पश्चिमी राष्ट्र अपनी स्थिति सुदृढ़ करने हेतु अपने विरोधी राज्यों के प्रवेश का विरोध करते रहे हैं। इस प्रकार विरोधी गुटों की हठधर्मिता के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ को पूर्णतः प्रतिनिध्यात्मक संगठन बनाने में कठिनाई उत्पन्न होती रही है। जब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता विश्व के सभी देशों के लिए खुली हुई न हो तब तक संगठन विश्वव्यापी नहीं बन सकेगा।
- (v) संयुक्त राष्ट्रसंघ के कम प्रभावशाली होने का मुख्य कारण इस संगठन में प्रभुसत्ता का अभाव होना है। इसके सदस्य राज्यों में प्रभुसत्ता निहित है, लेकिन इसके पास नहीं है। प्रभुसत्ता के अभाव में संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने निर्णयों को लागू नहीं कर सकता। वह सिर्फ सदस्य-राज्यों को निर्देश भर दे सकता है जिसे मानना या न मानना सदस्य-राज्यों की इच्छा पर निर्भर करता है। यह बात संघ के दो प्रमुख अंगों की स्थिति से स्पष्ट हो जायेगी। महासभा की शक्तियाँ अत्यन्त सीमित हैं। उसको केवल सिफारिशें करने का ही अधिकार प्राप्त है जिन्हें मानना या न मानना सदस्य-राज्यों की इच्छा पर निर्भर है। सुरक्षा परिषद् भी किसी सदस्य-राज्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध सशस्त्र कार्यवाही में योग देने के लिए विवश नहीं कर सकती। कोई भी महाशक्ति अपने निषेधाधिकार से उसे पंगु बना सकती है।
- (vi) यद्यपि चार्टर ने एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना का उल्लेख किया गया है और कोरिया, मिस्र और कांगो में एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सेनाओं ने कार्य भी किया है, परन्तु फिर भी अभी संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास विश्व शांति की रक्षा के लिए प्रभावशाली कार्रवाई करने के लिये अपनी कोई स्वतन्त्र सेना नहीं है। अपने आदेशों का पालन कराने के लिये उसे अपने सदस्य-राज्यों की सेना पर ही निर्भर रहना पड़ता है। वर्तमान परिस्थितियों से यह भी निश्चित है कि किसी बड़ी सैनिक कार्रवाई के लिये सेना बड़े और शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा ही उपलब्ध करायी जा सकती है। ऐसी स्थिति में केवल छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध ही सैनिक कार्रवाई कर सकता है और वह भी तब जबकि बड़े राष्ट्र उसके लिये सेनायें देने को तत्पर हों। स्वयं बड़े राष्ट्रों अथवा उनका समर्थन प्राप्त छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध तो किसी भी प्रकार की सैनिक कार्रवाई की ही नहीं जा सकती।
- (vii) सुरक्षा परिषद् में सभी महत्त्वपूर्ण निर्णयों के लिए 15 में से 9 मत चाहिए, जिनमें पाँच बड़ी शक्तियों के मत अवश्य सम्मिलित हों। इसका तात्पर्य यह है कि यदि एक भी शक्ति किसी निर्णय के विरुद्ध हो तो वह निर्णय लागू नहीं हो सकता। व्यवहार ने, निषेधाधिकार की शक्ति का बहुत अधिक प्रयोग किया है और इसके संघ के कार्यों में बहुत अधिक बाधा पहुँची है। इस अधिकार के दुरुपयोग ने संगठन को बदनाम कर दिया है।
- (viii) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 2 के अन्तर्गत आक्रमण की जो परिभाषा दी गयी है, वह निश्चित नहीं है। जब आक्रमण की परिभाषा ही स्पष्ट नहीं है, तो उसे रोकने के लिए उठाए जाने वाले आवश्यक पग वैधानिक दृष्टि से अनिश्चित तथा व्यावहारिक दृष्टि से निःशक्त होंगे ही। चार्टर के अनुसार 'शक्ति का अवैधानिक प्रयोग' आक्रमण है किन्तु 'शक्ति का अवैधानिक प्रयोग' क्या है, यह स्पष्ट नहीं है और यह प्रश्न विवादास्पद बना हुआ है। अनेक आक्रामक राष्ट्र चार्टर की इस अस्पष्टता से लाभ उठाते हैं। इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है, जब आत्म-सुरक्षा के नाम पर आक्रमण किया गया। दिसम्बर, 1974 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने सर्वसम्मति से आक्रमण की परिभाषा को पारित कर दिया है। इसके अनुसार एक देश क द्वारा दूसरे देश की प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखंडता या राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध सशस्त्र सेना का प्रयोग या अन्य किसी तरीके का प्रयोग, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुरूप नहीं है, आक्रमण माना जायेगा।
- (ix) संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कमजोरी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार का प्राप्त न होना है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के ढाँचे के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना तो की गई है लेकिन इस न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार

प्राप्त नहीं, जिससे इस न्यायालय की स्थिति बहुत असहाय हो गयी है। जिस प्रकार एक देश के न्यायालयों को अपराधी नागरिकों के विरुद्ध कार्रवाई करने का अनिवार्य अधिकार प्राप्त होता है, लगभग उसी प्रकार का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को प्राप्त होना चाहिये।

- (x) महासभा की कार्यविधि भी दोषपूर्ण है। महासभा की कार्यावली में विषयों की संख्या काफी अधिक रहती है। कभी-कभी तो उसकी संख्या एक सौ के लगभग होती है। उनके इतने विषयों पर एक सत्र में विचार करना संभव नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि महासभा की कार्रवाई सन्तोषप्रद नहीं होती। महत्त्वपूर्ण विषयों पर गंभीरता से वाद-विवाद नहीं हो पाता। यदि कोई विषय कार्यावली के अनन्त में होता है या सत्र के समाप्त होने के समय लिया जाता है तो उस पर विचार करने के लिए अधिक समय नहीं मिलता। इसके अलावा सम्पूर्ण बैठकों में औपचारिक भाषणों के कारण अमूल्य समय नष्ट कर दिया जाता है। इस पुनरावृत्ति से लाभ कम होता है, समय की हानि अधिक। प्रक्रिया सम्बन्धी इन त्रुटियों के कारण महासभा केवल गंभीरतापूर्वक नहीं हो पाते। इस कमी को दूर करने के लिए श्री डोंगस का सुझाव है, "मुझे यह आवश्यक दिखाई पड़ता है कि हमें अपनी कार्यावली के साथ केंची का प्रयोग करना चाहिये तथा उन विषयों को काट देना चाहिए, जिनके रखने से कार्यावली की संख्या बढ़ जाती है और जिनमें किसी प्रकार के सुझाव की आशा नहीं होती।"
- (xi) चार्टर के दूसरे अनुच्छेद में यह घोषित किया गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी राज्य के घरेलू क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप नहीं करेगा। सिद्धान्ततः यह ठीक भी है किन्तु त्रुटि यह है कि घरेलू क्षेत्राधिकार को स्पष्ट नहीं किया गया है। इसके अभाव में सम्बन्धित राज्य द्वारा इस अनुच्छेद की मनमानी व्याख्या कर संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य-क्षेत्र को सीमित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका ने रंगभेद की नीति को घरेलू मामला बनाकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों का विरोध किया है। इसी तरह एंग्लो-ईरानी तेल-विवाद में कोरिया-संघर्ष में घरेलू मामले के प्रश्न ने संघ की कार्रवाई में बाधा पहुँचाई थी।
- (xii) संयुक्त राष्ट्रसंघ का उद्देश्य सामूहिक सुरक्षा की स्थापना है। इसका सिद्धान्ततः यह अर्थ है कि संघ के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए वचनबद्ध हैं। अतः जब कभी भी शांति और सुरक्षा पर संकट आएगा तो यह आशा की जाती है कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य प्राण-पण से उसकी रोकथाम करेंगे। परन्तु इसके साथ ही चार्टर की 51 वीं और 52 वीं धाराओं में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा सदस्य राज्यों को प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय विवादों का निबटारा इन संगठनों के माध्यम से हो सके। संघ का यह प्रावधान स्वयं संघ के अस्तित्व के लिए घातक रहा है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि कितने ही सैनिक गुट, जैसे नाटो, सीटो, सैंटो, वारसा-पैक्ट आदि शांति और सुरक्षा के नाम पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाहर स्थापित हो गये। क्षेत्रीय गुटों की प्रतिस्पर्धा विश्व सुरक्षा के लिए एक नयी समस्या बन गयी। इनसे शीतयुद्ध को प्रोत्साहन मिला और शांति की समस्या जटिलतर होती गयी। इस तरीके इन सैनिक गुटों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ रूपी 'शांति मंदिर' में सशस्त्र डाकुओं की तरह है। विंसे राइट ने ठीक ही लिखा है : "निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि इन क्षेत्रीय सुरक्षा गुटों के अनियंत्रित विकास में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के मूल उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।"
- (xiii) चार्टर के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शांतिपूर्ण परिवर्तनों के लिए किसी यंत्र की व्यवस्था नहीं की है। अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ पुराने राष्ट्रसंघ के समान ही एक 'यथास्थिति' की रक्षा करने वाली संस्था बन जाती है।
- (xiv) संयुक्त राष्ट्रसंघ अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी अपने सदस्य-राष्ट्रों द्वारा दिये गये आर्थिक अनुदान पर ही निर्भर रहता है। सदस्य-राष्ट्रों में यह मनोवृत्ति पायी जाती है कि वे संघ को उसी स्थिति में आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं जबकि वह उनकी आकांक्षाओं और राष्ट्रीय हितों के अनुरूप कार्य करता है। यहाँ तक कि महाशक्तियाँ भी जब यह अनुभव करती हैं कि संघ उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप कार्य नहीं कर रहा है तो वे भी उसकी आर्थिक सहायता पर रोक लगा देती हैं। इन परिस्थितियों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख आर्थिक संकट बना रहता है। एक ओर लगातार संघ के उत्तरदायित्वों में वृद्धि होती रही है, परन्तु उसके अनुपात में आर्थिक स्रोत उसके पास नहीं हैं। यह भी एक प्रमुख कारण है कि संघ अपने उद्देश्यों को अर्थाभाव के कारण पूर्ण नहीं कर पाया है।
- (xv) कुछ आलोचकों ने संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था की कतिपय अन्य आधारों पर भी निन्दा की है। अमरीका के भूतपूर्व विदेश सचिव फास्टर डलेस ने संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में तीन महत्त्वपूर्ण त्रुटियाँ बतलायी हैं। प्रथमतः सेन फ्रांसिसको सम्मेलन में जब चार्टर का निर्माण हो रहा था उस समय किसी को उस अणु-बम का ज्ञान नहीं था। वास्तव में यह चार्टर उस समय बना



जब अणु-बम-युग प्रारंभ नहीं हुआ था। अतएव चार्टर प्रयोग में आने से पहले ही पुराना हो गया। द्वितीयतः हिटलर को परास्त करने वाले तीन विजयी नेताओं—रूजवेल्ट, स्टालिन तथा चर्चिल—ने ही इस संस्था की नींव डाली थी। उनका विश्वास था कि उनमें युद्ध के समय जो मेल रहा है वह शांति के समय भी बना रहेगा। परन्तु उनका यह अनुमान गलत साबित हुआ। तृतीयतः, सदस्य—राज्य विधि, न्याय और नैतिकता की ओर कम ध्यान देते हैं। लीलैण्ड एम०गुडरीच ने भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की कुछ त्रुटियों की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक महान त्रुटि शक्ति या प्राधिकार का अभाव है। संयुक्त राष्ट्रसंघ न तो स्वतंत्रतापूर्वक कानून बना सकता है; न कर वसूल कर सकता है और न शक्ति द्वारा अपने निर्णयों को कार्यान्वित करा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की सीमित असफलता का दूसरा कारण यह राष्ट्रवाद के विचार को मानता है।

**राजनीतिक कारण (Political Reasons)**— संयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलता का प्रधान कारण राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक है। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन उसी समय सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है जबकि उसके सदस्य—राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विद्यमान हो। किन्तु वास्तव में इस दृष्टिकोण की बहुत कमी है। विश्व के अधिकांश राज्य अब तक अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से ही विचार करते हैं और अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए वे अन्य राष्ट्रों के साथ अन्याय करने में भी नहीं चूकते। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सफल बनाने के बाद से ही संयुक्त राष्ट्रसंघ पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बन गया। संघ की स्थापना के तुरन्त बाद ही विश्व की दो बड़ी शक्तियाँ—संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस एक-दूसरे की विरोधी हो गयीं और इन दोनों के द्वारा अपने प्रभावक्षेत्र में वृद्धि के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये गये। इसके परस्पर विरोधी स्वार्थ के कारण एक ही दशक में संघ के भाग्य का फैसला हो गया। यदि वे दोनों राष्ट्र सहयोग की भावना से प्रेरित होकर कार्य करते तो उन्हें अवश्य सफलता मिलती।

### संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपलब्धियाँ (Achievements of the U.N.O.)

इसमें संदेह नहीं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को शत-प्रतिशत सफलता नहीं मिली है और यही पूरी तरह उन आशाओं को पूरा नहीं कर सका है जिसकी कल्पना संघ के निर्माताओं ने की थी। हमें इस बात को भी स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिये कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसंघ असफल रहा है और युद्ध के कारणों का निवारण, जो उसका प्रधान उद्देश्य है, अभी तक नहीं कर सका है। विश्व में ऐसी अनेकानेक समस्याएँ बनी हुई हैं जिनको लेकर किसी भी क्षण युद्ध हो सकता है। परन्तु केवल इसी आधार पर यह मान बैठना कि संयुक्त राष्ट्र संघ का भविष्य अधकारमय है और पुराने राष्ट्रसंघ की भांति संयुक्त राष्ट्रसंघ भी विश्व शांति को बनाये रखने में असफल रहेगा, उचित नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ संगठन, कार्य प्रणाली और प्रभावशीलता की दृष्टि से राष्ट्र संघ की तुलना में बहुत अधिक सुधरे हुए रूप में है, यद्यपि इसकी कतिपय असफलतायें भी हैं किन्तु इन कतिपय असफलताओं के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण सफलतायें भी प्राप्त की गयी हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ का उद्देश्य महान है और महान् उद्देश्यों की प्राप्ति में अनेक बाधाएँ आती हैं। निरन्तर प्रयत्न करने से ही सफलता मिल सकती है। यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ वह सब कुछ जो हम चाहते थे नहीं कर सका है, तो इसका एकमात्र कारण यही है कि यह एक मानवीय संगठन है और इस प्रकार के मानवीय संगठन से किसी चमत्कार की आशा नहीं की जा सकती। इन सीमाओं के बावजूद संयुक्त राष्ट्रसंघ को कुछ उल्लेखनीय सफलतायें भी मिली हैं जिन्हें निम्नांकित क्रम में सूचिबद्ध किया जा सकता है—

**1. राजनीतिक विवादों का समाधान**— संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्य शांति तथा सुरक्षा है। इस क्षेत्र में यद्यपि इसको पूर्ण सफलता नहीं मिली है परन्तु आंशिक सफलता का श्रेय अवश्य है। सर्वत्र राहनीतिक वातावरण शीतयुद्ध तथा शक्ति-राजनीति से ओत-प्रोत था फिर भी अनेक राजनीतिक विवादों को सुलझाने में सफलता हासिल की। 19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सुरक्षा परिषद् को सूचित किया कि सोवियत रूस की सेनाएं उसके क्षेत्र में घुस आयी हैं। रूस के विरोध के बावजूद यह प्रश्न सुरक्षा परिषद् की कार्यसूची में रखा गया और सुरक्षा परिषद् ने इस प्रश्न पर विचार से जो प्रबल जनमत जागत हुआ, उसके कारण सोवियत रूस को ईरान से अपनी सेनाएं वापस बुलानी पड़ीं। 1947 ई० में इण्डोनेशिया की स्वतंत्रता के प्रश्न को लेकर इण्डोनेशिया की सरकार और इस क्षेत्र की पुरानी साम्राज्यवादी सरकार नीदरलैण्ड के बीच युद्ध शुरु हुआ तो युद्ध का अन्त कराने में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने बड़ी सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया और संघ के हस्तक्षेप के कारण युद्ध बन्द हो गया और राजनीतिक वार्ता प्रारम्भ हुई। बाद में पश्चिम इरियन को लेकर इन दोनों में पुनः तनाव बढ़ा तो संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ने अपने प्रयास से इस समस्या के समाधान में सहायता पहुंचाई। यद्यपि संघ कश्मीर की समस्या का समाधान नहीं कर सकता है लेकिन इस विवाद में संघ की सफलताओं को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। शुरु में कश्मीर के प्रश्न को लेकर भारत-पाकिस्तान के बीच जो युद्ध हुआ उसको बन्द कराने

का श्रेय संयुक्त राष्ट्रसंघ को ही है। इसके बाद लगभग अठारह वर्ष तक कश्मीर में युद्ध—विराम रेखा पर पहरा देकर दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ने से रोका है। अन्त में 1965 में जब दोनों देशों में सशस्त्र युद्ध शुरू हो गया तो उस युद्ध को बन्द कराने में संयुक्त राष्ट्रसंघ को बड़ी सफलता मिली। पामर और परकिन्स युद्ध विराम व्यवस्था को एक सफल प्रयास मानते हैं। पंडित नेहरू ने भी संयुक्त राष्ट्र के कर्मचारी वर्ग की प्रशंसा की थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने पेलेस्टाइन में अच्छा कार्य किया। यह ठीक है कि यह यहूदी अरब समस्या को हल करने में असमर्थ रहा परन्तु फिर भी इसने इजराइल और अरब राष्ट्रों के बीच युद्ध—विराम कराकर तनाव को कम कराने का प्रयास किया था। महासभा के तीसरे अधिवेशन के अध्यक्ष एच०वी० ईवाट ने कहा था : “इस विषय के गुण—दोष के सम्बन्ध में कुछ भी मतभेद हों, इसमें सन्देह नहीं कि फिलीस्तीन के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र ने एक सच्चा और स्थायी सुझाव रखा था तथा मध्यपूर्व में युद्ध रोका था। संयुक्त राष्ट्र की अनुपस्थिति में एक साधारण युद्ध छिड़ने की संभावना थी।” सन् 1960 में संघ ने दक्षिण कोरिया को उत्तरी कोरिया के आक्रमण से बचाया, बर्लिन के घेरे के प्रश्न को सुलझाया, स्वेज के मामले में ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल के आक्रमण से मिस्र की रक्षा की तथा युद्ध को रोकने में सफलता हासिल की, इराक, सीरिया तथा लेबनान से विदेशी सेनाएं हटाने में सहायता की एवं साइप्रस को लेकर तुर्की और यूनान के बीच युद्ध छिड़ने से रोका। बाल्कन प्रदेश के लिए संयुक्त राष्ट्र की विशेष समिति ने यूनान की सहायता करने का प्रयास किया। उसके विरोधी पड़ोसी उसको कष्ट दे रहे थे। इस समिति ने यूनान, अलबानिया, बल्गेरिया और युगोस्लाविया के बीच वार्तालाप कराया। 1962 में क्यूबा को लेकर सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका में युद्ध छिड़ सकता था। इस संकट को समाप्त करने में भी संघ ने सराहनीय कार्य किया। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की वापसी के बारे में जेनेवा समझौता (1988), इरान—ईराक युद्ध—विराम समझौता (अगस्त 1988), नामीबिया की स्वतन्त्रता सम्बन्धी समझौता (दिसम्बर 1988), अंगोला से क्यूबाई सैनिकों की वापसी के लिए पर्यवेक्षकों का दल तैनात करना, इराक के अवैध कब्जे से सैनिक कार्रवाई कराकर कुवैत को मुक्त कराना (फरवरी 1991) आदि हाल में संयुक्त राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ कही जा सकती हैं। अप्रैल 1992 के प्रारम्भ में संयुक्त राष्ट्र महासचिव बुतरस घाली ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की ताजा कार्य—सूची की चर्चा की। उन्होंने यूगोस्लाविया, कम्बोडिया, अल सल्वाडोर, पश्चिमी सहमा, इराक, लीबिया और म्यामार में शांति स्थापित करने के लिए किए जा रहे संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों की चर्चा की — ये वे क्षेत्र हैं जहाँ अशांति या संघर्ष विद्यमान हैं।

इन उदाहरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्र ने कई ऐसे संकटों को रोमा है जिसके कारण मनुष्य मात्र को बड़ी हानि होती। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ नहीं होता तो अनेक राजनीतिक झगड़ों को लेकर युद्ध हो जाता और विश्व शांति खतरे में पड़ जाती। पंडित नेहरू ने लिखा था : “संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कई बार हमारे उत्पन्न होने वाले संकटों को युद्ध में परिणत होने से बचाया है। इसके बिना हम आधुनिक विश्व की कल्पना नहीं कर सकते।” संयुक्त राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को रोकने में ‘सेपटी वाल्व’ का काम भी करता है। जब भी कोई संकटकालीन स्थिति संघ के समक्ष आती है उससे सम्बद्ध राष्ट्रसंघ के रंगमंच से बोलकर अपना गुस्सा शांत कर लेते हैं। संघ भी कोई कामचलाऊ उपाय निकालकर तत्काल के लिए युद्ध की संभावना को टाल देता है। जब एक बार यह सम्भावना कम हो जाती है तो बाद में उसके शान्तिपूर्ण समाधान के रास्ते खुल जाते हैं। इस तरह संयुक्त राष्ट्र का यह साधन अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने और विश्वशान्ति को प्रोत्साहन देने में अधिक सहायक होता है। श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित ने ठीक ही कहा था : “यदि हम समस्याओं का अन्तिम हल नहीं निकाल सकते तो हमें इससे हताश नहीं हो जाना चाहिए। इतिहास एक अविराम साधन है। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष सदैव कुछ नयी और पुरानी समस्याएँ रहेंगी। हमें यह विश्वास रखना चाहिये कि समझौता करने का हमेशा एक—न—एक अवसर अवश्य रहता है। आपस में मतभेदों को कम करने का अवसर भी रहता है। यह कार्य विचारविनिमय द्वारा ही हो सकता है तथा यह कार्य—विधि अत्यन्त उपयोगी है।” वी०के० कृष्णमेनन ने भी इस बात पर बल दिया था। उनके अनुसार : “जब हम कठिन—से—कठिन समस्या पर सामूहिक रूप से विचार करते हैं तो उस समस्या के बहुत—से नये पहले हमारे सामने आते हैं।” इससे समस्या के समाधान में काफी सहायता मिलती है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ राष्ट्रों को बातचीत में व्यस्त रखकर युद्ध की सम्भावना को टालने में सहायता प्रदान करता है।

**2. साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का उन्मूलन** — संयुक्त राष्ट्र संघ ने गैर—स्वशासित देश के मनुष्यों की भलाई के लिए भी प्रयत्न किये हैं। 24 दिसम्बर, 1960 को महासभा ने प्रस्ताव द्वारा उपनिवेशवाद को पूर्णरूप से समाप्त करने की आवश्यकता की घोषणा की। इस ने घोषित किया कि मनुष्यों को दूसरे देशों के अधीन रखना और शोषण करना मानव के मौलिक अधिकारों की

अवहेलना करना है। विश्व-संस्था के रंगमंच से इस तरह की घोषणा का अपने आप में महत्त्व है। इस घोषणा को कार्यान्वित करने के लिए औपनिवेशिक राज्यों से अनुरोध किया कि वे अपने अधीन क्षेत्रों को स्वतंत्रता दे। संयुक्त राष्ट्र के प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक परतन्त्र राज्य स्वतन्त्र हो चुके हैं। इण्डोनेशिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया तथा अल्जीरिया को स्वतन्त्र कराने में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयास काफी सराहनीय रहे हैं। शुरु में इन देशों की स्वतंत्रता के प्रश्न को टालने का प्रयत्न किया गया, किन्तु अन्त में उपनिवेशवादी राज्य को विवश होना पड़ा और उन्हें स्वतन्त्रता देनी पड़ी। विश्व का लोकमत निरन्तर साम्राज्यवादियों का विरोध कर रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस प्रकार के कार्यों के लिए अत्यधिक उपयोगी रंगमंच है। संघ की संरक्षण-पद्धति के अन्तर्गत भी लगभग सभी उपनिवेश अब तक स्वतंत्र हो चुके हैं। ये सारी बातें संघ की महत्त्वपूर्ण सफलतायें मानी जायेंगी।

**3. गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में सफलता** – राजनीतिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता विवादास्पद हो सकती है, किन्तु इस बात पर दो मत नहीं हो सकते कि गैर-राजनीतिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ को बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त हुई हैं। मानवतावादी, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इसकी उपलब्धियाँ प्रशंसनीय हैं। इस दृष्टि से इसकी कीं विशिष्ट एजेंसियाँ उल्लेखनीय हैं। यूनेस्को ने शिक्षा, विज्ञान तथा साहित्य के विकास में योग दिया है। अज्ञानता को दूर करने के लिए इसने विभिन्न सरकारों को परामर्श दिया है और शिक्षा व विज्ञान-सम्बन्धी सामग्री के आदान-प्रदान में सहायता की है। निरक्षता उन्मूलन, नवीन ज्ञान के विश्वव्यापी प्रचार तथा सांस्कृतिक कार्यों में इसका युगदान काफी प्रशंसनीय है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के द्वारा नागरिकों के स्वास्थ्य के स्तर को सुधारने और महामारियों पर नियंत्रण स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसने बड़े पैमाने पर पैसिलिन, डी०डी०टी० आदि दवाओं के वितरण से बीमारियों के प्रतिरोध में बड़ी सहायता पहुँचायी है तथा महामारियों का प्रसार रोका है। इसके खाद्य संगठन ने अन्न का उत्पादन बढ़ाकर दुर्भिक्षों का तथा भूखमरी का निवारण किया है। इसके श्रम संगठन ने श्रमिकों की दशा को बहुत उन्नत किया है। इसी प्रकार बाल कल्याण कोष UNICEF) के द्वारा बच्चों तथा जच्चाओं के स्वास्थ्य के विकास के लिए दवाइयाँ, खाना, बीमारियों के नियंत्रण तथा प्रसूतिग्रहों की स्थापना में सहयोग दिया गया है। यह प्राकृतिक दुर्घटनाओं के समय बच्चों की विशेष रूप से रक्षा करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानव-कल्याण के क्षेत्र में निश्चित लाभ भी पहुँचाया है। यह कहना कतई दोषपूर्ण नहीं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का यह कार्य सामूहिक सुरक्षा प्रणाली से किसी भी अवस्था में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

**4. व्यापक सम्पर्क एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का निर्माण करने का मंच** – संयुक्त राष्ट्रसंघ विचारों के आदान-प्रदान पूर्वाग्रह की गुत्थियों को सुलझाने, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को अच्छी प्रकार समझने तथा विश्व में व्यापक सम्पर्क एवं शांति की जलवायु का निर्माण करने का मंच है। सर रोजर मैकिन्स ने लिखा है, "हम संयुक्त राष्ट्र का समर्थन इसलिए नहीं करते कि यह पूर्ण यंत्र है, परन्तु इसलिए करते हैं कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और झगड़ों को सुलझाने के लिए प्रभावशाली साधन उत्पन्न किये हैं। महान् शक्तियों का सहयोग न मिलने के कारण इसके कुछ कार्य विफल रह सकते हैं। परन्तु इसकी उपयोगिता यह है कि यहाँ पर सदैव पूर्व व पश्चिम के लोग एक साथ बैठकर वाद-विवाद कर सकते हैं। यदि किन्हीं अन्य ढंगों द्वारा झगड़ों का शांतिपूर्ण निबटारा न हो सके या विफलता प्राप्त हो तो संयुक्त राष्ट्र की शरण ली जा सकती है।"

**5. संयुक्त राष्ट्रसंघ एक नियंत्रक शक्ति के रूप में** – संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक नियंत्रक शक्ति के रूप में भी काम किया है। इसका दृष्टिकोण सदैव शांति की ओर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में इसने एक संतुलन शक्ति का कार्य किया है। जब कभी भी कोई विवाद इसके समक्ष आया है। इसने शांतिपूर्वक सुलझाने का कार्य किया है। इसी के चलते अनेक अवसरों पर स्थिति बिगड़ने नहीं पायी है। इसके अस्तित्व के चलते ही बड़े-बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने में हिचकिचाते हैं। इस तरह युद्ध का भय कम हुआ है और छोटे राष्ट्रों की शक्ति में वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त महासभा को पर्याप्त अधिकार होने के कारण छोटे-छोटे सदस्य राष्ट्रों को अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग करने के अवसर प्राप्त हुए हैं और उन्होंने अपने लाभार्थ इन अवसरों का पूरा उपयोग किया है।

**6. अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आदार एवं पंजीकरण** – अन्तर्राष्ट्रीय आचरण को पुष्ट एवं संयत बनाने में संयुक्त राष्ट्रसंघ का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि को संरक्षण तथा स्पष्टीकरण प्राप्त हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को पंजीकृत करने का कार्य संघ द्वारा स्थापित आयोग, सचिवालय, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, मानवीय अधिकार आयोग आदि द्वारा किया जाता है। संघ द्वारा देशों के मतभेद दूर करते समय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना करते समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि का हमेशा

पालन किया गया है। इसका हर संभव प्रयास यह रहता है कि संसार के विभिन्न राष्ट्रों में इन कानूनों के प्रति आदर-भाव पैदा किया जाये और कहीं भी, किसी भी स्थिति में उनका उल्लंघन न किया जाये। यह सत्य है कि विश्व जीवन के स्तर पर विधि के शासन की कल्पना अभी नहीं हो पायी है परन्तु इस दिशा में निष्क्रिय रहने से तो कच्छप गति से आगे बढ़ना ही अच्छा है।

**7. संघ के शिक्षावर्द्धक कार्य** – संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक शिक्षापूर्वक कार्य यह है कि इसकी अनेक प्रवर समितियाँ संसार के लोगों के जीवन से सम्बन्धित सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक विषयों पर शोध, अन्वेषण, निरीक्षण आदि कार्य करती है। जब इन विषयों पर रिपोर्ट प्रकाशित होती है तो उनमें बहुमूल्य सूचनाएँ होती हैं। इस प्रकार सामान्य जनता का अनुभव तथा ज्ञान तो बढ़ता ही है, इसके साथ ही, उसे यह भी विश्वास हो जाता है कि जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक आधार को सुदृढ़ करके ही अच्छी मानवता का निर्माण हो सकता है। इस दृष्टि से ये प्रकाशन लाभदायक हैं।

**8. नैतिक दबाव का साधन** – संयुक्त राष्ट्रसंघ यद्यपि सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से एक व्यवस्थित और एकीकृत प्रणाली का उपयुक्त विकास नहीं कर पाया है किन्तु फिर भी यह लोकमत का रंगमंच और नैतिक दबाव का एक शक्तिशाली साधन है। इसके निर्णय विश्व के नैतिक प्रभाव को दर्शाते हैं। इसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और सदस्य-संख्या के कारण इसके प्रस्तावों और सिफारिशों को बल मिलता है। यदि कोई राष्ट्र इसके निर्णय को टुकरा देता है तो विश्व के सब राष्ट्रों की नजर में वह गिर जाता। संयुक्त राष्ट्रसंघ कम-से-कम यह तो संभव हो सका है कि यहाँ आक्रामक राष्ट्रों के इरादों का बहुत आसानी से भंडाफोड हो जाता है और विश्व जनमत उनसे पूर्ण रूप से अवगत हो जाता है। साम्राज्यवादी एवं उपनिषदवादी शक्तियों के बर्बर कृत्यों तथा क्रूरतापूर्ण अत्याचारों की चर्चा जब यहाँ मी जाती है तो उसका प्रचार क्षणभर में सम्पूर्ण संसार में हो जाता है। सभी देशों पर इसका प्रभाव पड़ता है। जनमत के भय से आक्रामक राज्य को विश्व-संस्था के समक्ष अपनी नीतियों की व्याख्या करने तथा उनको सार्थकता प्रमाणित करने का प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ आक्रामक राष्ट्रों पर अपना नैतिक प्रभाव दबाव डालकर उन्हें अच्छे रास्ते पर आने के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार नैतिक दबाव बहुधा सैनिक दबाव से भी अधिक प्रभावशाली साबित हुआ है। जॉन फॉर्स्टर डलेस के अनुसार, "इसका कारण यह है कि कोई भी राष्ट्र यह नहीं चाहता कि महासभा नैतिकता के आधार पर उसके कार्यों की निन्दा करे।" संघ के नैतिक दबाव के कारण ही सोवियत संघ ने ईरान से सेनाएं हटायी थी तथा ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र के स्वेज नहर क्षेत्र से अपनी सेनायें हटा ली थीं। इसी तरह के दबाव के परिणामस्वरूप ही इण्डोनेशिया को स्वतंत्रता मिली थी।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के रक्षक तथा सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के अग्रदूत – इन दोनों की रूपों में संयुक्त राष्ट्रसंघ पुराने राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुआ है। अपनी दुर्बलताओं और विफलताओं के बावजूद यह मानवीय बुद्धि द्वारा परिकल्पित अब तक का श्रेष्ठतम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है।